प्रश्न?

साधित पुस्तकालय
धर्मधाम, कमलानगर देहली

क्यों ?

(धर्म दिग्दर्शन) (उत्तरार्द्ध)

श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री
श्रीकण्ठ शास्त्री व्याकरणाचार्य एम० ए०
वीराचार्य शास्त्री साहित्याचार्य एम० ए०
प्रेमाचार्य शास्त्री साहित्याचार्य एम० ए०

प्रकाशक

माधव पुस्तकालय
धर्मधाम १०३ ए, कमलानगर दिल्ली

मुद्रक—धर्मप्रेस, कमलानगर, दिल्ली—७

समर्पण

(१)

हे करुणा के वरुणालय ! हे निखिल विश्व के स्वामी !
तुम भक्त कल्प—पादप हो, घट घट के अन्तर्यामी ॥
मेरे मानस में छुप कर, जो कुछ तुमने समझाया ।
सो लोह लेखनी ने इस, कागज--तल पर लिख पाया ॥

(२)

इसमें जो हेय अंश हो, वह प्रकट अज्ञता मेरी ।
है उपादेय जो श्रीमन् ! वह विदित कीर्ति है तेरी ॥
मैं हूँ अति कृपण अकिञ्चन, क्या कर सकता हूं अर्पण ।
बस तेरा वर-प्रसाद यह, करता हूँ तुझे समर्पण ॥

विनयावनत—

—माधव

उपहार

श्री ....

.... महोदय !

(१)

हां ! कृष्ण स्वयं वक्ताग्रगण्य, श्रोता अर्जुन सा पण्डित हो
फिर भी 'श्रीमद्भगवद्गीता' शंका-समाधि से मण्डित हो ॥
श्रुतिने पहिले 'श्रोतव्य' बता फिर वही तत्त्व 'मन्तव्य' कहा ।
है, मनन बिना 'आचरण' कठिन, अति निरवकाश निष्पन्द महा ॥

(२)

हो पढ़ा बहुत औ' सुना बहुत पर 'क्यों ?' की यदि शंका न गई ।
होती हों, यदि मन-मानस में बीचियें तरङ्गित नई नई ॥
तो एक बार इस ग्रन्थ-रत्न को मनोयोग से पढ़ जाओ ।
लो ! हाथ बढ़ा उपहार दिव्य, शंकाओं से मुक्ति पाओ ॥

....

'क्यों' के सम्बन्ध में प्राप्त कुछ सम्मतियें

शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री १०८ स्वामी अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ जी महाराज—

इस पुस्तक में पाश्चात्य शिक्षित जनों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये जाने वाले सब आक्षेपों का सप्रमाण सयौक्तिक तथा वैज्ञानिक उत्तर दिया गया है। प्रत्येक आस्तिक को यह पुस्तक अवश्य ही पढ़नी चाहिये।

ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज — शास्त्र सम्मत तर्कों एवं वैज्ञानिक विवेचन द्वारा सनातनधर्म के विभिन्न मर्मों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। लेखन शैली विलक्षण और भाषा तथा भाव परिष्कृत हैं। प्रत्येक सनातनधर्मी को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

अनन्त-श्री-विभूषित श्रद्धेय स्वामी करपात्री जी महाराज—'आधुनिक नवशिक्षित समाज को वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। निश्चित ही इसकेद्वारा शास्त्रमर्म ज्ञान की ओर जनता की प्रवृत्ति बढ़ेगी।'

श्री १०८ स्वामी अनिरुद्धाचार्य जी चान्दोद (गुजरात)

आचार्य जी के ग्रन्थ आस्तिक समाज के लिये ईश्वरीय देन हैं और प्रतिवादियों के मायाजाल को छिन्न भिन्न करने के लिये प्रतिवज्र हैं आस्तिक और नास्तिक दोनों ने ही 'क्यों' की भूरि २ प्रशंसा की है प्राञ्जल भाषा और रोचक शैली में अतीव गूढ़ धर्म तत्त्वों को हृदयंगम कर पाठक कृतकृत्य हो जाएंगे।

माननीय श्री अनन्तशयनम् आयंगर अध्यक्ष—भारतीय लोकसभा, नई देहली—सनातनधर्म के महान्-विद्वान् श्री पंडित माधवाचार्य शास्त्री जी द्वारा रचित ग्रन्थ (क्यों?) धर्म

दिग्दर्शन में सनातनधर्म के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण और विवेचन भली प्रकार किया गया है। वर्तमान युग में एक ऐसे ग्रन्थ की, जिसमें सनातनधर्म के मूल सिद्धान्तों पर शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त युक्ति-युक्त वर्णन हो, अत्यन्त आवश्यकता थी। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ द्वारा उसकी पूर्ति करके एक महान् कार्य किया है।

धर्मदिग्दर्शन (क्यों ?) द्वारा धर्मोदय होगा मेरी शुभ कामना है।

श्री १०८ स्वामी राघवाचार्य जी महाराज आचार्य पीठ बरेली—शास्त्री जी जैसे प्रबल वक्ता हैं वैसे ही सिद्धहस्त लेखक भी। 'क्यों?' ने सनातनधर्म पर की जाने वाली शङ्काओं को मिटाने में जितना प्रयास किया है उतना अन्य किसीने नहीं।'

पं० गङ्गाशंकर मिश्र एम.ए प्रधान सम्पादक सन्मार्ग बनारस, देहली, कलकत्ता—हिन्दुधर्म पर विधर्मियों द्वारा जो कुतर्कों की बौछार होती है इनका उत्तर देना सहज नहीं, परन्तु शास्त्री जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे सभी कुतर्कों की अच्छी खबर ली है। भारतीय जीवनचर्या को लौकिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध करके दिखलाया है।

स्व० गोस्वामी गणेशदत्त जी मन्त्री स. ध. प्रतिनिधि सभा पंजाब—'यह बहुत सुन्दर महत्त्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ है। ......यह पुस्तक सनातन धर्मी जनता के लिए बड़ी उपयोगी है उन्हें इसे अधिक से अधिक ग्रहण कर लाभ उठाना चाहिए।'

ब्रजेन्द्रकुमार धाभाई देवगढ़, मधारिया— 'ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद कराकर विदेशों में भेजा जाता तो निःसन्देह इससे विदेशियों द्वारा हिन्दूधर्म पर लगाए गए आक्षेपों का समाधान हो जाता।'

दैनिक नवभारत टाइम्ज, दिल्ली—'आजकल कलिकाल में समस्त शास्त्र ग्रन्थ पढने के अभाव में केवल इस ग्रन्थ के अध्ययन से सनातनधर्म की समस्त परिपाटी का ज्ञान हो जाता है।'

दैनिक जनसत्ता दिल्ली—"हिन्दु संस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने में ग्रन्थकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है ! भारतीय विचारधारा, सभ्यता एवं संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने में 'क्यों ?' जैसे सरल सरस रोचक ग्रन्थों का सदा महत्त्व पूर्ण स्थान रहेगा।"

दैनिक सन्मार्ग बनारस—'विवेचन कला साफ सुथरी और निखरी हुई है। भाषा प्रवाहमयी तथा शैली अत्यन्त रोचक है। पुस्तक प्रत्येक हिन्दू के लिये संग्रहणीय और पठनीय है'।

दैनिक वीरभारत, दिल्ली— 'पुस्तक इतनी ज्ञानपूर्ण तथा रोचक है कि आप कहीं से पढ़ना शुरु करें बिना पूरा किये छोड़ेंगे नहीं।'

साप्ताहिक 'आचार्य' बरेली—'पुराणदिग्दर्शन' के बाद 'क्यों' का प्रकाशन धार्मिक जगत् के लिये शास्त्री जी की अमूल्य देन है।

साप्ताहिक 'विरक्त' अयोध्या—हमारा दृढ़ विश्वास है कि 'क्यों' को पढ़ लेने के पश्चात् किसी भी आधुनिक विचार धारा वादी के विचारों में आमूल परिवर्तन होकर प्राचीन हिन्दू विचार धारा की अविचल छाप पड़े बिना नहीं रह सकती।············शङ्काओं का शास्त्र तथा विज्ञान द्वारा इतना सुन्दर विवेचन किया गया है कि लेखक की लेखनी चूम लेने को जी चाहता है।'

मासिक वैष्णव सम्मेलन, प्रयाग—'प्रत्येक हिन्दू मात्र को इसे अवश्य अपने पास रखना चाहिये।

मासिक सनातनधर्म, दिल्ली—'विद्वान् लेखक ने धर्म के प्रत्येक विषय पर सरल सुबोध भाषा में वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दू जाति का महान् उपकार किया है।'

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइज़र' देहली—

The author of WHY asks such questions by the hundred—and to a very great extent answers them to scientific satisfaction. He succeeds to a commandable degree in convincing even a sceptic that this eleborate, and at times enigmatic structure of ritual that envelops the philosophical core of Hinduism is scientifically aimed at enabling the Hindu to lead a life of health and strength and consequently of intellectual keenness and moral purity The author's erudition, manifest in the book commands respect.

श्री पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत दिल्ली—

'इसमें हिन्दु धर्म के सभी अंगों को विज्ञान की कसौटी पर युक्तियुक्त सिद्ध कर दिया है। ......विवेचना अद्वितीय है, जिससे प्रतिपक्षियों के छक्के छूट जाते हैं। प्रत्येक हिन्दु को पं० जी की यह पुस्तक संगृहीत करनी चाहिये।

भक्त रामशरण दासजी पिलखुवा—क्यों ग्रन्थ लिखकर देश, सभ्यता एवं संस्कृति की महान् सेवा की है। जो मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी थे और चोटी जनेऊ तक उतार फेंक चुके थे इस 'क्यों' ग्रन्थ को पढ़कर उन्हें मंदिर में बैठे चोटी जनेऊ धारण कर भजन करते हमने स्वयं देखा है। प्रत्येक हिन्दु को अवश्य ही यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये।

'क्यों ?' के सम्बन्ध में

श्रीमन्नारायण की अनुकम्पा से ही 'क्यों ?' का यह उत्तरार्द्ध लेकर हम पाठकों की सेवा में समुपस्थित हो सके हैं, अन्यथा धर्म-प्रचार में निरन्तर संलग्न रहने की हमारी कार्य-व्यस्तता इसके प्रकाशन में और भी अधिक विलम्ब कर सकती थी।

मुझे प्रसन्नता है कि इसके सम्पादन और प्रकाशन में यूं तो लेखक-मण्डल के सभी सदस्यों ने पर्याप्त हाथ बटाया है, परन्तु खासकर चिरञ्जीव श्रीकण्ठ शास्त्री ने तो अपने अथक परिश्रम से मेरा आधे से भी अधिक भार हल्का किया है, एतदर्थ ये सब हमारे आशीर्वाद के पात्र हैं।

यद्यपि पृष्ठों की दृष्टि से यह उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध की अपेक्षा अन्यून सवाया बन गया है तथापि ग्रन्थविस्तारभयात् इसकी बहुत-सी उपयोगी सामग्री, खासकर अन्तिम अध्याय का बहुत सा अंश, हमें अगत्या रोक लेना पड़ा है, जिसका हमें स्वयमपि खेद है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कुछ चारा भी नहीं था क्यों कि हमारे आवरण-निर्मापक (जिल्दसाज़) ने स्पष्ट कह दिया था कि इससे अधिक पृष्ठ एक कवच में नहीं समा सकेंगे।

अस्तु, यदि पाठकों ने पूर्ववत् अपनी रुचि विशेष का परिचय दिया—जिसकी कि हमें पूर्ण आशा है—तो हम शीघ्र ही उस अतीव उपयोगी अंश को 'क्यों ?' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे। भगवान् हमें ऐसी शक्ति प्रदान करें। ओं शम्।

[गंगा दशहरा २०१४] —माधवाचार्य

[श्री चन्द्रोदय-धर्मपीठाधीश्वर श्रीमद्जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य भगवत्पादीय अनन्तश्री स्वामी अनिरुद्धाचार्य वेङ्कटाचार्य जी महाराज ने हमारी प्रार्थना पर इस 'क्यों ?' अपर 'धर्म-दिग्दर्शन' नामक ग्रन्थ को पढ़कर न केवल अपने कर-कमलों द्वारा यह भूमिका लिखने की ही कृपा की है, अपितु एकादशशत मुद्रा (११ सौ रुपया) पुरस्कार प्रदान करके उक्त ग्रन्थ की संरक्षकता स्वीकार करने का भी अनुपम औदार्य प्रकट किया है ! हम आचार्यपाद की इस गुण ग्राहकता के लिए कृतज्ञता प्रकाशन करते हैं।

भूमिका क्या है मानो पूरे ग्रन्थ का तत्त्व ही कलश में समुद्र की भांति भर डाला है। पाठक मनोयोगपूर्वक इसका एक-एक अक्षर पढ़ें और ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी बनें : —लेखक]

श्रीमन्नारायण अगणित गुणगणों के भण्डार हैं और निखिलहेयप्रयत्नीकैकतान विरुदावलि से सभाजित हैं। वे शेषी हैं और समस्त जीव-निकाय उनके शेषभूत हैं। जब वे 'यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः' श्रुति के अनुसार किसी शेष को स्वयं अपना दास्य प्रदान करने की अनुकम्पा करते हैं, तो वह अकिञ्चन, अकारणकरुण करुणावरुणालय भगवान् का कृपा-पात्र बनकर अनुपम भगवत्कैङ्कर्य प्राप्त कर सकने में सक्षम हो जाता है। उक्त ग्रन्थ के लेखक शास्त्रार्थमहारथ श्री पण्डित माधवाचार्य्य शास्त्री भी तादृश, भगवत्कृपापात्रों में अन्यतम हैं।

है। इसका एक मात्र कारण जीवनचर्या की मर्यादा का तारतम्य ही कहा जा सकता है। पशु मर्यादा नहीं जानते हैं, परन्तु मनुष्य कुछ न कुछ नियम पालते हैं सो जो जितने अधिक नियमों का पालन कर पाता है वह उतना ही दीर्घजीवी हो सकता है। यह मर्यादा पालन का प्रत्यक्ष लाभ है।

सभी मनुष्य जन्मजात सनातनधर्मी होते हैं

नर शब्द का अपर पर्याय शास्त्रों में 'सनातन' है। श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान् की स्तुति करते हुए अर्जुन जहाँ भगवान् को

'सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे' (अ० ११-१८)

अर्थात्—हे भगवन्! आप मेरे मत में निश्चित ही सनातन = अनादि अनन्त पुरुष जान पड़ते हैं—ऐसा कहते हुए उन्हें 'सनातन' नाम द्वारा स्मरण करता है वहां भगवान् भी अर्जुन को उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय कराते हुए—

'अचलोऽयं सनातनः' (गीता २।२४)

अर्थात्—हे अर्जुन! तेरा अपना अन्तरात्मा भी अचल और सनातन है—ऐसा आदेश करते हुए उसे भी 'सनातन' नाम से स्मरण करते हैं, एतावता जहाँ ब्रह्म सनातन है वहाँ तदंशभूत जीव भी सनातन है। अथच सनातन जीव को सनातन ब्रह्म तक पहुंचाने वाले मार्ग का नाम भी 'सनातन' ही हो सकता है। जैसे लोक में भी इन्द्रप्रस्थ जानेवाले मार्ग को 'इन्द्रप्रस्थ मार्ग' ही कहा जाता है। इसीलिये वेद में नर के कल्याणकारी सन्मार्ग का नाम

'सनातनमेनमाहुः' (अथर्व० १०।८।२३)

—कहते हुए 'सनातन' ही कहा गया है जिसका सविशेष्य नाम 'सनातन धर्म' प्रसिद्ध है।

'नर', 'मनुष्य' और 'सनातनधर्मी' ये समानार्थक पर्याय हैं। अतः मनुष्य को सनातनधर्मी कहते हैं और सनातनधर्मी ही मनुष्य होता है। यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि तत्तद् मतानुयायी प्रत्येक व्यक्ति को अपने मत में लाने के लिये कोई न कोई बाह्य उपचार करते हैं। जैसे मुसलमानों में 'खतना', ईसाइयों में 'बपतिस्मा' और दयानंदियों में तथाकथित हवन के नाम पर चन्द तोला 'घी फूँकना' प्रचलित है। अर्थात्—वे लोग उपर्युक्त लोक लीलाओं द्वारा ही किसी को बना पाते हैं। परन्तु सनातन-धर्मी बनाया नहीं जाता क्योंकि माता के गर्भ से उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक मनुष्य पहिले स्वभावतः 'सनातनधर्मी' ही होता है। यदि वह दुर्भाग्यवश स्वरूप संरक्षण में प्रमाद करने लगे तो फिर उसे चुस्त-चालाक विभिन्न मतानुयायी कुछ का कुछ बना डालते हैं। बुद्धिमान् कभी किसी के बनाये बना नहीं करते। 'बनाने' का मुहावरा वाग्जाल किंवा मायाजाल में फांसने के अर्थों में ही प्रयुक्त होता है। जैसे देहाती विद्यालय के किसी विद्यार्थी के नागरिक महाविद्यालय में प्रविष्ट होने पर शहरी वातावरण में पले चुलबुले सहपाठी दून की हांक कर उस भोले भाले सज्जन को अपना क्रीड़ामृग बनाने की कुचेष्टा किया करते हैं, यदि वह सावधान न हो तो उसे आज प्रीतिभोज, तो कल टी-पार्टी के चक्कर में अपव्यय का भार भी सहन करना पड़ता है और पीछे से—'हमने गौंदी को खूब बनाया' ऐसा उन धूर्तों का किया उपहास भी सहन करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जो लोग मायावी मतवालों के फंदे में फँस कर कुछ बन जाते हैं, वे

अपने दोनों लोक भी बिगाड़ लेते हैं और उपहास के भाजन भी बनते हैं।

किसी व्यक्ति के मतान्तर में चल जाने पर सब यही कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ईसाई, मुसलमान किंवा समाजी 'बन गया', परन्तु आज तक यह शब्द किसी ने कभी नहीं सुने होंगे कि अमुक व्यक्ति 'सनातनधर्मी बन गया'। क्योंकि सनातनधर्मी बनाया नहीं जा सकता किंतु वह तो माता के उदर से ही उत्पन्न हुआ होता है। यही कारण है कि सनातनधर्मी बनाने की कोई पद्धति प्रचलित नहीं और नाहीं सनातनधर्मी कभी किसको बनाने का जघन्य प्रयत्न करते हैं। यद्यपि स्वा० विवेकानन्द और स्वा० रामतीर्थ आदि महानुभावों के व्याख्यानों से प्रभावित होकर लार्ड ख़ानदानों के लाखों व्यक्ति सनातनधर्म की शरण में आये, परन्तु उनको किसी बाह्य क्रिया द्वारा कभी किसी ने दीक्षित किया हो सो बात नहीं।

जैसे स्वास्थ्य स्वाभाविक है और रोग विकार है, रोग का दूरीकरण ही स्वास्थ्य सम्पन्नता का लक्षण है, ठीक इसी प्रकार सनातनधर्म स्वाभाविक है और तत्तद् मतों में फँसना विकार है। जो व्यक्ति तत्तद् मतों द्वारा 'शरह' किंवा 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' के नाम पर दी गई अमानुषिक कृत्य कर डालने की छूट को सौभाग्यवश छोड़कर अपने आचार-विचारों को ठीक कर लेता है, वह किसी देश—किसी जाति का ही—किंवा कोई भी नाम क्यों न रखता हो अपने ही पद पर रहता हुआ सनातनधर्मी कहा जा सकता है। अतः मनुष्य किंवा सनातनधर्मी होने के लिये किसी बाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं, किन्तु मानवोचित आचार विचार अपनाने की आवश्यकता है।

नाम हुलिया बदलना—तस्करता !

जैसे कोई चोर चुराई वस्तु का हुलिया बदलना आवश्यक समझता है अन्यथा असली मालिक द्वारा उस वस्तु के पहचान लेने का खतरा बना रहता है। जैसे वह चुराए हुए जूते की लम्बी नोक काटकर उसे मूँडा सा बना डालता है, चुराए हुए छाते पर थेगली लगाकर अपना नाम लिख डालता है, ठीक इसी प्रकार अन्य मतावलम्बी भी जब किसी सनातनधर्मी व्यक्ति को अपने मत में ले जाते हैं तो मियाँ लोग उस चोरी के माल को हजम करने के दुष्प्रयत्न में उसका हुलिया ही तबदील कर डालते हैं—खतने के नाम पर उसके मूत्रेन्द्रिय का अगला चमड़ा काट डालते हैं, लम्बी सुन्दर मूछों को नाक के निचले भाग के स्थान में तराश देते हैं, शिर मूंडकर ब्रह्मरन्ध्र पर गड़ा झण्डा उखाड़ फेंकते हैं और सदर गेट के आस-पास खुदा का नूर बताकर कूड़े करकट का ढेर जमा कर देते हैं—इस प्रकार रामलाल को रहीमुद्दीन और गोपाल दास को गफूर मुहम्मद बना दिया जाता है। भारतीय परम्परा में नाम बदलना एक महा अपमान जनक कृत्य समझा जाता था। आज भी प्रण रोप कर शर्त लगाने वाला व्यक्ति बड़े गर्व से कहता है कि 'अमुक बात ऐसी न हो तो मेरा नाम बदल देना'। परन्तु अब मतान्तर में प्रविष्ट होने वाले मूर्ख जीते जी अपना नाम बदलते हुए नहीं लजाते !

यही हाल हमारे दयानन्दी भाइयों का है। वे भी कोई लूट का माल फँस जाए बस ! झट उसके गले में अपना धागा डालने को उद्यत रहते हैं ! फिर चाहे वह उसका अधिकारी हो या न हो ! तोते की भाँति उसे 'नमस्ते' की रट लगाने में ट्रेण्ड

कर दिया जाता है। यही दशा प्रायः सभी मत वालों की हैं। परन्तु सनातनधर्मी किसी दूसरे के माल को चुराने की कभी चेष्टा नहीं करते इसलिये उन्हें सनातनधर्म की शरण में आने वाले किसी व्यक्ति का हुलिया किंवा नाम बदलने की आवश्यकता नहीं पड़तीं। रसखान, रहीम, ताज बेगम आदि कई दर्जन शाही खानदान के शरीफ व्यक्तियों ने भले ही अपना हुलिया और नाम न बदला और अपनी वल्दियत और शकूनत वही रहने दी तथापि जब उनकी हृत्तन्त्री पर 'मानुप हों तो वही रसखान'—'जेहि रज ऋषि पतनी तरी सो ढूंढ़त गजराज' तथा 'हूँ तो मुगलानी हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं'—की आचार विचारात्मक मधुर ध्वनि मूर्छित होने लगी तो भारतेन्दु के शब्दों में—'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये' की प्रतिध्वनि भी विश्व में गूँज उठी। श्रीमती ऐनीबेसैन्ट, मिस्टर स्टाक आदि अगणित विदेशी अपना नाम व हुलिया बिना बदले ही सनातनधर्म की शरण में रहकर अपने जीवन को सार्थक बनाने में समर्थ हो गए। इसलिए अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक समझदार व्यक्ति को मत मतान्तरों की खाक छानने में जीवन नष्ट न करके मानवोचित मर्यादित जीवन बिताने का प्रयत्न करना चाहिये।

मानवता, ईश्वर द्वारा स्थापित सम्बन्ध

वास्तव में जो व्यक्ति पहिले मनुष्य ही नहीं तो वह अन्य कुछ भी नहीं। देश जाति व्यवसाय सम्बन्धी भाईचारा तो पूछ-ताछ के बाद स्थिर होता है, परन्तु बिना पूछे एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से जो ईश्वर द्वारा स्थापित सम्बन्ध है—वह मानव सम्बन्ध है। जब एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य से मिले तो

उसे उससे मानवोचित व्यवहार करना चाहिये। किसी व्यक्ति का पद किंवा योग्यता जानने के बाद जो उसकी प्रतिष्ठा की जाती है वह मानव पूजा नहीं, किन्तु तत्तद् गुणों की पूजा है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि मानवोचित व्यवहार में बड़े से बड़े बुद्धिमान् भी चूक जाते हैं। एक बार जम्मू-काश्मीर की स्वागत सभा में जब कि सहस्रों व्यक्ति स्वनाम-धन्य महात्मा करपात्रीजी का लोकोत्तर सम्मान करने को अहमहमिकतया जुटे थे तो स्वयं महाराज ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि मैं अभी चार दिन पूर्व इन्हीं महानुभावों के द्वार पर जब भिक्षा माँगने गया तो अधिकांश लोगों ने 'नारायण हरि' सुनकर भी मुट्ठी भर चावल देने की कृपा नहीं की, जोकि एक अतिथि और फिर दंडी सन्यासी के प्रति एक गृहस्थ का मानवोचित धर्म था। परन्तु अब एक दूसरे से पूर्व फूलों में ढांप देने के प्रयत्न में संलग्न हैं। यह एक सन्यासी का सम्मान नहीं किन्तु 'करपात्री' नाम का सम्मान किया जा रहा है। वास्तव में आज मानवोचित धर्मनिष्ठा घटती जा रही है और 'गड्डलिका प्रवाह' न्याय से रस्म की अदायगी मात्र शेष रह गई है।

कई बार गाड़ी स्टीमर में सभ्य कहे जाने वाले बड़े तबके के ऊंची क्लास में यात्रा करनेवाले सज्जनों की ओर से सिगरेट का धुंआ छोड़ने, पांव फैलाने आदि चेष्टाओं में हमारे प्रति असावधानी बर्त्ती गई, परन्तु जब उद्दिष्ट स्थान पर बहुत से लोग हमें गाड़ी से उतारने आए—पुष्पवर्षा, जयघोष और गाजे-बाजे सुने तो हमारे सहयात्री हमारे श्रुतपूर्व नाम और नामी दोनों का सामञ्जस्य करके अपने पूर्वकृत कुव्यवहार पर पश्चात्ताप करने लगे। कई बार तो गाड़ी से नीचे उतरकर प्रणाम पूर्वक क्षमा

याचना करते हुए कहा कि 'क्षमा करना हमें विदित नहीं था कि श्रीमान् जी आप ही हैं, अतः गुस्ताखी मुआफ हो।' कहना न होगा इस प्रकार की भूलें हमसे भी रात दिन होती हैं, परन्तु मानवता का तकाजा है कि हमें प्रत्येक संपृक्त व्यक्ति की योग्यता और पद बिना पूछे या बिना जाने ही उसके साथ मानवोचित व्यवहार करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखनी चाहिये।

समानता बनाम पूज्य पूजकता

अन्य मतावलम्बी इस ब्रात पर बड़ा गर्व करते हैं कि हमारे यहाँ अपने प्रत्येक सदस्य को अपने समान समझने की शिक्षा विद्यमान है। मियाँ लोग तो समानता और भ्रातृता को इस्लाम की देन बताते हुए इतराकर पायजामे से बाहर होने लगा करते हैं, परन्तु वास्तव में यह सभी मतवाले जहां अपने २ मतों के अनुयायी लोगों को 'महाशय' 'मोमिन' 'जटिलमैंन' और 'साथी' कहकर सम्बोधित करते हैं वहां दूसरों को दस्यु काफिर और नानसैन्स मानते हैं।

परन्तु सनातनधर्म किसी दूसरे को अपने समान मानने का अमानवोचित आदेश नहीं देता। यदि हमने हाथ पांव नाक कान आंख आदि सभी बातों में वस्तुतः हमारे समान इन्सान को इन्सान समझा तो क्या खाक समझा! सनातनधर्म तो प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने समान नहीं किन्तु अपना इष्टदेव साक्षात् भगवान् समझने का आदेश करता है। हमारे यहां माता-पिता आचार्य और अतिथि को—जननी, जनक, अध्यापक और मेहमान मात्र नहीं समझा जाता किन्तु देव समझा जाता है और इसी दृष्टि से उनका आदर होता है। वेद की प्रथम शिक्षा यही है कि—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ।

—तभी तो कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने डिंडिम-घोष किया है कि—

तुलसी या संसार में, सब से मिलिये धाय।
नां जाने किस रूप में नारायण मिल जाय ॥

गोस्वामी जी ने यह केवल वेद-शास्त्रों का मथितार्थ मात्र ही प्रकट नहीं किया, किन्तु एक भुक्तभोगी के नाते अपना चिर-कालीन अनुभव भी इन पंक्तियों में रख छोड़ा है। यह बात इतिहास प्रसिद्ध है, कि गोस्वामी जी ने श्री हनुमान्जी से भगवान् राम के दर्शन की उत्कट लालसा प्रकट की। भक्तवत्सल भगवान् एक दिन लक्ष्मण सहित अश्वारोही राजकुमार के रूप में दर्शन देने के लिये चित्रकूट के घाट के पास से—जहाँ कि गोस्वामी जी राम भजन में संलग्न थे—गुजरे, परन्तु गोस्वामी जी ने शिकारी राजपूत समझकर—देखने में पाप न लगे इस अभिप्राय से पीठ मोड़कर, मुख ढाँप लिया। सायं जब हनुमान्जी से उनके राम लक्ष्मण होने का रहस्य विदित हुआ तो अपने दुर्भाग्य पर फूट २ कर रोने लगे। पुनः दर्शन कराने का सख्त तकाजा किया।

आज मन्दाकिनी का पर्व स्नान था। चित्रकूट के घाटों पर बड़ी भीड़ लगी थी। राम लक्ष्मण और हनुमान् जी तीनों भी यात्री के रूप में स्नान करके घाट पर बैठे हुए गोस्वामी जी के पास पहुँच कर तिलक पेटी से तिलक लगाने लगे। गोस्वामी जी

कोलाहल में अपने मन को शान्त करने के विचार से नेत्र बन्द करके गोमुखी में हाथ डालने की तैयारी करने लगे। हनुमान्जी ने रहस्य का भांडा फोड़ करते हुए कह डाला कि—

चित्रकूट के घाट पर भई सन्तन की भीर।
तुलसीदास चन्दन घिसें तिलक देत रघुवीर ॥

गोस्वामी जी की मोह ग्रस्त भावना जागृत हो उठी। भर पेट भगवान् के दर्शन किये।

यह केवल तुलसी का इतिहास नहीं है किन्तु हम सब भी जिस भगवान् के लिये मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों और चर्चों की खाक छानते हैं, अनेक तीर्थ व्रत करते हैं, वह भगवान् अगणित बार हमारे जीवन में नाना रूप धर कर हमारे आगे पीछे घूमता है परन्तु हम उसे पहिचान नहीं पाते; उल्टा उसे वृद्ध, रोगी, या भिखमंगा, जानकर नाक-भौं सिकोड़ कर अपमानित कर बैठते हैं।

अर्जुन ने—आयुभर इकट्ठे रहते, रथ हांकते और दश अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता के सुनाते—सामने बैठे श्रीकृष्ण भगवान् को भगवान् न समझा, किन्तु अपना सगा सम्बन्धी और एक सलाहकार ही जाना, परन्तु जब भगवान् ने स्वयं कृपा पूर्वक अपना विराट् रूप दिखलाया तो दंग रह गए। केवल रथ पर बैठे सारथी कृष्ण को ही कृष्ण न समझकर अब तो वे समस्त चराचर को कृष्ण रूप में परिणत हुआ देखने लगे। आजतक जो कृष्ण को—'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा,' कह कहकर पुकारते रहे—इस पर पश्चात्ताप होने लगा, जिसका प्रायश्चित्त करने के

लिये—'पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते'—कहते हुए सहस्रमुख से क्षमा मांगने लगे।

इसलिये मानव धर्म ही सर्वोपरि है, मानव पूजा ही भगवत्पूजा है, स्वयं नर बन जाना ही नारायण प्राप्ति का निष्कण्टक मार्ग है।

हिन्दू-शब्द विवेचन

हम अपने ग्रन्थ 'पुराण दिग्दर्शन' में ऊहापोह द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि आदि सृष्टि भारत और उसके भी कुरुक्षेत्र नामक स्थानान्तरवर्ती ब्रह्मावर्त नामक स्थान में हुई थी। संसार की प्रत्येक जाति के आदिम पुरुषा उन्हीं की परम्परागत सन्तान कहे जा सकते हैं। यह घोषणा भगवान् मनु ने अपनी स्मृति में की है यथा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्—कुरुक्षेत्रादि देश समुद्भूत अग्रजन्मा द्वारा ही पृथ्वी भर के समस्त मानवों को अपना २ चारित्र्य शिक्षणीय है।

सो उन पूर्व पुरुषाओं की एक शाखा भारत के पञ्चनद देशों को लांघती हुई सिन्धु नद को पार करके यूनान, मिश्र, रोम और उससे आगे अमेरिका, महाद्वीप तक जा पहुंची। इस विजय प्रस्थान के मुंह बोलते प्रमाण 'मोहेंजो-दड़ो' माडी-इन्डस, आर्य स्थान (ईरान) अदन से लेकर सुदूर अर्जुन स्थान (अरजन्टाइना) तक फैले हुए हैं। आज भी अमेरिका के मूल निवासी रैड इण्डियन नाम से ही प्रख्यात हैं। अतः यह सुस्पष्ट है कि इस

शाखा के पुरुष अपनी सभ्यता और संस्कृति के साथ अपना पवित्र नाम भी अपने साथ लेते गये थे जो आगे चलकर सिन्धु 7 हिन्दु 7, हिन्द 7, इन्दु 7 इण्डो और इण्डियन आदि के रूप में उच्चारण भेद से अनेक रूपों में प्रचलित हुआ।

जैसे सब भाषाओं का उद्गम स्थान भारती देववाणी है ठीक इसी प्रकार विभिन्न विद्याओं का आदिम आविष्कारक भी हिन्दुस्थान ही है। इसीलिये आज भी ईराक ईरान फारस सुदूर टर्की तक के सभी लोग अङ्कों को 'हिन्दसे' और गणित विद्या को 'इल्मे हिन्दसा' कहते हैं जिसका तात्पर्य हिन्द से आनेवाली विद्या या हिन्दुस्तान की विद्या कहा जा सकता है।

सिन्धु से हिन्दु क्यों ?

सिन्धु संस्कृति के जन्म दाता लोग स्वयं 'सिन्धु' और पश्चात् हिन्दु, इन्दु किंवा इण्डियन कैसे बन गये—यह बात भाषा विज्ञान की परम्परा से सम्बन्ध रखती है जिसका निरूपण यहां किया जाता है।

वैदिक परिपाटी के अनुसार अनेक शब्द वर्णविपर्यय, वर्णा-गम आदि के कारण विभिन्न रूपों में भी उच्चरित होते हैं। ऐसे अनेक शब्दों के निर्वचन स्वयं वेद के ब्राह्मण भाग में विद्यमान हैं, जैसे मानुष शब्द की व्याख्या करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण (३ । ३३) में आता है कि—

"मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते

अर्थात्—(मा) मत (दुषम्) दोषयुक्त हो—इस अर्थ में मादुष

शब्द का परोक्ष रूप 'मानुष' बन गया। इसी प्रकार 'रुद्र' शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है कि—

'यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्'

अर्थात्—रोदन करने के कारण 'रुद्र' नाम पड़ा। ब्राह्मणोक्त निर्वचन की इस प्रकार की शैली के अनुसार श्री यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में अनेक ऐसे वैदिक शब्दों का निर्वचन भी किया हैं जिनमें सकारादि शब्दों का विकल्प से हकारादि रूप में वर्णन किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैदिक साहित्य की प्राचीन व्याख्या शैली को समझने वाला यही ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। दुर्भाग्यवश यदि यह भी अपने अनेक सहकारी ग्रन्थों की तरह लुप्त हो जाता तो आज वेदों को समझना ही कठिन हो जाता। उक्त प्रामाणिक ग्रन्थ में वेद के मन्त्रांश 'हरितो न रंह्याः' (अथर्व० २०।३०।४) की व्याख्या करते हुए (निघण्टु १।१३) में लिखा है कि 'सरितो हरितो भवन्ति, सरस्वत्यो हरस्वत्यः।' अर्थात्—'हरित' यह शब्द उच्चारण भेद से नदी वाचक 'सरित्' शब्द ही है और इसी भांति 'सरस्वती' को 'हरस्वती' भी कहते हैं।

वेद में अनेक शब्दों के सकारनिष्ठ और हकारनिष्ठ दोनों प्रकार के समानार्थक उदाहरण उपलब्ध होते हैं यथा—

(क) इमं मे गंगे! यमुने! सरस्वति! ...स्तोमं सचत। (ऋग्वेद १०।७५।५)

(ख) तं ममर्तु दुच्छुना हरस्वती (ऋग्वेद २।२३।६)

(ग) सितासिते सरिते यत्र संगते (ऋक्परिशिष्ट)

(घ) यं वहन्ति हरितः सप्त (अथर्व० १३ । २ । २५)
(ङ) श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (यजु० ३१।२२)
(च) ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ (कृ०य०तैत्ति० ३१।१)
(छ) शिरासन्धिसन्निपाते रोमावर्तोऽधिपतिः
(सुश्रुत० ६।७१)
(ज) हिरालोहितवाससः। (अथर्व० ५ । १७ । १)

यहां—(क) में सरस्वती और (ख) में 'हरस्वती' दोनों ही नदी वाचक शब्द देखे जा सकते हैं। (ग) में सरित् और (घ) में हरित् दोनों ही नदी वाचक शब्द विद्यमान हैं। (ङ) में श्री (च)में ह्री दोनों ही लक्ष्मी वाचक शब्द प्रत्यक्ष हैं। (छ) में शिरा और (ज) में हिरा दोनों ही नस नाड़ी किंवा धमनी वाचक शब्द विद्यमान हैं। विस्तारभयात् अधिक उदाहरण कहाँ तक दें।

कहना न होगा कि वेद में सकार के स्थान में हकार का उच्चारण भी सुतरां अभीष्ट है। यह इस प्रघट्ट से प्रमाणित है। एक से अधिक उदाहरण देने का यह तात्पर्य है कि केवल 'हरित्' शब्द मात्र ही वर्ण व्यत्यय मात्र से 'सरित्' नहीं समझना चाहिये किन्तु 'सरस्वती' 'हरस्वती आदि अन्यान्य अनेक शब्द भी इसी भाँति 'सकार स्थाने हकार उच्चारणीयः' समझने चाहियें।

लोक में भी यह वैदिक परिपाटी देश भेद से यत्र तत्र सर्वत्र प्रचलित है। भारतीय भाषाओं के 'सप्ताह' 'मास' और 'केसरी' आदि शब्द इबरानी भाषा भाषी देशों में—'हप्ता' 'माह' और 'केहरी' रूप में उच्चरित होते हैं। 'अश्व' शब्द को फारसी में 'अस्प' और अंग्रेजी में 'हौर्स' कहा जाता है। 'श्री' शब्द ही अंग्रेजी में 'सर' बनकर जर्मनी में 'हर' बन गया। मोहनभोग का

पर्याय 'सीरा' जहाँ फारसी में 'हरीरा' बना वहाँ भारत में ही प्रान्त भेद से मारवाड़ में 'हीरो' कहलाने लगा। संस्कृत में एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है कि—

आशीर्वादं न गृह्णीयान्मरुस्थलनिवासिनाम् ।

शतायुरिति वक्तव्ये हतायुरिति कथ्यते ॥

अर्थात्—मरुस्थलवासियों का आशीर्वाद नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वे 'शतायुः' (सौ वर्ष की आयु वाला) हो ऐसा कहने के स्थान में 'हतायुः' (नष्ट आयुः) कह देते हैं।

हिन्दी और उर्दू की सत्तावाचक 'है' क्रिया जो वास्तव में संस्कृत की 'अस्' धातु का ही हकारनिष्ट विकृत रूप है, हरियाणा प्रान्त में 'स' ही बोली जाती है।

कहां तक विस्तार करें यह एक नग्न सत्य है जिसका कोई साक्षर अपलाप नहीं कर सकता कि अनेक शब्दों में सकार के स्थान में हकार का उच्चारण वैदिक काल से प्रचलित है। ऐसी स्थिति में सिन्धु शब्द भी निरुक्त शास्त्रोक्त वर्ण व्यत्यय से 'हिन्दु' उच्चरित हो रहा है। वेद के मन्त्रभाग में भी ऐसे व्यत्यय के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं जिनमें कि हमारी जाति के पूर्व पुरुखाओं को—'सिन्धु जाति के नेता' कहकर स्मरण किया गया है। यथा:—

नेता सिन्धूनाम् (ऋग्वेद ७ । ५ । २)

यदि वेद में आर्य जाति का ऐतिहासिक वर्णन विद्यमान है तो फिर वेद अनादि अपौरुषेय कैसे हो सकते हैं—यह शंका उन्हीं मूर्खों को हो सकती है जिन्हें कि मीमांसा शास्त्र के—

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्

—सिद्धान्त का ज्ञान नहीं है। वेद में नद नदी पुरुष विशेषों के नाम देखकर यह कल्पना नहीं की जानी चाहिये कि 'तब तो वेद उन व्यक्तियों के पीछे बने,' बल्कि यह समझना चाहिये कि वेद में तादृश शब्द देखकर ही लोक में वैसे नाम रखने की परिपाटी प्रचलित हुई। इसलिये हम तो खम ठोककर यह कहने को उद्यत हैं कि वेदों का 'सिन्धु' शब्द ही उच्चारण भेद से 'हिन्दू' प्रसिद्ध हो गया।

विशिष्ट स्थलों में सकार के स्थान में हकार का आदेश पाणिनीय व्याकरण और इसके भाष्यकार तथा व्याख्याताओं को भी अभीष्ट है। जैसे 'अस्मद्' शब्द को प्रथमा के एकवचन में 'त्वाहौ सौ' (७। २। ६४) से अस्म को 'अह' आदेश होता है। लोट् लकार में सर्वत्र 'सि' को 'हि' करने वाला 'सेर्ह्यपिच्च' (३। ४। ८७) सूत्र सुप्रसिद्ध है ही। इसी प्रकार 'ह एति' (७। ४। ५२) सूत्र भी सकार को हकार करता है। सकार और हकार दोनों का ही 'ईषद्विवृत' और महाप्राण' प्रयत्न भी समान है। वर्णमाला में भी 'स' और 'ह' दोनों को एकत्र ही पढ़ा गया है। प्राकृत भाषा में तो सकार हकार के विपर्यय का बाहुल्य भरा पड़ा ही है। 'अस्मि', युष्माकं और 'अस्माकं' के स्थान में क्रमशः 'ह्मि' 'तुह्माण' और 'अह्माणम्' आता है।

हिन्दी भाषा के ख्यातनामा कवियों ने भी सकार के स्थान में हकार का आदर किया है जैसा कि श्री सूरदास जी 'पाषाण' शब्द के स्थान में 'पाहन' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

'पाहन पतित बाण नहीं भेदत रीता करहु निषंग।

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी—'पाहन ते न काठ कठिनाई'

लिखा है। रामचरित-मानस बालकाण्ड में भगवान् राम के शरीर सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्हें—

'केहरि कन्धर बाहु बिशाला।'

बताया गया है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि गोस्वामी जी उक्त चौपाई में 'केहरी' के स्थान में 'केसरी' भी रख देते तो वर्णमात्रा-जन्य छन्दोभंग की तनिक भी सम्भावना न थी, तथापि यहाँ हकारोच्चारण को आग्रह पूर्वक अपनाने का यही एकमात्र कारण है कि शब्द माधुरी और ओजस्विता की दृष्टि से 'हकार' सकार से अधिक उपादेय है। इसलिये यह कल्पना भी निर्हेतुक नहीं कही जा सकती कि साहित्य और संगीत आदि ललित कलाओं के जन्मदाता वीर सिन्धुओं ने उपर्युक्त गुणों के कारण ही अपने नाम में हकारोच्चारण को प्रधानता दी हो। जो हो 'हिन्दू' नाम अति प्राचीनतम वैदिक परम्परा का ही परिचायक है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

सिन्धु में 'धकार' तो हिन्दू में दकार क्यों ?

यहां यह ऐतिहासिक तथ्य भी प्रसंगवश स्पष्ट कर देना अनावश्यक नहीं कि रामायण महाभारत और पुराण ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रवंशीय सम्राट् ययाति के अन्यतम पुत्र तथा दैत्य-वंशीय राजा वृषपर्वा के दौहित्र 'द्रह्यु' को पश्चिमोत्तर प्रदेशों का राज्य मिला था, जिसकी वंश परम्परा में आगे चलकर प्रचेतावंशीय १०० राजाओं ने पश्चिम के देशों पर शासन किया, यथा—

'म्लेच्छाधिपतयोऽभवन् (श्रीमद्भाग० ६।२३।१६)

अर्थात्—'पाश्चात्य देश के अपभाषाभाषी लोगों के शासक हुए।' आज भारत से बाहर पाश्चात्य देशों की जितनी भी जातियें हैं वे सब उन्हीं चन्द्रवंशी क्षत्रियों की सन्तान हैं जो मनु महाराज के कथनानुसार—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥
(मनु० १० । ४३)

अर्थात्—अनेक क्षत्रिय जातियें ब्राह्मण लोगों के सम्पर्क में न रहने के कारण धार्मिक क्रिया-कलाप को भूल जाने से शूद्र-प्राय: म्लेच्छ=अपभाषा भाषी बन गईं।

चन्द्र शब्द का अन्यतम पर्याय 'इन्दु' है सो सिन्धु संस्कृति की पश्चिमी शाखा के पूर्व पुरुषा जहां 'सिन्धु' नाम से प्रख्यात हुए वहां वे अपने चन्द्रवंशीय होने के प्रतीक 'इन्दु' किंवा तदपत्य 'ऐन्दव' उपाधि से भी विश्वविख्यात हो गए। उक्त इन्दु और ऐन्दव शब्दों का विकृत रूप ही दकारहीन खरोष्ट्री भाषाओं में 'इन्डो' 'इण्डिया' और 'इण्डियन' आदि शब्दों के रूप में परिणत हो गया। 'सिन्धु और हिन्दू शब्दों में धकार और दकार के तारतम्य का कारण भी इन्दु शब्द संघटित दकार का अधिक प्रचलन ही कहा जा सकता है। इसलिये 'हिन्दु' शब्द के अर्वाचीन होने का भ्रम भी उन्हीं महाशयों को हो सकता है जो कि वैदिक वाङ्मय के अनुसन्धानात्मक अध्ययन से सर्वथा हीन हैं।

वैदिक वाङ्मय में हिन्दु शब्द

मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद में सकारोपलक्षित और लिङ्गोपदिष्ट

'हिन्दु' शब्द अनेक स्थानों में आता है। यथा:—

(क) नेता सिन्धूनाम्। (ऋग्वेद ७।५।२)

(ख) सिन्धुपतिः क्षत्रियाः। (ऋग्वेद ७।६४।३)

(ग) हिङ्कृण्वती...दुहामश्विभ्याम् (अथर्व० ९।१०।५)

(घ) सिन्धोर्गर्भोसि विद्युतां पुष्पम् (अथर्व० १९।४४।५)

(ङ) अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः (अथर्व० २०।३५।११)

(च) सिन्धौ अधिक्षियत। (ऋग्वेद १।१२६।१)

अर्थात्—(क) सिन्धुओं का नेता, (ख) सिन्धुपति क्षत्रिय। (ग) हिंकार करती गाय को दुहने वाला। (घ) [हे जन! तू] सिन्धु का गर्भ है [अतएव] तेजस्वी जनों का पोषक है। (ङ) इसके (ईश्वर के) ही तेज:—वरदान से सिन्धु लोग विजयी होते हैं। (च) सिन्धु देश में निवास करो।

उपर्युक्त प्रमाणों में समुद्र किंवा नद नदी वाचक 'सिन्धु' शब्द की कल्पना वही लोग कर सकते हैं जिन्हें कि—'अर्थं प्रकरणं लिङ्गं साहचर्य्यं विरोधिता'—आदि अर्थ निर्णायक तत्त्वों का ज्ञान न हो। पाठक जरा ध्यानपूर्वक मनन करें और देखें कि (क) भाग में सिन्धुओंके नेताका वर्णन किया गया है। समुद्र, नद, नदी आदि जड़ पदार्थों का कोई व्यक्ति स्वामी तो हो सकता है, परन्तु नय=नीति में चलानेवाला 'नेता' नहीं हो सकता, क्योंकि 'नेतृत्व' में चलने और चलाने की योग्यता केवल चेतनों में ही सम्भव है। अतः यहां 'सिन्धु' शब्द समुद्र आदि का वाचक न होकर तन्नामक जाति या जन समूह का ही वाचक हो सकता है। इसी प्रकार

(ख) भाग में स्पष्टतः ही सिन्धुपति क्षत्रियों का वर्णन विद्यमान है। यही उपाधि राणा प्रताप को 'हिन्दुपति' के रूप में प्राप्त हुई थी। (ग) भाग में—'हिङ्कृण्वती-दुहाम्' शब्दों में वत्स दर्शन संजातहर्षा—अतएव प्रसन्नता सूचक 'हिं हिं' शब्द करती हुई गाय का दोहन करनेवाली हिन्दु जाति का निर्वचन पूर्वक हि—दु नाम परोक्ष पद्धति से प्रकट कर दिया है। निरुक्तकार यास्क ने वेद की इसी निर्वचन शैली को ध्यान में रखकर घोषणा की है कि—

स्वरवर्णसाम्यान्निब्रूयात् (निरुक्त १ । ३)

अर्थात्—किसी स्वर या वर्ण=व्यञ्जन की समानता देखकर अमुक शब्द का यौगिक निर्वचन करना चाहिये।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मन्त्रों में तादृश शब्द, शब्दांश या अक्षरमात्र आ जाने पर भी उनका तत्तद् पदार्थों के ग्रहण में विनियोग सुतरां श्रौतसूत्रों को भी अभिप्रेत है। फिर चाहे वे शब्द अर्थान्तर के ही वाचक क्यों न हों! जैसे समस्त वैदिक अनुष्ठानों में दधि-दही अर्पण करते हुए **'दधिक्राव्णो अकारिषम्'** (ऋग्० ४ । ३९ । ६) इत्यादि मन्त्र बोला जाता है। यहाँ दधि शब्द 'दही' अर्थ का वाचक नहीं है और वास्तव में तो दधि शब्द ही यहां नहीं है किन्तु 'दधिक्रा' शब्द है, जिसका अर्थ घोड़ा है। निरुक्तकार ने दधिक्रा शब्द का निर्वचन करते हुए सुस्पष्ट लिखा है कि—**दधत्+क्रामति इति दधिक्रा अश्वः** (निरुक्त ४।३) अर्थात् जो सवार के पीठ पर चढ़ते ही कदम बढ़ाने लगता है वह चंचल पशु अपने इस गुण के कारण 'दधिक्रा' कहा जाता है। सो जैसे यहां दधिवाचक शब्द की अविद्यमानता में भी केवल शब्दांश मात्र 'द-धि' वर्णों के लिंग प्रमाण से उक्त मन्त्र का दधि

समर्पण में विनियोग विहित है। ठीक इसी प्रकार 'हिङ्कृण्वती और दुहाम्' मंत्रांश में तो लिङ्ग प्रमाण के साथ २ तदर्थ की संगति भी अबाध है।

'अक्षन्नमीमदन्त॰' (अथर्व॰ १८। ४। ६१) मन्त्र का अक्षत समर्पण में, अग्नि स्तावक 'उद्बुद्धस्वाग्ने' (यजु॰ १५। ५४) मन्त्र का बुध ग्रह की पूजा में, जलस्तावक 'शन्नो देवी (ऋग् १०। ६। ४) मन्त्र का शनि ग्रह के पूजन में विनियोग भी हमारे विवेचन के ही समर्थक हैं*। यदि क्रियानिष्ठ 'उद्-बुद्धस्व' से बुध, 'अक्षन्' शब्द से अक्षत, 'शं' मात्र से शनि आदि का वेद में परिग्रहण हो सकता है तो फिर हिं—दु से 'हिन्दु' का क्यों नहीं ?

शायद यहां यह समझाने की तो आवश्यकता नहीं है कि एक मात्र हिन्दु संस्कृति में ही यज्ञ यागादि सर्वविध इष्टापूर्त सम्बन्धी अनुष्ठानों में सवत्सा गाय का वत्सपान अवशिष्ट दूध ही ग्राह्य माना जाता है। अन्य लोग तो केवल दूध मात्र के इच्छुक हैं फिर चाहे वह पशु को डरा धमका कर अथवा मशीनों के द्वारा ही बलात् क्यों न सूंता गया हो। परन्तु हिन्दु संस्कृत का यह उद्घोष है कि—

---

* प्रमाण व्यसनी पण्डितों को उक्त विनियोगों की इतिकर्तव्यता जानने के लिये श्रौत एवं गृह्य सूत्रों एवं याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय का मनन करना चाहिये। वैसे ग्रहादि पूजा में इन मन्त्रों का विनियोग क्यों ? इस पर ग्रह प्रकरण में विचार किया गया है।

श्राद्धे सप्त पवित्राणि दौहित्रं कुतपस्तिलाः ।
उच्छिष्टं शिवनिर्माल्यं वमनं शवकर्पटम् ॥

अर्थात्—श्राद्ध उपलक्षित समस्त पितृ कार्यों में सात वस्तु पवित्र मानी जाती हैं। दौहित्र, नेपाली ऊन का आसन, तिल, बछड़े के पीने पर दुहा हुआ=उच्छिष्ट दूध, गंगोदक, शहद और शङ्ख किंवा रेशमी वस्त्र।

न केवल धार्मिक अनुष्ठानों में ही अपितु आयुर्वेदिक उपचारों में भी सवत्सा गाय का दुग्ध ही परिगृहीत किया गया है, अतः हिंकार करती हुई गाय को दुहना केवल हिन्दु जाति का ही परंपरागत धर्मसंगत व्यवहार है। वेद में उक्त भगवदाज्ञा को देखकर सिन्धु संस्कृति के प्राचीनतम पुरुषाओं ने इसे अपनाया था और अपनी इस विशेषता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये अपना तादृश नाम ही प्रख्यात कर दिया था।

(घ) भाग में गर्भ शब्द सिन्धु के जातिवाचक होनेमेंनियमन है। इसी प्रकार (ङ) भाग में तो स्पष्ट ही आस्तिक हिन्दु-जाति के विजय प्रस्थानों की सफलता का मूलमन्त्र उसकी ईश्वर निष्ठा को प्रकट किया गया है। (च) भाग में सिन्धु देश को आदिम पुरुखाओं का आवास प्रकट किया है। वहां 'अधिक्षियत' शब्द को 'क्षी निवासगत्योः' धातु से निष्पन्न समझना चाहिये।

तन्त्र और पुराण साहित्य में हिन्दु शब्द

तन्त्र ग्रन्थों और पुराण में तो 'हकारोपलक्षित' हिन्दु शब्द भी अनेक स्थलों में विद्यमान है। यथाः—

(क) हिन्दुधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः ।
हीनञ्च दूषयत्येव स हिन्दुरुच्यते प्रिये ॥
(मेरुतन्त्र प्रकाश २२)

(ख) अवनी यवनैः क्रान्ता हिन्दवो विन्ध्यमाविशन् ।
(कालिका पुराण)

(ग) हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ॥
(बार्हस्पत्य शास्त्र)

(घ) ....सप्त सिन्धुस्तथैव च ।
हफ्त हिन्दुर्यावनी च ....॥
(भविष्य पुराण प्रतिसर्ग ५ । ३६)

(ङ) हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान् ।
हेतिभिः शत्रुवर्गांश्च स हिन्दुरभिधीयते ॥
(परिजात हरण नाटक)

अर्थात्—(क) कलिकाल में हिन्दु धर्म का लोप करनेवाले चक्रवर्ती हो जायेंगे। [शिव कहते हैं, हे पार्वती !] हीन को दूषित करनेवाला हिन्दु कहा जाता है। (ख) पृथ्वी, यवन–म्लेच्छ प्रायः लोगों से भर जाएगी। हिन्दु [अपनी संस्कृति को बचाने के लिये] विन्ध्याचल में [तत्रस्थ दुर्गा भगवती की शरण में] जाएंगे। (ग) हिमालय पर्वत के 'हि' शब्दोपलक्षित उत्तरीय उपत्यका से लेकर इन्दु सरोवर=(कन्या कुमारी) के 'दु' शब्दोपलक्षित दक्षिणी समुद्र

के पुलिन तक विस्तृत देव निर्मित देश का नाम—'हि-न्दु-स्थान' कहा जाता है। (घ) वेदोक्त सकारोपलक्षित 'सप्त सिन्धु' शब्द का यूनान आदि देशों में हकारोपलक्षित अपर रूप 'हफ्त' 'हिन्दु' प्रचरित होगा*। (ङ) जो अपने दैहिक और मानसिक पापों का तपश्चर्या द्वारा विनाश करे और शस्त्रास्त्र से शत्रु समूह का सर्वनाश करे वह 'हिन्दु' कहा जाता है।

भौगोलिक शैली के अनुसार नद-नदी और भूभागों के लम्बे २ नामों का संक्षेप करने के लिये उनके एकाध अक्षर से भी काम लिया जाता है, जैसे पंजाब के पांच नदों के बीच के भूभागों को 'दो आबा'—अर्थात् दो नदों के बीच की शुष्क भूमि कहा जाता है। स्वभावतः पांच नदों के बीच में चार शुष्क भूखण्ड पड़ते हैं। उनके विशिष्ट नाम रखने के लिये उक्त प्रत्याहार शैली से ही काम लिया जाता है, जैसे व्यास नदी और रावी नदी के मध्यवर्ती भूखण्ड को दोनों नदियों के प्रथमाक्षरों के अनुसार 'दोआबा' 'बारी' कहते हैं। इसी प्रकार चनाव और झेलम नदी के मध्य-वर्ती भू भाग को दोआबा 'चज' कहते हैं। मुख्योपाध्याय, वन्द्यो-पाध्याय, और चट्टोपाध्याय आदि लम्बे शब्दों के संक्षिप्त संस्करण

---

* 'ग' भाग में जो प्रमाण उपन्यस्त है वह यत्र तत्र बार्हस्पत्य शास्त्र के नाम से उद्धृत किया गया है। अन्यत्र भी बार्हस्पत्य शास्त्र का उल्लेख मिलता है। सौभाग्यवश यदि यह ग्रन्थ धर्मान्ध मुसलमानों के हमामों की जघन्य ज्वालाओं की लपटों से बचाखुचा किसी विदेशी पुस्तकालय की कन्दरा में छुपा प्रकट हो गया तो इससे हिन्दु संस्कृति पर बहुत प्रकाश पड़ने की आशा है।

'मुखर्जी, बनर्जी, चटर्जी बंगाल में प्रसिद्ध हैं तो पंडित शब्द का संक्षिप्त संस्करण 'पंत' उत्तर प्रदेश में भी विद्यमान है।

भांड की पगड़ी की तरह आवश्यकता से अधिक लम्बायमान अंग्रेजी भाषा में तो संक्षिप्त संस्करणों की इतनी भरमार है कि उससे अर्थ का अनर्थ तक हो रहा है। बी० ए०, एम० ए०, डी० फिल्०, ऐम० पी०, डी० सी० कहां तक कहें नौ सौ निन्यानवें प्रतिशत शब्द इसी कोटि के हैं। हमारे एक परिचित व्यापारी सज्जन हैं जो 'मुण्डी' के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा की शिक्षा से सर्वथा शून्य हैं अंग्रेजी की पुस्तक तो उन्होंने कभी छुई भी नहीं परन्तु अपना नाम लिखते हैं धड़ल्ले के साथ C. L. Gupta B.A.। एक दिन आखिर हमने पूछ ही लिया—लालाजी, आपने अंग्रेजी तो पढ़ी नहीं ये बी. ए. की डिग्री आपको कहां से मिली ? लालाजी ने हंसते हुए कहा–'भाया तुं कोनो जाण, आ डिग्री तो मान परमात्मा क घरां सुं मिली है, मैं बीसा अगरवाल हांनी B क मान बीसा, A का मान अगरवाल, मेरो नाम चढ़तीलाल है जद तो होग्यो क नई C.L. Gufotu B.A. अस्तु।

प्रकृत में तात्पर्य यह है कि इसी पूर्वोक्त संक्षिप्तीकरण की रीति के अनुसार बार्हस्पत्य शास्त्रोक्त उपर्युक्त (ग) प्रमाण में भौगोलिक रीति से हिमालय से रास कुमारी तक के भू भाग को आद्य और अन्त्य अक्षरों के अनुसार संक्षेप में 'हिन्दुस्थान' बनाया गया है। यदि पंजाब का निवासी पंजाबी और बंगाल का बंगाली हो सकता है तो 'हिन्दुस्थान' का मूल निवासी भी सुतरां 'हिन्दू' ही कहा जा सकता है। आज भी विदेशों में भारत को हिन्द, या एच को साइलैन्ट करके 'हिन्दिया' के स्थान में 'इन्दिया' अथवा 'इण्डिया' कहा जाता है और यहां के निवासी को 'हिन्दी' या

'इण्डियन' पुकारा जाता है, फिर चाहे वह मुसलमान किंवा ईसाई आदि किसी मत में विश्वास रखने वाला ही क्यों न हो।

हमने स्वयं विदेशों में देखा है कि वहाँ मुसलमानों को 'हिन्दी' कहलाने में कोई आपत्ति नहीं परन्तु भारत में अंग्रेज शासकों ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का ऐसा बीज बोया है कि यहाँ का कठ-मुल्ला मुसलमान 'हिन्दी' या 'हिन्दू' शब्द से उतना ही बिदकता जितना कि खुले छाते से भैंस।

प्राचीन कोषों में हिन्दू शब्द

प्राचीन कोश ग्रन्थों (Dictionary) में 'हिन्दु' शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये हैं। यह सभी अर्थ हिन्दूजाति में सांस्कृतिक गुणों के रूप में सर्वथा संघटित होते हैं यथा—

(क) हिन्दुर्दुष्टनृहः प्रोक्तोऽनार्य्यनीतिविदूषकः।

सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः॥

(राम कोश)

(ख) हीनं दूषयति इति हिन्दुः जातिविशेषः।

(शब्द कल्पद्रुम)

(ग) हिन्दुर्हिन्दूश्च संसिद्धौ दुष्टानां च विघर्षणे।

(अद्भुत कोश)

(घ) हिन्दुर्हिन्दूश्च हिन्दवः। (मेदिनी कोश)

अर्थात्—(क) दुष्ट नर को हनन=दण्ड देने वाला, अनार्य नीति का विदूषक, सद्धर्म पालक विद्वान् और वैदिक धर्म परायण

व्यक्ति 'हिन्दू' कहा जाता है। (जैसे संस्कृत में 'हिंस' शब्द के वर्ण-व्यत्यय से 'सिंह' बन जाता है इसी प्रकार 'दुष्ट-हिंसक' शब्दों के पहिले अक्षरों के विपर्यय से 'हिन्दु' शब्द बनता है: (ख) हीन=धर्म भ्रष्ट पतित को दूषित=जाति भ्रष्ट करनेवाले को 'हिन्दु' कहते हैं। (यहाँ भी 'हीन—दूषक' शब्दों के प्रथमाक्षरों के संयोग से 'हिन्दू' शब्द बन जाता है। (ग) दुष्टों का दमन करने वाला व्यक्ति 'हिन्दु' कहा जाता है। (घ) हिन्दुः, हिन्दू और हिन्दवः तीनों एकार्थक हैं। अन्यान्य सभी कोशों में 'हिन्दु' शब्द के उपर्युक्त अर्थ ही लिखे हैं।

अन्वर्थनामा हिन्दू

हिन्दू शब्द के अर्थों में तीन विभिन्न विशेषताएं प्रकट की गई हैं। (१) दुष्टों का दमन करनेवाला (२) धर्मभ्रष्टों को जातिच्युत करने वाला। (३) हिंसा से दूर रहनेवाला। यह तीनों विशेषताएँ ही हिन्दू संस्कृति की अन्यतम प्रतीक हैं, जो प्राचीन हिन्दू धर्म के परम्परागत उत्तराधिकारी सनातनधर्मियों में अद्यावधि अक्षुण्णरूपेण विद्यमान हैं।

दुष्टों के दमन की अनेक गाथाएं हिन्दु ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं हिन्दू संस्कृति के विनाशक अभारतीय रावण के अत्याचारों का लेखा चुकाने के लिये भगवान् राम ने समुद्र बांधकर सोने की लङ्का को धूल में मिला दिया। मनुष्यों की कौन कहे भारत के गीध वानर और भालु भी एक अबला पर किये गये अत्याचारों को सहन न कर सके और अपने प्राणों पर खेल गए। यह सब केवल इतिहास की कथा मात्र बनकर नहीं रह गई, किन्तु अब भी प्रतिवर्ष भारत के छोटे बड़े प्रत्येक नगर गाँव में रामलीला के

रूप में इस दुष्ट दमन की गाथा भूयोभूयः पुनरावृत्ति की जाती है। अन्यून नौ लाख वर्ष पूर्व मारे गए एक सांस्कृतिक शत्रु का आज भी तथैव मुर्दा जलील किया जाता है।

अमृतसर के जलियाँ वाले बाग के बर्बरतापूर्ण हत्याकाण्ड के जिम्मेवार मिस्टर डायर को, वीर ऊधमसिंह सुदूर विलायत तक पहुंचकर भी गोली के घाट उतार देने के अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं होता।

सत्रह बार पराजित हो शरण में आये शहाबुद्दीन गौरी को छोड़ देने वाला, पृथ्वीराज चौहान दुर्भाग्यवश गौरी के हाथों पड़ जाने पर, और दोनों आंखें निकाल दिये जाने पर भी चन्द कवि के—

चार बांस चौबीस गज अंगुल अष्ट प्रमान।
ता ऊपर सुलतान है अब मत चूक चौहान।।

इस पद्य से संकेत पाकर शब्दबेधी बाण द्वारा अपने कृतघ्न और कायर शत्रु गौरी को समाप्त कर डालता है। दुष्ट दमन की यह घोर प्रवृत्ति हिन्दु की परम्परा प्राप्त बपौती है जो सांकर्यरहित हिन्दुओं में अधिकांश रूपेण और रक्त सम्बन्ध से हिन्दुओं की निकट वर्तिनी अफगानिस्तान की पठान जाति में तथा जर्मनी के कुछ कुटुम्बों में भी पाई जाती है।

दूसरी विशेषता है हीन=धर्मभ्रष्ट को दूषित=जातिच्युत कर देने की व्यवस्था। विश्वामित्र ने अपने गोभक्षक पुत्रों को शिखा-सूत्र विहीन, मुण्डितमस्तक और लम्बकूर्च बनाकर देश निकाला दे दिया था। महाराज अंशुमान ने प्रजा पीडक अपने पुत्र असमंजस का त्याग करते जरा भी आना-कानी नहीं की। प्रह्लाद ने

पिता का, भरत ने माता कैकेयी का, विभीषण ने भ्राता रावण का, केवल विचार वैषम्य के कारण सर्वथा बहिष्कार कर दिया था। बालहत्या के अपराधी अश्वत्थामा को—गुरुपुत्र होने पर भी सर्वस्व हरण करके निर्वसित कर दिया गया था। भारत के करोड़ों कथित नव मुस्लिम जाति-बहिष्कृत हिन्दु ही हैं। अब भी तादृश अपराध करने पर बहिष्कार का महास्त्र बराबर छोड़ा जाता है। भारतीय संस्कारों के कारण विशुद्ध राजनैतिक संस्था कांग्रेस में भी 'अनुशासन' के नाम पर बहिष्कार करने की प्रणाली प्रचलित है। गर्ज है कि सर्प दष्ट अंगुली की भांति धर्मभ्रष्ट व्यक्ति अपना कितना ही प्रियतम क्यों न हो उसे काट डालने में—पृथक् कर देने में, हिन्दु जाति तनिक भी लिहाज नहीं करती।

अन्य जातियें अपने बड़े से बड़े धर्मभ्रष्ट अपराधी को अपना होने के कारण पहलु में छुपा लेती हैं। फिर चाहे आगे चलकर इस प्रवृत्ति का भयङ्कर परिणाम समस्त जाति में तादृश दुराचार पनप जाने के कारण उसकी नैतिक मृत्यु क्यों न हो। लीगी मुसलमानों ने मि० जिन्ना का सुरापान नजर अन्दाज किया तो अब पाकिस्तान में मद्य की अत्यधिक खपत के कारण पहिले से पांच गुने दामो में ठेके नीलाम होने लगे हैं। सूद लेना इस्लाम की शरह के खिलाफ कहा जाता है, परन्तु पठानों जैसा सूदखोर दुनिया में ढूंढा नहीं मिलता जो एक रुपये मूल का सौ रुपये तक सूद वसूल करने में भी नहीं हिचकते।

अमेरिका ने 'हिरोशिमा' पर परमाणु बम गिराकर अढ़ाई लाख निरपराधों की हत्या की, परन्तु राष्ट्रसंघ उसे इसलिये पहलू में छुपाए बैठा है कि वह योरपियनों का अपना भाई है और मरने

वाले एशियाटिक हैं—इस दुर्नीति का भयङ्कर परिणाम यह है कि अब प्रत्येक देशमें अणु अनुसन्धानशालाओं का जाल सा बिछ रहा है जो आगे चल कर विश्व संहार का हेतु बनेगा।

कुछ आधुनिक लोग हिन्दुओं की इस बहिष्कार नीति की दुरालोचना करते हुए कहा करते हैं कि यदि 'छू छू' करके अपने ही भाइयों को न दुत्कारा जाता, तो भारत में नौ करोड़ मुसलमान न बन पाते और नांहो फिर पाकिस्तान बनता। परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि हमारी बहिष्कार नीति का परिणाम तो कुछ करोड़ हिन्दुओं की कमी हो सकती है परन्तु ऐसा करके तीस करोड़ संख्या को तो हमने बचा लिया। यदि उनके कथनानुसार धर्मभ्रष्टों को भी गोद में बैठाए रखते तो सभी तादृश आचार-भ्रष्ट बन जाते और हिन्दूजाति की इतिश्री ही हो गई होती। अब कुछ भाग ही पाकिस्तान बना है फिर समस्त भारत ही पाकिस्तान बना होता। शिथियन, हूण और ग्रीक आदि जातियों की तरह यह भी केवल इतिहास के पृष्ठों में ही ढूँढ़ी मिलती। सात सौ वर्ष के लम्बे अर्से तक विदेशी हकूमत चे नीचे रहते जीवित रह सकना यह आठवाँ आश्चर्य हिन्दू संस्कृति की बहिष्कार नीति का ही प्रत्यक्ष सुफल है। अस्तु

(३) हिंसा से दूर रहना—मन कर्म वचन से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना यह विशेषता भी एकमात्र हिन्दूजाति में ही उपलब्ध हो सकती है। इस्लाम तलवार से पनपा है, चंगेज, तैमूर और नादिर जैसे कत्लेआम के बदनाम हामी इस्लाम की साया में ही पले थे। इसलिये इस्लाम में दया ढूँढ़ना अरब के रेगिस्तान में पवित्रतोया गंगा को ढूँढ़ने के बराबर है। ईसा का पर्वत की चोटी पर से दिया हुआ उपदेश अब केवल अंजील के पन्नों की

शोभा बढ़ाने की चीज बाकी रह गया है और सर्वभक्षी कथित बौद्धों का अहिंसावाद भी अब केवल स्व० राहुल सांकृत्यायन जी की लेखनी की नोक में ही रौनक अफरोज है। इसलिये आज भी यदि, अदृश्य जीवों को अपने तीव्र श्वास से भी वेदना न पहुंचे —इस विचार से मुँह पर पट्टी बाँधने वाले अतिकारियों से लेकर भावी विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं की रोकथाम के लिये प्राणपण से रचनात्मक कार्य में जुटे राजनैतिक नेताओं तक को आदर्श अहिंसावादी के रूप में देखना हो तो वे एकमात्र भारत में—हिन्दू-परम्परा के उत्तराधिकारियों में ही देखे जा सकते हैं।

हिन्दू और अहिन्दू भेद के आधार

एक समय था जब विश्व के समस्त मनुष्य एक ही संस्कृति के पुजारी होने के कारण सभी 'हिन्दु' कहे जाते थे परंतु महाभारत के विश्वव्यापी महासंहार के पश्चात् सभी दिशाओं में विशृङ्खलता फैल जाने के कारण मनूक्त **'ब्राह्मणानामदर्शनात्'** हेतु से अनेक मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव होने लगा। आरम्भ में चाहे तत्तद् मतों की भूल भित्ति वैदिक आदर्शों पर स्थिर की गई थी, परंतु समय बीतने के साथ उन नये मतों में पुरानी परम्पराओं का ह्रास और अनेक विकृत विचारों का बाहुल्य स्वाभाविक था। अतः अन्त में—

रफ्ते २ जिस्मो जां में बरहमी जब हो गई।
खत्म इक दास्ताने जिन्दगी तब हो गई।।

के अनुसार आचार विचारों के भेद की दरार इतनी चौड़ी हो गई

कि अभारतीय देशों के लोगों को हिन्दू के रूप में पहिचानना भी कठिन होगया। पं० जी शौच के लोटे को सात बार मिट्टी से मलने पर भी शुद्ध न मानने के अपने पुराने संस्कारों को छोड़ने को तैयार न हुए तो मुल्लाजी मिट्टी के बधने में आबदस्त से बचे पानी से ही वजू करके अपनी नमाज अदायगी की आदत को आरामदेह समझने लगे। आखिर समझौता कैसे हों ? कुछ जंटिलमैन इस द्वन्द्व को मिटाने के लिये मध्यस्थ हुए परन्तु, जब उन नादान दोस्तों ने लोटे बधने की समस्या का अन्य कुछ हल न देखा तो उन्होंने शौचक्रिया=आबदस्त में पानी के बखेड़े को ही खत्म कर डाला और कागज के चन्द टुकड़ों से मलद्वार को पोंछ डालना मात्र ही आसमानी बाप का हुक्म घोषित किया। गाय और सूअर दोनों को चट करके भी सन्डे की शाम को गिरजाघर में 'बांईं गाल पर तमाचा खाकर दायीं गाल को सामने कर देने' की हास्यास्पद दुआ जा मांगी।

न्यूनाधिक सभी अवैदिक मतों में ऐसी ही धांधली मची हुई है इसलिये अब यह आवश्यक हो गया है कि प्राचीन हिन्दु-संस्कृति के प्रतीक भूत मानव-समूह की एक ऐसी परिभाषा निश्चित हो जानी चाहिये जो कि व्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव इन दोषत्रयों से अपरिमृष्ट एवं हिन्दु संस्कृति के मूल आधारों को अधिक-से-अधिक व्यक्त कर सकने में समर्थ हो। इसी पुनीत आशय से प्रेरित होकर भारत के कुछ ख्यातनामा महानुभावों ने तादृश प्रयत्न किये हैं। उनमें से कौन महानुभाव किस सीमा तक अपने प्रयत्न में सफल हो पाए हैं-यह तो तुलनात्मक विश्लेषण से अनुपद विज्ञ पाठक निर्णय करेंगे, परन्तु मार्गदर्शक होने के नाते वे सभी स्तुत्य हैं यह हमारी दृढ़ धारणा है।

लोकमान्य तिलककृत हिन्दु परिभाषा

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता ।
उपस्यानामनियमो हिन्दुधर्मस्य लक्षणम् ॥

अर्थात्—वेदों में प्रामाण्यबुद्धि रखना, तत्तद् साम्प्रदायिक विभिन्न नियमों की पालना करना और [मनोवैज्ञानिक रीति से आस्थानुरूप] अनेक उपास्य देवताओं में से किसी एक में अनन्य भक्ति रखना—यह हिन्दु धर्म का लक्षण है।

लोकमान्य श्री बालगङ्गाधर तिलक का उपर्युक्त लक्षण अकाली सिक्खों, बौद्धों और खासकर जैनों में अव्याप्त है, विचार की दृष्टि से जैन व बौद्ध दोनों और आचार की दृष्टि से जैन तथा अकाली कथमपि अहिन्दु नहीं कहे जाने चाहियें। इन संप्रदायों के मुट्ठी भर कथित नेता राजनैतिक विशेषाधिकारों के प्रलोभन से भले ही अपने पृथक् होने की चर्चा करते हों परन्तु वस्तुतः ये सब न कभी अहिन्दु थे और न अब कहे जा सकते हैं। यों तो वेदाभिमानी होने के नाते हमारे सर्वाधिक निकटवर्ती आर्यसमाजियों ने भी अंग्रेजी शासन के समय अपना हिन्दुओं से एक पृथक् ग्रुप बनाने का असफल प्रयत्न किया था। अब भी जनगणना के समय कुछ अदूरदर्शी दयानन्दी—खासकर घास पार्टी के कर्णधारों के विकृत मस्तिष्क में तादृश तूफान वर्पा हो ही जाता है। परन्तु इन नगण्य हेतुओं से इन सबको हिन्दू धर्म की सीमा से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता और जब तक आचार में वैसा कोई विकार नहीं आएगा तब तक भविष्य में भी पृथक् न किया

जाएगा। इसलिये हमारे तुच्छ विचार में श्री लोकमान्यजी का उपर्युक्त लक्षण हिन्दू समाज के एक बड़े भाग को हिन्दुत्व से वञ्चित रखने वाला होने के कारण अदुष्ट लक्षण नहीं कहा जा सकता।

वीर सावरकर कृत हिन्दू की परिभाषा

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतिः॥

अर्थात्—पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र पर्यन्त भारत भूमि जिस व्यक्ति की पितृभू और पुण्यभूमि हो वह हिन्दू कहा जाता है।

यह लक्षण श्री लोकमान्य तिलक महोदय के लक्षण से तो अधिक व्यापक है, परन्तु आदिम सृष्टि का उत्पत्ति स्थान भारतवर्ष को मानने पर विश्व के सभी मनुष्यों की 'पितृभू' भारत भूमि ही सुतरां सिद्ध है। अतः लक्षण में 'पितृभू' शब्द का कुछ भी मूल्य अवशिष्ट नहीं रहता और यदि अभारतीय लेखकों के मतानुसार हिन्दुओं को बाहर से आये हुए माना जाए तो स्वयं हिन्दुओं की भी यह पितृ-भूमि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः दोनों दृष्टियों से उक्त लक्षण चिन्तनीय है।

श्री प्रभाकर श्रीधरकृत हिन्दू की परिभाषा

(मासिक) 'संस्कृत रत्नाकर' जयपुर (श्रावण १९९६) में छिन्दवाड़ा (मध्य प्रदेश) के उपर्युक्त सज्जन ने हिन्दु की निम्नलिखित परिभाषा प्रकट की थी।

हिंसया दूयते यश्च सदाचरणतत्परः ।
वेद-गो-प्रतिमा-सेवी स हिन्दु मुखवर्णभाक् ॥

(वृद्ध स्मृति)

जो हिंसा से दूर रहे, और ब्राह्मण—सदाचरण=श्रेष्ठ आचार में तत्पर; क्षत्रिय—सदा चरण=सर्वदा ही युद्ध में तत्पर; वैश्य—सदा चरण=सर्वदा यात्रा में तत्पर; शूद्र—सद् आचरण=सज्जन पुरुषों की भली प्रकार चरण सेवा करने में तत्पर रहे। इसी प्रकार ब्राह्मण—वेद-गो-प्रतिमासेवी=वेदवाणी के प्रामाण्य का सेवक; क्षत्रिय—वेद-गो-प्रतिमा=वेद, पृथ्वीमण्डल और पृथ्वी की विग्रह मूर्ति गाय का रक्षक; वैश्य—वेद-गो-प्रतिमा=वेद, गाय और नाप तोल के साधन अर्थात् वाणिज्य व्यवसाय का पालक; शूद्र—वेद-गो (वेदा गवि येषाम्)=द्विजों की तथा प्रतिमा=भगवत्प्रतिमाओं की सेवा करने वाला हो वही 'हिन्दु' नाम का अधिकारी है।

उक्त लक्षण में वर्णाश्रम के अनुरोध से स्ववर्णोचित कर्म अनुष्ठान परायण को 'हिन्दु' कहा गया है। वस्तुतः विशुद्ध सवर्ण हिन्दु का तो उपर्युक्त लक्षण उपयुक्त हो सकता है, परन्तु आज के युग में वर्ण बाह्य कई वर्ग ऐसे भी विद्यमान हैं जो कि आचार में किञ्चित् वैषम्य रखते हुए भी, विचारों में किसी वर्णाश्रमी से कम हिन्दू धर्म संस्कृति और जात्याभिमान के पुजारी नहीं कहे जा सकते। उपर्युक्त लक्षण में ऐसे विचारक निष्ठावान् असवर्ण सज्जनों की उपेक्षा कर दी गई है, अतएव यह लक्षण भी बहु-संख्यक हिन्दुओं में अव्याप्त होने के कारण सदोष है।

इसी से मिलते-जुलते लक्षण स्व०श्री भाई परमानन्द एम०ए० लाहौर ने, तथा स्व० रामदास गौड़ एम० ए० बनारस ने किये हैं

जिनकी अकिञ्चित्करता भी हमारे पूर्वोक्त सन्दर्भ से ही हो जाती है। अतः यहां उसके पृथक् प्रपञ्चन की आवश्यकता नहीं है।

हिन्दू की हमारी परिभाषा

प्रसिद्ध पत्र 'कल्याण'—गोरखपुर के 'हिन्दू संस्कृति' अङ्क में हमने 'हिन्दू कौन ?' शीर्षक एक लेख लिखा था जिसमें हिन्दू की परिभाषा निम्नलिखित व्यक्त की थी। अनेक विद्वानों ने उसे बहुत पसन्द किया। कई सज्जनों के तादृश पत्र भी प्राप्त हुए। खास कर अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने तो उक्त अङ्क में ही हमारी इस परिभाषा को अपनाकर इसे गौरवान्वित कर दिया। इसलिये उसे यदि सर्वथा नहीं तो आज-तक की दूसरे मान्य महानुभावों द्वारा निश्चित की गई परि-भाषाओं की अपेक्षा अदुष्ट अवश्य कहा जा सकता है। वह इस प्रकार है :—

ॐकारमूलमन्त्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः ।
गोभक्तो भारतगुर्हिन्दुर्हीनत्वदूषकः ॥

अर्थात्—ओंकार जिसका मूलमन्त्र हो (२) पुनर्जन्म में दृढ़ विश्वास रखता हो, (३) गाय को पूज्य मानता हो, (४) भारत जिसका गुरु घर हो, और (५) धर्मभ्रष्टों को जातिच्युत करने वाला हो, वह व्यक्ति 'हिन्दु' कहा जाने योग्य है।

उपर्युक्त लक्षण के अनुसार सनातनी, आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध—हिन्दु धर्म की ये पाँचों प्रधान शाखाएं अपने अवान्तर भेदों सहित हिन्दु सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि हिन्दुत्व की उपर्युक्त पाँचों विशेषताएं समान आचार-विचार वाली उक्त

पांचों शाखाओं में निर्बाध रूप से पाई जाती है। अतः यह लक्षण उन सबमें सुतरां व्याप्त है।

साथ ही अनभिष्ट विषम आचार-विचार-सम्पन्न ईसाई, मुसलमान यहूदी और पारसी आदि अवैदिक—हिन्दुत्व से सर्वथा दूर—अन्यान्य शाखाओं में यह लक्षण अतिव्याप्त भी नहीं होता क्योंकि उनमें लक्षणोक्त एक भी विशेषता नहीं दीख पड़ती—यह बात नीचे के प्रघट्ट से सुस्पष्ट हो जाएगी।

पांचों ही हिन्दू क्यों?

हमारी पूर्वोक्त हिन्दु परिभाषा में जिन पांच विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वे सब सनातनी आदि पांचों शाखाओं में किस प्रकार उपलब्ध होती हैं यह सप्रमाण और लक्षण समन्वय पूर्वक नीचे अङ्कित किया जाता है।

पांचों का मूलमन्त्र ॐकार

सनातन धर्मी—सन्ध्यावन्दन वेदपाठ आदि सभी कृत्यों में सर्व प्रथम ॐकार का प्रयोग करते हैं। वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य सभी सम्प्रदायों के मूल मन्त्र प्रणव संघटित हो पढ़े जाते हैं। सनातनियों के धार्मिक ग्रन्थ वेदादि सभी शास्त्रों में ॐकार की महिमा सर्वोपरि है। यथाः—

(क) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति…ओमित्येतद्

(कठ० १। १५)

(ख) ओमित्येत्......सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।

(माण्डूक्य० १)

(ग) ओं इत्येकाक्षर ब्रह्म (गीता ८ । १३)

अर्थात्—(क) समस्त वेद जिस पद का वर्णन करते हैं वह 'ओम्' है। (ख) ओम् इस एक अक्षर का ही सब वैदिक वाङ्मय व्याख्यान है (ग) ओं यह एक अक्षर साक्षात् ब्रह्म है।

इस प्रकार सनातनी हिंदू अपने जीवन कालिक समस्त धार्मिक अनुष्ठानों के प्रयोग में जहाँ प्रणव मन्त्र—ओंकार का प्रयोग अनिवार्य मानता है वहाँ मृत्यु के समय भी भगवद्गीता के आदेशानुसार ॐ का जप करता हुआ ही महाप्रस्थान करता है।

आर्यसमाजी—तो ओंकार के इतने बड़े भक्त हैं कि वे 'सत्यार्थ प्रकाश' के लेखानुसार इसे परमात्मा का खास नाम मानते हैं, इसे अपने धार्मिक ध्वजों में अङ्कित करते हैं, और सांचे में ढली धातुमयी प्रणव प्रतिमाओं को कोट के कालर पर या टोपी के अग्रभाग में लगाकर गर्व अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनका यह श्रद्धातिरेक तो बढ़ते २ अन्ध श्रद्धा के रूप में यहाँ तक पहुंच गया है कि—'वेदबीज' होने के कारण प्रणव जाप के लिये वेदादि शास्त्रों में जो देशकाल और पात्र की मर्यादा स्थिर की गई है उसे भी भंग करके अब वे सर्वत्र, सब समय, और सभी के लिये ओंकार जाप की खुली छूट देकर 'सभी धान बाईस पंसेरी' के भाव बेचने को उद्यत हैं।

सिक्ख—'ग्रन्थ साहिब' के मङ्गलाचरण—'इक्क ओंकार

सिरी सतगुर परसादो' बोलकर ही 'शब्दवाणी' आरम्भ करते हैं। झण्डा साहिब में और यत्र तत्र सर्वत्र भी गुरुमुखी भाषा में ॐ अंकित करना परमावश्यक मानते हैं।

जैनी—सज्जन भी अपने धर्म के मूल मन्त्र—'नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणम्' को प्रणवोच्चारण पूर्वक पढ़ते हैं।

बौद्ध—लोगों का मूल मन्त्र भी प्रणव संघटित—ओं-मणिपद्मे हुम्' प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की इन पाँचों विशिष्ट शाखाओं में ओंकार का समान आदर है। उक्त शाखाओं के आभ्यन्तरिक भेदों और उपभेदों में भी वह तथैव समादृत हुआ है विस्तार भयात् अधिक उल्लेख अनावश्यक है।

पाँचों का पुनर्जन्म में विश्वास

पाँचों शाखाओं में पुनर्जन्म का सिद्धान्त समान रूप से समादृत है, यथा—

(क) बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

(सनातनी ग्रन्थ भगवद्गीता)

(ख) जब शरीर छोड़ता है तब······परमेश्वर पाप पुण्यानुसार जन्म देता है······दूसरे शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है।

(आर्यसमाजी ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ २६२)

(ग) हेमकूट पर्वत है जहाँ, जहाँ पाण्डव जोग कमाया।
कलि में कठिन तपस्या साधी, महाकाल कालिका
अराधी। (श्री गुरु गोविंद सिंह द्वारा स्वपूर्व जन्म
कथन–सिक्ख ग्रन्थ विचित्र नाटक)

(घ) सप्पो इक्कं मरणं कुगुरु अणन्ता अदेइ मरणाई।
तो वरि सप्पं गहियुं मा कुगुरु सेवणं भद्दम् ॥
(जैन ग्रन्थ 'प्रकरण रत्नाकर' भाग २ सूत्र ३७)

(ङ) रागादिज्ञानसन्तानवासनाच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥
(बौद्धग्रंथ–'विवेक विलास' १०)

अर्थात्—(क) [अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं कि] हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं। (ख) [आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्दोक्त भाषा स्पष्ट है](ग) [गुरुवाणी स्पष्ट है] (घ) सर्प के डसने से एक बार ही मृत्यु होती है, परन्तु खोटे गुरु के कुसंग से बार बार जामना और मरना पड़ता है इसलिये सर्प का काटना अच्छा परन्तु खोटे गुरु की सेवा करनी अच्छी नहीं [यह जैन मत स्पष्ट है] (ङ) राग द्वेष आदि की परम्परा का और वासना का नाश हो जाना ही चारों बौद्धों की अभिमत मुक्ति है [जब तक वासना बनी रहेगी तब तक जन्म-मरण पुनर्जन्म-मरण अनिवार्य है—यह बौद्ध-मत स्पष्ट है]।

पाँचों ही समान गोभक्त

सनातनी आदि पाँचों शाखाएँ गाय को माता मानती हैं, यह प्रकरण इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध के अन्त में मङ्गलाचरण रूपेण सप्रमाण अङ्कित किया जा चुका है। अतः पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं, सनातनधर्मियों का कोई कृत्य गोपूजन गोदान और पञ्चगव्य के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने गो-महिमा प्रकट करने के लिये 'गोकरुणानिधि' नामक स्वतन्त्र पुस्तक लिखा था। सिक्ख सम्प्रदाय का तो जन्म ही गोघात को दूर करने के लिये हुआ था। यह बात दशम ग्रन्थ (विचित्र नाटक) में श्री गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपनी कविता में प्रकट की है, यथा—

यही देहु आज्ञा तुरक को खपाऊँ।
गौघात का पाप जग से मिटाऊँ॥

जैनाचार्यों ने सम्राट् अकबर के समय में गोरक्षा के लिये अविस्मरणीय प्रयत्न किये थे, जिनके प्रभाव से म्लेच्छ राज्यकाल में भी गोरक्षण की ऐसी गहरी नींव पड़ी थी जो कि मुगलवंश के अन्तिम शासक बहादुरशाह के राज्यकाल तक भी अक्षुण्ण बनी रही। ऐसे तत्कालीन शाही फरमान आज भी भूपाल स्टेट के पुस्तकालय में सुरक्षितं हैं। उस समय गोशिष्ट-मण्डल ने गो प्रतिनिधि रूपेण अकबर महान् के सामने जो कवित्वमय स्मृतिपत्र उपस्थित किया था वह आज भी हिन्दी साहित्य की विशिष्ट निधि माना जाता है। विशेष परिज्ञान के लिये हमारा बनाया 'हमारा-गोधन' नामक पुस्तक द्रष्टव्य है।

अब बौद्धों का रूप चाहे कितना ही विकृत क्यों न हो गया हो, परन्तु आरम्भ में गौतम बुद्ध ने जीवहिंसा की रोक थाम की दृढ़ शिला पर ही अपने मत की गगनचुम्बिनी अट्टालिका खड़ी की थी।

अंग्रेजी शासन में सन् १८५७ का प्रसिद्ध विद्रोह गो-चर्बी निर्मित कारतूसों के कारण ही हुआ था। पंजाब के कूका विद्रोह का मूल कारण भी गोहत्या निरोध ही था, जिसमें अन्यून तीनसौ गोभक्त व्यक्ति तोपदम कर दिये गये थे। आज भी गाय के नाम पर सच्चा हिंदू प्राण न्यौछावर करता हुआ आनाकानी नहीं करता।

पाँचों के मत प्रवर्तक—भारतीय

सनातनधर्मी सिद्धांतों के मूल ग्रन्थ अपौरुषेय वेदों के द्रष्ट, स्मर्ता, व्याख्याता और अनुष्ठाता सभी भारत की विभूति हुए हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके पट्ट-शिष्य श्री मुन्सीराम (पश्चात् स्वा० श्रद्धानन्द) श्री लेखराम, श्री गुरुदत्त आदि सभी सज्जन निर्विशेष भारतीय ही थे। सिक्खों के दशों गुरु भारतीय थे। जैनियों के महापुरुष श्री ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थङ्कर भारतीय ही हुए हैं। बौद्धधर्म के मूल प्रवर्तक श्री गौतम बुद्ध और उसे विदेशों में प्रचारित करने वाली सम्राट् अशोक की राजकुमारी संघमित्रा भारतीय ही थी। इस तरह उक्त पाँचों शाखाओं के आदिम पुरुषा सब भारतीय ही हुए हैं उनके जन्म-स्थान लीलास्थान और निर्वाण-स्थान आज भी तीर्थों के रूप में भारत में ही विद्यमान

है। चीन, जापान, कोरिया, वर्मा और तिब्बत आदि स्थानों के बौद्ध, गुरुगृह की पुनीत यात्रा करने के निमित्त आज भी भारत में ही आते हैं।

पाँचों में हीनत्व-दूषण-प्रथा विद्यमान

धर्मभ्रष्ट सहकारी को जातिच्युत कर देने की प्रथा सनातन-शाखा में विशेषतया और आर्यसमाज, जैन-समाज तथा सिक्ख-सम्प्रदाय में साधारणतया और बौद्ध शाखा में यथा कथञ्चित् आज भी विद्यमान है। सनातनधर्मी शाखा के हीनत्व दूषण की चर्चा 'अन्वर्थनामा हिन्दू' शीर्षक के नीचे हम पीछे कर चुके हैं। आर्यसमाज ने श्री बुद्धदेव विद्यालङ्कार और हमारे मध्य में होने वाले दक्षिण हैदराबाद के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में श्री बुद्धदेव जी द्वारा स्वामी दयानन्द जी के पवित्र चित्र पर उपानत् प्रहार कर देने के अपराध पर उन्हें आर्यसमाज से बहिष्कृत कर दिया था। वे आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजाब) के आजीवन सदस्य और प्रधान थे, इसी आधार पर उनके जीवन का 'बीमा था और अन्यान्य भी कई सुविधाएँ थीं, बहिष्कार में वे सब बातें खत्म कर दी गईं थीं। आर्य नेता स्व० श्री नरदेव शास्त्री ने तो उनके नाम के आगे सम्मान सूचक 'श्री' शब्द न लगाने का भी फतवा दिया था। हमें आर्य समाज के इस कृत्य के औचित्य पर व्यक्तिगत चाहे कितनी भी विप्रतिपत्ति हो परन्तु वास्तव में आर्यसमाज की यह निष्ठा उनकी हीनत्व-दूषक प्रवृत्ति की ही परिचायिका थी।

जैन समाज में ढूंढ़िये, तेरह पन्थी, आत्मारामी और तुलसिये आदि अनेक दलों का प्रादुर्भाव तभी हुआ जब कि कुछ लोग अमुक आचरण के कारण मूल सम्प्रदाय की सीमा में न समा

सके, और उन्हें अपना स्वतन्त्र थोक निर्माण कर लेना पड़ा।

सिक्खों का अकाली फिर्का अपने नवीन विचारों के कारण ही मूलपन्थ का अनुयायी न रह सका। इतिहास साक्षी है कि सिक्खों के प्रसिद्ध वीर, पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह को तत्कालीन सिक्खों ने ढली उमर में दाढ़ी काली बनाने के निमित्त खिजाब लगा लेने के छोटे से अपराध पर पन्थ से बहिष्कृत कर डालने का भय दिखाकर अमुक प्रायश्चित्त करने के लिये विवश कर दिया था।

चीन, बर्मा, हिन्दचीन आदि स्थानों के वर्तमान नव मुस्लिम-धर्म-बहिष्कृत बौद्ध ही हैं, जो समय २ पर तादृश आचार-विचार के कारण ही तत्तत् स्थानीय बौद्धों द्वारा जातिच्युत कर दिये गये थे। इस प्रकार सनातनी आर्यसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध ये पांचों वर्ग प्रणवात्मक मूल मन्त्र की समता के कारण, पुनर्जन्मादि परलोक विषयक सैद्धान्तिक तुल्यता के कारण, गोभक्ति रूप सादृश्य के कारण, भारत में उत्पन्न हुए पूर्व पुरुखाओं की समान सन्तान होने के कारण, अथच धर्मभ्रष्ट सदस्यों को जातीय दण्ड देने की अविशिष्ट प्रवृत्ति के कारण—अर्थात् इन पांच प्रबल हेतुओं से सुतरां 'हिन्दु' पद वाच्य हैं। यही इनके हिन्दुत्व का मूल आधार है। साधर्म्य के कारण संसार की तीन अर्ब जन संख्या में आज भी आधे से अधिक हिन्दु हैं जो भूमण्डल के विभिन्न भागों में बिखरे हुए भी अभिन्न हैं—नाना नाम रूप और विभिन्न आचार विचार रखते हुए भी एक हैं—शरीरेण पृथक् पृथक् होते हुए भी आत्मना ऐक्य के प्रतीक हैं!!!

हिन्दु का यह लक्षण जहां अपेक्षित पांचों वर्गों में व्याप्त है वहां अनपेक्षित मुसलमान, ईसाई और मुसाई आदि फिरकों में अतिव्याप्त भी नहीं, क्योंकि मुसलमान आदि मजहबों में ओंकार का साक्षात् कुछ मूल्य नहीं, वे सभी पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते। गाय के प्रति उनकी दुर्भावना जगत्प्रसिद्ध है, उनमें से किसी भी मत का प्रवर्तक भारतीय नहीं और धर्मभ्रष्टों के लिये अनुशासनात्मक दण्ड का तो उनमें सर्वथा अभाव है।

इस तरह उपर्युक्त लक्षण व्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषों से उन्मुक्त होने के कारण सर्वथा अदुष्ट है।

हिन्दु शब्द के विरुद्ध दुष्प्रचार से पाकिस्तान बना

आर्यसमाज ने अस्तित्व में आते ही जहां हिन्दुओं में वेदों के नाम पर अनेक अवैदिक भाव प्रचरित किये वहाँ सबसे अधिक भयावह आन्दोलन 'हिन्दु' नाम को ही वदनाम कर डालने का भी चलाया। यद्यपि आर्यसमाज की यह घातक प्रवृत्ति आशातीत राजनैतिक लाभों पर आधारित थी, तथापि इससे हिन्दु समाज को जो भारी क्षति पहुंची वह उपेक्षणीय नहीं है। अंग्रेज 'फूट डालो राज करो' की अपनी कुटिल नीति से शासन चला रहा था। विशेषाधिकारों के नाम पर पहिले मुसलमान और फिर अछूत क्रमशः अपने अपने स्वतन्त्रदल स्थापित कर चुके थे। सिक्खों ने भी अकाली आन्दोलन चलाकर अपने को अहिन्दू घोषित करनें का आत्मघात कर डाला था, ऐसे आड़े वक्त में आर्यसमाज नामधारी हिन्दुवर्ग ने भी विशेषाधिकारों के प्रलोभन की दुराशा में

अपनें आपको हिन्दुओं से पृथक् एक स्वतन्त्र दल घोषित कर दिया।

आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी ने सन् १८७५ में बनारस के 'लाजरस' प्रेस में छपे और राजा जयकृष्णदास द्वारा छपवाए हुए प्रथमावृत्ति 'सत्यार्थ-प्रकाश' (समुल्लास ३ पृष्ठ ६७) में हिन्दू शब्द के अर्थ—'चोर, काफिर, गुलाम, दुष्ट, नीच, कपटी और छली, इत्यादि किये हैं। स्वामी जी ने लिखा है कि—'आर्य नाम श्रेष्ठ का है, जो हिन्दु नाम इनका रक्खा है सो मुसलमानों ने ईर्ष्या से रक्खा है। उसका अर्थ है—दुष्ट, नीच, कपटी, छली और गुलाम। इससे यह नाम भ्रष्ट है अतः आर्यों का नाम 'हिन्दु' कभी न रखना चाहिये। (सत्यार्थ प्रकाश [प्रथमावृत्ति] पृष्ठ ६७)।

इसी प्रकार मुंशी लेखराम जी नामक पंजाबी आर्य-समाजी महाशय ने 'कुलयात आर्य मुसाफिर' नामक एक पुस्तक उर्दू भाषा में लिखकर जहाँ श्री दयानन्दोक्त अन्यान्य अनेक मन्तव्यों की वकालत की वहाँ 'हिन्दु' शब्द के काफिर, चोर, गुलाम लुटेरा आदि अर्थों का भी समर्थन किया और घोषित कर दिया कि—हमारा नाम 'हिन्दु' नहीं है किन्तु 'आर्य' है—हिन्दू यह नाम तो शासक मुसलमानों ने हमें अपमानित करने के लिये लिये दिया था, जिसे हमने अपनी मूर्खता से अपना लिया है—इत्यादि।

आर्यसमाज के इस दुष्प्रचार का यह कुप्रभाव पड़ा कि लोगों को अपने को हिन्दु कहलाने में अपमान का भान उत्पन्न होने लगा। फिर आर्यसमाज ने जनगणना के समय अपने को हिन्दु न लिखाने का दुष्प्रचार किया। फल स्वरूप हिन्दुओं की संख्या में लाखों की कमी पड़ गई।

यद्यपि अंग्रेज शासकों ने सिक्ख आदि की भाँति आर्यसमाजियों में सैनिक आदि होने की कोई विशेषता न देखकर इनका 'अहिन्दु ग्रुप' स्वीकार नहीं किया, बहुत हाथ पांव मारने पर भी महाशय लोग सौभाग्यवश आत्महत्या न कर सके, तथापि 'आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्' के न्यायानुसार पुनरपि दुष्प्रयत्न चलता ही रहा। आज जो 'पाकिस्तान' के नाम पर पंजाब प्रान्त का विभाजन हुआ है, यह तत्कालीन भूलों का ही परिणाम है। पहिली भूल आर्यसमाज और अकालियों के दुष्प्रचार से हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या का जन-गणना में अपने को हिन्दु न लिखाना और दूसरी भूल—कांग्रेस द्वारा जनगणना का बहिष्कार कर देने के कारण लाखों हिन्दुओं का उसमें सम्मिलित न होना है।

यह एक नग्न सत्य है कि लाहौर में पंजाब के विभाजन के समय मुसलमान और हिन्दुओं की संख्या का अनुपात क्रमशः अन्यून ५०।। और ४६।। था। यदि पूर्वोक्त दोनों भूलें न हुई होतीं तो निश्चित ही हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से कहीं अधिक होती और इस तरह पंजाब प्रान्त पाकिस्तान में परिगणित होने से बच जाता।

इस तरह पंजाब के पाकिस्तान में जाने का दायित्व आर्यसमाज—और खासकर उसकी गुरुकुल नामक पार्टी पर है। यह केवल हमारी ही स्थापना नहीं है किन्तु उक्त पार्टी के कर्णधार स्वयमपि अब अपनी भूल को अनुभव कर रहे हैं। फलस्वरूप अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त भी करने लगे हैं। उस समय 'प्रताप' 'प्रकाश' आदि जो उर्दू पत्र अपने हिन्दु न होने के

दुष्प्रचार में प्रमुख नेतृत्व कर रहे थे अब वही जनसंघ का चोला पहिन कर हिन्दु संस्कृति की रट्ट लगा रहे हैं।

क्या हिन्दू—काफिर, चोर और गुलाम को कहते हैं ?

स्वामी दयानन्द जी नें तो हिन्दु शब्द के अर्थ—'गुलाम, चोर' आदि करते हुए भी इसके समर्थन में कोई प्रमाण या युक्ति नहीं दी थी, परन्तु मुंशी लेखराम जी ने अपनी किताब 'कुलयातं आर्य मुसाफिर' में हिन्दू शब्द के लफजी माने—काफिर चोर या गुलाम प्रकट करके इसके सबूत में मौलाना गयासुद्दीन की बनाई 'गयास उल् लुगत' नामक फारसी भाषा की डिक्शनरी का प्रमाण दिया है। भला सोचिये जो शब्द जिस भाषा का हो उसी भाषा के कोश में उसका अर्थ ढूँढ़ा जाता है, या किसी भाषा के शब्द का अर्थ अन्य किसी भी भाषा के कोश में ढूंढ़ते हैं ?

हिन्दु शब्द, वैदिक भाषा का अन्यतम शब्द है, जैसा कि हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं। उसे इब्रानी परम्परा-सम्बद्ध अर्बी, फारसी, और उर्दू आदि भाषा के कोशों में ढूंढना भूल नहीं तो और क्या है। यदि इस तरह एक भाषा के शब्द का दूसरी भाषा के कोश में अर्थ ढूंढा जाए तो महा अनर्थ ही हो जाए ! उदाहरण स्वरूप—संस्कृत भाषा के देह वाचक 'शरीर' शब्द का अर्थ परसियन् में 'शरारती' अर्थात्—उपद्रवी या झगड़ालू होता है। हल वाचक 'शीर' शब्द का अर्थ 'दूध' होता है। श्रेष्ठ वाचक 'आर्य'=आरिया शब्द का अर्थ इसी कोश में 'घोड़े की पिछाड़ी का खूँटा' लिखा है। 'राम' शब्द का अर्थ नौकर लिखा है। देव

शब्द का अर्थ राक्षस लिखा है। क्या एतावता इन समस्त शब्दों का बहिष्कार कर दिया जाएगा ?'

अंग्रेजी शासन काल में बृटेन का 'जार्ज' नामक बादशाह भारत का भी सम्राट् रहा। अब यदि कोई मूर्ख आंग्ल भाषा के 'जार्ज' शब्द को संस्कृत भाषा के 'अमरकोश' में ढूंढकर— 'जारज' अर्थात्—'जार से उत्पन्न होने वाला नाजायज़ बच्चा' अर्थ करने लगे तो यह कितना अन्याय होगा।

उर्दू के महाकवि 'चिरकीन' की प्रतिज्ञा थी कि वह अपनी प्रत्येक कविता में मल-मूत्र वाचक किसी शब्द का प्रयोग अवश्य करेगा, फिर चाहे प्रसंगवश वह अर्थान्तर का ही बोधक क्यों न हो। तदनुसार उसने अपने एक अतिथि का भोजनादि से स्वागत करने के अनन्तर इर्शाद किया कि—

यार को खाना खिलाया मैंने अपने दस्त से।
प्यास जब उसको लगी पेशाब मैंने कर दिया॥

अर्थात्—मैंने अपने 'दस्त'=हाथ से अपने प्यारे को भोजन खिलाया, जब उसे प्यास लगी तो मैंने 'आब'=पानी, 'पेश'= हाजिर कर दिया।

अब यदि इस उर्दू कविता का अर्थ लगाने के लिये कोई बुद्धिमान् ? 'भारतीय ग्राम्य भाषा कोष' खोल बैठे, और उसमें 'दस्त' शब्द का अर्थ=जुलाब, पाखाना तथा 'पेशाब' शब्द का अर्थ मूत-मूत्र निकाल बैठे तो इसमें किसी का क्या दोष ?

इसलिये वैदिक परम्परा सम्बद्ध हिन्दू शब्द का अर्थ इब्रानी भाषा के कोश में ढूंढना महा अन्याय है। यह शब्द संस्कृत भाषा का है, अतः संस्कृत ग्रन्थों में ही इसका मूल धातु=(Root)

ढूंढना चाहिये और तदनुसार ही इसका अर्थ करना चाहिये। सो हम पीछे लिख आए हैं कि 'हिंसी हिंसायाम्' या 'हन हिंसा-गत्योः' उक्त दोनों धातुओं से 'हिं' शब्द और 'दुष् वैकृत्ये' अथवा 'टु दुञ् परितापे' इन दोनों धातुओं से 'दु' शब्द का निपातन हुआ है। धात्वर्थों के अनुसार हिन्दु शब्द में जो २ अर्थ गर्भित हैं उनका विवेचन हम 'हिन्दु शब्द के अर्थ' शीर्षक प्रघट्ट में पीछे कर चुके हैं। तदनुसार हिन्दु नाम काफिर, चोर किंवा गुलाम का नहीं किन्तु—हिंसा से दूर रहने वाला, दुष्टों का दमन करनेवाला और धर्महीन अपने-पराए, सबके अनुशासक का है।

क्या हिन्दू नाम अपमानार्थ विदेशियों की देन है ?

प्रतिपक्षियों की ओर से कहा जाता है कि जैसे अपनी हकूमत के जमाने में शासन मदोन्मत्त अंग्रेज गोरा हिन्दुस्थान निवासियों को अपमानित करने के लिए—'डैम'—'काला आदमी' कहता था इसी तरह घमंडी मुसलमान भी अपने शासन काल में भारतीय प्रजा को अपमान पूर्वक 'काफिर' और इन्हीं अर्थों में 'हिन्दू' कहा करता था। अंग्रेजों की दी अपमानजनक 'काला आदमी' उपाधि तो हमने नहीं अपनाई, परन्तु दुर्भाग्यवश मुसलमानों का दिया अपमान मूलक हिन्दू शब्द हमारे देश में प्रचलित होगया।

वस्तुतः उपर्युक्त कथन में यत् किञ्चित् भी सत्य नहीं है क्योंकि जैसे स्वामी दयानन्द जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' (समुल्लास ८ पृष्ठ १४०) में लिखा है कि 'ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य का नाम आर्य=श्रेष्ठ है और शूद्र का नाम अनार्य=(अनाड़ी मूर्ख) है। इसी प्रकार मुहम्मद मतानुयायी भी अपने को 'मोमिन'=निय-

तमि जीवन विताने वाला) और मतान्तर के लोगों को 'काफिर' =(मार्गभ्रष्ट) कहते हैं, सो यह तो हो सकता है कि वे भारतीय लोगों को अमुस्लिम होने के कारण काफिर मानते और कहते हों परन्तु एतावता जैसे आर्यसमाज की परिभाषानुसार मुसलमान आदि को 'दस्यु' कहे जाने पर भी मुसलमान शब्द का अर्थ चोर नहीं हो सकता, ठीक इसी प्रकार मुसलमानों द्वारा अमुस्लिमों को 'काफिर' कह देने पर भी हिन्दु शब्द का अर्थ काफिर नहीं हो सकता।

किसी विदेशी ने अपमानार्थ हमें हिन्दु कहा हो यह भी सोलहों आने मिथ्या है, क्योंकि विदेशियों की कई पुस्तकों में भी हमें सम्मान सूचक हिन्दु नाम से और हमारे देश को 'हिन्द' नाम से स्मरण किया गया है। जैसा कि ईरान देश के पारसी सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ 'शातीर' में लिखा है कि ईरान के गश्ताशप नामक बादशाह ने अपने गुरु 'जरदुस्त' के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भारत से व्यास नामक एक ब्राह्मण को बुलाया था। वह बड़ा दाना और अक्लमन्द था। यथा—

'अकनु बिरहमने व्यास नाम अज हिन्द आमद।
दाना कि अक्ल चुनानेस्त।'

उपर्युक्त प्रमाण में भारत देश का 'हिन्द' नाम से उल्लेख है और तत्कालीन व्यासकी बुद्धिमत्ता की भूरि २ प्रशंसा की गई है। इसी पुस्तक की १६३ वीं आयत में आगे लिखा है कि—

चूं व्यास हिन्दी बलख आमद।
गस्तासप जरतस्त रख ख्वान्द॥

अर्थात्—जब व्यास हिन्दु, बल्ख नामक राजधानी में पहुंचा तो ईरान के तत्कालीन राजा 'गस्तासप' ने अपने प्रधान पण्डित जरदस्त को बुलाया। व्यास जी ने अभिमान पूर्वक कहा कि—

मन मरदे अम हिन्दी निजाद ।

अर्थात्—मैं हिन्द देश में उत्पन्न होने वाला एक हिन्दू हूँ। इस तरह अन्त में व्यास जी शास्त्रार्थ में जरदुस्त को हराकर—

'ब हिन्द बाज गस्त'

अर्थात्—फिर हिन्दुस्तान को लौट गए। मसनवी मौलाना रूम के दफ्तर दोयम में लिखा है कि—

'चार हिन्दु दर इक्के मस्जिद शुदन्द ।
बहिरे ता अस एक ओ मसजिद शुदन्द ।।

मौलवी बहरुल्ला साहिब ने इसकी टीका में लिखा है कि चार हिन्दु यानी हिन्दुस्तानी मुसलमान एक मस्जिद में गए और इनायत के लिये सिजदा करने लगे। मौलाना रूम का फारस के साहित्य में वही स्थान है जो कि संस्कृत साहित्य में कवि कालीदास का है। वे अपने ग्रन्थ में हिन्दुस्तानी अर्थ में भारतीय मुसलमानों को भी हिन्दु नाम से स्मरण करते हैं—यह द्रष्टव्य है। इसलिये हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि किसी भी विदेशी ग्रन्थ में अपमान सूचक अर्थों में 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, बल्कि यूनान चीन आदि देशों से आने वाले प्रसिद्ध यात्रियों ने अपने २ यात्रा वृत्तान्तों में हमें सम्मान सूचक हिन्दू नाम से स्मरण किया है। यथा—चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' ने

भारत भ्रमण करके अपने यात्रा वृत्तान्त की भूमिका में संस्कृत शब्द 'इन्दु'—जिसका चीनी रूपान्तर 'इन्तु' है—चांद के समान सुन्दर होने के कारण भारत का नाम 'हिन्दुस्थान' स्वीकार किया है।

महमूद गजनवी के साथ कैदी की हैसियत से जनेवा का अमीर 'एलबरूनी' भी भारत आक्रमण के समय उसके साथ ही आया था। उसने लौटने पर अर्बी में अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा है, जिसमें पदे २ भारतीयों को आदर सूचक अर्थों में 'हिन्दु' नाम से स्मरण किया है।

वीर गाथाओं में हिन्दू शब्द

यदि 'हिन्दु' नाम अपमान करने के लिए मुसलमान विदेशियों की देन होता तो आयुभर मुसलमान शासकों से लोहा लेने वाले देश जाति और धर्माभिमान की जागती ज्योति दिल्लीपति महाराजा पृथ्वीराज चौहान, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवा जी, वीर छत्रशाल और गुरु गोविन्दसिंह जैसे—'अभिमान-विहीनानां किं धनेन किमायुषा'—के पक्के पुजारी शूरवीर अपने को गौरव पूर्वक 'हिन्दु' न कहते और उनके स्तुति पाठक अमर कवि उन्हें पदे २ 'हिन्दु' बताकर धर्मयुद्ध करने के लिये प्रोत्साहित न करते। हम पाठकों को अधिक उत्कण्ठित न करके उक्त महामानवों की वीर गाथाओं में से ऐसे कुछ उद्धरण नीचे अङ्कित करते हैं जिनसे हिन्दु शब्द के गौरव का कुछ आभास मिल सकेगा।

चन्द बरदायी के महाकाव्य में हिन्दू

हिन्दी भाषा के वाल्मीकी कहे जाने वाले चन्द बरदाई के

भी पिता कवि 'बेनन' जो कि अजमेर किला—तारागढ़ के तत्कालीन महाराज पृथ्वीराज के पिता का दरबारी भाट था। अपनें काव्य में लिखता है कि—

अटल ठाट मही पाट अटल तारागढ़ स्थानम्।
अटल नग्र अजमेर अटल हिन्दव अस्थानम्॥

कवि चन्दबरदाई ने अपने सुप्रसिद्ध महा ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' में लिखा है कि पिथौरा ने आक्रान्ता शहाबुद्दीन को पकड़ कर पाँच दिन तक सम्मान पूर्वक अपनी कैद में रक्खा, फिर शाह के गिड़गिड़ाने पर उसे इस शर्त पर छोड़ा कि वह पुनः कभी 'हिन्दू' पर चढ़ाई करने का दुःसाहस न करेगा। यथा—

राखि पाँच दिन शाहि अदब आदर बहु किन्नौ।
सुजहहुसेन गाजी सुपूत हत्थै ग्रहि दिन्नौ॥
किय सलाम तिन वार जाहु अपन्ने सुथानह।
मति हिन्दू पर साजि सज्जि आवो स्व स्थानह॥

अर्थात्—पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को पांच दिन तक शाही कैदी बनाकर बहुत आदर के साथ कैद में रक्खा, फिर शुजाहुसेन गाजी (पृथ्वीराज का एक विश्वस्त मुसलमान सैनिक) के बेटे की मार्फत सन्देश दिया कि (शहाबुद्दीन हमारे दर्बार में हाजिर होकर) तीन बार सलाम करे, और अपने देश को वापिस लौट जाए और फिर कभी फौज बटोर कर किसी हिन्दू पर चढ़ाई करने का दुःसाहस न करे। इससे आगे के प्रकरणों में हमें स्थान स्थान पर 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग मिलता है।

एक जगह चन्द कवि दुर्गा से विजय प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—

द्रुगे हिन्दू राजा रु बंदी न आयं
जपे जाप जालं धरं तू सहायम् ।

पृथ्वीराज तेरहवें आक्रमण में धोखे से चन्द सहित पकड़ा गया और शहाबुद्दीन ने गजनी में आँखें निकलवाकर उसे कैद में रक्खा। एक मुद्दत के बाद शब्दवेधी बाण की परीक्षा में चन्द के संकेत पर उसने शहाबुद्दीन को ही अपने अचूक बाण का निशाना बनाकर खत्म कर दिया। तब चन्द ने उछलकर कहा—

धन हिन्दू पृथिराज जिने रजवट्ट(अभिमान)उजारिय।
धन हिन्दू पृथिराज बोल कलिमझ्झ उजारिय ॥
धन हिन्दू पृथिराज जेन सुविहान है संध्यो ।
बारह बार ग्रहि मुक्कि अन्त समय सर बंध्यो ॥ १ ॥
नयन बिना नर घात कह्यौ ऐसी किहि किद्दि ।
हिन्दू तुरक अनेक हुवे पै सिद्धि न सिद्धि ॥ २ ॥

(पृथ्वीराज रासो)

पाठक पढ़ें और मनन करें कि हिन्दी के आदिम कवि चन्द बरदाई किस प्रकार महामहिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान को पदे २ 'हिन्दु' नाम से गौरव पूर्वक स्मरण कर रहे हैं। 'पृथ्वीराज रासो' ग्रन्थ आर्यसमाज की आदिम संस्था परोपकारिणी सभा अजमेर के मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के मतानुसार विक्रम की बारहवीं शती के पूर्व भाग में निर्मित हुआ हैं ।

हिन्दूपति राणा प्रताप

राणा प्रताप का समस्त गौरव मानों सिमटकर एकमात्र 'हिन्दूपति' शब्द में ही केन्द्रित हो जाता है, अतः उन्हें वीर-गाथाओं में इसी नाम से स्मरण किया गया है। इतिहास की यह प्रसिद्ध घटना प्रायः सभी भारतीयों को विदित है कि जब राणा जी हिन्दुत्व की आन और शान पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करके सपरिवार बियावान जंगल के मेहमान थे और जंगली घास की रोटियें खाकर स्वातन्त्र्य-साधना के नोकीले काँटों वाले अगम्य पथ पर शिर के बल चलकर साधकों को तितीक्षा का अमर पाठ पढ़ा रहे थे, तब एक दिन अचानक एक जंगली बिलाव ने राणा की दुधमुँही कन्या के हाथ से घास की रोटी का टूक छीन कर अनभ्र वज्रपात कर दिया। भूख से बिलखती-चीखती बालिका के गर्म आँसुओं ने प्रताप के धैर्य के अथाह सागर में ज्वार उत्पन्न कर दिया। हिमालय पिघल गया, राना के हृदय में चिरकाल से धधकता हुआ ज्वालामुखी क्षण भर के लिये निराशा की उत्ताल तरङ्गों में विलीन सा होता हुआ दीख पड़ा। इस मनहूस घड़ी में अवसर पाकर किसी अज्ञात शैतान ने राणा के हाथों को सन्धि-पत्र लिख भेजने के लिये विवश कर दिया। जब यह सर्वथा अतर्कित सन्धिपत्र अकबर के दरबार में पहुंचा तो सब चकित विस्मित और स्तम्भित से रह गए। अकबर के सामन्त वीर पृथ्वीराज बीकानेरी ने इसे जाली पत्र बताकर पड़ताल की जाने की सलाह दी, सर्व सम्मति से तथैव किया गया।

उधर वीर पृथ्वीराज ने अपना एक निजी गुप्तपत्र राना के पास भेजा जिसकी कुछ पंक्तियें इस प्रकार थीं :—

अकबर समुद्र अथाह, तिंह डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिन माँहि, पोयण फूल प्रताप सी ॥ १ ॥
अकबर घोर अन्धार, ऊंघाणा हिन्दू अवर।
जागे जग दातार, पोहरे राण प्रतापसी ॥ २ ॥
'हिन्दूपति' परताप! पत राखो हिन्दुवाण की।
सहे विपति संताप, सत्य सपथ कर आपणी ॥ ३ ॥

कर्नल टाड़ आदि राजस्थान के इतिहास लेखक एकस्वरेण कहते हैं कि राणा प्रताप को जब उपर्युक्त पत्र मिला तो वह अपने को पृथ्वीराज के शब्दों में 'पोयण फूल' = कमल पुष्प और हिन्दू जाति का एक मात्र पहरेदार सुनकर असह्य दुःख में सहसा लिखे गये अपने सन्धि-पत्र पर उग्र पश्चात्ताप करने लगे। पारिवारिक मोह माया के बादल स्वातन्त्र्य प्रेम की झंझावात के झकझोर से नेत्रों के रास्ते बरस २ कर सदा के लिये अनन्त आकाश में विलीन हो गये। पूर्ववत् वही गर्व गौरव, वही जाति-गरिमा, पुनः जागृत हो गई। फिर सीना तानकर और शिर ऊँचा करके तथैव फुङ्कारने लगे और अकबर को लिख भेजा कि—

तुरक कहसि मुख हिन्दवो, इण तन सू इकलिंग।
ऊगे जाही ऊगसी, प्राची बीच पतंग ॥

अर्थात्—मैं अपने कुल देवता श्री एकलिङ्ग महादेव की शपथ पूर्वक कहता हूं कि हिन्दु के मुख से अब भी अकबर को 'तुरक' ही कहा जायगा—'शाह' नहीं। सूर्य ठीक उसी पूर्व दिशा में उगेगा जिसमें कि सदैव उगता आया है।

वीर पृथ्वीराज बीकानेरी के उपर्युक्त ऐतिहासिक पत्र में राणा प्रताप को ,'हिन्दूपति' कहकर सम्बोधित किया गया था जिससे प्रभावित होकर राणा पुनः हिन्दुओं की 'पत' रखने को कटिबद्ध हो गये। उस दिन से उन्हें 'हिन्दुपति' के नाम से ही वीर गाथाओं में सतत स्मरण किया जाने लगा। यहाँ हिन्दुपति शब्द का अर्थ हिन्दुओं का पति = रक्षक किंवा स्वामी मात्र अभिप्रेत नहीं है, किन्तु प्राकृत भाषानुसार हिन्दुओं का 'पत' = इज्जत प्रतिष्ठा किंवा मूर्तिमान् गौरव ही अभिमत है।

राणा के वंशधरों में भी 'हिन्दुत्व' का परम्परागत यह अभिमान तथैव अक्षुण्ण बना रहा। औरंगजेब ने जब हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया तो मेवाड़ के तत्कालीन महाराजा राणा राजसिंह ने औरंगजेब को एक पत्र लिखकर बहुत बुरी तरह फटकार बतलाई थी। उस पत्र में राणा ने पदे २ अपने को जिन गौरवपूर्ण शब्दों में 'हिन्दू' नाम से स्मरण किया है वे किसी भी हिन्दु शब्द विरोधी जीवट जीव की आँखें खोलने के लिये पर्याप्त हैं।

छत्रपति शिवाजी का अमर हिन्दुत्व

शिवाजी के गुरुदेव श्री स्वामी समर्थ रामदास महाराज ने अपने परम प्रिय शिष्य शिवा को अपने एक स्वप्न का वर्णन करते हुए कहा कि—

बुडाले सर्वही पापी, हिन्दुस्थान बकावलें।

अभक्तां चाक्षयो झाला, आनन्द वन भू बनी॥

अर्थात्—मुझे ऐसा स्वप्न दीख पड़ा कि मानो हिन्दु-

स्थान के अथाह सागर में समस्त पापी म्लेच्छ डूब मरे, इस प्रकार अभक्त लोगों का सर्वनाश हो गया और भारत भूमि पुनः आनन्दमय कानन के समान बन गई।

शिवाजी के अमर कवि भूषण—जिनकी कि कविता में पदे २ वीररस का अगाध सागर ठाठें मारता दीख पड़ता है—जिसकी उमड़ती हुई उत्ताल तरंगें असीम आकाश के भी परले छोर को छूती हुई सी पाठक के हृदय को सहसा उद्वेलित कर डालती हैं—अपने 'शिवा बावनी' आदि कवित्व संग्रह में 'हिन्दू' शब्द की गरिमा को इस प्रकार व्यक्त करते हैं। औरंगजेब को खुली चुनौती देते हैं:—

(क) लाज धरो शिवजी से लरो,
सब शैयद शेख पठान पठायके।
भूषण ह्याँ गढ़ कोटिन हारे,
जहाँ तुम क्यों मठ तोरे रिसायके॥
हिन्दुन के पति सौं न बिसात,
सतावत हिन्दु गरीबन पायके॥
लीजे कलंक न दिल्ली के बालम,
आलम आलमगीर कहायके॥ १॥

(ख) राखी हिंदुवानी हिन्दवान के तिलक राख्यो।
स्मृति और पुरान राख्यौ वेद विधि मुनि में॥

हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की ।
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में ।।२।।

जब कूटनीतिज्ञ औरंगजेब ने राजा जयसिंह को अपनी सेना का अध्यक्ष बनाकर शिवाजी से लड़ने भेजा तो शिवाजी ने जयसिंह से कहा कि—

'तुह्मास जे क़िले पाहिजेत ते मी दे तों, निशान चढ़वितो पण मुसलमानांस यश न देणें। मी हिन्दु, आपण रजपूत च तेह्वां हिन्दूच राज्य मूलचें हिन्दचेंच हिन्दूधर्मरक्षका पुढें मी डोंके शतदा नमवीन, परन्तु हिन्दुधर्माची मान हानि होईल असें कधीं हीं घड़णार नाहीं।

अर्थात्—तुम जितने किले चाहो उतनें ही तुम्हें दे सकता हूँ, स्वयं अपने हाथों तुम्हारा ध्वज किलों पर चढ़ा दूंगा। परन्तु मुसलमानों को यश नहीं दिया जा सकता। मैं और तुम दोनों ही हिन्दू हैं, राजपूत हैं, हिन्दू का राज्य किसी भी हिन्दू के पास रहे इसमें हानि नहीं। हिन्दू धर्म के रक्षक को सौ सौ बार नमस्कार करने को प्रस्तुत हूं। परन्तु हिन्दू धर्म की मान हानि हो, यह कभी सह्य नहीं हो सकता।

वीर छत्रशाल का अमर हिन्दुत्व

वीर छत्रशाल के विषय में 'छत्रशाल प्रकाश' नामक वीर गाथा में प्रसिद्ध पाल कवि ने लिखा है कि—

हिन्दु तुरक दीन ह्वै गाए । तिनसौं वैर सदा चलि आए।
जब ते शाह तखत पर बैठे। तब सौं हिन्दुन सो उर डाठे ।।

जब छत्रशाल बुन्देला वीर शिवाजी से मिला तो शिवाजी ने कहा कि—

हिन्दुपत महाराज ! तुम, हो क्षत्रिय सिरताज ।
जीतो अपनी भूमि को, करो देश को राज ।।

वीर छत्रशाल जब विजय यात्रा से लौटता हुआ वयोवृद्ध सरदार सुजानसिंह से मिला तो उसने महाराज को एक अद्भुत तलवार भेंट करते हुए कहा कि—

हिन्दू धर्म जगाई चलाओ ।
दौरि दिलिदल हलनि हिलाओ ।।

हिन्दू रक्षक हुतात्मा गुरु तेगबहादुर

इतिहास में प्रसिद्ध है कि जब काश्मीर में मुसलमानों के अत्याचार चरम सीमा को लाँघ गए तो काश्मीरी पण्डितों का मण्डल श्री गुरु तेगबहादुर से मिला और उसने बताया कि मुसलमान शासक उन्हें इस्लाम मत में दीक्षित हो जाने के लिये बाध्य कर रहे हैं। तब गुरु जी ने कहा कि—

तुम सुनो दिजेसु ढिग तुर्केसु अवस जाइ इमि गावो ।
इक वीर हमारा हिन्दू भारा भाईचारा लख पावो ।।
हैं तेग बहादुर जगत उजागर ताको तुम यदि तुर्क करो ।

तिस पाछे तब्रहि, हम फिर सब ही बनिहैं तुर्क न देर भरो ।।
(पंथ प्रकाश)

जब गुरु तेग बहादुर से बादशाह नें मुसलमान बन जाने को कहा तो गुरु जी ने उत्तर दिया कि—

उत्तर भन्यो धर्म हम हिन्दू ।
अतिप्रिय को किमी करें निकंदू ।। (सूर्य प्रकाश)

जागरूक हिन्दू—गुरु गोविन्दसिंह

दशमेश पिता श्री गुरु गोविन्दसिंह का नाम हिन्दू-धर्म रक्षकों में बड़े आदर के साथ लिया जाता है, जिन्होंने हिन्दुत्व की रक्षा के लिये अपने वृद्ध पिता और सुकुमार पुत्रों को स्वयं हँसते २ वलिवेदी पर चढ़ जाने के लिये प्रेरित किया और अन्त में स्वयं भी यावज्जीवन धर्म विरोधियों से लोहा लेते हुए पटना (बिहार) से पंजाब तक, और चमकौर (पंजाब) से नादेड़ (आन्ध्र प्रान्त) तक भारत के चारों कोनों में परिभ्रमण करते हुए ज्योतिः ज्योत समा गए ।

आपने स्वनिर्मित दशम ग्रन्थ (विचित्र नाटक) में लिखा है कि—

सकल जगत में खालसा पन्थ गाजे ।
जगें धर्म हिन्दू सभी भंड भाजे ।।

कबीर का हिन्दुत्व से प्रेम

जब बालक कबीर के पालक माता पिता ने अपनी मुस्लिम

प्रथा के अनुसार कबीर का खतना=सुन्नत (मूत्रेन्द्रिय के अग्र-चर्म का कर्तन) करना चाहा तो कबीर जी नें काजी से कहा कि—

सुन्नत किये तुरक जो होवे औरत का क्या करिये।
अर्धशरीरी नारी ना छोड़िये ताते हिन्दू हो रहिये ॥

(कबीर की जन्म साखी १८८८)

इस प्रकार विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के ग्रन्थों से लेकर आज तक के समस्त हिन्दी साहित्य में हिन्दु शब्द की गौरव गरिमा भरी पड़ी है। अब जरा आधुनिक गवेषकों की सम्मतियों का भी मनन कीजिये।

आधुनिक गवेषकों के मत में 'हिन्दु' और हिन्दुस्थान

(१) आर्यसमाज के मन्तव्यों के समर्थक, संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् सत्यव्रत साभाश्रमी ने लिखा है कि—

(क) **यथा इह भारते महम्मदीय-राज्यस्थापनात् प्रागपि अपरदेशे हिन्दुरिति व्यवहार आसीदेव ततो वय-मपि 'हीनञ्च दूषयत्यस्माद् 'हिन्दुः' इति मेरुतन्त्र-व्युत्पादनमभिमत्य 'हिन्दु' नामकथनेपि गौरवमेव मन्यामहे ।** (निरुक्तालोचन पृष्ठ ७०)

(ख) **अथैतद् आर्यावर्ताभिधानं न क्वचिदपि संहितायां ब्राह्मणे वा श्रूयते।** (ऐतरेयालोचन पृष्ठ २०)

(ग) तत्त्वतस्तु एतत् त्रिसप्तनदीपरिवृतः 'सिन्धुमध्य' एव आसीत् पूर्वकालिक आर्यावर्तः। (ऐत० लो० पृष्ठ ३०)

अर्थात्—(क) जैसे यहां भारत में मुसलमानी राज्य से पहिले भी अन्य देशों में हमें 'हिन्दु' कहने का प्रचलन था, फिर हम भी 'हीन' (धर्मभ्रष्टों) का 'दूषक' (अनुशासक) मेरुतन्त्रोक्त इस निर्वचन के अनुसार अपने को हिन्दु कहने में गौरव ही मानते हैं। (ख) वेद के संहिता भाग किंवा ब्राह्मण भाग में कहीं भी (भारतवर्ष का नाम) 'आर्यावर्त' नहीं मिलता। (ग) वास्तव में २१ नदियों से घिरा हुआ 'सिन्धु' देश का मध्यभाग ही पूर्वकाल में 'आर्यावर्त' कहलाता था।

(२) वीर सावरकर ने अपने 'हिन्दुत्व' नामक पुस्तक में लिखा है कि—

"हमारे पूर्वपुरुषों ने ही 'हिन्दु' नाम तो आदिकाल से ही अपना लिया था, संसार के अन्य राष्ट्र भी हमारे देश को 'सप्त-सिन्धु' या 'हफ्तहिन्दु' और हमें 'सिन्धु' या 'हिन्दु' नाम से जानते थे।...यह सच हो तो मानना पड़ेगा कि—'हिन्दु' नाम आर्यों से भी पूर्व का है। आदि निवासी भी अपने को 'हिन्दु' कहते थे। संस्कृत में 'ह' को 'स' हो जाने के कारण आर्य लोग इसे 'सिन्धु' कहने लगे। मूल नाम 'हिन्दू' ही है। 'हिन्दु' शब्द को अर्वाचीन मानने वालों के पास इस युक्ति का कोई उत्तर नहीं है। (हिन्दुत्व पृष्ठ ९–११)।"

(३) पं० नरदेव शास्त्री, आचार्य ज्वालापुर महाविद्यालय हरिद्वार ने अपने ऋग्वेदालोचन (पृष्ठ १५८) में लिखा है कि—

ऋग्वेद में 'सप्तसिन्धु' का कई स्थानों पर निर्देश है। उसमें दो एक मन्त्र में तो वह आर्यावास का वाचक है।'

(४) सुप्रसिद्ध डाक्टर श्री सम्पूर्णानन्द जी ने 'आर्यों का आदि देश' नामक अपनी पुस्तक (पृष्ठ ८०) में लिखा है कि—

वेदों के आधार पर आर्यों का अर्थात्—आर्य संस्कृति का आदिम स्थान 'सप्त सिन्धवः' ही था।...वेदों में 'सप्त सिन्धवः' देश के अतिरिक्त और किसी देश का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

(५) श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार अपनी 'अन्तर्ज्वाला' नामक पुस्तक (पृष्ठ १७) में लिखते हैं कि—

'वैदिक काल से 'सिन्धु' शब्द 'हिन्दुस्थान' की स्वाभाविक सीमाओं—'सिन्धु' नदी से सिन्धु (समुद्र) पर्यन्त के लिये व्यवहृत होता आया है।'

(६) 'तवारीख रईसाने पंजाब' (पृष्ठ २६८) में लिखा है कि—

'(मुगल बादशाह) शाहजहां ने विद्वान् ब्राह्मण ब्रजभूषण किशोरीलाल से 'हिन्दू' शब्द की असलियत पूछी तो उत्तर मिला कि—'हिंसा से दूर रहनेवाला' हिन्दू कहा जाता है।'

(७) भाई परमानन्द एम० ए० लाहौर ने अपने 'हिन्दू संगठन' नामक पुस्तक (पृष्ठ ११) में लिखा है कि—

'हिन्दू' हमारे लिये एक नाम ही नहीं है, इसके साथ तो आरम्भ से लेकर हमारी जाति का इतिहास बंधा है।...इस नाम की कथा बताने वाले हमारे कवि और अवतार हुए हैं, इसके लिये शास्त्रों और दर्शनों के रचयिता हुए हैं, इसकी मानरक्षा के

लिये हमारे वीर और क्षत्रिय युद्ध करते रहे, इसके लिये उन्होंने अपने प्राणों को वार दिया।'

क्या हिन्दू शब्द का स्थान आर्य शब्द ले सकता है ?

कुछ लोगों का आग्रह है कि जो भी हो 'आर्य' शब्द हिन्दू शब्द की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत, वैदिक एवं भारतीय शास्त्रों में सर्वाधिक प्रयुक्त होने के कारण उपादेय है। अतः विरल प्रयोग, चिन्त्य-अर्थ और संदिग्ध सिद्धि 'हिन्दु' शब्द को छोड़ कर इसके स्थान में 'आर्य' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह हम समस्त भारतीय आर्य हैं, हमारी जाति 'आर्य जाति' है और हमारा देश आर्यावर्त है।

उपर्युक्त कथन सुनने में बड़ा प्रिय और सत्य मालूम होता है परन्तु वस्तुतः है यह महा अनर्थ का मूल और सर्वथा मिथ्या कल्पना पर आधारित। पाठक जरा गम्भीरता पूर्वक हमारी विवेचना का मनन करें।

आर्य शब्द निःसन्देह वैदिक है शास्त्रीय है और श्रेष्ठार्थ वाचक भी है, तथा भारतीय साहित्य में इसका प्रयोग भी यत्र तत्र पर्याप्त मिलता है, परन्तु यह शब्द 'हिन्दु' शब्द का स्थान कदापि नहीं ले सकता। यह तथ्य भारतीय-शास्त्रों के गवेषणापूर्ण अनुसन्धान से सिद्ध होता है। हमने 'आर्य' शब्द की जो ऋष्यर्चा की उससे पता चला कि वैदिक वाङ्मय में और रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों में जो स्थान २ में 'आर्य' शब्द का प्रयोग दीख पड़ता है वह किसी व्यक्ति जाति किंवा भारत देश के साधा-

रण नाम के स्थान में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता किन्तु व्यक्ति जाति और देश की श्रेष्ठता द्योतक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ दीखता है।

यह बात सहसा समझ में नहीं आ सकेगी, इसके निमित्त आर्य शब्द की परम्परा का विचार करना होगा और तब देखना होगा कि हमारी आज की भाषा में आर्य शब्द का प्रतिनिधित्व करनेवाला कौन शब्द है और उसका प्रयोग किस रूप में होता है!

आर्य शब्द की अपभ्रंश--परम्परा

'आर्य' शब्द 'ऋ गतौ' धातु के समुद्भूत विशुद्ध संस्कृत शब्द है। समय पाकर पाली और मागधी आदि प्राकृत भाषाओं में इसका अपभ्रंश 'अज्ज' हो गया। संस्कृत भाषा के नाटकों में स्त्री पात्रों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा के गद्य और पद्यों में आर्य शब्द के स्थान में सर्वत्र 'अज्ज' ही मिलता है। वे अपने पतिदेव को जब भी 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करना चाहती हैं तब **'अज्जउत्त !'** ही कहती हैं और सास को 'आर्या' के स्थान में **'अज्जा'** कहती हैं।

इस तरह आर्य शब्द अपभ्रष्ट होकर बौद्ध कालीन समस्त पाली साहित्य में 'अज्ज' रूप में उपलब्ध होता है। अवधी और सूरसेनी शाखाओं में इसका रूप मागधी की भांति अधिक विकृत नहीं हुआ, किन्तु वहां 'आर्य' के स्थान में 'आरज' ही हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में वन-गमन के समय सीताजी के मुख से कहलवाया है कि—

'आरजसुत' पद कमल विनु बादि जहाँ लगि नात।

कहना न होगा कि यहा 'आर्यसुत' के स्थान में 'आरज़सुत' प्रयुक्त हुआ है।

आगे चलकर उर्दू भाषा के उद्‌गम काल में यही 'आर्य' शब्द जो कि प्राकृत में 'अज्ज' बन गया था और भी अधिक संक्षिप्त होकर 'अजी' बन गया। उर्दू दां लोगों की गुफ्तगू में कोई भी श्रोता पदे पदे 'अजी जनाब !, अज़ी जनाब !' का सम्पुट बखूबी सुन सकता है। उर्दू में बाबा को 'आजा'* कहते हैं, जो निश्चित ही 'आर्या' का अपभ्रंश है।

विक्रम की अठारहवीं शती के पश्चात् बने साहित्य में उत्कीर्ण लेखों और शिलालेखों में, 'आर्य-अज्ज-अजी' का अपभ्रंश 'जू' पाया जाता है। वार्ता ग्रन्थों में कृष्ण भगवान् को 'नन्द जू के ढोटा' और श्री राधिका रानी को 'बृषभान जू की लली' नाम से स्मरण किया गया है। राजाओं के नामों के साथ भी सम्मानार्थ 'जू' शब्द का प्रयोग अनेक लेखों में उपलब्ध होता है जैसे— विक्रमादित्य सिंहजू, विजयसिंह देवजू— आदि आदि।

आज वही आर्य शब्द घिसते २ 'आरज ７ अज्ज ７ अज़ी और जू से आगे बढ़कर केवल ７ जी' रूप में विद्यमान हैं। इस युग में अपने से किसी भी महान् व्यक्ति का नाम लेते हुए उसके सम्मानार्थ अन्त में 'जी' शब्द का प्रयोग करना सभ्यता का परिचायक माना जाता है।

समयानुसार शब्द की अर्थ संग्राहक शक्ति संकुचित और विस्तृत होती रहती है—यह सभी भाषा तत्त्ववेत्ता लोग जानते हैं। किसी समय कुशा=(दर्भ) को बिना अपने हाथ घायल किये उखाड़ सकने वाले चतुर व्यक्ति को 'कुशल' कहते थे परन्तु आगे

टिप्पणी—* देखो 'भार्गव कन्साइज डिक्शनरी' पृष्ठ ८४।

चलकर यह शब्द चतुरमात्र में रूढ़ हो गया। इसी प्रकार वीणा बजाने में चातुर्य रखने वाले व्यक्ति को ही आरम्भ में 'प्रवीण' कहा जाता था, परन्तु आगे चलकर यह शब्द भी चतुरमात्र में रूढ़ हो गया। ठीक इसी तरह किसी समय 'आर्य' शब्द का प्रयोग केवल गुरुजनों के सम्मानार्थ होता था, परन्तु अब उसका अपभ्रष्ट हुआ प्रतिनिधि 'जी' शब्द प्रत्येक वस्तु के सम्मानार्थ व्यापक हो गया, जैसे—अयोध्या, मथुरा, द्वारका और गङ्गा आदि तीर्थों को भक्त लोग अयोध्याजी, मथुराजी, द्वारकाजी और गङ्गाजी ही बोलते हैं। जैनी लोग तो अपने पूजा स्थान को भी 'मन्दिरजी' कहते हैं।

अब पाठक गंभीरता पूर्वक विचार करें कि आज प्रत्येक नाम के साथ सम्मानार्थ लगाया जाने वाला यह 'जी' शब्द आखिर किस धातु (Root) से निष्पन्न हुआ है और भारतीय वाङ्मय में इसका उद्गम स्रोत क्या है। हमने केवल इस एक शब्द की छानबीन करने के लिये वर्षों तक पुरातन साहित्य का अनुसन्धान किया और अपने अनेक साहित्यक मित्रों से विचार विनिमय किया, अन्त में हम तो इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि निश्चित ही आज यह 'जी' शब्द परम्परा से 'आर्य' शब्द का ही प्रतिनिधित्व करने वाला उसका अपभ्रष्ट रूप है।

'जी' शब्द के सम्मान सूचक होने की भावना केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं हैं। भारतेतर देशों की भाषाओं में भी न्यूनाधिक इसका आभास मिलता है। अंग्रेजी में बहुवचन बनाने के लिये 'ऐस्' लगाने का नियम है, परन्तु उच्चारण काल में उसको सकार न कहकर जकार ही बोला जाता है। जैसे 'बैङ्कर' शब्द का

बहुवचन 'बैङ्कर्स' लिखकर भी उच्चारण में प्रायः 'बैङ्कर्ज़' ही बोला जाता है। ड्यूटीस् को ड्यूटीज़ ही बोलते हैं। यह जकारोच्चारण काकतालीय न्यायजन्य नहीं कहा जा सकता अपितु इसका हेतु बहुत्व के सम्मान में जकारोच्चारण के वैशिष्ट्य का परम्परागत संस्कार है जो कि संस्कृत भाषा से अपभ्रष्ट होते २ अंग्रेजी आदि रूप में परिणत हुई खरोष्ट्री भाषाओं में भी अभी तक अक्षुण्ण पाया जाता है।

अपने को स्वयं आर्य कहना अनुचित

अब यह विचार कीजिये कि आजकल 'जी' शब्द का प्रयोग कैसी परिस्थिति में होता है और कैसी परिस्थिति में नहीं होता। सभी जानते हैं कि हम अपने से भिन्न दूसरे मान्य व्यक्ति के साथ ही 'जी' शब्द का प्रयोग करते हैं, स्वयं अपने नाम के साथ नहीं। जैसे—अन्य सभी सज्जन मुझे 'माधवाचार्य जी' कहते हैं परन्तु यदि कोई मुझसे मेरा नाम पूछे तो मैं अपना नाम 'माधवाचार्य जी' नहीं कहता, किन्तु केवल 'माधवाचार्य' ही कहता हूँ। अपने हस्ताक्षर करते समय भी नाम के अन्त में 'जी' शब्द जोड़ने की मूर्खता नहीं करता, फिर चाहे तालिका में दूसरे सज्जनों ने मेरे नाम के आगे सम्मानार्थ 'जी' शब्द भले ही लिख रक्खा हो।

बस ! ठीक इसी परिपाटी के अनुसार प्राचीन साहित्य में आर्य शब्द और उसके अपभ्रंशों का प्रयोग हुआ है। हम अपने पूज्यजनों को जिनका कि नाम लेना हमें उचित नहीं था उनको 'आर्य' कहकर व्यवहार करते थे, रामायणमें राम भगवान् ने अपने पिता दशरथजी को, भरत लक्ष्मणादि ने ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्रजी

को, जब भी प्रसंगवश स्मरण किया है तब 'आर्य' कहा है। इसी प्रकार 'महाभारत' में जब२ गुरुजनों से बातचीत करने का प्रसंग उपस्थित हुआ है तब २ उन्हें 'आर्य' शब्द से संबोधित किया गया है। अपने मुख से अपने आपको अकारण स्वयं 'आर्य' कहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि कहीं अपने आपको किसी ने 'आर्य' कहा भी है तो वह ऐसे प्रसंग में कहा है जहां कि उसे अपने व्यक्तित्व का नहीं किन्तु देश, जाति, किंवा धर्म के प्रतिनिधि होने का स्वाभिमान प्रकट करना अपेक्षित था। ऐसे प्रसंगों में तो वक्ता अपना नाम भी स्वयं अपने मुख से लेता है, जो कि धर्मशास्त्र के नियमानुसार साधारण दशा में सर्वथा निषिद्ध है। यथाः—

(क) रामो द्विर्ना विभाषते (वाल्मीकीय रामायण)

(ख) अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

(महाभारत)

अर्थात्—(क) राम [जो कहता है एकबार ही खूब सोच समझकर कहता है वह] दुबारा नहीं बोलता (ख) अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएं हैं कि वह न तो कभी दीनता प्रकट करेगा और न कभी युद्ध से भागेगा।

उपर्युक्त पद्यों में अपनी क्षात्र-धर्म-पालन की निष्ठा का गर्व प्रकट करने के लिये ही दोनों महापुरुषों ने अपने श्रीमुख से अपने नामों का उच्चारण किया है। इसी प्रकार के विशिष्ट प्रसंगों में ही अपने मुख से अपने को 'आर्य' कहने का उल्लेख मिलता है, परन्तु साधारण स्थिति में नहीं। ऐसे प्रयोगों को अलङ्कार शास्त्र में 'साकूत' विशेष कहा जाता है।

पुत्र वधू धर्मशास्त्रानुसार अपने श्वसुर का और पति का नाम नहीं ले सकती, अतः प्रसंग आने पर वह श्वसुर को 'आर्य' और पति को तत्पुत्र होने के कारण 'आर्यपुत्र' कहती थीं। आज भी स्नुषाएं सास, ननद, जेठानी आदि मान्य देवियों को पंजाब आदि प्रान्तों में 'जी' और उत्तर प्रदेश आदि में 'जीजी' कहती हैं।

अपने मुंह मियां मिट्ठू न बनो !

लोक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि, हम दूसरों की प्रशंसा में तो कहते हैं कि 'यह बहुत भले आदमी हैं—बहुत ही सज्जन हैं, परन्तु अपने मुख से अपने आपको 'मैं भला हूँ बहुत सज्जन हूँ' ऐसा नहीं कहते। सो 'आर्य' शब्द का अर्थ भी श्रेष्ठ है, यदि अन्य लोग सम्मानार्थ हमें आर्य कहें तो यह तो न्याय-संगत है परन्तु यदि हम स्वयं ही अपने मुंह मियां मिट्ठू बनते हुवे अपने आपको 'आर्य=श्रेष्ठ' कहने लगें तो हमारी यह गर्वोक्ति कोरी विडम्बना ही होगी। सो जैसे अपने आपको अपने मुख से 'जी' कहने वाला व्यक्ति आज देहाती, गंवार और असभ्य समझा जाता है ठीक इसी प्रकार अपने आपको 'आर्य' कहने और लिखने वाला व्यक्ति भी शास्त्रों की दृष्टि में 'अल्पश्रुत देवानांप्रिय' ही माना जाएगा। ऐसी स्थिति में आर्य शब्द 'हिन्दू' शब्द का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। आर्य विशेषण हो सकता है विशेष्य नहीं। परन्तु 'हिन्दू' शब्द जातिवाचक विशेष्य है—एक नाम है, वह किसी का विशेषण ही हो यह आवश्यक नहीं।

आर्यसमाज अपने को 'आर्य' और दूसरे को 'दस्यु'=चोर कहना सिखाता है, यह प्रणाली कथमपि धर्मसंगत नहीं कही जा

सकती । आज जो लोग अपने नाम के आगे 'आर्य' लिखते हैं, आने वाली पीढ़ी उनके तथालिखित नाम देखकर वैसा ही उपहास करेगी जैसा कि आज अपने हस्ताक्षरों में अपने नाम के सामने 'जी' लिखने वाले व्यक्ति का होता है । इसलिये सनातनी, समाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध इन पांचों शाखाओं के सदस्यों को अपना निर्विशेष नाम 'हिन्दु' ही व्यवहार में लाना चाहिये । हिन्दु शब्द को छोड़कर भारतीय साहित्य में ऐसा अन्य कोई भी शब्द नहीं है जो कि हिन्दु शब्द की भांति इन पांचों शाखाओं का संघ बनाने की क्षमता रखता हो । इसलिये हम 'हिन्दू' हैं हमारी भाषा 'हिन्दी' है, और हमारा देश 'हिन्दु-स्थान' है । राष्ट्रीय संगठन के ये तीनों सूत्र प्रत्येक राष्ट्रभक्त को सदैव स्मरण रखने चाहियें ।

जपो निरन्तर एक जबान,
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान ।

'आर्यजाति' शब्द भी अकिञ्चित्कर

वैदिक विवेचना के अनुसार आर्य शब्द केवल द्विजाति मात्र का वाचक है, आर्यसमाज के ग्रन्थों में भी यही मत स्वीकृत हुआ है । ऐसी दशा में 'आर्य जाति' शब्द का अर्थ अधिक से अधिक 'सवर्ण हिन्दु' ही हो सकता है । इस तरह सिक्ख, जैन, और बौद्धों की कौन कहें—भारत के हिन्दुधर्माभिमानी सैकड़ों अन्त्यज भी आर्य जाति की सीमा से बाहर रह जाते हैं जो किसी भी भारतीय को अभीष्ट नहीं है । अतः 'हिन्दुजाति' शब्द के स्थान में 'आर्यजाति' शब्द का प्रयोग भी अकिञ्चित्कर है ।

यह पुनः पुनः घोषित किया जा सकता है कि भारतीय भाषा में 'हिन्दु' शब्द को छोड़कर अन्य दूसरा कोई भी ऐसा शब्द है ही नहीं जो कि इसका स्थान ग्रहण कर सके।

'हिन्दु जाति' कहने पर इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो जाती है कि जिसमें सवर्ण-अवर्ण, अग्रज-अन्त्यज सभी हिन्दूधर्माभिमानी समान रूप से समा जाते हैं। इसलिये हम सब हिन्दू हैं और समान-प्रसवात्मिका हिन्दु जाति के ही अन्यतम सदस्य हैं।

जर्मनी, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के समालोचक, जो आजकल अपने आपको और हमें 'आर्यन् जाति' का वंशधर बताते हैं, उनकी यह स्थापना सेमेटिक मंगोलियन आदि आकृति पर आधारित वर्गों की अपेक्षा अपने वैशिष्ट्य की द्योतक भले ही हो सकती हो, परन्तु एतावता वे आचार-विचार वैषम्य के कारण अब हिन्दु जाति के अन्यतम सदस्य स्वीकृत नहीं हो सकते। किन्तु शास्त्ररीत्या सात पीढ़ी पर्यन्त अबाध मर्यादित जीवन बिताने पर ही हिन्दुओं के व्रात्य विभाग में रहते २ अपनी असली उस जाति में परिगृहीत हो सकते हैं जो कि कभी अतीत काल में उनकी रही होगी। इसलिये यह स्पष्ट है कि विदेशियों का 'आर्यन्' किंवा 'एरियन्' शब्द वैदिक आर्य शब्द की परिभाषा से कुछ भी साम्य नहीं रखता किन्तु ईरान आदि देशों से समागत अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है।

कुछ दिन से अर्वाचीन साहित्य में और बोल चाल में भी हिन्दू जाति के लिये 'आर्यजाति' शब्दका प्रयोग प्रचलित होने लगा है परन्तु इसकी व्यापकता मुट्ठी भर आर्यसमाजियों और अध-

कचरे लेखकों तक ही सीमित है। प्रवाह पतित होकर कभी कभी सर्व साधारण भी बोलने और लिखने में 'आर्यजाति' शब्द का प्रयोग कर देते हैं, परन्तु यह वैसी ही भूल है जैसी कि टांगे और गाड़ी में बैठा पुरुष अपने को 'सवार' के बजाय 'सवारी' कह डालने में अक्सर कर डालता है।

आर्यावर्त अखण्ड हिन्दुस्थान का नाम नहीं

कुछ पल्लव ग्राही पाण्डित्य वाले अहंमन्य लोग यदा कदा यह भी कहते सुने जाते हैं कि जब हम संकल्प में अपने देश का नाम 'आर्यावर्त्ते' कहते हैं तब व्यक्ति और जाति के लिये आर्य शब्द का प्रयोग न सही, देश को तो हिन्दुस्थान के बजाए— 'आर्यावर्त' ही कहना चाहिये।

इस उक्ति में भी कुछ सार नहीं हैं क्योंकि शास्त्रों में 'आर्यावर्त' का जो लक्षण किया है, उसकी जो सीमाएं निर्धारित की हैं—तदनुसार आजका अखण्ड हिन्दुस्थान 'आर्यावर्त' नहीं कहा जा सकता है। मनुस्मृति में भौगोलिक रीति से 'ब्रह्मावर्त' 'मध्यदेश' 'ब्रह्मर्षिदेश' और 'आर्यावर्त' की भिन्न २ सीमाएं निर्धारित की हैं जैसे—

(क) सरस्वती और दृषद्वती दोनों नदियों के अभ्यन्तरवर्ती प्रदेश का नाम 'ब्रह्मावर्त' है।

(ख) उत्तर में हिमाचल, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में कुरुक्षेत्र और पूर्व में प्रयाग। इतने भू भाग का नाम 'मध्य देश' है।

(ग) कुरुक्षेत्र, मत्स्य (—अलवर का प्रदेश) पांचाल (—प्रायः

पूर्वी पंजाब) और शूरसेन (=मथुरा प्रान्त)। इतने प्रदेश का नाम 'ब्रह्मर्षि देश' हैं।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः।
(मनुः २।२२)

अर्थात्—पूर्व के समुद्र से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से विन्ध्याचल तक इतने भू भाग का नाम 'आर्यावर्त' है।

उपर्युक्त लक्षण के अनुसार विन्ध्य पर्वत से पार का समस्त भू भाग आर्यायर्त की सीमा से बाहर रह जाता है। अमर कोशकार श्री अमरसिंह ने भी 'आर्यावर्त' का यही लक्षण लिखा है यथा—

आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः।

अर्थात्—विन्ध्याचल और हिमाचल के मध्यवर्ती भूभाग का नाम 'आर्यावर्त' है जो पुण्यभूमि है।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश में मनु के उपर्युक्त श्लोकों की हत्या करके मनमाना पाठ बदल डाला है। 'ब्रह्मावर्त' के लक्षण में 'आर्यावर्तं प्रचक्षते' लिखकर सरस्वती का अर्थ 'अटक' और दृषद्वती का अर्थ 'ब्रह्मपुत्र' किया है और बिना ही किसी मूलपाठ के रामेश्वर आदि का उल्लेख भी किया है।

हमने इस सारे प्रघट्ट में पदे पदे आर्यसमाजी सज्जनों को बहुत स्मरण किया है इसका एकमात्र कारण यही है कि 'हिन्दु' शब्द के सम्बन्ध में सर्व प्रथम बगावत का झण्डा ऊँचा करने

वाला यही वर्ग है। यद्यपि अब 'हिन्दु' शब्द निन्दकों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है और उनके निर्मूल भ्रमों का भी बहुत कुछ निराकरण हो चुका हैं—तथापि अभी तक यह रोग सर्वथा निःशेष नहीं हो पाया है।

हिन्दू-राष्ट्र

आज प्रजातन्त्र का युग है। प्रायः सभी देशों में प्रजातन्त्र सरकारें कायम हो चुकी हैं या हो रही हैं। कहा जाता है शासन की यह प्रणाली—शासन की अन्य पद्धतियों—एकतन्त्र (Autocracy), अधिनायक-वाद (Dictator-ship), सामन्तशाही Bureauracy) कुलतन्त्र पद्धति (Aristocracy) आदि की अपेक्षा सर्वथा निर्दोष और लोकप्रिय है। कुछ विदेशी आलोचकों का यह भी कहना है कि 'प्रजातन्त्रवाद यूरोप की देन है और एशिया में यूरोपियन जातियों के पदार्पण से पूर्व ऐसी कोई शासन प्रणाली प्रचलित नहीं थी। यहाँ तो राजाओं का स्वेच्छाचारी शासन चलता था जिसके सामने किसी को चूँ तक करने की मजाल न थी। राजा को ईश्वर माना जाता था, और उसकी आज्ञा ईश्वराज्ञा। राजाओं की रोषाग्नि में बात की बात में गाँव के गाँव भस्म हो जाते थे आदि २।' यह बातें कुछ अंशों से ठीक हो सकती हैं, परन्तु हमें यह कहते गर्व का अनुभव होता है कि भारत में चाहे प्रजातन्त्र इस नाम विशेष की प्रणाली न रही हो किन्तु एकतन्त्र राज्य के रूप में भी यहाँ हिन्दू राजाओं ने संसार के सामने वह

आदर्श शासन रक्खा है जिसकी कि मिसाल संसार के इतिहास में ढूंढने से भी नहीं मिल सकती।

वर्तमान प्रजातन्त्र प्रणाली के गुण दोषों की परीक्षा का यह स्थल नहीं है, इसीलिये हम इसकी आलोचना में न पड़ते हुए भी इतना कह देना तो आवश्यक समझते हैं कि यह शासन प्रणाली उस समय भले ही सफल सिद्ध हो जब कि सभी मतदाता पढ़े-लिखे विचारशील और स्वतन्त्र निर्णय करने में समर्थ होंगे। आज जब कि संसार में ६० प्रतिशत संख्या निरक्षरों की है, ऐसे लोगों के समर्थन से जो भी सरकार कायम होगी उसे 'मूर्खों की सरकार' के सिवाय अन्य कहा भी क्या जा सकता है।

प्रचार और प्रौपेगण्डे के इस जमाने में सफल होने के लिये योग्यता की उतनी अपेक्षा नहीं है जितनी कि धन और प्रचार के अन्य साधनों की। फलतः चुनाव के समय हाथ जोड़कर जुहार करने वाले उम्मीदवार, चुने जाने पर जनहित को धता बताकर स्वेच्छाचारिता पर उतारू होकर, प्रजातन्त्र का किस तरह खुला मजाक उड़ाते हैं यह देखने की ही वस्तु है। इसलिये हम नाम के व्यामोह में न पड़कर उसी शासन प्रणाली को अच्छा कहेंगे जिस के शासन में प्रजा अधिक से अधिक सुखी रही हो। इस दृष्टि विन्दु को ध्यान में रखते हुए जरा हिन्दु-राज्यतन्त्र तथा वर्तमान प्रजातन्त्र का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए और फिर सोचिये कि इन दोनों में से कौन अधिक उपयुक्त है।

हिन्दू राजाओं और उनके शासन के विषय में यद्यपि क्रमबद्ध इतिहास का अभाव सा ही है, फिर भी संस्कृत वाङ्मय में एतद्विषयक प्रचुर सामग्री यत्र तत्र बिखरी पड़ी है, जिससे तात्कालिक राज्य पद्धति और जनता की दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में हमें अश्वपति नाम के एक अत्यन्त प्रभावशाली न्याय-परायण और प्रजापालक राजा का वर्णन मिलता है। आज जब कि संसार के सभी देशों में चोरी, झूठ, व्यभिचार, हत्या, छल कपट आदि का बोल बाला है। सरकारें नये नये कानून बना कर ज्यों २ इन बुराइयों का प्रतिरोध करना चाहती हैं ये बुराइयां त्यों २ बढ़ती ही जा रही हैं, तब संसार के इतिहास में हमें ऐसे शासकों का उदाहरण विरला ही मिलेगा, जिन्होंने इन लोक विघातक दुष्प्रवृत्तियों का जड़ मूल से विनाश कर दिया हो। महाराजा अश्वपति ऐसे ही विरल नरेशों में से थे। उन्होंने अपने सुप्रबन्ध से प्रजा में से इन दुर्गुणों को सर्वथा निकाल फेंका था। तभी तो उनकी यह गर्वोक्ति भारतीय इतिहास का कंठहार बन गई है कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दोग्योपनिषद् ५। ११। ५)

अर्थात्—मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, तथा न जुआरी शराबी आदि है। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जो प्रातः सायं यज्ञ न करता हो। कोई मूर्ख नहीं और जब कोई पुरुष व्यभिचारी नहीं है तो तब व्यभिचारिणी स्त्री की तो बात ही क्या ?

संसार के इतिहासों को ढूंढ डालिये, आपको विश्वास पूर्वक इतनी बड़ी बात कह सकने वाला राजा इस हिन्दुराष्ट्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

हिन्दू राजाओं में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजा बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी पुण्य गाथाओं से पुराण इतिहास और अन्य

अनेक ग्रन्थ भरे पड़े हैं। रामायण और महाभारत जैसे विश्व-विश्रुत महाकाव्यों का निर्माण इन्हीं वंशों के नरेशों की अमर-गाथाओं को लेकर हुआ। इन दोनों में भी सूर्यवंशी राजाओं जैसा शासन तो 'न भूतो न भविष्यति' का जाज्वल्यमान उदाहरण है। कवि-शिरोमणि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध रघुवंश महा काव्य में चक्रवर्ती नरेश महाराजा दिलीप का वर्णन करते हुए उनकी शासन व्यवस्था का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। महा-राजा दिलीप के जब वृद्धावस्था तक भी कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ के आदेश से गो-सेवा रूप व्रत ग्रहण किया। २१ दिन तक निरन्तर धेनु नन्दिनी की सेवा करनें पर उन्हें उसके आशीर्वाद से पुत्र की प्राप्ति हुई। राजकुमार के जन्म की खुशियों का क्या ठिकाना। वृद्धावस्था में और फिर इतनें तप और कष्ट साधन के बाद राजा को पुत्र का मुख देखनें को मिला था। उनकी प्रसन्नता वर्णनातीत थी। राजाज्ञा हुई—इस खुशी में राज्य के सब कैदियों को मुक्त कर दिया जाए। परन्तु आश्चर्य! राजा की यह अभिलाषा मन की मन में ही रह गई, ऐसा न हो सका क्योंकि उस राजा की जेल में एक भी बन्दी नहीं था, तब मुक्त किसे किया जाता, कवि ने लिखा है:—

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितु-
विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं
तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥

(रघुवंश ३—२०)

अर्थात्—उस प्रजापालक राजा के कारागार में उस समय कोई कैदी नहीं था जिसे कि वह पुत्र जन्म की खुशी में छोड़ सकता। अतः उसने केवल अपने आपको ही पितृ-ऋण से मुक्त कराया।

इसी वंश में आगे चलकर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्रजी हुए जिनका राज्य सभी दृष्टियों से आदर्श था और जो यावच्चन्द्रदिवाकरौ आदर्श ही रहेगा। न्याय-परायणता, प्रजा संरक्षण और प्रजानुरञ्जन के लिए सर्वस्व होम देने का जो उच्च निर्देशन उन्होंने संसार के सामने रक्खा है वह सभी देशों के शासकगण के लिये सदा दीपस्तम्भ (Light House) का काम देगा। महात्मा गांधी ने भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन का उद्देश्य विदेशी शक्तियों को निकाल कर इसी रामराज की स्थापना का रक्खा था। गांधी साहित्य में बार २ रामराज्य, रामराज्य शब्द को देखकर और लोगों से राम और रामराज्य के बारे में सुन २ कर साम्यवादी रूस के लोगों के हृदय में भी रामराज्य के विषय में कुछ जानने की इच्छा हुई, जैसा कि पिछले दिनों पाठकों ने समाचार पत्रों मे पढ़ा होगा, रामायण का रसियन भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो गया है जिसको कि वहाँ की जनता ने बहुत पसन्द किया है। उन लोगों को अपनी साम्यवादी शासन व्यवस्था पर बड़ा अभिमान था; वे सोचते थे कि आम जनता की भलाई और सुख के लिये इससे सुन्दर शासन व्यवस्था हो ही नहीं सकती परन्तु 'रामराज्य' के रूप में भारत उस व्यवस्था को चैलेंज दे सकता है। हम पाठकों की विशेष उत्सुकता न बढ़ाते हुए आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में उस समय के हिन्दु

राष्ट्र की कुछ झलक पेश करते हैं जिससे पाठक वर्तमान प्रजातन्त्र सरकार तथा उस काल के राज्यतन्त्रवाद के आधीन शासित होती हुई प्रजा की शासन व्यवस्थाओं का संतुलन कर सकें।

रामराज्य वर्णन—

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ।।
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कञ्चिदस्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ।।
सर्वं मुदितमेवासीत्सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम् ।।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ।।
रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ।
रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति ।।
नित्यपुष्पा नित्यफलास्तरवः स्कन्धविस्तृताः ।
काले वर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः ।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ।।

आसन् प्रजा धर्मरता रामे शासति नानृताः ।

सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ॥

(वाल्मीकिरामायण युद्ध. १३१ । ९९-१०२)

अर्थ—जब तक श्रीरामचन्द्र जी ने राज्य किया, तब तक उनके राज्यकाल में न तो कोई स्त्री विधवा हुई, न किसी को रोग ने सताया और न किसी को सांप ने काटा। डाकुओं चोरों का तो श्रीराम राज्य में नाम तक नहीं था। दूसरे के धन का लेना तो जहाँ तहाँ, उसे कोई हाथ से छूता तक न था। श्रीराम राज्य में ऐसा भी कभी नहीं हुआ कि किसी बूढ़े ने किसी बालक का मृतक कर्म किया हो। श्रीरामराज्य में सब अपने अपने वर्णानुसार धर्मकृत्यों में तत्पर रहते थे, इसलिये सब लोग सदा हर्षित रहते थे। श्रीरामचन्द्र जी उदास होंगे, इस विचार से आपस में लोग किसी का जी (तक) न दुखाते थे। अथवा श्रीरामराज्य में सहस्रों वर्षों से कम की उम्र किसी की नहीं होती थी और (किसी किसी के) एक सहस्र पुत्र भी होते थे और वे सब रोग एवं शोक रहित दीख पड़ते थे। श्रीरामराज्य में प्रजाजनों में (आठों पहर) श्रीरामचन्द्र जी की ही चर्चा रहा करती थी और सब लोग राम राम ही रटा करते थे, सारा जगत् राममय हो गया था। श्रीराम राज्य में वृक्षों में सदा फूल लगे रहते थे, वे सदा फला करते थे और उनके गुद्दे और डालियाँ विस्तृत हुआ करती थीं। यथासमय वर्षा होती थी और सुखस्पर्शी हवा चला करती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी लोभी लालची न था। सब लोग अपना अपना काम करते हुए अपने कार्यों से सन्तुष्ट रहा करते थे। श्रीरामराज्य में सारी प्रजा धर्मरत और झूठ से

दूर रहती थी। सब लोग शुभ लक्षणों से युक्त पाए जाते थे और सब लोग धर्म-परायण होते थे।

हिन्दू नरेशों की न्याय प्रियता के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। कविवर कल्हण ने अपनी ऐतिहासिक कृति राज-तरङ्गिणी में ८वीं सदी के एक हिन्दू अधिपति महाराज चन्द्रापीड के सम्बन्ध में एक आख्यायिका लिखी है, जो हिन्दू नरेशों की न्यायप्रियता का अच्छा निदर्शन है। कहा जाता है कि महाराज चन्द्रापीड ने एक विशाल मन्दिर बनाने का सङ्कल्प किया। मंदिर बनना भी शुरू हो गया। उसके लिये जो जगह निर्धारित की गई थी उसमें एक चमार की झोंपड़ी भी पढ़ती थी। उस चमार ने किसी भी कीमत पर अपनी झोंपड़ी देने से इन्कार कर दिया। तब चन्द्रपीड़ ने आदेश दिया कि चमार पर जवरदस्ती न करके मन्दिर का काम रोक दिया जाए और इसके लिये कोई अन्य स्थान तलाश किया जाए। ऐसा करने पर उस न्यायी राजा के न्याय-प्रेम ने उस हठी चमार को पिघला दिया। एक दिन वह स्वयं राजा के पास पहुंचा और बोला—महाराज मेरे जन्म से यह कुटिया मेरी माता के समान रही है। इसने मेरे अच्छे और बुरे दिन देखे हैं। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि इसे गिरा दिया जाए, परन्तु यदि आप स्वयं मेरे घर आकर मुझसे इसे खरीद लेना चाहेंगे तो मैं इन्कार न कर सकूँगा।' राजा चन्द्रा-पीड ने ऐसा ही किया, उस चमार के घर जाकर उन्होंने उसकी झोंपड़ी खरीद ली।'

इस प्रकार के ऐतिहासिक वर्णन उन लोगों की आंखें खोल देने के लिये पर्याप्त हैं, जिन स्वनामधन्य स्ववेशी या विदेशी आलोचकों को सब कुछ यूरोप की ही देन सूझती है और जो

मानवी सृष्टि की रचना का समय लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व मान कर भी इतिहास की सब घटनाओं को ईसा के २ हजार वर्षों में या उसके आस पास के समय में घसीटने की दुश्चेष्टा करते हैं और मन में यह संकुचित विचार रखते हैं कि सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान व्यापार-व्यवसाय, कला आदि ने जो कुछ उन्नति की है वह सब इन्हीं हजार दो हजार वर्षों में की है और इससे पूर्व तो लोग जंगली ही थे; असभ्य जीवन बिताते थे और जैसे तैसे जोवन निर्वाह करते थे। ऐसे ही महामनीषियों के बनाये हुए इतिहास आज स्कूलों में सुकुमार-मति छात्रों के हाथों में दे दिये जाते हैं जिनमें पाषाण और धातु युग से शुरू करके सारा इतिहास इन दो हजार वर्षों में ही समा देने का प्रयत्न किया जाता है। मानों इससे पूर्व सृष्टि थी ही नहीं।

क्या राष्ट्रीयता विदेश की देन है ?

कुछ विदेशी आलोचकों ने तो यहां तक कहने की धृष्टता की है कि "यह ठीक है कि हिन्दुस्तान में एक लम्बे समय से लोग रहते आ रहे हैं परन्तु उनमे राष्ट्रीयता (Nationality) की भावना का प्रसार नहीं था। वे देश और देशभक्ति से बिलकुल अनजान थे और यह अंग्रेजों की देन है कि वे राष्ट्रीयता को समझने लगे हैं।" हम उन राष्ट्रीयता-अभिमानियों की इस मिथ्या धारणा को चुनौती देते हैं कि वे एक बार वैदिक साहित्य का अनुशीलन करें और फिर देखें कि जिस समय यूरोपियन जातियें अज्ञानता की दशा में पड़ी हुई असभ्य और असंस्कृत जीवन बिता रहीं थीं, उस समय भी यहाँ की जनता के हृदय

राष्ट्रीयता तथा मातृ-भूमि प्रेम से अनुप्राणित थे। लोग पृथ्वी सूक्त, जलसूक्त, नदी सूक्त, आदि वैदिक सूक्तों द्वारा मातृभूमि की वन्दना करते थे—देश की नदियों, देश के तीर्थाशयों के प्रति श्रद्धानत होते थे। प्रातःकाल अरुणोदय के साथ ही नगरों और ग्रामों से दूर तपोवन तक में यज्ञाग्नि धूम की दिवस्पर्शी अर्चिकाओं के साथ ऋषियों और ब्रह्मचारियों की यह घन-गंभीर ध्वनि भी सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो जाती थी कि—

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर ईषव्योऽतिव्याधि महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् योगक्षेमो नः कल्पताम्।

(यजु० २२ । २२)

हे परमेश्वर ! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ज्ञान सम्पन्न हों, क्षत्रिय लोग शूर महारथी और अच्छे शस्त्रास्त्रों से युक्त हों। गायें खूब दूध देने वाली हों। अच्छे बैल, चपलगति अश्व, शीलवती स्त्रियें हों। यजमान, शूर तथा विजयी पुत्र वाला बने। समय पर वर्षा हो और वृक्ष वनस्पतियां फलों से भरपूर हों। हम सबका योग-क्षेम चलता रहे।

इस वैदिक मन्त्र को पढ़ने के बाद भी क्या कोई यह कहने को भूल कर सकता है कि हिन्दुओं में राष्ट्रीयता का अभाव था या वे (हिन्दू) केवल अपना अपना अभ्युदय चाहते थे राष्ट्र का नहीं।

हिन्दू-राष्ट्र ही क्यों ?

आज जब कि संसार न चाहते हुए भी भीषण विनाश की ओर उन्मुख है; शान्ति शान्ति की पुकार करते करते भी जब बड़े बड़े राष्ट्र स्वरक्षा के नाम पर परमाणु-बम, हाइड्रोजन-बम आदि विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं और चुपके २ युद्ध की तैयारी करने में व्यस्त हैं, तब यदि कोई उपाय संसार को इस तीसरे महा समर से बचा सकता है तो यह हिन्दू-राष्ट्र की स्थापना ही है। हिन्दु राष्ट्र की स्थापना से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति या जाति विशेष का प्रभुत्व स्थापित करना नहीं, किन्तु हम तो व्यापक अर्थों में ऐसे राष्ट्र की स्थापना करना चाहते हैं जो हिन्दू आदर्शों पर आधारित हो जिसका उद्देश्य लौकिक स्वार्थ सिद्धि न होकर भ्रातृत्व, प्रेम और मानव सेवा की भावना का प्रसार करना हो। हिन्दु संस्कृति और हिन्दु-राष्ट्र का सदा से यही उद्देश्य रहा है। भारत को आज शान्ति स्थापना में जो सफलता मिल रही है और युद्ध-भय-त्रस्त पश्चिमी राष्ट्र बड़ी उत्सुकता और आशा से आज जो भारत की ओर देखते हैं, उसका एकमात्र कारण इसकी वह पुरानी बची खुची अध्यात्ममूलक हिन्दु-राष्ट्र नीति ही है जिसे कि गान्धी जी ने सजा और सँवार कर गान्धीवाद के नाम से जगत् के सामने रखा। आज नहीं तो कल ठोकरें खा खाकर दुनिया के देशों को इसे ही अपनाना होगा, तभी विश्व का कल्याण हो सकेगा और जनता आये दिन के विनाशकारी युद्धों से त्राण पा सकेगी। जब तक संसार में भौतिकवाद को अपदस्थ कर पुनः अध्यात्मवाद

की प्रतिष्ठा नहीं होती, जब तक लोग— 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के महान् लक्ष्य को हृदयंगम कर उसे अपने जीवन में क्रियात्मक रूप नहीं देते उस समय तक विश्व कल्याण (World Peace) केवल कल्पना की ही चीज रहेगी। विश्व शान्ति के लिये बुलाये जाने वाले बड़े २ सम्मेलन, लम्बे २ प्रस्ताव और धुँआधार भाषण उस समय तक कोई अर्थ नहीं रखते जब तक कि लोग भौतिकवाद से पराङ्मुख हो अध्यात्मवाद की ओर नहीं बढ़ते। आज एक देश के लोग दूसरे देश वालों के प्रति, एक धर्म वाले दूसरे धर्म वालों के प्रति और एक विचारधारा के लोग अपने से भिन्न विचार रखनेवालों के प्रति स्वार्थ एवं अभिमानवश ऐसा निकृष्ट व्यवहार करते हैं जो स्पष्ट ही शान्ति के मूल पर कुठाराघात सिद्ध होता है। ऐसे समय में इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि एक राष्ट्र तो ऐसा हो जिसकी स्थापना वेदों तथा उपनिषदों के पवित्र आदर्शों पर हुई हो। सहिष्णुता, उदारता, विश्व-भ्रातृत्व आदि उच्च लक्ष्य-युक्त संस्कृति को लेकर जो संसार के पथ-भ्रष्ट लोगों और देशों को वेद का यह पावन सन्देश दे सके कि :—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

(ऋ० ५।६०।५)

अर्थात्—(हे मानवो! तुम में) न कोई छोटा है और न कोई बड़ा, ये सब (संसार के पुरुष) भाई भाई हैं: उत्तम ऐश्वर्य के लिये ये मिलकर उन्नति का प्रयत्न करें। इस प्रकार का महान् संदेश सिवाय हिन्दु-संस्कृति और हिन्दुराष्ट्र के कौन है जो संसार को दे सके। मनु के 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्' के अनुसार जिस

देश के निवासियों ने सदा से ही संसार को सदाचार की शिक्षा दी, सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाया आज भी उसे ही पथ प्रदर्शन करना होगा। हिन्दुराष्ट्र के प्राच्य इतिहास में न केवल प्रशंसनीय राज्य व्यवस्था के ही उदाहरण मिलते हैं, किन्तु वेद के उपरोक्त आदर्शों का क्रियात्मक रूप भी दिखलाई पड़ता है। यह ठीक है कि लगातार विदेशी आक्रमणों ने जहाँ हिन्दुराष्ट्र के राजनैतिक क्षेत्र पर अपना प्रभाव डाला, वहां जन साधारण के चरित्र, मानसिक स्थिति और जीवन शैली को भी प्रभावित किया और हिन्दुजाति बहुत से वाञ्छित अवाञ्छित दुर्गुणों का शिकार हो गई, परन्तु पराधीनता और पतन के इस काले पर्दे में से भी इस जाति की गौरव गरिमा सदा झाँकती रही; उसने अपने सहज एवं मौलिक गुणों को कभी न छोड़ा। जब कभी भी अवसर मिला हमने अपने को संभाला और अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त किया।

आज सौभाग्य से फिर हमारे सामने वह समय आया है जब हमें संसार को हिन्दू संस्कृति और हिन्दूराष्ट्र का सच्चा चित्र देना है, और दिखा देना है कि मानव जाति का कल्याण अणुशक्ति के विकास में नहीं, घातक अस्त्र-शस्त्रों की होड़ में नहीं, भौतिक विज्ञान की दुर्दमनीय उन्नति में नहीं, किन्तु आत्मा की उन्नति में है, धर्म की उन्नति में है और 'जीओ और जीने दो (Live and let live)' की भावना में है।

सैक्यूलर स्टेट बनाम धर्म-राज्य

नव स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत को सैक्यूलर स्टेट (Secular State) घोषित कर दिया गया है। लगे हाथों जरा हम

इस सैक्यूलर शब्द के अर्थों पर भी विचार कर लें । यहाँ सैक्यूलर स्टेट के दो अर्थ हो सकते हैं। १—धर्म निरपेक्ष राज्य अर्थात् ऐसा राज्य जिसमें किसी भी धर्म की मान्यता न हो । २—ऐसा राज्य जिसमें सब धर्मों का समान आदर हो और किसी धर्म विशेष के साथ पक्षपात न हो । इनमें से जहां तक प्रथम अर्थ का सम्बन्ध है हम ऊर्ध्व-बाहु होकर खुले कण्ठ से यह घोषणा कर सकते हैं कि वर्तमान भारत के कर्णधारों ने इसे जिस पथ पर डाला है उससे यह राष्ट्र अविलम्ब ही सच्चे अर्थों में धर्मनिरपेक्ष अर्थात् धर्मरहित=अधार्मिक राष्ट्र बन ही जाएगा—इसमें अणुमात्र भी सन्देह नही।

हाँ, दूसरे अर्थ के सम्बन्ध में हमें आपत्ति है और अवश्य है। कांग्रेस की दृष्टि में हिन्दु तो सदा से ही सौतेली माँ के बेटे रहे हैं और वह आज भी हैं। आज—धर्म और पृथक् संस्कृति के नाम पर राष्ट्र-विभाजन हो जाने पर इस बची खुची हिन्दु भूमि में भी—अपने को हिन्दु कहना साम्प्रदायिकों की लिस्ट में अपना नाम लिखाना समझा जाता है और कथमपि खतरे से खाली नहीं है। इसके अतिरिक्त जब यहां अब भी मुस्लिम तोषिणी नीति पूर्ववत् चल रही है फिर समान बर्ताव कहां ? सभी हिन्दु-संस्थाओं और करोड़ों हिन्दुओं के चिल्लाने तथा सत्याग्रह करने पर भी गोवध बन्दी कानून केवल इसलिये नहीं बनता कि इससे मुसलमानों के नवनीत-कोमल हृदय पर ठेस लग जाएगी और हिन्दुओं के लाख विरोध करने पर भी 'हिन्दु-कोड' 'तलाक बिल' आदि संस्कृति-घातक कानून इसलिये पास कर दिये जाते हैं, क्योंकि निर्जीव हिन्दुओं का विरोध नगण्य है।

असल बात तो यह है कि सैक्यूलर सरकार भारतवासियों में से ऊँच नीच के भेदभाव को समाप्त करने का निश्चय कर चुकी है, परन्तु यह मिटाया कैसे जाए ? कुछ जनता ऐसी है जो वैदिक आदर्शों के उच्च शिखर पर चढ़ी हुई है और कुछ ऐसी है जो अभी तलहटी में है। विषम समस्या है कि इन दोनों को समान स्तर पर कैसे लाया जाय। इसका उपाय निकाला गया। नीचे तलहटी में खड़े लोगों को वहां शिखर तक पहुंचाना तो बड़ा प्रयत्न साध्य कार्य था, हां, ऊपर खड़े लोगों को हाथ पकड़ नीचे घसीटना कुछ विशेष कठिन नहीं। उनके नीचे गिर जाने से भी तो सब बराबर स्तर के हो ही सकते हैं। यही कारण है कि तलाक आदि जिन दुष्प्रवृत्तियों से बचाकर हिन्दु जाति ने अभी तक अपने जीवन स्तर को ऊंचा रक्खा हुआ था, आज ऐसे कानून पास करके उनका समावेश हिन्दुओं में भी कर दिया गया है।

धर्म निरपेक्ष सरकार ने,जब ये बिल पार्लियामैन्ट में उपस्थित किये थे तो यह आवाज उठी थी कि इन्हें 'हिन्दु कोड' का रूप न देकर 'मानव कोड' बनाकर पास किया जाए और जैसा कि होना न्याय्य था—यह कोड भारत के सब प्रजाजनों—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि पर लागू होता। परन्तु ऐसा न हुआ, क्योंकि सुधार की आवश्यकता तो हिन्दुओं में थी। मुसलमान, ईसाई आदि तो पहिले से ही सुधरे हुए हैं—सब एक पत्नीव्रती हैं, सबने स्त्रियों को समानाधिकार दे रखे हैं, अटूट विवाह बन्धन की बुराई उनमें है ही नहीं, सवर्ण असवर्ण की तमीज से वे बिलकुल परे हैं ही, फिर भला उनके लिये कानून की आवश्यकता भी क्या ?

धर्म प्राण भारत

अस्तु, आज चाहे जैसा भी हो परन्तु हिन्दुराष्ट्र सदा से धर्म-मूलक राज्य रहा है। आज समय के प्रभाव से या पाश्चात्य सभ्यता के विषैले संसर्ग से लोग चाहे धर्म को केवल व्यक्तिगत या सिर्फ मन्दिर मस्जिद के संकुचित क्षेत्र की वस्तु समझें, परन्तु हमारे राष्ट्र में तो अति प्राचीन काल से यह जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसा व्यापक रहा है जैसे शरीर में रक्त। जिस प्रकार रक्तहीन शरीर की कल्पना भी नहीं की जा सकती, वैसे ही धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की भी। पुरातन काल में जीवन के सभी क्षेत्र—चाहे वह सामाजिक हों या राजनैतिक, वैयक्तिक हों या सामूहिक, अक्षुण्ण धर्म-भावना से ओत-प्रोत दिखलाई देते हैं। सामान्य नागरिक से लेकर सम्राट् तक के सब कार्यों पर धर्म का नियन्त्रण था और वे जो कुछ भी करते थे उसकी गणना पुण्य और पाप इन दो ही कोटियों में होती थी। यथार्थता तो यह है कि भारत के प्राचीन इतिहास में हमें एक ही क्षेत्र मिलता है और वह है धर्म का क्षेत्र। राजनीति, समाजवाद, व्यापार व्यवसाय, युद्धविद्या, संगीत, नृत्य, चित्रादि कला, शिक्षा, सदाचार-परम्परा आदि सम्पूर्ण विद्याएं और मानवोचित गुण उस एक उपजीव्य को पुष्ट करने के उद्देश्य से ही विकसित हुए थे। एक सामान्य सी बात लीजिये-राष्ट्र का अच्छा नागरिक बनने के लिये जिन २ गुणों की आवश्यकता होती है, वेदादि शास्त्रों में उन सबको धर्म का अनिवार्य अंग घोषित किया गया है। 'सत्यभाषण, समय पर दूसरे की सहायता, मातृभूमि से प्रेम, सद्व्यवहार सदाचार-पालन आदि

सभी गुण जिनके लिये आज कानूनी व्यवस्था करनी पड़ती है किसी समय धर्म के प्रमुख अंग थे, और लोग उनका पालन इसलिये करते थे कि ऐसा करके वे धर्मार्जन द्वारा पुण्यभागी बन रहे हैं।

धर्मनिरपेक्षता का दुष्प्रभाव

धर्म निरपेक्षता की घोषणा ने धर्म पर आधारित जनता के नैतिक स्तर को तो गिराया ही किन्तु, शासन तन्त्र के लिये भी एक शिरदर्द उत्पन्न कर दिया है। जनता में धर्म निरपेक्ष रुचि की वृद्धि से = धर्म अधर्म पाप पुण्य के प्रति व्यर्थ ढकोंसला बुद्धि उत्पन्न हो जाने से—चोरी, वञ्चना, व्यभिचार, हत्या आदि के अपराधों में आशातीत वृद्धि हो रही है। पिछले वर्षों के आंकड़ों को देखने से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि सैक्यूलरिज्म, कम्यूनिज्म, सोशलिज्म आदि इज्मों के चक्कर में पड़कर हमने पाया कुछ नहीं, किन्तु बहुत कुछ खोया ही है। पहिले कोई भी बुरा कार्य करते हुए लोगों के हृदय में यह भावना पैदा हो जाती थी कि 'हाय! यह तो पाप है', आज वह सर्वथा लुप्त हो चली है। धर्म अधर्म तो सब ढकोसले करार दे दिये गए, अब मनुष्य को बुराई से बचावे कौन ?—कानून ! थोथा कानून क्या बचायेगा। क्या वह हर समय अपराध करने वालों के साथ लगा घूमता है ? आज प्रायः सारे भारत में मिलावटी खाद्य वस्तुएं बाजारों में बिक रही हैं और खुली बिक रही हैं। मिलावटी आटा, मिलावटी घी, मिलावटी तेल, मिलावटी दूध, मिलावटी मिर्च, हल्दी, खटाई डबल मिलावटी वनस्पति घी, और क्या ? गिनायें सभी कुछ तो

मिलावटी मिलता है; जिन कमरों में चुपचाप ये चीजें मिलाई जाती हैं कानून क्यों नहीं वहां पहुँच पाता ? क्यों नहीं वह उन राष्ट्रघातक नर-पिशाचों के हाथ पकड़ कर कहता कि खबरदार ! इन अशुद्ध और सत्त्वहीन वस्तुओं को खा २ कर हिन्दुस्तानियों ने अपनी औसत आयु को १०० वर्ष से घटाकर २३ वर्ष तक पहुंचा दिया है, क्यों इन क्षीण-प्राण-शक्ति दुर्बल-जनों को बिलकुल नष्ट करने पर तुले हो।' परन्तु केवल कानून में यह बल कहां ? आज का कानून तो अन्धे की लाठी है जो उसकी पकड़ में आएगा पिस जाएगा परन्तु जो कुशल होगा, जो समर्थ होगा, सम्पन्न होगा और कानून की उस चमक को चांदी की द्विगुणित चमक से परास्त कर देने की शक्ति रखता होगा उसके लिये कानून का क्या डर और क्या भय !

इन दुष्प्रवृत्तियों से रोकने का बल उस धर्म में था जिससे आज हम निरपेक्ष हैं। वही एकान्त और शून्य में सबकी आंखों से बचकर बुराई करने में प्रवृत्त मनुष्य के हाथों को रोक कर कह सकता था—'मूर्ख ! क्यों छिपकर पाप में प्रवृत्त हो रहा है। याद रख धर्मराज के दरबार में एक दिन तुझे इसके लिये जवाब देना होगा। मत समझ कि तुझे कोई देखता नहीं है। सर्वदा स्मरण रख कि—

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥

(मनु० ८।७६)

अर्थात्—द्युलोक, पृथ्वी, जल, अग्नि, हृदय में बैठा

भगवान् का प्रतिनिधि आत्मा, सूर्य, चन्द्र, यम, वायु, अग्नि, रात्रि और दोनों संध्याओं की अधिष्ठातृ शक्तियें मनुष्यों के गहरे से गहरे छिपकर किये हुए कार्य को अवश्य जानती हैं। इस भावना के उदय से मनुष्य अधिकांश में पाप मार्ग से निवृत्त हो जाता था। अपने छल बल से यहाँ की अदालत को धोखा देकर बच जाने पर भी घट-घट व्यापी ईश्वर की उस बड़ी अदालत से कैसे बचेंगे ? यह बद्धमूल धारणा ही आजतक मनुष्य को विपथगामी होने से बचाती आई है। अस्तु

राष्ट्र-निर्माण में धर्म्म का सहयोग

इसके अतिरिक्त जैसा कि हम पीछे कह आयें हैं सैक्यूलर स्टेट बन जानें से शासन-तन्त्र को भी कुछ कम कष्ट नहीं उठाना पड़ रहा है। इन पूर्वोक्त बुराइयों को दबाने के प्रयत्न में खर्च होने वाली धन और जन की शक्ति के अलाव अन्य भी बहुत सी जुम्मेवारियां इससे उसके सिर पर आ पड़ी हैं। हिन्दुराष्ट्र के पिछले इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि राष्ट्र निर्माण की वे बहुत सी योजनायें, जो आज राष्ट्र-कोष से लाखों रुपया खर्च करके पूरी की जाती हैं, पहिले केवल जनता की धर्म भावना को प्रोत्साहन देने मात्र से पूरी हो जाती थीं। उदाहरणतया शिक्षा-प्रसार को लीजिए। प्राचीन भारत में— **'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'** के अनुसार लोग विद्या दान को सबसे बड़ा दान मानते थे। जो लोग विद्या-सम्पन्न होते थे वे प्रायः बिना वृत्ति के ही अथवा निर्वाह मात्र वृत्ति लेकर

विद्या दान करना अपना कर्तव्य समझते थे*। जो लोग विद्वत्ता के अभाव में इस ब्रह्म-दान में प्रत्यक्ष सहयोग नहीं दे सकते थे वे विद्यार्थियों के लिये स्थान, भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था कर इस पुण्य कार्य में हाथ बंटाते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में बिना राज्य की सहायता के ही विद्या दान केन्द्रों का जाल सा बिछा हुआ था। शिक्षा इतनी सस्ती तथा सुलभ थी कि आज की भांति धन के अभाव में कोई भी शिक्षा से वंचित न रह पाता था। अति प्राचीन काल के वशिष्ठ और कण्व के विशाल विद्या केन्द्र और अभी कुछ सहस्र वर्ष पूर्व के नालन्दा और तक्षशिला के वे विश्वविद्यालय जिनमें कि दश दश हजार विद्यार्थी न केवल निःशुल्क शिक्षा पाते थे किन्तु उनके भोजन और निवास का सब व्यय भी विद्यालय की ओर से होता था, विद्यादान की इसी धार्मिक भावना पर संचालित रहे। नालन्दा विश्वविद्यालय के लिये इतिहासकारों ने लिखा है कि किसी राजा ने उसे नहीं बनाया था किन्तु ऐसी ही भावना के कुछ व्यापारियों ने एक विशाल आम्रवन को खरीद कर इस उद्देश्य के लिये भगवान् बुद्ध को भेंट कर दिया था।

हजारों वर्ष पूर्व की बात छोड़िये, कल तक—ईस्ट इण्डिया कंपनी द्वारा ब्रिटिश शासन यन्त्र सञ्चालनार्थ पुरजे ढालने के

टिप्पणी–*इस भावना की बहुत कुछ झलक संस्कृत शिक्षा के महान् केन्द्र काशी में अब भी देखी जा सकती है। वहां संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् जो पांच सौ सात सौ रुपये मासिक वेतन पर कालेज तथा विश्वविद्यालयों में तो केवल २, ४ घण्टे पढ़ाते हैं, किन्तु घर पर आये विद्यार्थियों को बिना कुछ लिये नियमतः आठ २ घण्टे धर्म-दृष्टि से शिक्षा देने में नहीं हिचकिचाते।

कारखाने अर्थात् स्कूल कालेज आदि स्थापित करने से पूर्व तक—भारत में शिक्षण की यही परम्परा प्रचलित थी। घर २ में पाठशालाएं खुली हुई थीं जहां निःशुल्क विद्यादान होता था। लार्ड मैकाले ने, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में ब्रिटिश राज्य की नींव जमाने भारत में आये थे और अनेक उचित अनुचित तरीकों से लोगों को ईसाई मत में दीक्षित करते थे, अच्छे लोगों के ईसाई धर्म में न आने का दोष इन्हीं पाठशालाओं को दिया था और ब्रिटिश पार्लियामेंट को भेजी गई अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि—'जिस समय तक यह पाठशालाएं प्रचलित हैं उस समय तक हिन्दुस्तान में ईसाइयत का प्रचार तथा अंग्रेजों के पांव जमने मुश्किल हैं।' उस काल में इस तरह विद्यादान की इस भावना से विद्या जितनी सुलभ थी वैसी शिक्षा की योजना यदि आज क्रियान्वित की जाय तो लाखों क्या करोड़ों रुपयों से भी यह कार्य हो सकना असम्भव होगा।

इसी तरह स्वास्थ्य संरक्षण को लीजिये। चिकित्सा को हमारे यहां व्यापारिक या आर्थिक रूप में कभी नहीं लिया गया जैसा कि आजकल है। वैद्यों के लिये आयुर्वेद शास्त्र में सबसे प्रथम यही शिक्षा दी गई है कि उन्हें लोभ रहित होना चाहिये। मानव सेवा के रूप में प्रभु सेवा की भावना से उन्हें चिकित्सा कार्य करना चाहिए। रोगी को औषधि तो प्रत्यक्ष ही जीवन दान है इसलिये इस विषय में भी लोगों में आज तक वही धर्म प्रवृत्ति रही। धर्मार्थ चिकित्सालय, धर्मार्थ पशु चिकित्साशाला आदि की ओर जनता का प्रारम्भ से ही ध्यान रहा और राष्ट्रीय स्वास्थ्य के इन केन्द्रों से जन साधारण का कितना लाभ होता था यह कहने की आवश्यकता नहीं है। अपने पूर्वजों के नाम पर

ऐसे दातव्य औषधालयों या अन्य सार्वजनिक स्थानों के निर्माण कराने की परिपाटी यहां बहुत पुराने समय से रही है। इससे जहां लोगों के धन का सदुपयोग होता था वहाँ दरिद्र नारायण अथवा जनता जनार्दन की सेवा भी होती थी। आज इसके सर्वथा विपरीत स्थिति होती जा रही है। सरकार ने जो सिविल अस्पताल खोल रखें हैं उन्हें एक सभ्य संसद-सदस्य की भाषा में हम कहें तो 'मनुष्य वध शाला' कह सकते हैं। यदि आप धनवान् हैं तो आप का घर भी इलाज हो सकता है और सरकारी हस्पतालों में भी; किन्तु दुर्भाग्य ने यदि आप को लक्ष्मी की कृपा से वंचित रखा है तो इस धर्म निरपेक्ष भारत में आप के लिये सब द्वार बन्द हैं। रोग शय्या पर छटपटाते रोगी की चिकित्सा व्यवस्था से पूर्व ही लम्बी चौड़ी फीस लेकर जेब में डाल लेने वाले सुयोग्य डाक्टरों को देने के लिये धन न होने के कारण आप उनकी चिकित्सा से वञ्चित रहेंगें और हस्पतालों में लाइनों में बैठे २ ही आपका दम निकल जाएगा। सुबेरे जाओ और शाम को लौटो। यदि नम्बर आ गया तो आप भाग्यशाली हैं। यदि आज सरकार वास्तव में सर्व सुलभ चिकित्सा की व्यवस्था करना चाहे तो आप ही अनुमान लगायें उसे कितना व्यय न करना पड़ेगा।

इसी प्रकार लोगों की सुख सुविधा के लिये कूप, बावड़ी, जलाशय आदि का निर्माण, धर्मशाला धर्मार्थ-अन्नक्षेत्र, विधवाश्रम, अनाथश्रम, जल-प्रपानिर्माण, गोचर भूमि विसर्जन वृक्षारोपण, उद्यान-निर्माण आदि अन्य अनेक ऐसे राष्ट्रीय कार्य हैं जिनकी गणना धर्मशास्त्रकारों ने धर्मानुष्ठानों में की है और अभी कुछ समय पूर्व तक इन सबका निर्माण और संरक्षण श्रद्धालु जनता स्वयं करती रही है। परन्तु आज उस भावना

के विलुप्त हो जाने से इन सबका भार भी राज्य पर ही आ पड़ा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्ममूलक राज्य से होने वाले अगणित लाभों से वञ्चित करके भारतीय नेताओं ने इस धर्मप्राण राष्ट्र को भौतिकवाद के जिस विनाशमय पथ पर डाल दिया है, उसका परिणाम उन्हें स्वयं भुगतना ही पड़ेगा।

धार्मिक स्वतन्त्रता

हिन्दूराष्ट्र को हमने धर्म मूलक राज्य कहा है, परन्तु इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि उस धर्माश्रित राज्य में अपने से भिन्न धर्म वाले रहने ही न पाते थे या उनके प्रति शासक वर्ग अथवा जनता की ओर से कोई दुर्व्यवहार होता था। इस प्रकार का विचार भी उन हिन्दू-नरेशों के प्रति महान् अन्याय होगा जिन्होंने कि सनातन धर्म के विशाल दायरे में रहते हुए सब धर्मों के प्रति समान आदर भाव का परिचय दिया था। हिन्दू धर्म का क्षेत्र सदा से विशाल रहा है। शैव, शाक्त, वैष्णव, द्वैत, अद्वैत आदि परस्पर विरोधी विचारों को रखते हुए भी हम सब समान रूप से हिन्दू हैं। आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज, बौद्ध, जैन आदि हिन्दू धर्म को विभिन्न शाखाएं इस विशाल धर्म वृक्ष में से केवल एक एक सिद्धान्त को लेकर निकलीं और फूली-फलीं, परन्तु वे इसके क्षेत्र से बाहर न जा सकीं। वे सब हिन्दू धर्म का ही अंग बन कर रह गईं। इससे भी आगे बढ़ कर यदि हम गम्भीर दृष्टि से विचार करें तो एकेश्वरवाद की आधारशिला पर स्थापित मुस्लिम धर्म और प्रेम तथा सहिष्णुता के आदर्शों का अनुगामी ईसाई धर्म भी विशाल हिन्दू धर्म के दायरे से बाहर के किन्हीं

नवीन विचारों का प्रचार नहीं करते। यह दोनों धर्म तो अन्यून डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व ही प्रचलित हुए हैं किन्तु हमें तो विश्व साहित्य की आदिम पुस्तक वेदों में—जिनका कि प्रादुर्भाव आधुनिक अधकचरे गवेषकों के मत से भी ८ हजार वर्ष पूर्व ठहरता है—भी इन दोनों धर्मों के मूल विचारों का पर्याप्त वर्णन मिलता है। इससे विदित होता है कि ईसा तथा मुहम्मद ने कुछ निज के नवीन विचारों पर इन धर्मों की स्थापना नहीं की किन्तु हिन्दु धर्म की ही कुछ बातों को लेकर नवीन पन्थों की सृष्टि कर डाली। प्रकृत में तात्पर्य यह है, कि हिन्दु धर्म का क्षेत्र कभी इतना संकुचित नहीं रहा कि उसमें भिन्न विचार वालों के लिये कभी घृणा या रोष का भाव रहा हो। इसके विपरीत हिन्दु राज्य के प्रायः सभी शासकों ने अपने से विभिन्न विचार रखने वालों के प्रति सदा ही साधुता तथा न्याय का परिचय दिया है। हिन्दुराष्ट्र की धर्म सहिष्णुता का परिचय प्राप्त करने से पूर्व एक झलक हम आज के लौकिक तथा जनतन्त्रीय राज्यों की भी ले लें। ये गला फाड़ फाड़ कर विश्व भ्रातृत्व विश्वशान्ति का नारा लगाते हैं, बात बात में मानवता की दोहाई देते हैं किन्तु इनके काले कारनामे देख कर पशुता भी लजा जाती है।

आज प्रगति का युग है। लोग कहते हैं 'मनुष्य, धर्म और समाज के रूढ़िवाद से ऊपर उठकर आज बहुत आगे बढ़ गया है। आज मानव धर्म ही सर्वोपरि धर्म है और मानव सेवा ही सबसे बड़ा पुण्य। मनुष्य आज पहिले से अधिक सुखी, स्वतन्त्र और ज्ञानवान् बन गया है' परन्तु क्रियात्मक रूप में जब हम देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि प्रगति क्या—हम तो मनु से भी पूर्व के उस अन्ध युग में लौट आये हैं जब कि मनुष्य भी

बनैले पशुओं की भाँति उच्छृङ्खल और विचारविहीन बिना सींग पूंछ का खूंखार जानवर ही था। जिस तरह उसके सामने केवल स्वार्थ लिप्सा ही मुंह बाये खड़ी रहती थी और उसके आवेश में वह भले बुरे का विचार न करते हुए कुछ भी कर गुजरता था, वही हाल आज के तथाकथित सभ्य सुशिक्षित तथा प्रगतिशीलजनों का ही नहीं, किन्तु देशों का भी है। विचारशील तथा ज्ञानवान् बनने का दम भरने वाले ये लोग स्वार्थलिप्सा के लिये कोई भी कुकृत्य करने में नहीं हिचकिचाते।

आज के जनतन्त्रीय राज्य में शासनारूढ़ बहुसंख्यक लोग किस प्रकार अधिकार प्रमत्त होकर अल्पसंख्यक लोगों पर भीषण अत्याचार करते हैं यह विज्ञ पाठकों से छिपा नहीं है। हिन्दुस्तान पाकिस्तान का विभाजन तो अभी ताजी घटना है। 'एक ही खुदा के बेटे' की शिक्षा देने वाले मुस्लिम धर्म के अनुयायी सभ्य सुशिक्षित लीगियों ने किस प्रकार हैवानियत का नंगा नाच नाचा और लाखों करोड़ों खुदा के बेटों को केवल भिन्न विचार वाला होने के कारण भेड़ बकरियों की भाँति अपने खेतों में से खदेड़ दिया, यह सब लोग जानते ही हैं। जर्मनी में हिटलर ने अपने से भिन्न विचार वाला होने के कारण यहूदियों पर जो नृशंस अत्याचार किये थे वह भी सभ्य लोगों के ही कारनामें थे। फिलस्तीन का नर-हत्याकाण्ड भी कोई पुरानी घटना नहीं है।

इसके अतिरिक्त रूस और अमेरिका के गुटों में शीतयुद्ध और गर्मयुद्ध के नाम से आये दिन जो काकोलूकीयम् होता रहता है वही क्या इन सभ्य सुसंस्कृत देशों के आभ्यन्तरिक चित्र प्रकट करने के लिये कम है? अभी पिछले दिनों कोरियां

के नरमेध में परस्पर के आघात प्रतिघातों में जो जन धन की अपार क्षति हुई वह तो हुई और जो लाखों सिपाही इसमें हताहत हुए वह भी समझ में आ सकते हैं, किन्तु एक के बाद दूसरे ब्लाक ने शत्रु देशों पर कब्जा करने के बाद सामान्य जनता में से अपने से भिन्न विचारवाले निरीह नागरिकों को छांट २ कर गोली से उड़ाया—यह प्रगतिशीलता (?) सर्वथा समझ से बाहर की वस्तु है। समाचार पत्रों में आये दिन निकलने वाली ऐसी घटनाओं में आप इन हिन्दुस्तान को पिछड़ा देश (Back-ward Country) कहने वाले देशों की प्रगतिशीलता, विचार सहिष्णुता और मानवता-प्रेम की अच्छी झलक पा सकते हैं। इस प्रकार गोली से उड़ाये जाने वालों का दोष केवल यही होता है कि वे अपने से भिन्न विचार वाले होते हैं।

हिन्दुराष्ट्र में इसके विपरीत आपको दूसरी ही परिस्थिति मिलेगी। हिन्दु धर्म का विस्तार मुस्लिम धर्म की भाँति तलवार के बल पर नहीं हुआ किन्तु इस सार्वभौम धर्म के उदार नियमों की अनुकूलता ने लोगों को अपनी ओर बरवस आकृष्ट किया। फिर भी जो लोग किसी भी कारण से अपने से विभिन्न मान्यताएं या विचार रखते थे उनकी इस स्वतन्त्रता का कभी अपहरण नहीं हुआ। इतिहास में, सुदूर फारस में जाकर अपने विचारों और शास्त्रचर्चा से लोगों तथा वहाँ के तत्कालीन नरेशों को प्रभावित करने वाले व्यास, बौद्ध-धर्म प्रचारार्थ भिक्षु बनकर विदेश जाने वाले महेन्द्र और संघमित्रा, तथा आधुनिक समय में भी—पैसे के बल पर षडयन्त्र पूर्वक निर्धन लोगों को नौकरियों के लालच से ईसाई बनाने वाले मिशनरियों के तरीके से बिलकुल विपरीत—केवल ज्ञानबल से विदेशों में हिन्दू धर्म की गौरव पताका को ऊंचा कर देने वाले स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द जैसे मूर्धन्य

मनीषियों के उदाहरण तो मिलेंगे, परन्तु तलवार लेकर हिन्दु धर्म प्रसारार्थ निकलने वाले किसी नरेश का उदाहरण ढूंढे से भी नहीं मिल सकता। यही हिन्दू धर्म की विशेषता है, जिसने उसे हमेशा के लिये अमरत्व प्रदान किया है। हां, तो विचार-सहिष्णुता तथा उदारता हिन्दुराष्ट्र शासकों का अपूर्व गुण रहा है। हिन्दुराष्ट्र के अमर इतिहास रामायण में ही हम मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम को मानवता संरक्षणार्थ राक्षसों का विनाश करते हुए भी उनकी निजी मान्यताओं का समुचित आदर करता हुआ पाते हैं। जिस समय भगवान् राम ने विराध को अपने बाणों से घायल कर दिया और वह आसन्न मृत्यु हो गया तो उसने राम से प्रार्थना की कि—

अवटे चापि मां राम प्रक्षिप्य कुशली व्रज।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः॥
अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः।

(वा० रा० अरण्य० ४।२०-२१)

अर्थात्—हे राम, मुझे गड्ढे में डाल तुम आनन्द से चले जाओ मरे हुए राक्षसों को जमीन में गाड़ना यह प्राचीन प्रथा है क्योंकि जो मरे हुए राक्षस गड्ढा खोदकर गाड़ दिये जाते हैं उनको सनातनलोक प्राप्त होता है।

यद्यपि हिन्दु धर्म की दृष्टि से इस प्रकार की दशा में मरे हुए व्यक्ति के शव को जलाया ही जाना चाहिये था, तथा वन में लकड़ियों के सुलभ होने के कारण अल्प-श्रम-साध्य भी था किन्तु उन्होंने विराध की धार्मिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया

और उसे उसके कथनानुसार लक्ष्मण द्वारा वड़ा भारी गढ़ा खुदवा कर गड़वा दिया। प्रियदर्शी अशोक महान् (२७३ ई० पूर्व) के बारे में प्रसिद्ध है कि स्वयं बौद्ध होते हुए भी उसका सब धर्मों के प्रति समानता का बर्ताव था। उसने एक पृथक् शिलालेख खुदवा कर सहिष्णुता को जीवन का आधार भूत अंग स्वीकार किया था। सुप्रसिद्ध शुगवंशीय ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र (१८५ ईसा पूर्व) स्वयं कट्टर हिन्दु धर्मानुयायी था, परन्तु उसने अपने शासन काल में बौद्ध धर्म के प्रति इतनी सहिष्णुता का परिचय दिया था कि उसके शासन काल में स्थापित भर्हुत का सुप्रसिद्ध बौद्ध स्तूप आज भी उस उदाराशय राजा की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। गुप्त राज्यकाल में,—जिसे कि सभी इतिहासकारों ने 'स्वर्ण युग' का नाम दिया है—सम्राट् समुद्रगुप्त यद्यपि न केवल सामान्य हिन्दु किन्तु परम वैष्णव राजा था और उसने जनता द्वारा प्रदत्त 'महा भागवत' तथा 'परम भट्टारक' उपाधियों को धारण किया था परन्तु सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य वसुवन्धु को उसने अपने दरबार के रत्नों में स्थान दिया था और उसके राज्यकाल में बौद्ध धर्म खूब फूला फला। सातवीं शताब्दी में तत्कालीन भारत नरेश महाराजा हर्ष ने अपने शासन में हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध धर्म का ऐसा अद्भुत समन्वय किया था, कि ऐतिहासिकों के लिये आज भी वे एक पहेली बने हुए हैं। शैव माता के पुत्र होते हुए भी वे सूर्योपासक थे, बौद्ध धर्म की सभाएँ जुटाते थे, जिनमें शिव बुद्ध और सूर्य की पूजा होती थी।

सहिष्णुता और समादार की यह भावना मुगल काल तक भी भारत में अक्षुण्ण रही है। इस काल में हमें दो विभिन्न सभ्यताओं के तुलनात्मक सच्चे चित्र देखने को मिल सकते हैं। एक

ओर तो मुगल बादशाहों में सब से सुयोग्य माने जाने वाले अकबर महान् का इतिहास हमें मिलता है, जिसने अपनी काम पिपासा की शान्ति के लिये 'नवरोजा बाजार' लगाने की रीति चालू की थी जिसमें केवल स्त्रियां ही जा सकती थीं और शहनशाह अकबर की निगाहों में जो चढ़ जातीं उन्हें जबरदस्ती हरमों में दाखिल कर दिया जाता था। एक बार शहनशाह एक राजपूत रमणी को छेड़कर दही के भुलावे में कपास खा बैठे थे और उसने उन्हें वह शिक्षा दी थी कि वे फिर किसी राजपूत सिंहनी की ओर आँख उठाने का साहस न कर सके थे।

अकबर महान् (?) के इस चरित्र को तत्कालीन मुगल प्रतिद्वन्द्वी हिन्दुपति महाराणा प्रताप के उस चरित्र से मिलाइये जब कि अमर सिंह के नेतृत्व में कुछ राजपूत सैनिक शत्रु सेना पर धावा मारकर एक यवन रमणी को कैद करके प्रताप के सन्मुख ले आये थे और प्रताप ने मुसलमानों द्वारा मेवाड़ में किये गये अत्याचार, लूटमार, बलात्कार आदि की घटनाओं की ओर से सर्वथा आंखें मूँदकर, अपने सैनिकों को भविष्य में ऐसा कार्य न करने के लिये सावधान करके, क्षमा याचना पूर्वक उस महिला को सर्वथा सुरक्षित रूप में उसके परिवार वालों के पास पहुंचा दिया था।* अकबर और राणा प्रताप के यह दोनों चित्र दोनों सभ्यताओं तथा राष्ट्रों के एक दूसरे से बिलकुल भिन्न चरित्र की मुंहबोलती कहानी हैं।

इसी घटना से मिलती जुलती एक घटना छत्रपति शिवाजी

---

*इस घटना का विशद वर्णन हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद जी के 'महाराणा-महत्त्व' नामक काव्य में देखा जा सकता है।

के सम्बन्ध की भी प्रसिद्ध है ही। यद्यपि कुछ आधुनिक भ्रान्त इतिहास लेखकों ने लुटेरा अत्याचारी आदि रूपों में पेश करके इस वीर की दुग्ध-धवल कीर्ति को कालिमान्वित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वास्तविकता कभी छिप नहीं सकती। शिवाजी ने जो कुछ भी किया उसका उद्देश्य तत्कालीन यवन शासकों के अत्याचारों और उत्पीड़न से प्रजा संरक्षण था, अन्यथा मुसलमानों के प्रति उनके हृदय में कोई व्यक्तिगत द्वेष या घृणा बिलकुल न थी। इसके प्रमाण में हम तत्कालीन इतिहास लेखक खफीफ खां के निम्न लेख को प्रस्तुत कर सकते हैं—

"शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद, कुरान, अथवा किसी भी धर्म को माननेंवाली स्त्री को हानि नहीं पहुंचाई। यदि उनके हाथ कभी कोई कुरान की प्रति लग जाती तो वे उसे तुरन्त आदर पूर्वक किसी मुसलमान को दे देते।"

अस्तु, यह सब दिखलाने का हमारा तात्पर्य केवल यही है कि धर्म मूलक राज्य रखते हुए भी हिन्दु शासकों ने कभी किसी की धार्मिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया किन्तु सभी विचार वाले लोगों को अपने विचार जनता के सामने रखने और पालन करने की स्वतन्त्रता दी।

हिन्दु राज्य में राष्ट्रीय चरित्र

विदेशी संसर्ग से धर्म और आस्तिकता के क्षीण हो जाने से जनसाधारण का चरित्र-स्तर आज किस तरह गिरता जा रहा है यह किसी से छिपा नहीं है। एक छोटे से उदाहरण से आप आज के लोगों के चरित्र को माप सकते हैं। अभी कुछ समय पूव एक दिन G. I. P. रेलवे की एक गाड़ी में सफर करते हुए

अचानक बिजली के बल्व पर निगाह गई तो देखा लिखा हुआ था—जी. आई. पी.—रेलवे, यह माल चुराया हुआ है।' आश्चर्य हुआ कि इसका क्या अर्थ ? उत्सुकता से जो इधर उधर निगाह दौड़ाई तो वटन पर, सामनें लगे हुए शीशे पर, नलके की टूंटी पर भी यही शब्द लिखे दिखलाई पड़े। इतने में सामने आये हुए एक टी. टी. महोदय से इस पहेली का अर्थ पूछा तो वे बोले— पं० जी, इससे आप आज के जमाने के सही हालात का वखूबी अन्दाजा लगा सकते हैं। इन रातदिन के लट्टू शीशे चोरों से जब रेलवे तंग आ गई तो उसने यह तरीका निकाला है। अब यदि कोई चुराकर ले भी जाएगा तो जो भी उसके घरपर इस माल को देखेगा वह समझ जाएगा कि यह चोरी का माल है।

रेलवे की सूझ पर तो मुझे हँसी आई ही, किन्तु साथ ही राष्ट्र के गिरते हुए चरित्र पर असीम क्षोभ भी हुआ। बचपन में पढ़ी हुई शंख और लिखित की वह कथा स्मरण हो आई, जिसमें एक बार अपने बड़े भाई शंख से मिलने गए हुए लिखित ने भाई की अनुपस्थिति में उनके उद्यान में से एक फल तोड़ कर खा लिया था। खा चुकने के बाद जब लिखित की चेतना लौटी तो उसे अनुभव हुआ कि उसने यह कार्य अच्छा नहीं किया जो उद्यान के स्वामी से बिना पूछे फल खा लिया। बड़ा पश्चात्ताप हुआ और शंख के आने पर उनसे अपना अपराध स्वीकार करते हुए दण्ड की याचना की। शंख ने बहुत समझाया और कहा— भैय्या, यह चोरी नहीं है, क्या हुआ जो तुमने एक फल खा ही लिया। परन्तु लिखित को चैन कहाँ ? उसकी अन्तरात्मा में इस पाप के कारण एक पीड़ा उठ रही थी। वह भाई के सिर हो गया और उन्हें सर्वथा दण्ड देने के लिये विवश कर दिया।

धर्मशास्त्रीय व्यवस्थानुसार उसने कड़ा दण्ड मांगा और उसके आग्रह से विवश होकर शंख को उसके हाथ कटवा देने पड़े। कहां तो भारत का यह चरित्र कि सामान्य भूल चूक पर भी उसे स्वीकार कर स्वयं दण्ड याचना और कहां सार्वजनिक हितोपयोगी बल्बों टूंटियों आदि तुच्छ वस्तुओं की निकृष्ट चोरी।

विदेशियों की दृष्टि में हिन्दूराष्ट्र

हिन्दुराष्ट्र की जनता के चरित्र के सम्बन्ध में शिलालेखों और विदेशी पर्यटकों के यात्रा वृत्तान्तों से बड़ी सहायता मिलती है। मैगस्थनीज, फाहियान, ह्वेनसांग आदि लेखकों ने, जो कि समय समय पर यहां आये और यहां रहकर जिन्होंने लोगों के जीवन का अध्ययन किया, जो कुछ लिखा है उसमें किसी असत्य मिथ्याभिमान या अतिरंजन की गन्ध भी नहीं है। उनसे यहां के जन-जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ३०६ वर्ष ईसा पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में मेसिडोनिया-अधिपति सैल्यूकस ने मैगस्थनीज को भारत में अपना राजदूत बनाकर रक्खा था। यह विदेशी राजदूत पर्याप्त समय तक पाटली पुत्र में रहा और यहां से लौट जाने के बाद उसने अपने संस्मरणों में भारत के सम्बन्ध में लिखा है—

'वे विशाल चुस्त, दीर्घायु और निरोग होते हैं, और नशा नहीं लेते। वे सरल पवित्र आचार के तथा प्रतिभाशाली होते हैं।...... भारतीय कभी झूठ नहीं बोलते।... 'वे एक दूसरे पर असीम विश्वास रखते हैं। लेन देन में वे न मोहर करवाते हैं और न गवाहियाँ ही दर्ज करते हैं। प्रायः वे अपनें मकानों पर ताले भी नहीं लगाते क्योंकि वहां चोरी नहीं होती। (प्राचीन भारत पृष्ठ १९५)

इसके अनन्तर हमें गुप्त साम्राज्य के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (३२० ई०) के समय में बौद्ध ग्रन्थों के अनुसंधान के लिये चीन से पैदल चल कर ६ वर्ष में भारत पहुंचने वाले फाहियान का यात्रा वृत्तान्त मिलता है। इसने उस समय के हिन्दुराष्ट्र के जन-जीवन के बारे में लिखा है—

'प्रजा अत्यन्त सुखी है। व्यवहार में लिखा-पढ़ी तथा निर्णय के लिए पञ्चायत आदि कुछ नहीं हैं। राजा की भूमि जोतकर उसका अंश देते हैं। राजा न प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दंड। अपराधी को अवस्थानुसार अर्थदण्ड दिया जाता है, पर बार २ दस्यु कर्म करने वाले का अवश्य दक्षिण कर कटवा दिया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी होते हैं। चाण्डाल के अतिरिक्त न कोई जीवहिंसा करता है, न मद्यपान करता है और नाहीं पलाण्डु तथा लहसन (रसोन) आदि मादक पदार्थों का प्रयोग करता हैं। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु का क्रय-विक्रय करते हैं; न कहीं सूनागार और सार्वजनिक मधुशालाएँ हैं। क्रय-विक्रय में वराटिका का व्यवहार किया जाता हैं। केवल चाण्डाल ही मछली मारते, माँस बेचने तथा मृगया करते हैं।'

इस प्रकार महाराजा हर्षवर्धन (६०६ ई०) के समय में भारत भ्रमण के लिये चीनी यात्री ह्यूनसांग भी यहां आया था और उसने १३ वर्ष यहाँ बिताए थे। इस महान् विद्वान् सन्त ने अपने यात्रा वृत्तान्तों में उस काल के हिन्दूराज्य की जन-दशा का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि—

'उस समय—शासन व्यवस्था दृढ़ तथा न्याय-पूर्ण थी। अपराध बहुत कम होते थे परन्तु अपराधों के लिये दण्ड विधान गुप्त-काल की अपेक्षा बहुत कठोर थे। जनता में आचार की प्रतिष्ठा सब से अधिक

थी। व्यक्तिगत पवित्रता का माप बहुत ऊंचा था। मांस बहुत कम खाया जाता था। सती प्रथा जोरों पर थी। अन्तर्वर्ण विवाह बिलकुल नहीं होते थे। शिक्षा पद्धति बड़ी संगठित थी और भारतीयों को पढ़ने लिखने का बड़ा शौक था। शिक्षा में स्मरण शक्ति से अधिक काम लिया जाता था।' (प्राचीन भारत पृष्ठ ३०३)

उपर्युक्त वर्णनों से जब हम आज के भारत को मिलाते हैं तो हमें उस समय के हिन्दुराष्ट्र में और आज के सैक्यूलर गणतन्त्रराष्ट्र में आकाश और पाताल का अन्तर दिखाई देता है। यह वर्णन उन लोगों की आंखें खोल देने के लिये पर्याप्त है जो हिन्दु शब्द को हौव्वा समझते हैं, जिन्हें हिन्दु होना साम्प्रदायिक दिखलाई देता है, और धर्म मूलक राज्य की स्थापना अनर्थमूलक सूझती है। आजतक के धर्ममूलक हिन्दुराज्यों ने, इतिहास को, स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक जो सुदृढ़ तथा न्यायपूर्ण शासन दिया, जो अनुकरणीय चरित्र-परम्परा दी, जो अनुपम साहित्य, सर्वाङ्गीण विकसित कला तथा सुख शान्तियुक्त जीवन का निदर्शन दिया है वह आज का सैक्यूलर जनतन्त्र क्या कभी दे सकेगा? और इसका एक ही कारण है राज्य की धर्म-निरपेक्षता। पहिले समय में लोगों की धर्म भावना को प्रोत्साहित करने, उनके चरित्र को ऊंचा उठाने और विदेशों में अपने आदर्शों के प्रसार करने के लिए राज्य की ओर से एक पृथक् विभाग होता था जिसका कार्य केवल राष्ट्र के आधार भूत इन तत्त्वों का निरीक्षण और संवर्धन होता था। महाराजा अशोक के समय की ऐसी ही एक व्यवस्था की चर्चा करते हुए प्रो० वेद

व्यास एम० ए० ने अपनी 'प्राचीन भारत' पुस्तक में लिखा है—

"जनता के आचार तथा आध्यात्मिक दशा पर निरीक्षण रखन के लिये अशोक ने एक पृथक् विभाग की नियुक्ति की! इस विभाग के अफिसरों को 'धर्म महामात्र' कहा जाता। सीमा प्रान्त की अर्ध सभ्य जातियों को धर्म का पाठ पढ़ाने के लिये वहां भी धर्म महामात्रों की नियुक्ति की गई। राजकीय दान का वितरण भी यही अधिकारी करते थे। (प्राचीन भारत पृ० २१३)

आज क्या दशा है। धर्म विभाग तो दूर रहा, भारत के विधान में उसकी गन्ध तक भी नहीं आने दी गई। जिन स्कूलों में धर्मशिक्षा चालू थी गवर्नमेंट ने उनको भी साम्प्रदायिक करार देकर सहायता बन्द कर देने की धमकी दी, जिससे विवश होकर उन्होंने धर्म शिक्षा समाप्त कर दी। जब धर्म के नाम से हमारे नेता तथा शासक-मशीनरी ऐसी विदकती है तो जनता तो 'यथा राजा तथा प्रजा' होगी ही। ऐसी दशा में यदि देश की सभ्यता, संस्कृति उसकी सदाचार-परम्परा सब कुछ नष्ट हो जाए तो इसमें आश्चर्य क्या ? लेकिन हमें विश्वास है समय आयेगा जब लोग अपनी इस भूल को अनुभव करेंगे और यह धर्म निरपेक्षता का कलङ्क इस राष्ट्र के माथे से पूंछ जाएगा।

हमारी धर्म मूलक अर्थ-व्यवस्था

मानव जीवन में अर्थ=धन का कुछ कम महत्त्व नहीं है। 'दादा बड़ा न भैया सबसे बड़ा रुपैया'—कहावत तो आज की है परन्तु—'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' यह सूक्ति संस्कृत साहित्य में प्रायः पुराने समय से प्रसिद्ध है। धन का ऐसा महत्त्व रहा तो सभी समय में है परन्तु इस भौतिकवाद के जमाने में तो इसकी महत्ता अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी है। सभी विद्याओं,

गुणों और वस्तुओं का मूल्य आजकल इसी के द्वारा आंका जाने लगा है और जीवन का एक प्रकार से लक्ष्य ही धनार्जन बन गया है। अर्थ के अर्जन और वितरण की व्यवस्था को लेकर ही साम्यवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद आदि विभिन्न वादों की एक बाढ़ सी आई हुई है और लोग अपनी २ स्थिति के अनुरूप किसी न किसी वाद के चक्कर में पड़ कर भ्रमावर्त में पड़े तिनकों की नांई सतत गति में घूम रहे हैं।

ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आज भारत में जैसी आर्थिक विषमता है—क्या हिन्दुराष्ट्र में भी यही थी ? आजकल कुछ लोग तो ऐश्वर्य और वैभव की गोदी में खेल रहे हैं; अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, दो चार दश नौकर रखते हैं मोटर और कारों पर घूमते हैं किन्तु उन्हीं श्रीमन्तों के पड़ोस में ऐसे लोग भी हैं जिन्हें दो जून पेट भर खाना भी नसीब नहीं होता, तन ढकने को वस्त्र का टुकड़ा नहीं मिलता और ये अभागे पौष माघ की कड़कती सर्दी की लम्बी रातों को एवं वैशाख जेठ की झुलसाती दोपहरों को किसी पुल के नीचे, सड़क की पटरी पर या किसी वृक्ष की छाया में बिताते हुए अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। क्या इस प्रकार का अभिशप्त जीवन भी हिन्दू जाति की बपौती है जिसे वह आज भी ढोती जा रही है।

नहीं, यह निन्दनीय आर्थिक विषमता न तो हिन्दुराष्ट्र में कभी रही और न इसे हम किसी धर्म या संस्कृति का अङ्ग ही स्वीकार कर सकते हैं। अगर कोई संस्कृति या धर्म मानव मानव के बीच ऐसे घृणित भेदभाव को उत्पन्न करे तो न वह

धर्म है और न वह संस्कृति। धर्म का तो लक्ष्य ही—**यतो अभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धि'** अर्थात् इस लोक में मनुष्य मात्र का अभ्युदय और परलोक में कल्याण करना है। धर्म इस विषमता का समर्थक कदापि नहीं हो सकता। भारत का यह जीर्णशीर्ण अर्थचक्र, हिन्दूसमाज का यह विच्छिन्न स्वरूप लगभग एक सहस्र वर्षों की पराधीनता का अनिवार्य परिणाम है। विदेशी आक्रमण और विदेशी राज्यसत्ता की आंधी एक दो वर्ष तक नहीं पूरे १ हजार वर्ष तक इस हरे भरे उद्यान को झकझोरती रही है और उसके प्रबल थपेड़ों ने आज इसको इस दयनीय दशा में पहुंचा दिया है कि हमें भारत की वह अतीत समृद्धि और रामायण महाभारत वर्णित हिन्दुस्थान का सर्वोदय-सम्पन्न रूप आज कल्पना ही दिखाई देता है। परन्तु वास्तव में वह कल्पना नहीं वह यथार्थ है और हिन्दू राज्य काल में जिस धर्ममूलक अर्थ व्यवस्था का प्राधान्य रहा है उससे ऐसे आदर्श राज्य और आदर्श समाज की रचना स्वाभाविक ही है।

संसार में धन सब अनर्थों का मूल है। इसी की लिप्सा से अभिभूत होकर न केवल साधारण मनुष्य, किन्तु देश और राष्ट्र भी कृत्य अकृत्य करने पर उतर आते हैं और संसार में महा समर की वह भीषण ज्वालाएं धधकने लगती हैं जिनमें मानव जाति का सर्वस्व स्वाहा हो जाता है। पिछली दो शताब्दियों में इटली, फ्रांस, रूस, अमेरिका, चीन आदि देशों में जो राष्ट्र-व्यापी विप्लव हुए, जो क्रान्तियां हुईं उन सबके मूल में अर्थ ही था। आज भारत में भी जिस साम्यवादी क्रान्ति की काली घटाएं घिर रही हैं उसके मूल में भी धन और उसका उपभोग ही है।

अतः आज इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हिन्दु जाति गम्भीरता से अपने पिछले जोवन क्रम को देखे, सोचे और समझे कि हमारे अतीत जीवन में अर्थ की क्या व्यवस्था थी? अर्थ के अर्जन और उसके उपभोग के बारे में हमारा धार्मिक दृष्टिकोण क्या रहा है? जीवन की स्थायी विधान पुस्तक= वेदों में अर्थ व्यवस्था के बारे में किस मार्ग का उपदेश दिया गया है और हम उस पर कहां तक अमल कर रहे हैं। यदि आत्म निरीक्षण करके हमने उस प्राचीन अर्थ प्रणाली को न अपनाया, वेद के अर्थ विधान की उपेक्षा करके यदि हम इसी प्रकार आगे बढ़ते रहे तो निश्चय ही यहां कम्यूनिज्म आयेगा और संसार की कोई शक्ति उसे आने से न रोक सकेगी। और यदि कम्यूनिज्म का वह महापूर एक बार आ गया तो उसके प्रबल प्रवाह में हमारी समस्त सामाजिक और आर्थिक जीवन परम्परा न बह जाएंगी यह कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है? इस अनर्थकारी वाद को केवल हिन्दू संस्कृति का धर्म मूलक अर्थवाद ही रोक सकता है अन्य कोई नहीं।

हां, तो हिन्दू दर्शन के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चतुर्विध पुरुषार्थों में अर्थ का दूसरा स्थान है। प्रथम स्थान धर्म का है, इसका तात्पर्य है कि जहां अर्थ सञ्चय धर्म पूर्वक हो, ईमानदारी से हो वहां इसका उपयोग भी सर्वांश में नहीं तो अधिकांश में धर्म के हित ही होना चाहिये। यजुर्वेद की ईशावास्योपनिषद् में हमारी आर्थिक व्यवस्था का आधारभूत यह बड़ा सुन्दर मन्त्र है—

ईशावास्यमिद७ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

अर्थात्—इस चर अचर संसार में जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह सब ईश्वर से आवासित है अर्थात् उसका है। (मनुष्य को उसमें से अपने प्रारब्ध और उद्योग के अनुसार जितना कुछ भी मिलता है) उसका उपभोग त्याग पूर्वक करना चाहिये। कभी दूसरे के धन के प्रति ललचाई दृष्टि से न देखना चाहिये।

इस अकेले मन्त्र में समस्त मानवों के कल्याण के लिये जिस व्यवस्था का निर्देश किया गया है यदि संसार उसे अपना ले तो साम्यवाद पूंजीवाद आदि वर्गवाद तो अपनी मौत मर ही जाएं किन्तु धन को लेकर आज विश्व में जो अनर्थ हो रहे हैं उनकी समाप्ति हो जाने से संसार में सच्ची सुख शान्ति भी छा जाए। इस मन्त्र के तीन भाग हैं। प्रथम भाग के द्वारा सभी प्राणियों को यह तत्त्व समझाया गया है कि संसार में जो कुछ भी हम देखते हैं या प्राप्त करते हैं वह सब उस जगन्नियन्ता प्रभु का है। उसका वाहिद मालिक वही है हम नहीं। हम ट्रस्टी हो सकते हैं, ख़जानची हो सकते हैं मालिक नहीं। अतएव हमें उसका खर्च मालिक की आज्ञानुसार—(जो कि आज्ञायें वेद शास्त्रों में विद्यमान हैं) ही करना चाहिये स्वेच्छा से नहीं। यह बात तो धनिकों के लिये हुई, किन्तु निर्धनों के समझने लायक भी एक बड़ा तत्त्व इसमें है। जब विश्व में दृश्यमान सम्पूर्ण पदार्थ उस प्रभु के हैं तो यदि वह प्राक्तन कर्मानुसार किसी को कम और किसी को अधिक देता है तो हम इस पर सोच क्यों करें। मन को क्यों दुखाएं ?

आप एक वस्तु के स्वामी हैं क्या आपको यह अधिकार नहीं कि आप जिसे चाहें दें। यदि हम इस तथ्य को अपने मन में स्थान दें तो जीवन में हमें जो असन्तोष, अशान्ति और बेचैनी अनुभव होती है वह न हो। तात्पर्य यह कि इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध को हृदयंगम कर लेने पर यदि आप धनिक हैं तो धन का मिथ्याभिमान दूर कर दें और यदि धनाभाव पीड़ित हैं तो क्षोभ दूर करके शान्ति की स्थिति में आ जायं। इस प्रकार यह पद धनी एवं निर्धन दोनों के लिये समान हितप्रद है।

मंत्र का दूसरा भाग धनिकों के लिये मधुर शिक्षा भी है और कड़ी चेतावनी भी। 'त्याग पूर्वक भोग' यही वेद की शिक्षा है। वेद कहता है—ईश्वर ने जो धन तुम्हें दिया है उसे (भुञ्जीथा) 'भोगो' परन्तु सावधान ! (त्यक्तेन) त्यागपूर्वक भोगो। धन का उपभोग यह समझते हुए करो कि ईश्वर ने तुम्हें यह धन केवल भोग-विलास ऐशो अशरत के लिये नहीं दिया, यह तो ईश्वर की बपौती है, प्रभु संकल्पसंभूत इस संसार की बपौती है, समाज और देश की थाती है इसका उपयोग इन सब के हित के लिए करना तुम्हारा कर्तव्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी पद की व्याख्या करते हुए कहा है—

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

(गीता ३। १२)

अर्थात्—हे मनुष्यो ! वे देवता (ईश्वर की तत्तद् शक्तियें) तुम्हें तुम्हारे अभिप्रेत पदार्थ देंगे और तुम उनको यज्ञ (हवन

तथा शुभ संकल्प पूर्वक वस्तु त्याग) द्वारा प्रसन्न करो। क्योंकि जो व्यक्ति देव-प्रदत्त वस्तुओं को बिना उनको प्रदान किये अकेला भोग करता है वह चोर है। गीता ने जहां ऐसे व्यक्तियों को 'चोर' बताया वहाँ वेद ने—

केवलाघो भवति य उ केवलादी

—कहकर उनको 'पापी' शब्द से स्मरण किया है। श्रीमद्भागवत में भगवान् वेदव्यास ने संग्रह-प्रवृत्ति अथवा पूंजीवाद की निन्दा करते हुए साम्यवादियों से भी दो कदम आगे बढ़ कर केवल उतने मात्र पर ही मनुष्य का अधिकार स्वीकार किया है जितने मात्र से उसका एक दिन पेट भर जाए यथा:—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्त्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

अर्थात्—जितने से पेट भर जाय उतने मात्र पर ही प्राणियों का स्वत्व=अधिकार है इससे अधिक को जो अपना समझता है वह चोर है और दण्ड का पात्र है।

महर्षि के इस वचन को लाक्षणिक अर्थों में लेकर यदि हम पेट भरने का अर्थ मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति भी कर लें तो भी हमारा कर्तव्य यही सिद्ध होता है कि अपनी आवश्यकता भर के लिये रख कर शेष आय को देश, धर्म, जाति तथा समाज की सेवा व उत्थान में उत्सर्ग कर दें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो फिर वेद और स्मृतिकारों की दृष्टि में हम पापी और चोर हैं ही और तब यदि साम्यवादी अर्थक्रान्ति की भीषण ज्वालाएं हमारे पूंजीपतियों

को, सम्पन्न धनिकों को और आपाततः इस राष्ट्र को आक्रान्त करती हैं तो यह वेद की इस शिक्षा को भुला देने का ही परिणाम समझना चाहिये; **'स स्तेनो दण्डमर्हति'** की व्यवस्था देने वाले महर्षियों से समर्थित न्यायकारी प्रभु से दिया गया दण्ड ही समझना चाहिये। इसलिये हमने ठीक ही कहा है कि मंत्र का यह दूसरा भाग धनिकों के लिये मधुर शिक्षा भी है और कड़ी चेतावनी भी।

मन्त्र का तीसरा भाग उन लोगों के लिये है जो धनाभाव से पीड़ित हैं और उसकी प्राप्ति के लिये हाथ से परिश्रम कम करते हैं किन्तु छीना झपटी द्वारा अधिक हथिया लेना चाहते हैं। वेद ऐसे लोगों को कहता है **'मा गृध'**—दूसरे के धन को देख कर ललचाओ मत। **कस्य स्विद्धनम्**—यह धन किसका हुआ है? अर्थात् किसी का नहीं। जिस धन के लिये इतनी हाय हाय, इतना संघर्ष, वह रहता किसी के पास नहीं! या—**कस्य स्विद्धनम्**— अरे मूर्ख, जरा सोच। यह धन किसका है अर्थात् इसका वह मालिक कौन है जो इसका वितरण करता है (उसकी व्यवस्था को समझ)।

हमारा आदर्श : त्याग के लिए संग्रह

आज यदि हम वेद की इस शिक्षा को क्रियान्वित करें तो सच्चे अर्थों में सर्वोदय समाज की स्थापना कर सकते हैं और भूमण्डल पर रामराज्य को साकार कर सकते हैं। यह धर्म-मूलक अर्थ व्यवस्था ही हिन्दू जाति तथा हिन्दू राष्ट्र के जीवन का प्रमुख अङ्ग रही है। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में हमारे इस आदर्श का कितना सुन्दर चित्रण किया है

कि—

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।

अर्थात्—जिस प्रकार बादल जगह २ से जल इकट्ठा करके उसको वर्षा कर समस्त पृथ्वी को समृद्ध बना देते हैं, ऐसे ही भद्र पुरुषों का धनार्जन करना भी त्याग के लिये होता है। प्राचीन काल में वेद की यह शिक्षा राजा से लेकर रंक तक के मन में संविष्ट थी। सब त्याग करना चाहते थे ग्रहण नहीं। जिससे जितना बन पड़ता त्याग करता। राजा मन भर, तो रंक कन भर। यही कारण था कि उस समय कभी वर्ग संघर्ष की नौबत ही नहीं आई। आइये हम आपको हिन्दू-राज्य की सफल अर्थ-व्यवस्था के दर्शन करायें।

त्रेता युग—हां, आज से नौ लाख वर्ष पुराना काल। महाराजा रघु दिग्विजय के अनन्तर विश्वजित् यज्ञ समाप्त कर चुके हैं। रघु का यश तो पहिले ही हंसों, नभ के नक्षत्रों, कुमुदों और शुभ्र जलराशि को अपनी शुक्लता से धवल बना चुका था किन्तु अब उनका प्रताप भी चारों दिशाओं में छा गया। यज्ञ में ऋत्विजों का जो सम्मान हुआ, गरीबों को जो अपार धनराशि लुटाई गई, राजाओं को जो बहुमूल्य वस्त्राभूषण पारितोषिक दिये गये उनकी प्रशंसा विश्व के कोने २ में फैल गई। महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स इन्हीं दिनों अपना विद्याध्ययन समाप्त कर चुका था। उसने गुरु से कुछ दक्षिणा ग्रहण करने को प्रार्थना की। परन्तु गुरु तो धर्म शासित हिन्दू राष्ट्र कालीन थे न। कहने लगे—'बेटा तुम्हारे परिश्रम और प्रेम से ही मैं सन्तुष्ट हूं। मैंने तुम्हारी भक्ति में ही गुरु दक्षिणा प्राप्त कर ली।'

पर कौत्स नहीं माना, महर्षि से बार २ आग्रह करने लगा।

उसके अनुचित आग्रह और हठ को देख महर्षि को क्रोध आ गया। बोले—अच्छा, यदि तुम्हें दक्षिणा देने का ज्यादा ही चाव है तो मैंने तुम्हें चौदह विद्याएं पढ़ाई हैं, प्रत्येक के लिये एक एक करोड़ रुपये के हिसाब से चौदह करोड़ रुपये मुझे दे दो।

कौत्स ने गुरु-आज्ञा शिरोधार्य की, गुरुचरणों में प्रणाम कर दक्षिणा के लिये चल दिया। चक्रवर्ती नरेश महाराजा रघु उन्हीं दिनों यज्ञ से निवृत्त हुए थे। उनके अपूर्व दान की प्रशंसा कौत्स ने भी सुनी थी, सोचा सिवाय ऐसे दानी के और मेरा मनोरथ पूरा भी कहां होगा। सीधा रघु के पास पहुंचा। महाराज को ब्रह्मचारी जी के आने की खबर दी गई, रघु तुरन्त अपने अभ्यागत अतिथि का सत्कार करने पहुंचे। महाकवि कालिदास ने उन चक्रवर्ती महाराज रघु के अतिथि-सत्कार का चित्र खींचते हुए लिखा—

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्
पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।

श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः,
प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥

(रघुवंश ५। २)

अर्थात्—विश्व विश्रुतकीर्ति, अत्यन्त मीठे स्वभाव वाले तथा अतिथियों की सर्वदा सेवा करने वाले चक्रवर्ती रघु, (विश्वजित् यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर देने के कारण) सुवर्ण पात्रों के न होने से मिट्टी के पात्र में अर्घ्य लेकर उस विद्वान्

ब्रह्मचारी का स्वागत करने के लिये द्वार पर आ उपस्थित हुए।

रघु को इस प्रकार स्वर्ण पात्रों के स्थान में मिट्टी के पात्रों में स्वागत सामग्री लेकर द्वार पर आया देखकर कौत्स स्तम्भित रह गये। उन्हें 'विश्वजित्' यज्ञ में सर्वस्व दान कर अकिञ्चन बने हुए त्यागी रघु की स्थिति को समझने में विलम्ब न लगा, वे किसी दूसरे उदार दानी के पास जाना चाहते थे किन्तु रघु भला द्वार पर आये अर्थी को निराश कैसे लौटने दे सकता था ? कौत्स को अतिथिशाला में ठहरा कर उसने प्रातः होते ही कुबेर की राजधानी अलका पर आक्रमण का पुरोगम सुनिश्चित कर लिया। उस मनस्वी तथा सर्वस्व दानी के इस दृढ़ निश्चय को जान कर कुबेर ने रात्रि में ही अपार स्वर्ण राशि से रघु के रिक्त भण्डार को भर दिया।

प्रातःकाल हुआ, महाराज ने ब्रह्मचारी कौत्स को बुलाया और वह सम्पूर्ण धन देने लगे किन्तु कौत्स, अपनी आवश्यकता से अधिक लेना ही नहीं चाहते थे। उनकी इस कशम-कश का चित्रण करते हुए कवि लिखते हैं—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

अर्थात्—उस समय अयोध्या निवासियों के लिये महाराज रघु और कौत्स दोनों ही प्रशंसनीय बन गये अर्थात् घर २ में उन्हीं की चर्चा होने लगी। राजा तो ख़जाने में कुबेर द्वारा पहुँचाया गया सारा धन देना चाहते थे और कौत्स केवल उतना ही ग्रहण करना चाहते थे जितना कि उन्हें गुरु को देना था।

धन्य था वह समय और उस काल की वह जनता, जिसके

सामने इस प्रकार के प्रशंसनीय एवं आदर्श संघर्ष आते थे कि देने वाला कहता मैं सारा दूंगा और लेनेवाला जिद्द करता कि मैं इतना नहीं ले सकता ।

लोक हित में सर्वस्व दान की यह प्रथा,-जिसका आरम्भ प्रथम सम्राट् भगवान् मनु ने किया था हिन्दु राष्ट्र के राजाओं का सर्वदा लक्ष्य रही है । आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने भगवान् श्री रामचन्द्र जी द्वारा किये गये ऐसे ही एक यज्ञ का वर्णन करते हुए लिखा है—

वैदेही च महाभागा सौमंगल्यावशेषिता ।

(वाल्मीकि रामायण)

अर्थात्—उस यज्ञ में भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने सब कुछ बांट दिया । यहां तक कि जनकनन्दनी के सौभाग्य चिह्न स्वरूप स्वर्णमय मंगल सूत्र को छोड़ कर उनके समस्त आभूषण भी वितरित कर दिये गये ।

अधिक क्या, तात्पर्य केवल इतने से ही है कि जब भारत के राजा और रंक आबाल वृद्ध जनता के हृदय इस 'ईशवास्य' की भावना से पूरित थे, जब लोगों की वृत्ति त्यागोन्मुखी थी तो क्या वहाँ वर्गसंघर्ष या साम्यवाद जैसी निकृष्ट परम्परा को कोई स्थान मिल सकता था ? आज जैसे लोग दानी को ढूंढ़ते हैं, कभी ऐसा समय था जब धनवान् और समर्थ लोग ऐसे व्यक्तियों को ढूंढ़ते थे जो उनसे कुछ ग्रहण कर उनको उपकृत कर सकें ।

महाकवि भास ने अपने 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक में एक स्थान पर ऐसी ही स्थिति का चित्रण किया है । महाराजा दर्शक

की बहिन पद्मावती अपनी वृद्धा माता से—जो कि अपने जीवन के चतुर्थ भाग को एक आश्रम में रहकर बिता रही थी—मिलने के लिये वन में जाती है। पद्मावती की हार्दिक इच्छा है कि वह आश्रमों में रहनेवाले साधु महात्माओं की सेवा करने का, अपने अपार धन वैभव द्वारा उनकी किन्हीं आवश्यकताओं को पूर्ण करने का, सुअवसर पा जाय तो उसका जीवन सफल हो। वन में घोषणा कर दी गई कि राजकुमारी पद्मावती वनवासियों की इच्छा पूर्ण कर अपने को कृत्यकृत्य करना चाहती है। समिध, कुश, फल, वल्कल, वस्त्र, भूषण, गुरु को देने के लिये धन या अन्य किसी भी वस्तु की जिसे इच्छा हो वह सादर ग्रहण कर सकता है।'

परन्तु आश्चर्य ! उस समस्त तपोवन में एक भी व्यक्ति ऐसा न निकला जो इस राजकुमारी कीं इच्छा को पूर्ण कर उसे अनुगृहीत कर सकता।

अर्थ के प्रति त्याग की यह वृत्ति कल तक भी भारत में रही है। ७ वीं शताब्दी में होने वाले महाराज हर्ष का यह नियम था कि वे प्रति ५ वर्ष के बाद त्रिवेणी तट पर सर्वस्व दान कर दिया करते थे। राष्ट्रोद्धार के लिये, अपनी खून पसीना एक करके अर्जन की हुई विशाल सम्पत्ति को हिन्दूपति महाराणा प्रताप के चरणों में विसर्जित कर देने वाले दानवीर भामाशाह का वृत्तान्त तो अभी कुछ सौ वर्ष पहले की ही घटना है।

कहां तक लिखें, संस्कृत काव्येतिहास ग्रन्थों में जगह २ ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं, जो प्रकट करते हैं कि अर्थ के प्रति हमारी वृत्ति सर्वदा त्यागोन्मुखी रही और रोटी कपड़े जैसी तुच्छ

वस्तुओं को लेकर इस देश में कभी कोई आन्दोलन खड़ा ही नहीं हुआ। संस्कृत वाङ्मय में आप को दीपक लेकर ढूंढ़ने से भी ऐसी कोई घटना नहीं मिलेगी जहां आज की भांति रोटी और कपड़े के लिये किसी वर्ग ने संघर्ष किया हो। इसके विपरीत नीतिकारों ने—'**काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते**' कह कर रोटी कपड़े जैसे तुच्छ लक्ष्य पर मानव जीवन जैसे अमूल्य जीवन को गंवा देने वाले लोगों की कड़े शब्दों में भर्त्सना की है।

लेकिन हमारा भूत काल कितना भी शानदार रहा हो हमें तो वर्तमान को देखना है और भविष्य पर विचार करना है। आज हिन्दु जाति की अर्थ व्यवस्था जैसी छिन्न-भिन्न है उसमें जो महान् विषमता आई हुई है हमें उसे दूर करना चाहिये, नहीं नहीं उसे दूर करना ही होगा और यह उस समय तक दूर नहीं हो सकती, जब तक हम उस वेद प्रतिपादित 'ईशावास्य' की भावना को हृदय से नहीं अपनाते, उसे व्यवहार में परिणत नहीं करते—सीधे शब्दों में जब तक हम धन के सञ्चय के प्रति अनुचित मोह का त्याग कर अपनी आवश्यकता भर को रख कर शेष धन को सार्वजनिक कार्यों में—देश धर्म और जाति की सेवा में, दरिद्र-नारायण के उत्थान में नहीं लगा देते।

व्यास का अर्थवाद और कम्यूनिज्म

भगवान् वादरायणि ने श्रीमद्भागवत में मानव मात्र के लिये अर्थ के व्यय की जिस व्यवस्था का निर्देश किया है और जिसे आधार बना कर आज तक हम अपने जीवन-चक्र को चलाते रहे हैं, यदि उसे हम आज पुनः अपना लें तो हम न

केवल साम्यवाद, समाजवाद ग्रादि पाश्चात्य वादों के दूषित प्रभाव से ग्रपने देश ग्रौर ग्रपनी संस्कृति को बचा सकेंगे किन्तु दूसरे देशों के सामने एक नवीन ग्रादर्श भी रख सकेंगे। यह व्यवस्था एक प्रकार से मार्क्सवाद या कम्यूनिज्म को खुली चुनौती है जो बिना रक्तपात के भी किसी राष्ट्र से ग्रर्थ-वैषम्य को दूर कर सकती है। शास्त्र-वर्णित भूमिदान के माहात्म्य को सुना २ कर विनोबा भावे ने जनता से लाखों एकड़ भूमि प्राप्त करके ग्रौर उसे भूमि हीनों में बाँट कर बिना रक्त की एक बूंद बहाये भूमि-वैषम्य की समस्या को हल करने की बात कही परन्तु वे सफल न हुये क्योंकि लोगों ने प्रायः बंजर जमीनें दीं, ग्रौर वितरकों ने वह भी ग्रपने सम्बन्धियों को दे डालीं। दम्भीदाता झूठा यश चाहते थे, वितरक स्वार्थी थे। यदि भगवान् व्यास के पूर्वोक्त सन्देश को लेकर सच्चा प्रचार हो तो ग्रर्थ वैषम्य की समस्या का समाधान हो सकता है।

ग्रस्तु, व्यासप्रोक्ता वह ग्रर्थ-वितरणात्मक सार्वभौम सिद्धांत है कि—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

(श्रीमद्भागवत)

ग्रर्थात्—मनुष्य को चाहिये कि ग्रपनी ग्राय से राजांश= ग्रायकर ग्रादि निकालने के बाद शेष को ५ हिस्सों में विभक्त कर ले—एक भाग यज्ञ स्नान दानादि धार्मिक कार्यों में व्यय करे, दूसरा यश के लिये, तीसरा धन कमाने के लिये पूंजी के रूप में लगावे, चौथा ग्रपने सुख के लिए ग्रौर पांचवां स्वजन= ग्रपने बन्धु बान्धव, नौकर चाकर, कर्मचारी ग्रादि में वितरण

इस प्रकार करने पर मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों में सदा प्रसन्न रहता है।

अब देखिये यदि ईमानदारी पूर्वक मनुष्य सब के यथोचित भाग सब तक पहुंचा देना अपना कर्तव्य निश्चित कर ले तो न तो रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार और नकली बही खाते आदि रखने का छल करने की आवश्यकता और न मिल मालिक-मजदूर, जमीदार-किसान, पूंजीपति और गरीबों की आये दिन की कशमकश और झगड़े। न हड़तालें न तालाबन्दी। हिन्दू-राष्ट्र के इतिहास में हमें अर्थ-विभाजन की यही प्रणाली दृष्टि गोचर होती है, उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय के ६ भाग करके उसे पूर्व निर्दिष्ट कार्यों में व्यय करता था।

सबसे पहिला भाग राजांश होता था। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी स्थिति का हो—धनी हो चाहे निर्धन, गृहस्थी हो चाहे विरक्त वनवासी, अपनी आय में से राजा का अंश अवश्य निकाल देता था। लोगों की धारणा थी कि **'राजांश-स्तेज आदत्ते'** अर्थात् राजा का अंश खाने से तेज नष्ट हो जाता है। इसलिये कोई भी ज्ञानवान् व्यक्ति राजांश को घर में नहीं रखता था। साधारण जनता की तो बात छोड़िये वनों में रहने वाले ऋषि मुनि भी—जो कि शिलोञ्छ वृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करते थे—अन्न के जो दाने खेतों से बीन बान कर लाते थे उनमें से नियमपूर्वक छठा हिस्सा निकाल कर समीपस्थ तीर्थों के किनारे रख देते थे। तभी तो रघु ने ब्रह्मचारी कौत्स से पूछा था कि—

तान्युञ्छषष्टाङ्कितसैकतानि
शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्।

अर्थात्—हे महर्षि, जिन तीर्थाशयों के पुलिन पर जगह २

ऋषियों द्वारा अपने कण कण बीन कर इकट्ठे किये हुए धान्य में से निकाले गये राजा के छठे अंश की ढेरियां दृष्टि-गोचर होती हैं, तुम्हारे वे तीर्थ तो ठीक हैं न ?

यह तो हुई राजांश की बात, शेष धर्म यश आदि ५ विभागों की ओर भी लोगों का पूर्ण ध्यान रहता था। बड़े बड़े यज्ञानुष्ठानादि धार्मिक कृत्यों का आयोजन होता जिससे संगृहीत धन अनेक जनों में विभक्त हो जाता था किसी एक के पास रुकता नहीं था। फलतः अर्थ के वितरण को लेकर कोई अव्यवस्था या असन्तोष हमें उस काल के इतिहास में नहीं मिलता।

इस प्रकार अधिक विस्तार में न जाते हुए अन्त में हम यही कहेंगे कि हिन्दु राष्ट्र का इतिहास सर्वदा गौरवमय रहा है और उसका भविष्य भी समुज्ज्वल है। राज्य-तन्त्र के रूप में हमने संसार के सामने आदर्श एवं न्यायपूर्वक शासन का उदाहरण रखा है अब प्रजातन्त्र प्रणाली पर चल कर भी हम व्यक्ति या दलगत स्वार्थ एवं हठवाद से ऊपर उठकर एक सच्चे हिन्दु के रूप में युद्धलिप्सु पश्चिमी देशों के सामने शान्ति का संदेश रख सकेंगे ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

हमें अपने हिन्दु होने पर किसी प्रकार की आत्मग्लानि नहीं किन्तु गौरव का अनुभव करना चाहिये। हमें हिन्दुत्व का अभिमान होना चाहिए और प्रयत्न करना चाहिये कि हिन्दुत्व की यह भावना प्रत्येक हिन्दु के हृदय में जागृत हो जिससे हम सच्चे अर्थों में स्व-तन्त्र-राष्ट्र की स्थापना कर सकें।

वर्ण व्यवस्था विचार

(पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्)

यहां तक हमने समष्टिरूपेण नर मानव-सनातन धर्मी और हिन्दु कहे जाने वाले वर्ग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है, अब प्रसङ्गोपात्त उसका व्यष्टिरूपेण वर्णन किया जाता है। हमारी इस वर्णन परम्परा के क्रम को समझने के लिये पाठक एक दृष्टान्त सामने रख लें जिससे कि इसका रहस्य सरलता से समझ में आ सकेगा। जैसे गङ्गोत्तरी से निकलने वाली गङ्गा की विशुद्ध धारा ज्यों २ आगे बढ़ती है त्यों २ वह अनेक नदी नालों के सम्मिलित हो जाने से विकृत, गन्धली होकर अपेय जल वाले महासमुद्र में मिल तद्‌रूप में ही परिणत हो जाती है। तब गंगा सागर संगम पर खड़े हुए व्यक्ति को गङ्गा का वह पुनीत आदिम स्रोत ढूँढ़ना भी कठिन हो जाता है, ठीक इसी प्रकार मानव समाज की आदिम धारा भी अब नाना मतों, पन्थों, सम्प्रदायों और विचारों के संमिश्रण से कुछ की कुछ बन गई है। सो जैसे गङ्गासागर से गङ्गोत्तरी की ओर चलने वाला मनुष्य ज्यों २ उत्तर की ओर बढ़ता है त्यों २ उसे उत्तरोत्तर गङ्गा का परिमार्जित विशुद्ध रूप दीखने लगता है ठीक इसी प्रकार हमने भी विलोम क्रम से वर्णन आरम्भ करके पाठक वर्ग को वर्णाश्रमी वर्ग तक पहुंचा दिया है जो कि मानव परम्परा के पहिले अविकृत रूप का प्रतिनिधित्व करता है। अब हम वर्णव्यवस्था का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करते हुए सिद्ध करेंगे कि किसी भी देश को उन्नति के लिये इस व्यवस्था की कितनी अनिवार्य आवश्यकता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳯ शूद्रो अजायत।
(यजु० ३१। ११)

(ख) चत्वारो वर्णा निषादश्च पञ्चमः (निरुक्त)

(ग) ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमः (अथर्व० ४। ६। १)

(घ) क्षत्रियोऽजनि (ऐतरेय० ८। १७)

(ङ) ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णम् (तैत्तिरीय ३। १२। ६। २)

(च) स शौद्रवर्णमसृजत् (शतपथ १४। ४। २। २५)

(छ) चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः, तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् (आपस्तम्ब २। २। २)

अर्थात्—विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरू स्थान से वैश्य और पांवों से शूद्र उत्पन्न हुए। (ख) [उपर्युक्त] चार वर्ण हैं और पांचवे निषाद=अन्त्यज हैं। (ग) ब्राह्मण मुख्य उत्पन्न हुआ। (घ) क्षत्रिय उत्पन्न हुआ। (ङ) वैश्य वर्ण ऋग् से उत्पन्न हुआ। (च) परमात्मा ने शूद्र वर्ण रचा। (छ) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं जिनमें पर की अपेक्षा पूर्व जन्म से श्रेष्ठ है।

वैज्ञानिक विवेचन

(सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः)

यद्यपि आज के युग में विरोधियों का सर्वाधिक कुप्रचार

जन्मजात वर्ण-व्यवस्था को भंग करने में ही रहा है, परन्तु हमें पूरा भरोसा है कि हिमालय से शिर भिड़ाकर क्षत विक्षत होकर ये लोग कुछ दिन में स्वयं शान्त हो जायेंगे, क्योंकि उक्त वर्ण-व्यवस्था अल्पज्ञ मनुष्यों के मस्तिष्क की कल्पनामय उपज नहीं है, किन्तु प्रकृति-विज्ञान की वज्र-सन्निभ दृढ़ चट्टान पर इसकी प्रतिष्ठापना हुई है। अतः प्रकृति के किसी नियम को बदल डालने की मनुष्य में सामर्थ्य नहीं है। बौद्ध विप्लव के समय भी सबसे अधिक प्रहार जन्मजात वर्ण-व्यवस्था पर ही हुए थे, परन्तु आज बौद्ध कहे जाने वाले चीन, जापान, कोरिया, फार-मूसा, आदि प्रदेशों के निवासियों में उक्त पाँचों वैज्ञानिक वर्गों के स्थान में सत्रह सौ से अधिक जन्मजात फिर्के विद्यमान हैं जिनका न केवल रोटी बेटी व्यवहार में ही पार्थक्य है अपितु श्मशान में भी ऐक्य नहीं है। मुसलमानों ने सात सौ वर्षों तक तलवार के बल से जन्मजात वर्ण-व्यवस्था मिटाकर अपने साथ रोटी बेटी का व्यवहार करने के लिये हिन्दुओं से संघर्ष किया, परन्तु भारतीय मुसलमानों में—पेशे के अनुसार धोबी, तेली, जुलाहा, पींजा, मनिहार, और अछूत गिनी जानेवाली रजील नाम की अनेक जातियें विद्यमान हैं जो अभी तक अपनी जाति में ही विवाह सम्बन्ध करती हैं और पेशे के अनुसार ही अपनी जाति मानते हैं। यह जन-गणना के विवरण से भली प्रकार जाना जा सकता है।

क्या वर्ण-व्यवस्था प्राकृतिक है ?

यहां यह पूछा जा सकता है कि क्या वर्ण व्यवस्था प्राकृतिक है। हमारा उत्तर है—हां। कैसे? ब्रह्मपिण्डवाद सिद्धान्त

के अनुसार। यद्यपि वर्ण व्यवस्था के प्राकृतिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण अन्यून दो अरब वर्ष पुरानी तदनुकूल आचरण करने वाली हिन्दु जाति का अस्तित्व है, क्योंकि यदि यह वर्ण-व्यवस्था कपोल कल्पित होती तो अन्यान्य जातियों की भांति हिन्दू जाति भी केवल इतिहास की पंक्तियों में ही ढूंढी मिलती। तथपि हम उसके प्राकृतिक होने की सिद्धि अण्ड पिण्डवाद के अनुसार करते हैं।

जब हम अपने मानव-पिण्ड को देखते हैं तो स्वभावतः यह पांच अङ्गों में विभक्त दीख पड़ता है। यथा-पहिला–ग्रीवा से ऊपर का भाग, जिसे हम 'ज्ञान केन्द्र' कह सकते हैं। देखना, सुनना, सोचना, समझना, परखना और बोलना ये सब क्रियाएं उक्त विभाग द्वारा सम्पादित होती हैं। दूसरा—भुजाओं का भाग, जिसे हम 'रक्षक भाग' कह सकते हैं। चाहे पांव में कांटा लगे और चाहे शिर में दर्द हो–समस्त शरीर की रक्षा के लिये बिना बुलाये दौड़ना, और किसी भी अङ्ग पर पड़ती हुई चोट को स्वयं आगे बढ़कर अपने ऊपर ओटना यह भुजाओं का निसर्ग सिद्ध गुण है। तीसरा—पेट आदि मध्यभाग, जिसे हम 'पोषक भाग' कह सकते हैं। क्योंकि खाये हुए भोजन का सम्यक् परिपाक करके शरीर के सभी अङ्गों को उनका भाग पहुंचा कर सब का पोषण करना—यह क्रिया उक्त भाग द्वारा सम्पन्न होती है। चौथा—पांव का भाग, जिसे हम 'स्वयं सेवक' भाग कह सकते हैं, क्योंकि समस्त शरीर को सुव्यवस्थित रखने के लिये सभी आवश्यक कृत्यों के समय पांव ही इसके भार को स्वेच्छा से उठाते हैं और स्वयं पानी में, कीचड़ में, धूल में, जूतों में रहकर भी अन्य समस्त शरीर को स्वस्थ रखने में समर्थ होते हैं पांचवां—मलमूत्र के त्याग का भाग, जिसे हम 'संशोधक य

पावक भाग' कह सकते हैं क्योंकि समस्त शरीर में रहने वाले अनावश्यक मलांश को बाहिर फेंक कर यह भाग शरीर को शुद्ध पवित्र और स्वस्थ बनाने में अपना दायित्व पूरा करता है।

इस प्रकार हमारे मानव पिण्ड के ये प्रधान पांच अंग हैं जब तक ये पांचों अङ्ग अपना काम ठीक करते हैं तब तक शरीर की सब आवश्यकतायें भली प्रकार पूरी होती रहती हैं। हमारा ऐसा कोई आवश्यक काम शेष नहीं रहता, जो कि उक्त अङ्गों ने परस्पर सद्भाव से बांट न लिया हो। बस ! इसी प्राकृतिक चित्र के आधार पर समस्त मानव समाज को समष्टि रूप से सुव्यवस्थित करने के लिये चार वर्ण और पाँचवें अन्त्यज नामक भाग को रचना हुई है। रचना शब्द से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि केवल एक या अनेक बुद्धिमानों ने मिलकर पञ्चायती तौर पर अपने मस्तिष्क से इस व्यवस्था को कभी जन्म दिया है, किन्तु रचना का यही अर्थ है कि वेद शास्त्र में भगवत् प्रोक्त तादृश आज्ञाओं को देखकर उन्हें कार्य रूप में परिणत किया है। तदनुसार पूर्वोक्त पाँचों भागों को हम क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और अन्त्यज कहते हैं।

अहिन्दुओं में भी पांचों विभाग अनिवार्य

किसी भी देश या जाति का उक्त पांचों विभागों की व्यवस्था किये बिना काम नहीं चल सकता। अभी महायुद्ध के दिनों में युद्धलिप्त सभी देशों में एक ऐसा वर्ग था जो अनेक प्रकार के वैज्ञानिक अनुसन्धान करता हुआ अपने नए आविष्कारों द्वारा

अपने देश की बौद्धिक सहायता करता था। यद्यपि यह वर्ग बन्दूक हाथ में थाम कर रणक्षेत्र में एक दिन भी लड़ने नहीं गया किन्तु अपने बन्द कमरे की अनुसन्धानशाला में ही एकान्तवास करता रहा, तथापि युद्ध को सफल बनाने में इस वर्ग का प्रमुख हाथ कहा जा सकता है। दूसरा वर्ग—सैनिक=(Army) बनकर लड़ने वाला था, जिसने अपने प्राणों पर खेल कर युद्ध जीता है। तीसरा वर्ग—इन सबको भोजन पहुंचाने वाला था जिसे वितरण विभाग=(Supply) कहा जाता था। चौथा वर्ग उत्पादक-खेतों और कारखानों में काम करने वाला मजदूर था, जो आवश्यक चीजों का उत्पादन और निर्माण करता था। पांचवां वर्ग—स्वास्थ्य संरक्षक विभाग=(Health Dept.) था, जो कि उक्त सब लोगों के स्वास्थ्य और स्वच्छता का प्रबन्ध रखता था। कहना न होगा कि युद्ध जीतने के लिये उपर्युक्त पांचों विभागों की नितान्त आवश्यकता थी, इनमें से किसी एक विभाग के न होने से अथवा अपना काम ठीक न करने से युद्ध में हार जाने का पूरा खतरा था। यद्यपि इन सभी विभागों के काम पृथक् २ थे और कार्य क्षेत्र भी जुदा थे परन्तु अन्ततोगत्वा सब प्रयत्नों का सामूहिक फल एकमात्र युद्ध में जीतना था।

सभी देशों में एक अध्यापक उपदेशक अनुसन्धायक आदि बुद्धिजीवियों का वर्ग होता है, दूसरा—देश जाति धर्म की रक्षा के लिये लड़ने मरने वाले बलशाली योद्धाओं का होता है। तीसरा—वाणिज्य व्यापार आदि द्वारा देश को आर्थिक समस्या को सुदृढ़ रखनेवाला उद्योगपति (Business Men) धनिक लोगों का होता है। चौथा—ःत्तद् वस्तुओं के उत्पादक और निर्माता शिल्पकार (Machenic) लोगो का होता है, और पांचवां—

सफाई स्वच्छता बनाए रखने वाले सेवकों का होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि हमारे यहां जहां वर्णव्यवस्था (Caste System) है वहां अन्य देशों में वर्गव्यवस्था (Class System) है ।

हिन्दूजाति की वर्ण-व्यवस्था में और संसार के इस वर्गवाद में एक यह भी अन्तर है कि अन्य सब देश तो आग लग जाने पर कुआँ खोदने के समान, युद्धादि आपत्ति के समय विवश होकर उक्त विभागों का संगठन करते हैं और आपत्ति टल जाने पर पुनः सब व्यवस्था भङ्ग कर देते हैं, परन्तु सनातनधर्मी सदा और सर्वदा ही सुस्थिर रूप से अपने इन प्राकृतिक विभागों को सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्नशील रहता है। अब यह बात पाठक स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं कि **'सन्दीप्ते भवने तु कूपखननम्'** ठीक है अथवा **'अनागतं यः कुरुते स शोभते'** ठीक है ?

हमारे और अन्यान्य जातियों के इस वर्गीकरण में यह और भी महान् अन्तर है कि हमारे यहां उक्त सब कार्यों का उत्तर-दायित्व प्रत्येक व्यक्ति पर जन्मना स्थिर किया गया है जिससे कि कोई व्यक्ति समय पर अपने कर्तव्य पालन में किसी प्रकार की आनाकानी न करके देश के प्रति जिम्मेवार बना रहे, परन्तु अन्य जातियें इसे स्वेच्छाचार पर स्थिर करतीं हैं। कोई चाहे ऐसा करे और चाहे न करे—परन्तु यह स्वेच्छाचारिता तब केवल ढकोंसला सिद्ध हो जाती है जब कि आवश्यकता पड़ने पर झख मारकर अनिवार्य फौजी भर्ती का विशेष नियम = (आर्डीनेन्स) बनाने के लिये सभी देशों को विवश होना पड़ता है। परन्तु भारतीय ऋषियों ने पहले से ही प्रत्येक

व्यक्ति के लिये देश जाति और धर्म के अभ्युदय में अमुक सेवा अनिवार्य नियत कर छोड़ी है, जिससे समय पर विशेषाधिकार के प्रयोग करने का अवसर ही न आए। उर्दू दां दोस्तों को यही बात ऐसे समझाई जा सकती कि जैसे हर सख्स को लियाकत, ताकत, तिजारत, सनोहाफत और खिदमत की जरूरत है ठीक इसी तरह हर एक कौम की जिन्दगी के लिए भी, यह चारों जुज़ अहजद जरूरी हैं। इनकी मौजूदगी इस्लाम में शेख शैय्यद, मुगल, पठान और रजिल इन जन्म-जात पांचों विभागों के रूप में आज भी विद्यमान है।

पांचों में बड़ा छोटा कौन

(स्वकर्म्मनिरतः शुचिः)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज—इन पाँचों में सब से बड़ा कौन है? और सब से छोटा कौन है?

आप ही बतलाएं कि आपके मानव पिण्ड में सिर, भुजा, पेट, पांव और गुह्याङ्ग इनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? और सर्वाधम नीच कौन है? कहना न होगा कि बहुत विचार करने पर यदि आप ठीक उत्तर देंगे तो यही देंगे कि यद्यपि मेरे किसी भी एक अङ्ग के नीच बन जाने पर समष्टि रूप से मैं नीच कहा जाऊंगा जैसे आंखों के फूट जाने पर 'अन्धा' और पांव के टूट जाने पर 'लंगड़ा' आदि। और मेरे अमुक अङ्ग की श्रेष्ठता के कारण मैं श्रेष्ठ कहलाऊंगा, जैसे आंख के सुन्दर होने पर विशालाक्ष और भुजाओं के लम्बा होने पर 'अजानुबाहु'। तथापि वस्तुतः मुझे इन सभी

अङ्गों के समानतया श्रेष्ठ होने का अभिमान है। यह ठीक है कि हाथ पांव और पेट आदि चारों अङ्ग देख, सुन, समझ नहीं सकते परन्तु शिर भी तो हाथ की भांति शरीर की संरक्षा, पेट की तरह भोजन का परिपाक और पांव की तरह दौड़-भाग, गुह्याङ्ग की भांति मल-मूत्र का परित्याग नहीं कर सकता? इसलिए मथितार्थ यही निकला कि मेरा जो अंग अपना काम देना छोड़ दे वही नीच, पतित, अधम तथा निकम्मा कहा जाएगा और जो अङ्ग भली प्रकार अपना कार्य करता रहे वह उत्तम, श्रेष्ठ, अच्छा तथा काम का कहा जाएगा।

सनातन धर्म में सभी वर्णों और जातियों का उनके सदाचार तथा कर्तव्य कर्म के अनुसार निर्विशेष सम्मान है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्री भक्तमाल' में मिल सकता है। उक्त ग्रन्थ रत्न में—जहां ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और देवर्षि नारद को स्थान मिला है वहाँ नन्दा नाई, धन्ना जाट, नामदेव छींबा, सदना कसाई, नाभा डोम, गणिका वेश्या को भी वही निर्विशेष स्थान मिला है। प्रत्येक देवमन्दिर में कथा प्रसङ्ग के समय उक्त सभी भक्तों की प्रेम भरी गाथाएं सुनकर सर्व साधारण जनता गद्गद्-हृदय हो उठती है, कभी आस्तिक भक्त के मन में यह तुच्छ भाव उत्पन्न हो नहीं होता कि अमुक व्यक्ति तो अमुक वर्ण, अमुक जाति या अमुक कुलोत्पन्न था। अतः इसकी कथा हम क्यों सुनें? इधर जहाँ पूर्वोक्त सभी वर्ग के भक्तों के लिये यह समान आदर है तो उधर अनाचारी दुराचारी पुरुषों के लिये—फिर चाहे वह साक्षात् महर्षि पौलस्त्य का नाती और चारों वेदों का प्रौढ़ पण्डित रावण ही क्यों न हो—समान अनादर भी विद्यमान है

अहिन्दुओं में घृणामूलक वर्ग-वाद

(मैं अरु मोर तोर तैं माया)

आज के युग में यह कलुषित परिपाटी भले ही सार्वजनीन हो सकती हो कि अमुक पुरुष चाहे कितना ही आचारहीन क्यों न हों—परन्तु वह अपनी जाति किंवा अपने दल का होने के कारण **'कुर्वन्नपि व्यलीकानि, यः प्रियः प्रिय एव.सः'** के अनुसार अन्य जाति और अन्य वर्ग के परम सदाचारी पुरुष की अपेक्षा अच्छा है ! अनुग्राह्य है !! उस दिन मौ० मुहम्मद अली ने अपने एक भाषण में भरी सभा में बड़े गर्व के साथ यह कहने का दुःसाहस किया था कि मेरे करीब एक दुराचारी मुसलमान, मि० गान्धी की बनिस्बत इसलिये ज्यादह काबले इज्जत है चूँकि वह इस्लाम पर यकीन रखता हैं। मौलाना के ये शब्द केवल अपने निजी खयालात नहीं कहे जा सकते किन्तु वे तो उपर्युक्त बात कहते हुवे आज के युग का वास्तविक सही प्रतिनिधित्व कर रहे थे। दुर्भाग्यवश सभी जातियां और सभी वर्गों में यही दुर्भावना न्यूनाधिक यत्र तत्र सर्वत्र पाई जाती है। पाश्चात्य देशों में इसका आधार देश माना जाता है और पौरस्त्य देशों में मजहबी गुटबन्दी। सौभाग्यवश किंवा दुर्भाग्यवश भारतेतर देशों में भाषण करते हुवे हमने स्वयं यह देखा है कि अमुक सार्वजनिक बाग के प्रधान द्वार पर यह साइन बोर्ड लगा है कि 'नो एशियाटिक' अर्थात् इस गार्डन में एशियावासी नहीं जा सकता। कई म्यूनिसिपिल स्थानों में साहिब बहादुर का बुलडौग बेरोक टोक जा सकता है परन्तु 'इण्डियन्स नो अलाउड' अर्थात्—कोई भी साफ सुथरा हिन्दुस्तानी नागरिक नहीं जा सकता। हिरोशिमा नगर की

कायरता पूर्ण निर्मम हत्या के अपराधी अमेरिका में वहां के आदिम-निवासी रैड इण्डियन कहे जाने वाले लोगों को जिस निर्दयता से 'लंच' नामक दण्ड दिया जाता है उसकी भीषणता प्रायः समाचार पत्रों में यदा कदा छपती रहती है। इसमें बहुत से निरपराध पुरुष तो केवल मिस मेयो के भाई वांधवों के विनोद मात्र के लिये ही जीते जी वृक्षों से बांधकर अग्नि की भेंट चढ़ा दिये जाते हैं। परिणाम स्वरूप अब ये आदिम निवासी उत्तरोत्तर संख्या में जिस अनुपात से कम हो रहे हैं, यदि यही क्रम कुछ वर्ष और चालू रहे तो यह जाति सर्वथा विनष्ट हो जाएगी! इसलिये अब वहां की सरकार को विशेष कानून द्वारा उक्त जाति की नस्ल को स्थिर रखने की चिन्ता लगी है। दक्षिणी अफरीका के समाचार तो प्रायः नित्य ही पत्रों में छपते रहते हैं, वहां भारतियों को योरोपीन लोगों के समकक्ष मनुष्य मानना भी अपराध समझा जा रहा है इसलिये उन्हें अमुक प्रदेश में पांव रख सकने की भी कानूनी आज्ञा नहीं है। कहना न होगा कि भारतेतर देशों के ये संकीर्णता-पूर्ण प्रयत्न केवल बाह्य गोरी और काली चमड़ी के विभेद पर ही आधारित हैं, गोरी चमड़ी वाला— फिर चाहे वह कितना ही शराबी कबाबी व्यभिचारी क्यों न हो, केवल योरोपीन होने के नाते दूध का धुला सर्व-गुण-सम्पन्न माना जा रहा है, और काली चमड़ी वाला श्री गान्धी जी सदृश सदाचारी महात्मा भी मलापकर्षण दण्ड का केवल इसलिये पात्र समझा गया क्योंकि वह हिन्दुस्तानी था। मानवता का यह मापदण्ड कितना विडम्बनापूर्ण है—यह बात सभी सहृदय सम्यक् समझ सकते हैं। परन्तु जब यही लोग हमारी वर्ण व्यवस्था को—जिसका कि आधार प्रकृति के अपरि-

वर्तनीय नियमों पर स्थिर किया गया है—कटु आलोचना करने का अक्षम्य अपराध करते हैं तो इनके इस मूर्खतापूर्ण व्यापार पर किसी उर्दू कवि की पंक्तियां सहसा स्मरण आ जाती हैं कि—

मुफ्त की राड़ न रिन्दों से निकाली होती।
पहिले दस्तार फजीहत तो संभाली होती।

हिन्दू व्यवस्था दूध का दूध और पानी का पानी

(प्रभु को भजे सो प्रभु का होई)

आर्यवाङ्मय में प्रयत्न पूर्वक ढूंढ़ने पर भी ऐसा कोई एक भी दृष्टान्त उपलब्ध नहीं हो सकता जो कि स्वकर्तव्यनिष्ठ किसी भी वर्ण के अमुक पुरुष के केवल अमुक वर्ण या कुलोत्पन्न होने के कारण उसके उचित सम्मान में बाधा उपस्थित होने का उदाहरण बन सकता हो। इसके प्रतिकूल सभी वर्ण और सभी कुलों में उत्पन्न=जात्या अमुक किन्तु सदाचारनिष्ठ, सभी सज्जनों के समान सम्मान के अगणित उदाहरण हिन्दु ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। दैत्य–प्रह्लाद, राक्षस–विभीषण, पशु–गजराज, पक्षी–काक भुसुण्ड और श्वपच–धर्मव्याध आदि हीन से हीन कुलोत्पन्न प्राणी भी सनातन धर्म में अपनी अनन्य टेक, भक्ति हरिनाम स्मरण, ज्ञाननिष्ठा और पाप-परित्याग भावना के कारण आज भी सब के प्रतिष्ठा पात्र बने हुवे हैं। इस प्रकार जहां हिन्दु धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के सदाचार की पूरी कीमत चुकाने का परम्परागत आदर्श अक्षुण्ण चला आ रहा है, वहां बड़े से बड़े सर्व-गुण-सम्पन्न व्यक्ति को भी स्व-धर्म से पराङ्-मुख हो जाने पर क्षमा न करने का अनुशासनात्मक असिधारा-

व्रत भी सामाजिक वहिष्कार के रूप में आज भी विद्यमान है। ब्रह्माण्डविजयी रावण ब्राह्मण कुलोत्पन्न था, अपने समय का अद्वितीय वीर था, वेदों का प्रथम भाष्यकार था और 'शिव-ताण्डव' सदृश प्रौढ़ कविता बना सकने की योग्यता रखने वाला कुशल कवि था, परन्तु यह सब होते हुवे भी वह सन्यासियों का स्वांग भर कर दूसरे भद्र पुरुषों की बहू बेटियों का घर्षण करते हुवे सङ्कोच नहीं करता था। अपनी बहिन को स्वेच्छा-चारिणी वन जाने की खुली छूट देकर मानव मर्यादा को रौंधते हुए नहीं हिचकता था! इसलिये सनातन धर्म में उसे राक्षस नाम से स्मरण किया गया है। यद्यपि उसे मरे युग बीत गये हैं तथापि आज भी दशहरे के अवसर पर प्रत्येक नगर ग्राम में उसका पुतला बनाकर उसे अपमानित किया जाता है। प्रायः ब्राह्मण लोग ही रावण वध के अभिनय में प्रमुख नेता बनकर अपने वर्ण के इस महान् व्यक्ति के अपमान के लिये विद्रोह का झण्डा ऊंचा करते हैं। निस्सन्देह सनातन धर्म ही एक मात्र ऐसा न्याय-पूर्ण संगठन है जोकि 'दूध का दूध और पानी का पानी' छानने में कभी कोर कसर बाकी नहीं छोड़ता। यह मानी हुई बात है कि त्याग तपः और न्याय-परायणता के कारण अनादि काल से ब्राह्मण वर्ण ही विश्व का जन्मजात नेता चला आ रहा है। लोकमत और साहित्य का नियन्त्रण एवं निर्माण इसी के हाथ में रहा है सो यदि अपने कुलोत्पन्न बांधव के विमोह में पड़कर यह न्याय के असिधारा-पथ पर शिर के बल चलने में थोड़ी सी भी उदासीनता से काम लेता तो आज राम के मन्दिर न बनकर घर घर में रावण के मन्दिर बने होते! महर्षि वाल्मीकि की लेखनी के एक कोर के व्यापार मात्र से आज का

'रामायण' खरा खासा 'रावणायन' बना होता ? कदाचित् गोस्वामी तुलसीदास जी ही सनातन धर्म की न्याय पूर्ण परम्परा का पालन न करके—

"जेहि अघ हतेउ व्याध जिमी वाली,
सोई सुकण्ठ पुनि कीन्ह कुचाली।
सोई करतूति विभीषण केरी,
स्वप्नेऊ सो रघुनाथ न हेरी।।"

के नमूने की चौपाई लिखते हुवे राम रावण चरित्र की तुलनात्मक आलोचना करने को उद्यत हो जाते तो अधिक से अधिक जनता को रावण की ही अवैतनिक वकालत करने वाली बना छोड़ते ? परन्तु सनातनधर्म का तो सदैव यह मोटो रहा है कि—

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

अर्थात्—धीर पुरुष कभी न्याय पथ से विचलित नहीं होते इसलिये किसी भी ब्राह्मण ने ब्राह्मण होने के व्यामोह से रावण के पक्ष का कभी समर्थन नहीं किया। उल्टा जैसे अपठित साधारण व्यक्ति अमुक अपराध करने पर भी पहिली बार यथा कथञ्चित् नियमानभिज्ञ होने के कारण क्षन्तव्य समझा जा सकता है परन्तु स्वयं कानून-वेत्ता न्यायाधीश तादृश अपराध करने पर अधिक से अधिक दण्ड का भागी ही माना जाएगा, इसी प्रकार वेदवेत्ता ब्राह्मण होते हुवे भी धर्म-शासन के नियमों का उल्लंघन करने वाले रावण को लक्षाब्दियों से अपमानित किया जा रहा है और प्रलय तक निरन्तर किया जाता रहेगा।

ब्राह्मणों का महत्त्व क्यों ?

यदि वस्तुतः सभी वर्ण समान हैं तो फिर **'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'**— 'पूजिय विप्र ज्ञान-गुण हीना'— का भ्रामक प्रोपेगण्डा

करके नित्य ब्राह्मणों के हा पांव पूजने को क्यों वाध्य किया जाता है ?

नि:सन्देह सभी वर्ण समान हैं, एक स्वधर्मनिष्ठ अन्त्यज भी स्वधर्म-भ्रष्ट ब्राह्मण की अपेक्षा कहीं अधिक सम्मान्य है, धर्म व्याध और रावण इसके प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। तथापि जैसे हमारे मानव पिण्ड में समस्त अङ्ग सापेक्ष होते हुवे भी अमुक ध्रुव है और अमुक अङ्ग 'अध्रुव है-यह प्राकृतिक विधान प्रत्यक्ष देखा जा सकता है वैसे ही ब्राह्मण आदि वर्णों में भी प्राकृतिक तारतम्य अवश्य है। हाथ पांव अङ्ग कट जाने पर भी लूला लंगड़ा मनुष्य जीवित रह सकता है, परन्तु शिर कट जाने पर क्षण मात्र भी जीवित नहीं रह सकता। सो हाथ पांव आदि अङ्ग शास्त्रीय परिभाषा में 'अध्रुव' कहे जाते हैं और मस्तक 'ध्रुव कहलाता है।

ठीक इसी प्रकार ब्राह्मणादि पांचों वर्णों में-क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यजों द्वारा स्वधर्म पालन में शैथिल्य करने पर भी दास, भिखमंगा, अकिञ्चन और कच्चर=गलीज बनकर यथा-कथञ्चित् मानव समाज दौर्भाग्यपूर्ण जीवन बिता सकने की स्थिति में अपना अस्तित्व रख सकता है परन्तु ब्राह्मण वर्ण के मिट जाने से समूचे देश की ही मानसिक, आध्यात्मिक= नैतिक और इखलाकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। मनु जी के कथनानुसार आज की ये समस्त अहिन्दू बर्बर जातियां कल विश्वविजयी आर्य क्षत्रिय ही थे जो केवल ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने के कारण 'वृषल' म्लेछ बन गए हैं। इसलिये शास्त्रों में बौद्धिक जीवन के नेता होने के कारण—ब्राह्मण वर्ण को 'गुरु'=ज्ञानोपदेष्टा और 'पूज्य'=सम्मानार्ह प्रकट किया गया है। बुद्धि सम्पन्न मनुष्य दैवात् विकलाङ्ग होता

हुआ भी अपने बुद्धि वैभव के कारण बड़े २ दायित्व पूर्ण कार्य्यों का भली भान्ति सञ्चालन कर सकता है—यह लोक में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। परन्तु सर्वाङ्ग-पूर्ण सुन्दर मनुष्य भी विकृत मस्तिष्क होने पर स्वयं कुएँ में कूद पड़ने को तैय्यार हो जाता है अतः उसे पागलखाने में बन्द रखने के लिये विवश होना पड़ता है। अच्छे नेता के नेतृत्व में साधारण बिखरी हुई सेना भी सुसंगठित होकर अपने से आधिक शक्ति-सम्पन्न शत्रु-वाहिनी पर विजय पा लेती है परन्तु नेता-हीन बड़ी से बड़ी शक्ति-शालिनी सेना भी प्रभात-कालीन धुन्ध के बादलों की भान्ति क्षण में तितर बितर हो जाती है। इसी-लिये त्याग तपः और निःस्वार्थ सेवा की पावन मूर्ति ब्राह्मण के नेतृत्व का यह स्वाभाविक सम्मान है जो कि अनेक ईर्ष्यालु नास्तिकों द्वारा निरन्तर कोसा जाने पर भी अभी तक अक्षुण्ण चला आ रहा है। यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य जब सोने लगता है तो पलंग तख्त किंवा जमीन के विस्तर पर लेटने पर उसे तबतक चैन नहीं पड़ती जबतक कि वह अपने उत्तमाङ्ग=मस्तक को अन्य अंगों के स्तर से कुछ ऊंचा न कर लें। इसीलिये विस्तर के साथ—सिरहाना= तकिया, उपवर्हण एक अनिवार्य आवश्यक अंग समझा जाता है। कदाचित् कभी शिर को ऊंचा करने की सामग्री उपलब्ध न हो तो मनुष्य अपने हाथ की टेक देकर ही इस अभाव की पूर्ति करता है, परन्तु शिर को अन्य अंगों से कुछ ऊंचा रखने पर ही समस्त शरीर को आराम मिलता है यह स्वभावसिद्ध बात है। सो 'अण्ड-पिण्डवाद' सिद्धान्त के अनुसार मानव-पिण्डस्थ मस्तक की भांति संसार में विराट् मुखोत्पन्न ब्राह्मण वर्ण के अभ्युत्थान में ही समस्त हिन्दू जाति का स्वास्थ्य

निहित है। यदि दुर्भाग्यवश सर्व-साधारण इस प्राकृतिक नियम की उपेक्षा भी करे तो विराट् की भुजा से सम्भूत क्षत्रिय-वर्ण=शासक समाज का तो यह परम्परागत प्राकृतिक धर्म है कि वह ब्राह्मण के अभ्युत्थान के निमित्त अपने आपको वालंटियर करें। जिस राष्ट्र में ब्राह्मबल और क्षात्रबल दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर रहते हैं वही राष्ट्र चिरस्थायी उन्नति का पात्र बन सकता है, यह अथर्ववेद की घोषणा है। यही ब्राह्मणों के महत्त्व का प्राकृतिक कारण है।

वर्ण व्यवस्था में कौटुम्बिक आदर्श

(मुखिया मुख सा चाहिये)

जिस प्रकार एक सम्मिलित कुटुम्ब में कई भाई परस्पर मिल कर आवश्यक काम आपस में बांट लेते हैं और काम को ठीक रीति से करते हैं परन्तु उनके उस कार्य का लाभ समस्त कुटुम्ब को समान रीति से होता है ठीक इसी आधार पर समस्त विश्व को एक कौटुम्बिक इकाई मान कर सभी आवश्यक कामों को ब्राह्मण आदि पांच भाइयों में बांट दिया गया है, और प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति अपना कार्य सुचारू रूप से करते रहने के लिये उत्तरदायी बनाया गया है। स्वकर्तव्य से तनिक भी पराङ्मुख होने की दशा में इसके लिये अनुशासन की व्यवस्था की गई है जिस से सामाजिक संगठन की शृङ्खला कभी भी ढीली न होने पाए। कल्पना कीजिये--एक भद्र कुटुम्ब में पांच भाई हैं। वृद्ध माता पिता हैं, साध्वी स्त्रियें हैं परिपोष्य नन्हे २ बालक हैं। पांचों भाइयों ने मिलकर अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ

अग्रज=चारों में अग्रिम उत्पन्न होने वाले भ्राता को घर का मुखिया, नेता=नीतिनियामक किंवा बौद्धिक शिक्षक चुना है जो बच्चों की शिक्षा, कचहरी और पटवारी के कार्यों की देखभाल रखता है। द्वितीय भ्राता—चोर, लुटेरों और गुण्डों से घर की सम्पत्ति और बहु-बेटियों की इज्जत को सुरक्षित रखने के लिये सदैव तलवार ताने कटिबद्ध रहता है। तीसरा—समस्त परिवार के लिये अन्न वस्त्र आदि आवश्यक सामग्री जुटाने में, खेती-बाड़ी, पशु पालन आदि कार्यों में तत्पर रहता है। चौथा—अन्न पिसाना, वस्त्र बुनवाना, लोहे लक्कड़ से बनने वाले समस्त घरेलू द्रव्यों को यथाविधि और यथा आवश्यकता तैय्यार कर शिल्प और कला सम्बन्धी अपना कर्तव्य पालन करता है। पाँचवाँ 'अन्त्यज'—अर्थात् चारों वर्णों के अन्त में उत्पन्न होने वाला घर की स्वच्छता, सफाई की देख-रेख और सब के स्वास्थ्य का पूरा पूरा ध्यान रखता है।

वृद्ध माता पिता के शिरपर किसी कार्य का भार नहीं है परन्तु भोजन उन्हें सबसे पूर्व मिलता है। घर वाली बहू-रानियें पीसती हैं, कूटती हैं, दही मथती हैं, परन्तु मक्खन घर के सब सदस्य यथायोग्य खाते हैं। बालक भी विद्यालय से लौटकर दिनभर खेल कूद में ही लगे रहते हैं। घर का कोई काम उनके सपुर्द नहीं है, परन्तु दूध पीने में सर्वप्रथम उन्हीं का अधिकार समझा जाता है। यदि उनसे बचे तो बूढ़े दादा दादी का स्वत्व है कदाचित् उनसे भी अधिक हो तब अन्य कुटुम्बियों को मिल सकता है। इस प्रकार के संगठन से निःसन्देह यह परिवार स्वर्ग का एक आदर्श नमूना बना हुआ है। ठीक इसी प्रकार समस्त समाज को एक आदर्श परिवार के साँचे में ढालने के लिये वर्णव्यवस्था का अनादि काल से प्रचलन हुआ है।

क्या ब्राह्मण स्वयम्भू नेता बन गये ?

(ब्राह्मणो मामकी तनुः)

'ब्राह्मणों के हाथ में कलम रही है। सब धर्मशास्त्र ब्राह्मणों के पूर्वजों के ही घड़े हुए हैं, अतः उन्होंने अपने लिये तो अच्छी अच्छी बात लिख लीं और अन्य वर्णों को अपना गुलाम बना लिया।'

यह आक्षेप करने वाले महाशय या तो पाश्चात्य शिक्षा के कारण विकृत मस्तिष्क हैं अथवा वे जान बूझ कर वस्तुस्थिति पर पर्दा डालना चाहते हैं। हम यहाँ उस परलौकिक अदृष्ट लाभ की चर्चा नहीं करना चाहते जो सनातनधर्म की वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण वर्ण की अपेक्षा अन्य वर्णों को क्रमशः कम परिश्रम करने पर परलोक में प्राप्त होता है—क्योंकि इस प्रकार का आक्षेप करने वाले लोग प्रायः परलोक और ईश्वर पर आस्था रखने वाले नहीं होते। परन्तु प्रत्यक्षदृष्ट सांसारिक लाभ का तो कथमपि वादी अपलाप नहीं कर सकेगा—इसलिये हम अपनी वर्णव्यवस्था को यहाँ जीवनस्तर के आधुनिक प्रमुख माप दण्ड आर्थिक-विधान की कसौटी पर कसकर—बावन तोले पाव रत्ती सिद्ध करते हैं।

यह एक अमिट तथ्य है कि संसार में धनोपार्जन के केवल चार ही मुख्य साधन हैं। प्रथम—सेवा, जिसे आज की भाषा में नौकरी कह सकते हैं। इसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना जीवन सुख से यापन कर सकता है। दूसरा—शिल्प कला, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति घर बैठे अमुक वस्तु तैयार करके अपना और

अपने परिवार का भली प्रकार भरण पोषण कर सकता है। तीसरा--उत्पादन और वितरण, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अमुक वस्तु उत्पादन करके और उसे दूसरों तक पहुंचा कर उसके लाभ से अपना रोटी का प्रश्न हल कर सकता है। चौथा-संरक्षण शुल्क, जिसके द्वारा पूर्वोक्त वर्णों की संरक्षा के उपलक्ष्य में नियत कर वसूल करके उससे अपना जीवन निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार सेवा (Service), शिल्प (Art), वाणिज्य (Business), कर (Tax) ये चार साधन ही धनोपार्जन के लिये माने जा सकते हैं। ब्राह्मण आदि पाँचों भाइयों ने इकट्ठे होकर जब अपने आजीविका के साधनों को अपनाने का विचार किया तो जैसे—आज भी भाइयों के बटवारे के अमुक अमुक भाग नियत कर चुकने पर सर्व प्रथम कृपा पात्र होने के नाते से छोटे भाई को ही अपना यथेच्छ भाग चुन लेने का अवसर दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार—सर्व प्रथम अन्त में उत्पन्न होने वाले अपने प्रिय 'अन्त्यज' भाई को अवसर दिया गया कि वह उपर्युक्त चारों साधनों में से किसी एक को अपनी इच्छानुसार चुन सकता है। बुद्धिमान् अन्त्यज ने खूब विचार कर देखा कि—कर वसूल करना खाला जी का बाड़ा नहीं है; जो व्यक्ति मर मिटने के लिये सदैव शिर पर कफन बांधेगा वह इस दायित्व-पूर्ण काँटों के ताज को शिर पर रख सकेगा, सो शिर कटाकर भोजन प्राप्ति का सौदा बहुत मँहगा जान पड़ा। कृषि, गोरक्षा वाणिज्य, कर वसूली से तो सरल मार्ग हैं, परन्तु इनमें भी एक अच्छी पूँजी की हर वक्त आवश्यकता है तथा तेजी मन्दी के तारतम्य से दीवाला निकल जाने का खतरा निरन्तर बना रहता है। यदि वाणिज्य व्यापार के साथ केवल दीवाली का ही सम्बन्ध होता तो सभी लोग मालामाल रहते, परन्तु गुलाब

के फूल के साथ काँटे की तरह श्रीमती दीवाली के साथ महाशय दीवाला महाराज भी तो नोन सत्तू बाँध कर पीछे पड़े रहते हैं। शिल्प है तो अच्छा! परन्तु कच्चा माल मुफ्त मिल सके तो फिर इसमें लाभ ही लाभ है अन्यथा बिना सिर कटाये, बिना पूँजी, बिना कुछ दायित्व उठाये, पेट भरने का बेखतर साधन सेवा=नौंकरी सर्विस है। इसमें सदैव दीवाली ही दीवाली है, इसलिये बुद्धिमान् अन्त्यज ने स्वयं सेवा को पसन्द किया और सब भाइयों की ओर से अपने मृत पशुओं का चमड़ा मुफ्त दे देने का आश्वासन मिल जाने पर तादृश शिल्प को भी संभाल लिया। कहना न होगा कि आज के युग में भी अधिकांश मनुष्य नौकरी=सर्विस को ही आजीविका का सर्वोच्चत्तम साधन मानते हैं, मानो! सारा का सारा संसार ही आज आदियुग के 'अन्त्यज' की तुलनात्मक आलोचना की ससारता के सामने नतमस्तक होकर उसका अनुयायी बन गया है। इस प्रसंग में यह भी ज्ञात होना चाहिये कि भारतेतर देशों और अहिन्दु जातियों में अपने मरे हुए पशुओं को भी बेच लेने की प्रथा विद्यमान है। क्योंकि चमड़े को दृष्टि से मरा हुआ पशु सर्वथा बेकार वस्तु नहीं है। भारतेतर देशों में तो अस्थी, चर्बी, बाल और चमड़ा सब कुछ उपयोग में लाया जाता है अतः अनेक लोग केवल यही व्यापार करते हैं, हमने इस व्यवस्था को आँखों देखा है। बड़े शहरों में भारतीय मुसलमान भी मृत पशु को बेच लेते हैं, अथवा जब वह मरणासन्न होता है तब उस सिसकते पशु को 'हलाल' करके स्वयं मार डालते हैं जिससे उसका मांस अपने खाने के उपयोग में ला सकें। परन्तु हिन्दू ही एकमात्र ऐसी उदार जाति है जो कि उस चिरन्तन युग की अपनी मर्यादा का पालन करने के लिये आज भी यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने मतक

पशुओं को बिना किसी मूल्य के अपने अन्त्यज भाइयों को दे डालती है। आज तो एक भैंस का चमड़ा पचासों रुपए मूल्य का होता है। पिछले दिनों कुछ सुधारकों के बहकावे में आकर कर्मकारों ने मृत पशु उठाना छोड़ दिया, तब अगत्या मालिकों ने उन्हें दबाना आरम्भ किया, परन्तु जब अन्त्यजों के बुद्धिमान् नेताओं को यह बात मालूम हुई तो उन्होंते अन्त्यजों को समझाया कि ऐसा करने से तो तुम्हें ही हानि होगी। इस तरह दो तीन महीने के अन्दर मरे हुए पशुओं का एक ही जिले में लाख रुपये से अधिक कीमत का चमड़ा भूमि में दबाने से नष्ट हो गया। अस्तु—

अन्त्यज के बाद क्रम प्राप्त शूद्र भाई को अवसर दिया गया, उसने भी सब हानि लाभ सोचकर स्वतन्त्र आजीविका शिल्प-कला को स्वीकार किया। वैश्य ने कृषि गोरक्षा वाणिज्य को संभाला और अन्य कुछ साधन अवशिष्ट न देखकर क्षत्रिय ने काँटों का ताज अपने सिर पर रखा, पाँचवें—अग्रज भाई के लिये कोई साधन अवशिष्ट ही नहीं बचा था इसलिये उसने उक्त चारों भाइयों को आशीर्वाद देते हुए वन में रहकर कन्दमूल फलादि द्वारा जीवन निर्वाह करने का संकल्प किया।

नेतृत्व, तपः, त्याग और परोपकार में निहित

(त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः)

हम पूर्व समय के कुछ महात्मा ब्राह्मणों के केवल ऐसे प्रसिद्ध नामों पर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिनसे कि उनके त्याग और तपश्चर्य्यामय जीवन का कुछ आभास मिल सकता है। मन्त्रद्रष्टा महर्षि पिप्पलाद ने केवल पीपल वृक्ष के

छोटे २ फल खा कर ही अपना समस्त जीवन यापन कर दिया और विश्वोपकार के लिये अपने स्मारक के रूप में वेद की 'पिप्पलाद' नामक शाखा प्रदान कर गए। महर्षि कणाद ने—किसानों द्वारा अपने क्षेत्र का सब अन्न संभाल लेने पर भी किसी भांति हाथ से छूटा पड़ा अन्न कण–जो कि धूल में मिलकर व्यर्थ जा रहा था—बीन बीन कर शिलोञ्छ वृत्ति से समस्त जीवन यापन कर दिया और 'वैशेषिक दर्शन' जैसा अमूल्य ग्रन्थ रत्न हमें दे गये। इसी प्रकार दुर्वा-भक्षक महर्षि दुर्वाशा और कन्द मूलफलाशी अन्यान्य अनेक महात्माओं का नाम बताया जा सकता है, जिन्होंने तीन चुल्लू गंगाजल पीकर ही जीवन निर्वाह कर दिया। भारत विख्यात सम्राट् चन्द्रगुप्त के विशाल साम्राज्य की स्थापना करने वाले महामंत्री चाणक्य, ठेठ जंगल में एक छोटी सी पर्णकुटी में विश्राम करते थे और तृणासन पर बैठकर उलझी हुई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं सुलझाते थे। यद्यपि वे रात दिन लक्ष्मी के असीम वैभव में खेलते थे परन्तु तो भी 'पद्म पत्रमिवाम्भसा' के न्यायानुसार वे उससे सर्वथा अस्पृष्ट रहते थे। मुस्लिम साम्राज्य को उखाड़ फेंकने में समर्थ समर्थ स्वामी रामदास की तपश्चर्या का ही मूर्तिमान् फल शिवाजी के रूप में प्रकट हुआ था। राजपूताने के इतिहास में वीर क्षत्रियों के पुरोहितों ने आड़े वक्तों में जो लोकोत्तर कृत्य कर दिखाए हैं उन से सात समुद्र पार रहने वाला अहिन्दू इतिहासकार कर्नल टाड भी चकित हुवे विना न रह सका। श्री गुरु गोविन्दसिंह का गौरव पूर्ण इतिहास, जहां पंजाब के नैणा देवी स्थान में होने वाले लक्षचण्डी यज्ञानुष्ठाता काश्मीरी पंडितों के अनुपम त्याग से आरम्भ होता है वहां वीर वैरागी बन्दा के अदम्य अमर बलिदान से उस में चार

चान्द लग जाते हैं। आज भी अंग्रेजी साम्राज्य के समूल-उन्मूलन के निमित्त किये गये बलिदानों में ब्राह्मण जाति ने अपने परम्परागत त्याग और तपोमय स्वरूप के अनुरूप ही पार्ट अदा किया है। इसलिये ब्राह्मणों को जो नेतृत्व प्राप्त है वह भीख में मांगा हुआ या छल प्रपञ्च से स्थापित किया हुआ नहीं है, किन्तु अन्य सब वर्णों को सब कुछ देकर भी स्वयं त्याग और तपश्चर्या का जीवन बिताते हुवे अपनी जन सेवा के बूते पर उपार्जन किया हुवा है, जो अगणित जनता के हृदय में विराजमान जगन्नियन्ता भगवान् की अनुपम देन है।

मुगल साम्राज्य की लानत का जूआ उतार फेंकने में महाराष्ट्र के वीर ब्राह्मण पेशवाओं ने सदियों तक जो बलिदान दिये हैं इतिहास में वे सदैव अमर रहेंगे। ब्राह्मण वीराङ्गना झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों से वीरता पूर्वक लोहा लेकर ब्राह्मण वंश का मुख उज्ज्वल किया था। सन् १८५७ के सुप्रसिद्ध विप्लव =गदर में सर्व प्रथम बगावत का झंडा ऊंचा करने वाले वीर हुतात्मा श्री मंगल पाण्डे सदैव भारतीयों के सम्मान के पात्र रहेंगे।

आतङ्कवादी देशभक्तों के श्रद्धेय गुरु हुतात्मा पं० चन्द्रशेखर आजाद पर किसी भी देशभक्त को अभिमान हो सकता है। अंग्रेजों को भारत से बलात् निकालने के अन्तिम युद्ध सन् १९४२ के भारत व्यापी 'भारत छोड़ो' संघर्ष के प्रमुख नेता हुतात्मा 'चीतू पाण्डे' जिसकी वीरता पर श्री पं० जवाहर लाल नेहरू को भी 'शाबास बलिया' कहना पड़ा था—कभी भुलाया नहीं जा सकता। इन सभी ब्राह्मण वीरों को 'गिरयः यावत्स्थास्यन्ति' तक पूजा जाएगा। कांग्रेस संघर्ष में जो त्याग और बलिदान ब्राह्मण वंशज नेहरू

परिवार ने किये हैं उनकी उपमा भी 'गगनं गगनाकारम्' अनुसार वह स्वयं आप ही है। इसलिये किसी भी विचारशील व्यक्ति को यही उचित है कि वह सर्वथा प्रबुद्ध ब्राह्मण को 'सावधान' करने से पूर्व स्वयं सावधान होने का प्रयत्न करे तो देश को सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

देवता, पशु, पक्षी और उद्भिज्जों में भी वर्णव्यवस्था

पीछे कहा जा चुका है कि वर्णव्यवस्था प्रकृतिके सत्त्व रजस्तम नामक तीन गुणों का तात्त्विक परिणाम है। हमारी इस स्थापना की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी परिपुष्ट होती है जिसका हम यहां उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

चूँकि यह समस्त ब्रह्माण्ड ही प्रकृति के तीन गुणों के वैषम्य का परिणाम है, इसलिए न केवल मानव समाज मात्र में ही अपितु ब्रह्माण्ड की जड़-चेतनात्मक प्रत्येक वस्तु में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व देखा जा सकता है जैसा कि वेदादि शास्त्रों में वर्णन किया गया है यथा--

(क) ब्रह्म वा इदमग्रमासीद् न व्यभवत्।..........

असृजत क्षत्रम्।......एतानि देवता क्षत्राणि......

इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः......इति...नैव व्यभवत्।

विशमसृजत यानि......देवजातानि गणश आख्या-

यन्ते वसवो रुद्रा आदित्या...इति...नैव व्यभवत्

शौद्रवर्णमसृजत।...पूषेयम्...। (बृहदारण्यक ४)

(ख) ब्राह्मणो मनुष्याणाम्—अजः पशूनाम्। राजन्यो मनुष्याणाम्—अविः पशूनाम्। वैश्यो मनुष्याणाम्—गावः पशूनाम्। शूद्रो मनुष्याणाम्। अश्वः पशूनाम्। (तैत्तिरीय......)

(ग) लघु यत्कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढ़ाङ्गलघु यत्काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्।
कोमलं गुरु यत्काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढ़ांगं गुरु यत्काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते।
(अग्निपुराण वृक्षायुर्वेद प्रकरणे)

अर्थात् (क) पहिले ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि हुई, सनत् कुमारादि इसी सृष्टि के प्रमुख थे, उससे काम न चल सका तब प्रजापति ने क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न किया। देवताओं में इन्द्र वरुण सोम रुद्र आदि क्षत्रिय हैं। फिर भी काम न चला तब वैश्य वर्ण को उत्पन्न किया, गणश विख्यात होने वाले-वसु रुद्र आदि देवता वैश्य वर्ण के हैं। फिर भी काम न चल सका तब शूद्र वर्ण की रचना की, देवताओं में पूषा आदि शूद्र कोटि के देवता हैं।

(ख) जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण है वैसे ही पशुओं में 'अज'= छाग है। जैसे मनुष्यों में क्षत्रिय है वैसे ही पशुओं में मेंढ़ा है। जैसे मनुष्यों में वैश्य है वैसे ही पशुओं में गाय है। जैसे मनुष्यों में शूद्र है वैसे ही पशुओं में घोड़ा है।

(ग) जो लकड़ी हलकी, नरम और सुविधा से घड़ी जा सकती हो वह ब्राह्मण जाति की है, जो हलकी मजबूत और घड़ने में दुष्कर हो वह क्षत्रिय जातीय है, जो नरम और भारी हो वह वैश्य जाति की है, और जो मजबूत और भारी हो वह शूद्र जातीय है।

इस प्रकार जहां देवताओं में ब्राह्मण आदि चारों वर्णों का अस्तित्व विद्यमान है वहाँ पशुओं में अज के उपलक्ष से सत्त्व गुण प्रधान चमरी आदि समस्त पशु जगत् ब्राह्मण कोटि का, मेंढा के उपलक्षण से सत्त्वरजस्क सिंह, व्याघ्र आदि वीर पशु क्षत्रिय कोटि के हैं। गाय, भैंस आदि पोषक पशु वैश्य स्थानीय हैं, और घोड़ा ऊंट आदि पशु, शूद्र स्थानीय हैं। कुत्ता, गर्दभ, शृगाल, ग्राम्य सूकर आदि अस्पृश्य पशु चाण्डाल कोटि के हैं।

पक्षियों में भी हंस, सारस, तोता मैना, बुलबुल, श्यामा, कबूतर और चकवा आदि ब्राह्मण। बाज, सिकरा, श्येन और नीलकण्ठ आदि क्षत्रिय; मोर, तीतर, बटेर झाँपल आदि वैश्य; चील, कंक आदि शूद्र तथा काक, बगुला और गीध आदि चाण्डाल कोटि के पक्षी हैं।

वृक्षों में शमी, पलाश, अपामार्ग, पीपल, सिरस, देवदारु, चन्दन, बेल, तुलसी आदि ब्राह्मण। शाल, सागवान, लाल चन्दन सीसम आदि क्षत्रिय। आम, अनार, खैर, कटहल आदि वैश्य। बांस, बबूर आदि शूद्र और नागफनी, थोहर, बिच्छू बूटी आदि चाण्डाल कोटि के उद्भिज्ज हैं।

पृथ्वी में खड़िया, पाण्डू और मकोल आदि सफेद मिट्टी ब्राह्मण। गेरू, हिरमजी आदि लाल मिट्टी क्षत्रिय। गजनी, पीली

मिट्टी आदि वैश्य। दक्षिण भारत तथा अफ्रीका आदि की काली मिट्टी शूद्र और ऊषर, रेह आदि कही जाने वाली मिट्टी अस्पृश्य चाण्डाल स्थानीय है।

इसी प्रकार स्फटिक, मर्मर, मानसिला, मकराना और सलेटी आदि पत्थर; हीरा, लाल, पुखराज, लसुनिया और कोला आदि रत्न समूह; चान्दी, सोना, तांबा, लोहा और सीसा आदि धातुएँ भी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज स्थानीय समझनी चाहियें।

जन्म बनाम गुण कर्म स्वभाव

कुछ विचारकों ने वर्णव्यवस्था की महत्ता और समाज के स्थायी संगठन के लिये इसकी अनिवार्य आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी उसे जन्मपरक न मानकर गुण कर्म स्वभाव परक मानने का आग्रह किया है। ऐसे लोग प्राचीन ग्रन्थों—शास्त्रों और पुराणेतिहासों में से अनेक वचन और कथायें लेकर और स्वमत की पुष्टि के लिये उनके विपरीत अर्थ लगाकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि प्राचीन भारत में ऐसी ही वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। इस प्रकार का प्रयत्न अशास्त्रीय तो है ही, किन्तु नितान्त अव्यवहार्य भी है।

सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने निष्पक्ष दृष्टि से विचार करते हुए अपनी पुस्तक 'आर्यसमाज का इतिहास' में कर्मणा वर्णवादियों के ऐसे लचर सिद्धान्तों की असारता को भलीभांति प्रकट कर दिया है जिसकी चर्चा हम 'क्यों' पूर्वार्द्ध में 'स्त्री-शूद्र-वेदाध्ययन' प्रकरण में कर चुके हैं।

स्वामी दयानन्द जी की गुण कर्म स्वभावानुसारी वर्ण व्यवस्था का मूल ढाँचा यह है कि जब कोई बालक उत्पन्न हो तो उसका नाम करण करते हुए माता पिता के वर्ण के अनुसार बालक का नाम ब्राह्मण हो तो 'देव शर्मा' आदि, क्षत्रिय हो तो 'इन्द्र वर्मा' आदि, वैश्य हो तो 'भद्र गुप्त' आदि और शूद्र हो तो 'धर्म दास' आदि रखना चाहिये। इस दयानन्दोक्त नाम करण व्यवस्था का आधार निःसन्देह माता पिता का वर्ण ही है। यहाँ अन्य किसी आधार की कल्पना भी नहीं हो सकती क्योंकि ग्यारह दिन के दुधमुँहें बालक में किसी गुण का विकास नहीं हो पाता है और नां ही किसी विशेष कार्य कर कर सकने की उसमें योग्यता होती है। स्वभाव का कोई वैलक्षण्य अनुभव में आ सकने की तो कथा ही क्या है? इतनी छोटी आयु के सभी वर्णों के बालक समान रीति से मां का दूध पीते हैं और पाखाना फिरते हैं, कभी रोते हैं तो कभी हंसते हैं। इसके अतिरिक्त न उनमें अन्य कोई गुण दीख पड़ता है, न वे कुछ कर्म करते हैं। जब कुछ गुण और कर्म ही नहीं फिर स्वभाव का अनुमान कैसे किया जाये? क्योंकि भले या बुरे गुण किंवा कर्म देखकर ही अमुक व्यक्ति के स्वभाव का पता चल सकता है। सो निश्चित हुआ कि नामकरण संस्कार के समय बालक का नाम रखते हुए उसके माता पिता का वर्ण ही एकमात्र आधार हो सकता है। तदनुसार ही बालक को 'शर्मा, वर्मा, गुप्त, या दास' कहा जायेगा। ऐसी व्यवस्था को गुण कर्म स्वभावानुसारी नहीं कहा जा सकता, किन्तु सुस्पष्ट जन्म प्रधान ही कहा जा सकता है।

अब उपनयन संस्कार का अवसर आता है, स्वामी दयानन्द जी 'संस्कार विधि' में लिखते हैं कि ब्राह्मण बालक का आठवें

वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें में और वैश्य का बारहवें वर्ष में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु में क्रमशः यह संस्कार होना चाहिये। इन तीनों वर्णों के बालकों के लिये संस्कार से पूर्व व्रतधारण के समय दूध, जौं का कलल और सिखरन ही यथाक्रम खाने का विधान किया है। मूँज, वल्कल, सण की बनी मेखला यथाक्रम धारण करने का उल्लेख किया गया है, तथा पलाश खदिर और उदुम्बर (गूलर) के दण्ड यथाक्रम धारण करने का विधान किया गया है। उक्त दण्डों की लम्बाई का प्रमाण भी शिखा, भ्रू और नासिका पर्यन्त वर्णानुक्रम से लिखा है तथा भिक्षा मांगते हुए 'भवति भिक्षां देहि' वाक्य में 'भवति' सम्बोधन को ब्राह्मणादि वर्णों के अनुसार क्रमशः आदि मध्य और अन्त में बोलने का आदेश दिया है।

अब कोई भी साक्षर अनायास ही यह विचार कर सकता है कि इस लम्बे चौड़े विधि-विधान का आधार बालक के निजी गुण कर्म और स्वभाव हैं या माता पिता का वर्ण? कहना न होगा कि आठ, ग्यारह और बारह वर्ष की आयु के अशिक्षित बालकों में किसी विशिष्ट गुण की कल्पना करना आज विडम्बनामात्र ही कहा जा सकता है। अनुपनीत होने के कारण कर्म का अभी वह अधिकारी ही नहीं हो पाया है, स्वभाव इस अवस्था में सभी बालकों का गुल्ली डण्डा खेलने और गेंद उछालने में रस लेने का सर्वविदित है। ऐसी स्थिति में माता पिता के वर्ण के अनुसार ही तो आठवें, ग्यारहवें बारहवें वर्ष का विधान लागू हो सकेगा तथा मेखला दण्ड आदि की विभिन्न व्यवस्थाएँ व्यवहार में आ सकेंगी। इस प्रकार दयानन्दी वर्ण व्यवस्था में उपनयन और वेदारम्भ संस्कार काल

पर्य्यन्त भी सब बालक अपने पैत्रिक वर्णों के अनुसार ही अपनी जन्मजात वर्णव्यवस्था से उपनीत और शिक्षित होंगे।

आगे भी दयानन्दी सिद्धांतानुसार कम से कम २४ वर्ष की आयु तक पुरुष और १६ वर्ष की आयु पर्य्यन्त कन्याएं शिक्षा पाती रहेंगे और यदि वे आदर्श कोटि में प्रविष्ट होना चाहेंगे तो तो ४८ बर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन चालू रहेगा। तब कहीं स्नातक और स्नातिका बन कर आर्य विद्या सभा द्वारा अपनें गुण कर्म स्वभावानुसार प्रमाण पत्र पाएंगे कि अमुक स्नातक किंवा स्नातिका इस वर्ण के माने जाएँ। कहना न होगा कि इस व्यवस्था के अनुसार कम से कम २४ वर्ष की आयु तक पुरुष और १६ वर्ष की आयु तक कन्याएं पैत्रिक वर्णानुसारी अपनी जन्म जाति व्यवस्था के आधीन ही जीवन बिताएंगी।

इसके बाद कागजी प्रमाणपत्र के अनुसार अपने समान वर्ण वाले वर कन्याओं का विवाह हो जायगा। परन्तु उक्त दम्पती में से यदि कदाचित् कोई अपने परिश्रम द्वारा आगे भी स्वाध्याय करते २ उच्च कोटि की किसी परीक्षा में पास हो जाएँ तो उन दोनों का समान वर्ण न रह जाएगा। विवाह के समय यदि दोनों बी ॰ ए ० थे तो आगे चलकर किसी एक के एम ० ए० पास कर लेने पर पहिला प्रमाण पत्र कैंसिल करके आगे नया प्रचलित माना जाएगा। ऐसी स्थिति में विवाह विच्छेद के अतिरिक्त अन्य कोई चारा बाकी न बचेगा। इस तरह दयानन्दी गुण कर्म स्वभावानुसारी वर्ण-व्यवस्था सर्वथा अस्थिर और दाम्पत्य कलह का मूल कारण बनकर मानव समाज को अवनति के गहरे गर्त में ही ढकेलेगी।

दयानन्दी वर्णव्यवस्था का एक पहलू तो बड़ा ही हास्यास्पद और अव्यवहार्य है। स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है कि आर्य विद्या सभा की परीक्षा द्वारा प्रमाणित स्नातक किंवा स्नातिकाएं अपने अपठित जननी जनक के पुत्र नहीं रह सकेंगे किंतु वे पढ़े लिखे किसी अन्य व्यक्ति को दिये जाएंगे, और यदि किसी पठित व्यक्ति की सन्तान संयोगवश मूर्ख रह जाएगी तो वह उन मूर्ख माता पिताओं को बदले में कानूनन दिला दी जाएगी। इस व्यवस्था के अधीन किसी मूर्ख पिता का पुत्र पण्डित न रहने दिया जाएगा और किसी विद्वान् पिता की सन्तान मूर्ख न हो सकेगी, अर्थात् मानव समाज सदैव मूर्ख और विद्वान् दो विभागों में विभक्त रहेगा और यह न्याय=इन्साफ (?) 'आर्य राज सभा' द्वारा संगीन की नोक के बल पर प्रजा पर थोपा जाएगा।

अब पाठक इस दयानन्दी गुण कर्म स्वभावानुसारिणी वर्णव्यवस्था की व्यावहारिकता पर विचार करें कि क्या कभी ऐसा मनहूस वक्त भी कल्पना में आसकता है जब कि चक्की पीस २ कर अपने पुत्र को इस आशा से—कि मेरा पुत्रपढ़-लिख कर किसी उच्च पद पर आसीन होगा और मैं उसकी माता होने का गर्व अनुभव करूंगी—पढ़ाने वाली माता पर यह जुल्म किया जाना संभव हो कि उसका वह शिक्षित पुत्र उससे छीन कर किसी ऐसे वकील या डाक्टर को दे दिया जाए जिसका कि कुपुत्र दुर्भाग्यवश वज्रमूर्ख रह गया हो और उस बेचारी की छाती पर जन्म भर मूंग दलने के लिये बदले में वह वज्र मूर्ख रख दिया जाए ! भगवान् मानव समाज को कभी ऐसा मनहूस समय न दिखाए जब कि आर्य राज सभा नाम की कोई संस्था सत्ता

प्राप्त करके ऐसे २ असह्य अत्याचार कर सकने को जन्म ले और वैदिक समाज व्यवस्था का नाम कलंकित करे।

आर्यसमाज की उपर्युक्त गुणकर्म स्वभावानुसारिणी वर्ण व्यवस्था जहां अवैदिक अशास्त्रीय एवं सर्वथा अव्यवहार्य है वहां मानव समाज को विश्रृङ्खलित कर देने वाली भी है। शास्त्र में कई स्थानों में गुण कर्म स्वभाव का उल्लेख मिलता तो है, पर उस का आशय यह है कि सत्त्व रजः और तमः इन तीन गुणों के अनुसार ही वर्णों की रचना हुई है। हम विस्तार पूर्वक पीछे लिख आए हैं कि विशुद्ध सत्त्व परिणाम 'ब्राह्मण' सत्त्व और रजः के संमिश्रण का परिणाम 'क्षत्रिय', शुद्ध रजः का परिणाम 'वैश्य' और रजः तथा तमः के संमिश्रण का परिणाम शूद्र, इस प्रकार चारों वर्णों का मूल ये तीनों गुण हैं। गुणानुसार ही कर्म होता है, विगत जन्मों में जैसे २ कर्म किये अब वैसा ही जन्म मिला। **'सति मूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगः'** के अनुसार हमारा उत्तम किंवा कलुष योनि में जो जन्म हुआ इसका परिणाम पूर्व जन्म कृत कर्म ही हैं। सत्त्व आदि गुण और तत्सम्भूत कर्मों के अनुसार ही मनुष्य का स्व-भाव होता है। यही गुण कर्म स्वभावानुसारिणी वर्ण व्यवस्था का वास्तविक अभिप्राय है। परन्तु आर्यसमाज ने गुण का तात्पर्य समझ रक्खा है विद्या, बल, पौरुष आदि कोई लौकिक कला; और कर्म का अर्थ मान रक्खा है पठन पाठन, नौकरी चाकरी, और लोहे लक्कड़ का काम, तथा स्वभाव का मतलब मान रक्खा है नम्र, गुसैला आदि २।

यदि आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार गुण कर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण का निश्चय करने चलें तो प्रत्येक व्यक्ति या तो सब वर्णों का निश्चित होगा या किसी वर्ण का भी न बन सकेगा।

क्योंकि कल्पना कीजिये एक व्यक्ति बड़ा सदाचारी विद्वान् और सुवक्ता है परन्तु वह मल्लविद्या में और शस्त्रास्त्र के प्रयोग में भी कुशल है, लेन देन और बणिज व्यापार में भी दखल रखता है, परन्तु इन सब गुणों के होते हुवे भी वह अपने हाथों जन सेवा करने का भी शौकीन है। ऐसी स्थिति में वह किस एक वर्ण में परिगणित होगा–यह एक कठिन समस्या है। घर में माताएं बालकों का मलमूत्र उठाती हैं, उनके वस्त्र धोतीं हैं, भोजन पकाती हैं तो क्या एतावता वे उपर्युक्त कर्मानुसार भंगिन, धोबिन और भटियारिन बन जाएंगी।

इतिहास भी आर्यसमाज की अभिमत वर्ण व्यवस्था का समर्थन नहीं करता। यदि गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था होती तो ब्राह्मणोचित गुण कर्म स्वभाव वाले परमज्ञानी महाराज जनक ब्राह्मण प्रसिद्ध होते। क्षत्रियोचित गुण कर्म स्वभाव वाले वीर रावण, महायोद्धा परशुराम जी तथा धनुर्वेदपारंगत द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जी क्षत्रिय कहे जाते। राणा प्रताप की दाँई भुजा रण-बांकुरा सेठ भामाशाह क्षत्रिय बन जाता। परमज्ञानी धर्मव्याध खराखासा भूदेव कहा जाता।

अर्जुन, युद्ध में अपने सम्बन्धियों की हत्या से विरत होकर 'भैक्ष्यमपीह लोके' के वचनानुसार भीख मांगकर खानेमें अहिंसा-धर्म का आदर्श पालक बनने को उद्यत था, उसका यह विचार साधारण रीति से अतीव शोभन और उदारतामय प्रतीत होता है परन्तु भगवान् कृष्ण ने पूरे सात सौ श्लोकों का पुण्य पाठ करके उसे 'करिष्ये वचनं तव' कहने के लिये विवश किया और अन्यून छत्तीस लाख प्राणियों का हत्याकांड कर डालने के लिये

आमादा किया। क्यों? इसलिये कि क्षत्रिय अपने धर्म के अनुसार भीख माँगकर खाने के लिये उत्पन्न नहीं हुआ और नांही वह अहिंसा के नाम पर कायरतापूर्वक हथियार डालकर अत्याचारियों को खुलकर उपद्रव करने देने के लिये मैदान खाली करने को उत्पन्न हुआ है। कदाचित् द्रोण कृप और अश्वत्थामा 'भैक्ष्यमपीह लोके' कहकर हथियार डाल देते तो उनके इस ब्राह्मणोचित विचार का प्रतिकार करने के लिये भगवान् कृष्ण को गीता न सुनानी पड़ती। उल्टा उनके इस विचार का साधुवाद पूर्वक सौ सौ बार स्वागत किया जाता।

यदि उस समय गुण कर्म स्वभावानुसारिणी व्यवस्था मान्य होती तो अर्जुन क्षत्रियोचित बदला चुकाने के गुण का परित्याग करके युद्ध रूप क्षत्रिय कर्म से विरत होकर अपना उग्र स्वभाव छोड़कर आज नितान्त शान्त, त्यागी और सहनशील बनना चाहता है, अर्थात् क्षत्रिय वर्ण से ऊँचे ब्राह्मण वर्ण के गुण कर्म स्वभाव व्यक्त कर रहा है, फिर भगवान् कृष्ण के शब्दों में उसके ये विचार **'अधर्म्य', 'अस्वर्ग्य'** और **'अकीर्तिकर'** क्यों माने जाते! यवन राज्यकाल में जन्मजात क्षत्रिय ही क्यों सात सौ वर्ष तक लड़ते मरते, केसरिया बाना पहिनते और अपनी वीराङ्गनाओं को 'जौहर व्रत' द्वारा लाखों की संख्या में अग्नि की भेंट चढ़ाते! जन्मजात ब्राह्मण ही क्यों अन्यून एक सहस्राब्दी से अद्यावधि वेदाध्ययन के अपने दायित्व को निभाते हुए अर्थ क्लेश के भाजन बनते!! वैश्य ही क्यों अपनी जन्मभूमि मारवाड़ को छोड़ कर सुदूर बम्बई, कलकत्ता और हैदराबाद की खाक छानते। लोहार और बढ़ई का बेटा ही क्यों

लोहे लक्कड़ में टक्कर मारने का अपना कठिन पेशा अपनाये रहता। जन्मजात चर्मकार ही क्यों मृत पशुओं के चमड़ा उधेड़ने के वीभत्स व्यवसाय से चिपटे रहते ! भङ्गी का पुत्र ही क्यों अपने परम्परागत पेशे के अनुसार मलमूत्र समेटने की अतीव दुष्कर राष्ट्रसेवा में व्यस्त रहता। कहना न होगा कि किसी राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति जब तक जन्म काल से अपने ऊपर देश का कोई दायित्व न समझेगा तथा सभी को सदैव आत्मनिर्णय की खुली छूट के नाम पर कभी भी अपना कठिन दायित्व छोड़ सकने की कथित आजादी बनाम बरबादी मिली रहेगी, तब तक उस राष्ट्र का अन्तिम परिणाम वैसा ही रहेगा जैसा कि किसी निरुद्देश्य जल-यान का हवा के थपेड़ों से कभी इधर कभी उधर लुढ़कते २ किसी पत्थर की चट्टान से टकरा जाने पर सदा के लिये अपने अस्तित्व को खो देने पर हो सकता है।

भारत में जन्मजात वर्ण व्यवस्था के पालन का ही यह सुपरिणाम है कि अनेक विघ्न बाधाओं को पार करती हुई संसार की आदिम जाति-हिन्दू जाति अद्यावधि शिर ऊंचा किये भारी संख्या में अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकी है।

संकर जाति विचार

यजुर्वेद (माध्यन्दिनी संहिता अध्याय ३०) में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के अतिरिक्त छत्तीस प्रकार की संकर जातियों का भी नाम और विशेष कर्म निर्देश पूर्वक वर्णन आता है। मन्वादि धर्मशास्त्रों में भी इसी वैदिक करण का साङ्गोपाङ्ग उपबृंहण विद्यमान है। किस २ वर्ण के

सांकर्य से कौन जाति उत्पन्न हुई है ? समाज में उसका क्या स्थान है ? और उस जाति का मनुष्य किस आजीविका से निर्वाह करता हुआ अपना जीवन यापन करे तथा जनता जनार्दन की किस स्वकर्म से अभ्यर्चना करता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो ?— यह सब पूरा का पूरा विवेचन धर्मशास्त्रों में किया गया है। चारों वर्णों की विशुद्धता स्थिर रखने के लिये और मानव-स्वभावसुलभ पतन की स्थिति में व्यभिचार-जन्य सन्तान की भी यथोचित व्यवस्था के लिये सर्वज्ञ परमात्मा ने वेद में जो कुछ आदेश दिया है, त्रिकालज्ञ महर्षियों ने कृपापूर्वक उसी के अनुसार धर्मशास्त्रों में सब की सब व्यवस्था लिखी है।

आज घोड़ों और कुत्तों तक की नस्ल सुरक्षित रखने के लिये तो सभी सभ्य देशों में प्रयत्न किये जाते हैं परन्तु दुर्भाग्यवश आध्यात्मिक आधार पर आधारित वर्ण संस्थारूप-मानव नस्ल की संरक्षा की न केवल उपेक्षा ही की जाती है अपितु उसका मूर्खतापूर्ण उपहास भी किया जाता है। अब वह दिन अधिक दूर नहीं दीखता जब कि सांकर्य परिलुप्त वर्तमान मानव समाज उद्जन (हाइड्रोजन) बम और अणु बमों की अवश्यम्भावी वौछाड़ से प्रलयङ्कर अग्नि में भस्मसात् हो कर अपने दुःखान्त नाटक का अंतिम नारकीय दृश्य उपस्थित करता हुआ काल के गाल में समा जायगा—तब यदि किसी कन्दरा में कोई आस्तिक प्राणी बच पाए तो वे ही त्रिकालावाधित इस वैदिक प्रथा के अनुसार मानव समाज की पुनरपि नई रचना कर पाएंगे

वेद में छत्तीस संकर जातियें

प्रतिक्रुष्टाय मागधम् ।...सूतकम्...रथकारम्...कौलालम्...कर्मारम्...पौंजिष्ठम्...नैषादम्...गोपालम्...अविपालम्...वासः...रजयित्रीम्...चर्म्मनम्म्...दाशम्...कैवर्तम्...षण्कम्...किरातम्...हिरण्यकारम्...चाण्डालम्...वंशनर्तिनम्...

(यजुर्वेद-माध्यन्दिनी संहिता-समग्र ३० अध्याय द्रष्टव्य)

उपर्युक्त मन्त्रों में -मागध, सूत, रथकार, कलाल कुम्हार, निषाद, ग्वाला, गड़रिया, धोबी, रंगरेज, चमार, कहार, मल्लाह, भील, किरात, सुनार, चाण्डाल और नट इत्यादि छत्तीस जातियों का उल्लेख विद्यमान है। और कौन जाति किस प्रधान आजीविका द्वारा अपना निर्वाह करे–इस का भी निर्देश किया गया है। मन्वादि स्मृतियों में उपर्युक्त वैदिक बीजों के आधार पर ही तत्तद् संकर जातियों की उत्पत्ति, समाज में उनका स्थान और रहन-सहन की व्यवस्था एवं स्वधर्म पालन से क्रमिक उन्नति करते हुवे अन्त में भगवत्-सारूप्य की प्राप्ति का सर्वाङ्ग-पूर्ण विशद वर्णन किया गया है। जो लोग मूर्खतावश केवल मनुस्मृति को कोसते २ नहीं थकते उन्हें आँखें उघाड़ कर ऊपर लिखे प्रमाणों का मनन करना चाहिये। वेद के मन्त्र भाग से ले कर आधुनिक प्रबन्ध ग्रन्थों तक में संकर जातियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया है उसकी एक-वाक्यता सुतरां सुरपष्ट है, ऐसी दशा में 'सब माने या सब छोड़े' के अतिरिक्त तीसरा कोई विकल्प नहीं हो सकता।

अनुलोम और विलोम द्विविध संकर

उच्च वर्ण के पुरुष से नीच वर्ण की स्त्री में उत्पन्न होने वाली सन्तान 'अनुलोम संकर' कही जाती है और नीच वर्ण के पुरुष द्वारा उच्च वर्णं की स्त्री में उत्पादित सन्तान 'विलोम संकर' कही जाती है। यद्यपि दोनों ही प्रकार का सांकर्य 'संकरो नरकायैव' इस गीतोक्त भगवद् वाक्य के अनुसार धर्मशास्त्रों में निन्द्य कहा गया है, तथापि अनुलोम सांकर्य की अपेक्षा विलोम सांकर्य तो अतीव निन्द्यतम ही माना जाता है अर्थात् ब्राह्मण द्वारा शूद्रा स्त्री में उत्पादित सन्तति की अपेक्षा शूद्र पुरुष द्वारा ब्राह्मणी में उत्पादित सन्तान को सर्वाधम 'चाण्डाल' बताया गया है। यथा—

(क) **रमणीयाचरणाः···रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण-योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा।**
कपूयाचरणाः···कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

(छान्दोग्य ५। १०। ७)

(ख) **महारौरवभाग्भूत्वा खरः श्वा सूकरोऽथवा।**
चाण्डालो वा भवेत्प्रेत्य पुरुषो ब्रह्महत्यया॥

(स्कन्द पुराण ६। ४)

(ग) **शूद्रादायोगवः क्षत्ताश्चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।**
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥

(मनुस्मृतिः १०। ८)

अर्थात्—(क) पूर्व जन्म में अच्छे कर्म करने वाले लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य योनि में जन्म लेते हैं और नीच कर्म करने वाले कूकर सूकर तथा चाण्डाल योनि में जन्म लेते हैं।

(ख) ब्रह्म हत्यारा मर कर महारौरव नर्क भोग कर गधा कुत्ता सुवर या चाण्डाल बनता है।

(ग) शूद्र द्वारा व्यभिचार से वैश्य स्त्री में 'आयोग', क्षत्रिया में 'क्षत्ता' और ब्राह्मणी में महाअधम 'चाण्डाल' उत्पन्न होता है।

साङ्कर्य, दूषित क्यों ?

प्रकृति और पुरुष के संयोग का परिणाम यह नानाविध सृष्टि है। पुरुष चेतन आदि गुणों से युक्त है और प्रकृति जड़ात्मिका है। इन दोनों विभिन्न गुणों के कारण पुरुष के अमलांश की अधिकता वाला भाग स्वभावतः 'सत्त्व गुण' विशिष्ट रहता है और प्रकृति के मलिनांश की अधिकता वाला भाग 'तमोगुण' विशिष्ट रहता है। जहां दोनों भाग प्रायः समान रहते हों वह 'रजोगुण' कहा जाता है इस प्रकार सत्त्व, रजः और तमः ये तीन प्रकृति के विभिन्न गुण माने जाते हैं। दो विकल्पों से त्रैत भावना का अस्तित्व लोक में भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, जैसे जल तरल है और पृथ्वी घन है; यदि दोनों का संमिश्रण किया जाए तो तात्त्विक विपरिणाम के बाद तीन स्वरूप सामने आते हैं:— तरल भाग के आधिक्य का परिणाम घृत, घन भाग के आधिक्य का परिणाम गोधूम चूर्ण, तथा दोनों के साम्य का परिणाम शर्करा=चीनी; इन तीनों वस्तुओं का जल के साथ मिलने का जो तारतम्य उसी के विभिन्न अगणित नाम लड्डू, मालपूवा,

मोहन भोग, जलेबी आदि २ कहे जाते हैं। ठीक इसी प्रकार अनिर्वचनीया प्रकृति के साथ पुरुष के मेल के तारतम्य से प्रकृति में त्रैविध्य का हो जाना स्वाभाविक है। पुनः त्रिगुण प्रकृति के विकास के तारतम्य का परिणाम यह नानाविध सृष्टि है। पदार्थ विज्ञानवेत्ताओं ने इस नानात्व का विश्लेषण करने पर प्रकृति के मुख्य पांच ही भेद स्थिर किये हैं। जैसे शुद्ध सत्त्वमय (ब्राह्मण) सत्त्वरजस्क (क्षत्रिय) शुद्धरजस्क (वैश्य) रजस्तमस्क (शूद्र) और शुद्ध तमस्क (अन्त्यज)। यही वैज्ञानिक आधार जन्मजात वर्ण संस्था की पृष्ठ भूमिका है। सत्त्व और तमः दोनों तत्त्व—नदी के दो तटों की भांति एक दूसरे के सर्वथा विरोधी तत्त्व हैं अतः इन दोनों का संमिश्रण सम्भव नहीं। अतः तीन गुणों के विकल्प से पांच ही संस्थान स्वाभाविक हैं। इसी लिये वेद में पदे २ मानव जगत् के इन पांच प्राकृतिक भेदों को 'पंचजन' शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया है, यथा—

(क) पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्।

(ख) चत्वारो वर्णा निषादश्च पञ्चमः। (निरुक्त)

अर्थात् (क) हे पञ्चजनो ! तुम सब मेरी यज्ञात्मक उपासना का सेवन करो।

(ख) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं और पांचवा निषाद ये सब मिलकर 'पञ्चजन' कहे जाते हैं।

लोक में भी मानव संघ का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था को चतुरायत या षड़ायत न कह कर 'पञ्चायत' ही कहा जाता है। निःसंदेह इस 'पञ्चायत' शब्द में भी चारों वर्ण और पांचवें

अन्त्यज इन पांचों का प्रातिनिध्यात्मक संग्रहण ही विवक्षित है।

विज्ञान शास्त्र का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि दो विभिन्न तत्त्वों के मिलने से एक तीसरी नई वस्तु बन जाती है, जिसमें दोनों मूलतत्त्व अपने अस्तित्व को खो कर नये ही अभूतपूर्व रूप में परिणत हो जाते हैं। मूल पदार्थों में जो गुण किंवा अव-गुण मिलने से पहले रहते हैं मिल जाने पर उन २ गुण किंवा अवगुणों से सर्वथा विलक्षण—अथच विरुद्ध भी गुण किंवा अवगुणों का अस्तित्व उस संकर पदार्थ में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। गुड़, बबूर का बक्कल और जौं इन तीनों पदार्थों में से किसी में भी मादकता का अस्तित्व नहीं है, परन्तु इन तीनों के सांकर्य से समुद्भूत मद्य= शराब में अत्युग्र मादकता आ जाती है। सांकर्य का यह दुष्परिणाम कोई भी आंखों वाला सुतरां प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

सांकर्य से वंश और राष्ट्र की हानि

आम, बेर आदि वृक्षों में दूसरी नसल के पौधों की पेंवद लगाने पर विलक्षण फलों का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष देखा जाता है, परन्तु किसी भी पेंवदी पेड़ के बीज में आगे वृक्ष उगा सकने की सामर्थ्य नहीं रहती अर्थात् पेंवदी पेड़ अपनी समाप्ति के साथ ही अपने वंश को भी समाप्त कर बैठता है। गधे और घोड़ी के सांकर्य से खच्चर नामक विलक्षण जाति उत्पन्न होती है परन्तु खच्चर का आगे वंश नहीं चलता। हम पीछे कह आए हैं कि दो विभिन्न तत्त्वों के संमिश्रण में मूलभूत दोनों ही तत्त्वों के गुणों

का अस्तित्व सर्वथा समाप्त हो जाता है और उभयथा विलक्षण तीसरे अभिनव पदार्थ की सृष्टि होती है। सो जैसे पेंवदी पेड़ और खच्चर जानवर अपनी जाति की शारीरिक समाप्ति का कारण वनते हैं ठीक इसी प्रकार वर्ण-सांकर्य-समुद्भूत मानव भी तत्तद् सत्त्वादि गुणोपलक्षित अपने २ परम्परागत पैत्रिक गुणों की परिसमाप्ति का कारण बन कर मानव समाज को कहने में मनुष्य किन्तु स्वभाव में सर्वथा पशु बना देने के पाप में भागीदार सिद्ध होते हैं। इसीलिये श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सुस्पष्ट कहा है कि—

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसङ्करः।
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता १-४१-४३)

अर्थात्—स्त्रियों के व्यभिचार करने पर वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है। सङ्कर, कुलनाशकों को और कुल को भी नरक में ले जाने का कारण बनता है, सङ्कर नास्तिकप्रायः होने के कारण प्रथम तो श्राद्धादिकर्म में प्रवृत्त ही नहीं होगा, कदाचित् प्रवृत्त भी हो तो अनधिकारी होने के कारण तत्कृत पिण्डतर्पण आदि पितरों की तृप्ति का कारण नहीं होंगे, अतः श्राद्धादिक के अभाव में लोकान्तरगत पितरों का भी पतन हो जायगा। परम्परागत मानवोचित जाति धर्म और ब्राह्मणादि कुल क्रमागत धर्म भी उच्छिन्न हो जाएंगे।

मानव-धर्म के आदिम प्रवर्तक मनु महाराज भी अपने मानव-संविधान में साङ्कर्य को जाति संगठन में अत्यन्त बाधक घोषित करते हैं यथा—

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रियैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

(मनुः १० । ६१)

अर्थात्—जिस राष्ट्र में सांकर्य समुद्भूत वर्ण धर्म दूषक सन्तान उत्पन्न होती है वह राष्ट्र और उस राष्ट्र के निवासी शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

विशुद्ध मानव और सङ्करों की विचारधारा

आज प्रायः संसार में सर्वत्र जो मानव वेश में छुपे हुवे हिंस्र जंतुओं का प्रसार दृष्टि गोचर हो रहा है वह विशुद्ध वर्ण संस्था के विलुप्त हो जाने का प्रत्यक्ष फल है। भारतेतर देशों के नेताओं में 'बगल में छुरी और मुख में राम राम' की तरह कथनी में विश्वशान्ति की बड़ी २ कागजी योजनाओं की घोषणा और करणी में अणुबम और उद्जन बमों का अहर्निश निन्द्य-निर्माण ऐसा जो कूट व्यवहार चल रहा है यह मनूक्त '**अनार्य्यता निष्ठुरता**' आदि के अनुसार सुस्पष्ट ही साङ्कर्य्य-समुद्भूत, कलुषयोनिजत्व' का कुपरिणाम है। इधर भारतीय नेताओं में जो आज भी '**मनस्येकं वचस्येकम्**' एक सीमा तक दीख पड़ता है, वह मानवोचित आध्यात्मिक गुणों की प्रसवभूमि जन्मजात विशुद्ध वर्ण-व्यवस्था के यथाकथञ्चित् बचे खुचे

संरक्षण की ही एकमात्र देन है। यही कारण है कि जब विगत द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण ज्वाला में संसार दंदह्यमान हो रहा था तब भारतेतर सभी देश जहां विनाश की होड़ में एक दूसरे से आगे बढ़कर खूँखार जानवरों की भांति खून की होली खेलने में प्रवृत्त थे, वहाँ भारत का एक सन्त 'जीओ और जीने दो' का नारा बुलन्द कर रहा था जो तात्कालिक कथित विश्व संरक्षकों की दृष्टि में दुर्भाग्यवश अक्षम्य अपराधी समझा जा रहा था। आज भी विश्वशाँति के ठेकेदार अमेरिका और रूस के मध्य में वर्षों तक चलने वाले कोरियायी नर-संहार को शान्त करने का श्रेय उसी भारत को प्राप्त हुआ है कि जहां कि अब भी परम्परागत विशुद्ध मानव नस्ल को सुरक्षित रखने के लिये वर्णसंस्था का अस्तित्व विद्यमान है और जहां अब भी सांकर्य को सामाजिक अपराध माना जाता है। यह ठीक है कि अब विदेशियों के संसर्ग से साम्प्रातिक कुछ भारतीय नेता भी दुर्भाग्यवश वर्ण संस्था में उतना विश्वास नहीं रखते परन्तु वे स्वयं तो ऐसे माता पिताओं की सन्तान हैं जो कि सांकर्य्य से सर्वथा अस्पृष्ट थे। अतएव उनमें मानव हृदय विद्यमान है।

हम यह पीछे कह आए हैं कि सत्त्व आदि गुणों के वैशिष्ट्य से ब्राह्मणादि वर्णों की प्राकृतिक स्थापना हुई है और तदनुसार ही तत्तद् वर्णों के स्वाभाविक कर्म नियत किए गए हैं। ऐसी दशा में जो बालक वर्ण सांकर्य से उत्पन्न होगा निःसन्देह उसका स्वभाव द्वैविध्य युक्त होगा। कल्पना कीजिये एक व्यक्ति सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण पिता एवं तमोगुण प्रधान अन्त्यज माता से उत्पन्न हुआ है। अब वह जो भी काम करने लगेगा तब

माता पिता से विरासत में मिले परस्पर विरुद्ध द्विविध गुण उसके हृदय में संघर्ष उत्पन्न कर देंगे। पैत्रिक सत्त्व गुण अमुक बुराई न करने के लिये प्रेरित करेगा। परन्तु ज्यों ही वह बुराई से विरत होने का संकल्प करेगा त्यों ही मात्रिक तमोगुण प्रतिशोध की भावना को जागृत करके पुनरपि तादृश दुष्कर्म कर डालने की प्रेरणा देगा। जब वह वैसे करने चलेगा पुनः समय पर पैत्रिक गुण की तरंग उठ कर उसे शान्त कर देगी, इस तरह न वह शान्त ही हो पाएगा और नांही बदला ही चुका पाएगा। युद्ध में 'फायर ऑन' की आज्ञा पर यदि सैनिक 'गोली चलाऊँ कि नहीं' ऐसी दुविधा में पड़ा रहे तो वह स्वयं ही अपनी मृत्यु का कारण बन जाएगा। लोक में यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि—**'दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम'**। वर्ण सांकर्य्य मनुष्य के स्वभाव में दुविधा दुर्गुण का नैसर्गिक उत्पादक है अतएव आर्य्य-वाङ्मय में इसे राष्ट्र संगठन का विघातक एवं अपकारक घोषित किया गया है।

सांकर्य की रोकथाम

चौरासी लाख तिर्यञ्च योनियों में चिरकाल तक भटकने वाला यह जीव मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर भी चिरअभ्यस्त पाशविक दुर्गुणों से उन्मुक्त नहीं हो पाता और मद्यमांस व्यभिचार आदि दुर्गुणों में इसको स्वभावतः प्रवृत्ति रहती है। इसीलिये शास्त्रों में **'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्'** बताकर **'निवृत्तिस्तु महाफला'** की स्थिति सामने आजाए तो उस दुर्गुण को फैलने से रोक देने के लिये उसे किस भांति सीमित रखा जाए—इस सामाजिक समस्या का भी वेदज्ञ महर्षियों ने समाधान किया है। तदनुसार

किस २ वर्ण के सांकर्य से उत्पन्न होने वाली सन्तान का क्या नाम होगा ? और समाज में उसका कौन स्थान होगा ? तथा वह किस आजीविका से अपना जीवन निर्वाह करता हुआ अपना और अपने देश का भला कर सकेगा ?—इत्यदि सभी बातों का धर्मशास्त्रों में विशद निर्णय किया गया है। इसी सीमा बन्धन का सुपरिणाम है कि सुप्रसिद्ध चार वर्णों के अतिरिक्त अन्यान्य जातियें भी चिरकाल से अपने २ समान आचार व्यवहार और व्यवसाय करने वाली 'समानप्रसवात्मिका जातिः' में ही खानपान और खासकर यौन सम्बन्ध स्थिर करती चली आ रही हैं यहां तक कि यवनों के दुर्भाग्यपूर्ण शासन काल में धर्मभ्रष्ट हुवे भारतीय कथित नव मुसलमान भी शतियें बीत जाने पर अद्यावधि अपनी २ जाति में ही यौन सम्बन्ध कर रहे हैं।

जन्मजात वर्ण व्यवस्था की यह वैज्ञानिक भित्ति अनेक विघ्न बाधाओं के प्रहारों से चाहे जीर्ण शीर्ण और शिथिल प्रायः हो गई हो—जिसे संसार की स्वाभाविक संसरणशीलता का अपरिहार्य्य अभिशाप ही कहा जा सकता है—परन्तु वर्णसंस्था की अमिट सत्ता छत्तीस करोड़ भारतीयों के संगठन में अब भी अधिकांश जातियों में प्रत्यक्ष रूपेण और कुछ वर्गों में परोक्ष रूप से अक्षुण्णतया विद्यमान है और रहेगी—इस नग्न सत्य का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता।

पांव फिसलने पर किसी स्थिर आधार का आश्रय मिल जाना जैसे पतन की रोक थाम का अमोघ उपाय है ठीक इसी प्रकार अनिच्छा सम्भूत वर्ण साङ्कर्य के संक्रामक प्रवाह को सीमाब

करने का सदुपाय भी यह जाति बन्धन है। दुर्भाग्यवश विधर्मियों के शासन में सहस्राब्दियों तक रहने पर भी इस जाति बन्धन के प्रताप से ही हम भारतीय संस्कृति को बचाने में आज तक सफल हुये हैं।

अस्पृश्यता-विचार

विलोम साङ्कर्यं सम्भूत कुछ जातियों के आजीविका के साधन भी शास्त्र में ऐसे नियत किये गये हैं कि जो सामाजिक संघटन के लिये अतीव आवश्यक होते हुए भी स्वभावतः उग्र और अपवित्र हैं। जैसे—मृत पशुओं का चर्म उधेड़ना, रंगना और उनकी अनेक राष्ट्रोपयोगी चीज़ें तैयार करना अथच राजाज्ञा से अपराधियों के अङ्ग छेदन करना—उनका वध भी कर डालना, आदि २।

परम्परा से ऐसा काम करती चली आने वाली जातियों को समाज की और स्वयं उनको अपनी भी भलाई के लिये सर्व-साधारण के सम्पर्क से पृथक् रखने का वैदिक नियम अनादि काल से चला आ रहा है जिसे शास्त्रों में 'अस्पृश्यता' के नाम से स्मरण किया गया है। यद्यपि अस्पृश्यता की मूल भित्ति आध्यात्मिक, भौतिक विज्ञान एवं सामाजिक अनुशासन पर सुस्थिर है परन्तु 'फूट डालो शासन करो' सिद्धान्त के पक्के पुजारी विदेशियों ने, जहां भारत में हिन्दू-मुस्लिम, ब्राह्मण-अब्राह्मण, जमीदार-गैरजमीदार, आर्य-द्रविड़ आदि २ अनेक निर्मूल समस्यायें खड़ी करके भारतीय संघटन को छिन्न भिन्न कर डाला इसी कपटाचार और कुनीति की एक कड़ी 'छूत और

अछूत समस्या' भी है, जिसको उन्होंने घृणामूलक बताकर 'पञ्चजन' संस्था के अन्यतम सदस्य अन्त्यजों को अग्रजों से पृथक् करने का षड्यन्त्र रचा। जैसे हिन्दू मुस्लिम समस्या के कुपरिणाम से अखण्ड भारत का ही एक अङ्ग पाकिस्तान बन गया इसी प्रकार विशेषाधिकार के प्रलोभन में फंस कर अन्त्यज भी अग्रजों को अपने से पृथक् समझने लगे। आज यद्यपि अंग्रेज चला गया है परन्तु अंग्रेजी वातावरण में पले पोसे और शिक्षा पाए कुछ भारतीय नेता अभी तक अंग्रेजों की प्रचारित पद्धति का ही अनुसरण कर रहे हैं। निःसन्देह उन्होंने भी 'फूट डालो और राज करो' के सिद्धांत को स्वार्थ साधन का महास्त्र समझ कर अपना लिया है, तभी तो गणराज्य और समानाधिकार की डफली पीटते हुवे भी सैक्यूलरवाद के नाम पर मुसलमानों को और विशेषाधिकार के झांसे में हरिजनों को शेष भारतीयों से पृथक् ही रखने की परम्परा को प्रोत्साहित किया जा रहा है। निर्वाचनों में मतपत्र प्राप्त करने के लिये भी इस ओछे हथियार का बेधड़क प्रयोग किया जाता है। जो भी हो, परन्तु हम डिण्डिम घोषणा पूर्वक यह घोषित करते हैं कि शास्त्रीय अस्पृश्यता के मूल में रंचमात्र भी घृणाको अवकाश नहीं है किंतु यह तो एक विज्ञानमूलक सामाजिक सिद्धांत है, जिसका पालन सवर्ण असवर्ण अग्रज और अन्त्यज सभी समान रीति से करते हैं।

शास्त्रदृष्टि से अस्पृश्यता तीन प्रकार की है (१) जन्ममूलक (२) कर्ममूलक और (३) जन्म कर्म उभयमूलक। गधा, कुत्ता कौआ, छिपकली आदि अनेक जन्तु चाहे कितने ही साफ सुथरे और नहाए धोये क्यों न हो वे जन्मना ही अस्पृश्य रहेंगे। हम

कुत्तों का मुखचुम्बन करने वाले विदेशियों और पति के समान उनकी सेवा करने में भी संकोच न करने वाली उन लेडियों की यहां चर्चा नहीं कर रहे हैं किन्तु उन भारतीयों के व्यवहार को प्रकट कर रहे हैं जो कि शास्त्राज्ञा के अनुसार पितृ श्राद्ध में वेद पाठी ब्राह्मणों से भी पूर्व मन्त्र निर्देशपूर्वक काक बलि और श्वान बलि के नाम पर उन्हें खीर खिलाने में तो श्रद्धा रखते हैं, परन्तु उसी शास्त्र की आज्ञा के सामने शिर झुकाकर काक आदि का स्पर्श हो जाने पर सचैल स्नान करते हैं।

पूय शोणित मलमूत्र से क्लिन्न सभी वस्तुएं और तादृश जीव, जननाशौच तथा शावाशौच की विद्यमानता में अमुक दिन तक सभी सगोत्र किंवा सपिण्ड बान्धव, कर्म्मणा अस्पृश्य होते हैं अभक्ष्य भक्षक, अगम्यागमक, स्त्रीबालगोद्विजघ्न भी इसी श्रेणी में परिगणित किये जा सकते हैं।

परम्परा से पशुओं का चमड़ा उधेड़ने वाले और मलापकर्षक आदि व्यक्ति जन्म और कर्म उभय मूलक अस्पृश्य कोटि में आते हैं। वे विलोम साङ्कर्य समुद्भूत भी हैं और कर्म भी अपवित्र करते हैं।

आयुर्वेद-विज्ञान

जैसे मैडिकल साइन्स का ज्ञान रखने वाला डाक्टर हैजा प्लेग, टी. बी. आदि संक्रामक रोगों से पीड़ित मरीजों को अटेण्ड करके, अथवा आंख दुखने की साधारण सी बीमारी वाले मनुष्य की आंख में जिंकलोशन डालने पर भी साबुन लगाकर अपने

हाथ धो डालना अनिवार्य समझता है ठीक इसी प्रकार अस्पृश्यता के स्पर्श से सर्वसाधारण को स्नानादि द्वारा पवित्र होने की आवश्यकता है। डाक्टर को रोगी से तनिक भी घृणा नहीं होती किन्तु उसका हाथ धो डालना संक्रामक बीमारियों को समाज में न फैलने देने के पुनीत सिद्धान्त पर आधारित है। ठीक इसी प्रकार अस्पृश्यस्पर्शानन्तर स्नान करना भी समाज में अपवित्रता न फैलने के सदुद्देश्य का ही परिचायक है। भगवान् समस्त प्राणियों के कृपालु पिता हैं, उनकी पवित्र वाणी वेद में किसी जाति विशेष किंवा वर्ग विशेष के लिये घृणा करने का आदेश हो—ऐसी कल्पना भी पाप कोटि में परिगणित की जा सकती है। वेदज्ञ महर्षि समस्त प्राणियों का समान रीति से कल्याण चाहते थे अतः जिन २ कार्यों से राष्ट्र भर में बुराई फैलने का खतरा हो सकता था उन २ की सुव्यवस्था करना ही धर्मशास्त्रों का अभिप्राय है यही अस्पृश्यता की वैज्ञानिक पृष्ठ भूमिका है।

शील रक्षा का ढाल—अस्पृश्यता

मलापकर्षण आदि कुछ आवश्यक समाज सेवाओं के लिये भङ्गी आदि अन्त्यज जातियों की महिलाओं का सर्व साधारण के घरों में नित्य जाना बहुत अनिवार्य रहता है। सौन्दर्य और यौवनकालीन आकर्षण किसी विशेष वर्ग की बपौती नहीं हो सकते, यह भगवान् की देन न्यूनाधिक सभी को प्राप्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में सवर्णों के सम्पर्क में निरन्तर आने वाली अन्त्यज बहूबेटियों के कुल शील और मर्य्यादा संरक्षा की एक समाधेय समस्या भी अतीव जटिल हो सकती है। अन्त्यजों में

सवर्णों की बहू बेटियों के सतीत्व की रक्षा का प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं रह सकता ।

ऐसी दशा में सम्भाव्य तादृश सामाजिक बुराई की रोक थाम का अन्यतम अमोघ उपाय यह स्पर्शास्पर्श विवेक है । बचपन से ही सवर्णों के जो बालक और बालिकाएं अपने सम्पर्क में नित्य आने वाले अन्त्यज वर्ग को अस्पृश्य मान पल्ला छू जाने से भी बच कर चलने के अभ्यासी होंगे और कभी भूल से भी वस्त्र मात्र छू जाने पर भी सर्दी में सचैल स्नान करने का दण्ड भोग चुकेंगे, वे इस सतत संस्कार के कारण युवा और युवति हो जाने पर भी फिर बेरोक टोक अन्त्यजों का अङ्ग स्पर्श करने को उद्यत हो सकेंगे—यह बात कोई भी मनोविज्ञान वेत्ता स्वीकार नहीं कर सकता ।

मनन शील महर्षियों ने सदैव ऐसे प्रयत्न बतलाए हैं कि जिनके अवलम्बन से सामाजिक बुराई उत्पन्न होने का अवसर ही न आने पाए । स्वभावतः यौवन की मादकता से उन्मत्त हो जाने वाले युवा और युवतियों को मर्यादा के नियन्त्रण में बालकपन से ही आबद्ध करके नैतिक पतन के गहरे गर्त में गिरने से बचा लेने का इस से अधिक मनोवैज्ञानिक उदाहरण भारतेतर संस्कृति में उपलब्ध नहीं हो सकता है ।

दुर्भाग्यवश कुछ ब्राह्मण महिलाएं भी यदि धनिकों के यहां भोजन पकाने के लिये आती जाती हैं तो वहां भी व्यभिचार काण्ड के अधिकांश उदाहरण उपलब्ध होते हैं । रसोई, पूजा और अन्याय सेवा करने वाली स्पृश्य दास दासियों के साथ भी तादृश दुराचार की दुःखद घटनाएं प्रतिदिन अनुभव में

आती ही हैं। जब धनैश्वर्य मदान्ध नरपिशाच, गुरु पुरोहित कहे जाने वाले पूज्य वर्ग की महिलाओं को भी 'दादी-दादी' कहता हुआ हवन की अग्नि में पेशाब करता हुआ यमराज से नहीं डरता और पिता समान पुरोहित पुजारियों का भी यही हाल है; तब प्रायः धनहीन और सेवा में प्रवृत्त अस्पृश्य दास दासी वर्ग की देवियों को वह पामर प्राणी अपनी कामाग्नि दीपशिखा पर शलभ बनाने में कोर कसर बाकी रख सकेगा—यह कोई भी बुद्धिमान् कभी मान नहीं सकता।

यह एक नग्न सत्य है—जिसका कोई अपलाप नहीं कर सकता कि आज जितनी सामाजिक बुराई सवर्णों के परस्पर सम्पर्क में उत्पन्न होती है उतनी सवर्ण और अन्त्यजों के सम्पर्क में नहीं। इसका एक मात्र कारण जन्मकाल से ही अमुक वर्ग को न छूने का बद्धमूल दृढ़ संस्कार है। सो जो लोग आजकल कथित समानता के नाम पर अस्पृश्य वर्ग की बहू बेटियों की इज्जत को बचाने के लिये अनादि काल से दी गई इस अस्पृश्यता रूप ढाल को छीन कर उन्हें अरक्षित—अपाहिज बनाने पर तुले हैं वे अन्त्यजों के नादान दोस्त ही कहे जा सकते हैं।

अन्त्यज कौन ?

वेदादि धर्मशास्त्रों में जो अन्त्यजों की तालिका दी है तदनुसार गणना करने पर भारत में उनकी कुल संख्या चन्द लाख ही हो सकती है परन्तु कूटनीतिज्ञ अंग्रेज शासकों ने अपनी राजनैतिक स्वार्थ-साधना के लिये जन गणना के समय उन्हें बढ़ा चढ़ा कर अन्यून दस करोड़ तक बना डाला है। सन् १९४० की

अंग्रेज शासन कालीन अन्तिम जन गणना की हिदायत पुस्तक हमारे सामने है जिस में गणना करने वाले व्यक्तियों को यह बताया गया है कि किस २ जाति का किस खाने में उल्लेख होना चाहिये। तदनुसार धोबी, तेली, तमोली, कहार, नाई और ग्वालों तक को अछूतों के खाने में ठूंस दिया गया है जो कि शास्त्र और व्यवहार दोनों में अन्त्यज वा अन्त्यावसायी नहीं है। इनमें से कई एक जातियों का तो केवल स्पर्श ही नहीं— बल्कि जलादि भी सर्वथा ग्राह्य माना जाता है। कहने को तो वर्तमान भारत सरकार ने लिंग, वर्ण, जाति भेद के वैषम्य को मिटाकर समान अधिकार की घोषणा भारतीय संविधान में की है परन्तु व्यवहार में कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए इन लोगों ने मुसलमान एवं तथाकथित अस्पृश्य जातियों को विशेषाधिकार का प्रलोभन देकर उन में सवर्णों के प्रति द्वेष भावना के पनपने का द्वार खोल रक्खा है। परिपत्र=सरकुलर निकलकर अनेक जातियों से पूछा गया है कि 'तुम पिछाड़ी जातियों में रहना चाहते हो या सवर्णों में ? उधर उन में यह दुष्प्रचार किया जाता है कि पिछड़ी जातियों को नौकरियों में प्रमुख स्थान मिलेगा तथा भूमि वितरण के समय उन्हें सर्व प्रथम भूमिधर बनाया जाएगा। ऐसी स्थिति में अनेक सवर्ण जातियें भी अब पिछड़े वर्ग में मिल जाने में प्रत्यक्ष लाभ देख रही हैं और अन्त्यजों की संख्या में अभिवृद्धि का कारण हो रही हैं। इस तरह वेद शास्त्रोक्त वर्ण संस्था के लाभप्रद सिद्धांत का कूटनीति की वेदी पर विशसन किया जा रहा है—मानवता को मौत के घाट उतारा जा रहा है।

वेद शास्त्रानुसार अन्त्यज कौन है—इसका सप्रमाण विवेचन नीचे किया जाता है।

अन्त्यज का शास्त्रीय स्वरूप और स्पर्शदोष

(क) रजकश्चर्म्मकारश्च नटो बुरुड एव च।
कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः ॥

(यह प्रमाण अत्रिस्मृति यम स्मृति अङ्गिरा स्मृति और सभी प्रबन्ध ग्रन्थों में विद्यमान है।)

(ख) एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।

(व्यासस्मृति ११)

(ग) चाण्डालः पुल्कसो म्लेच्छः श्वपाकः पतितस्तथा।
एते पञ्च समाख्याताः पञ्च पातकिनां समाः ॥

(स्कन्दपुराण चातुर्मास्य माहात्म्य)

अर्थात्—(क) रजक=(चमड़ा रंगने वाले खटीक आदि)। चर्म्मकार=(मृत पशु का चमड़ा उधेड़ने वाले चम्मड़ आदि)। नट, बांसफोट=(पाखाना उठाने वाले) मछलीमार, मेघ और भील इन सात जातियों को 'अन्त्यज' कहते हैं।

(ख) पूर्वोक्त सब अन्त्यज हैं और इनके अतिरिक्त अन्य सब गोभक्षक भी अन्त्यज हैं।

(ग) चाण्डाल=(मलादि का अपकर्षण करनें वाले) पुल्कस=(कंजर आदि गोभक्षक)। म्लेच्छ=(असंस्कृत, गोभक्षक, अभारतीय) श्वपाक=(कुत्ते आदि का मांस भक्षण

करने वाले जरायम पेशा लोग और पतित=(ब्रह्महत्या, कन्या, बहिन और माता आदि से व्यभिचार करने वाले) ये पांच महापातकियों के समान हैं।

किन २ स्थितियों में एक व्यक्ति की बुराइयें समाज के अन्यान्य व्यक्तियों में संक्रमण कर सकती हैं—इस बात को ध्यान में रख कर वेदादि शास्त्रों में अन्त्यजों के स्पर्श का निषेध किया गया है यथा—

(क) असतो वा एष सम्भूतो यच्छूद्रः (तैत्तिरीय ३।२।३।६)

(ख) असुर्य्यः शूद्रः (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२६।७)

(ग) अपि वा वेदनिर्देशात् अपशूद्राणां प्रतीयेत्

(जैमिनीयसूत्र१।६।३३)

(घ) दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतकीं तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥

(मनुस्मृतिः ५ । ८५)

अर्थात्—(क) शूद्र-वर्ण [पूर्व जन्मकृत] असत् कृत्य से उत्पन्न हुवा है (ख) [इसलिये] शूद्र आसुरीभावापन्न होता है (ग) वेद के आदेश से अपशूद्र=अन्त्यज यज्ञ का अधिकारी नहीं (घ) चाण्डालादि अन्त्यज, रजस्वला, पतित, सूतकी, शव=मुर्दा और मुर्दे को स्पर्श करने वाला इनको छू जाने वाला व्यक्ति स्नान करने पर शुद्ध होता है।

यहां इतना और अधिक समझ लेना चाहिये कि धर्मशास्त्रों में अन्त्यज जातियों की गणना कहीं उपभेदों को पृथक्

गिनकर अधिक बतलाई गई है और कहीं तत्तद्भेदों को तदन्तर्भूत मानकर न्यून बतलाई गई है, जैसे—'व्यास-स्मृति' सोलह जातियों को अन्त्यज मानती है और अन्यत्र (अध्याय ११) में तेरह जातियों को अन्त्यज बतलाया गया है। 'अंगिरास्मृति' में अन्त्यजों के अतिरिक्त सात 'अन्त्यवसायी' लिखे हैं [यह 'शब्द कल्पद्रुम' में उद्धृत अंगिरा वचन से सिद्ध है] 'अत्रिस्मृति' 'यमस्मृति' और 'अंगिरास्मृति' में सात जातियों को 'अन्त्यज' माना है, बहुसम्मत मत होने के कारण हमने यहां यही प्रमाण पीछे उद्धृत किया है। स्कन्द पुराण के ऊपर उद्धृत किए गए प्रमाण में पांच जातियों को अन्त्यज माना गया है। यह संख्या विभेद एक स्थान में उपान्तर्भेदों की पृथक् गणना करने के कारण और अन्यत्र उन्हें तदन्तर्भूत मानने के कारण ही समझना चाहिये, वस्तुस्थिति में इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

सब प्रमाणों की एकवाक्यता करके अन्त में यही परिणाम निकलता है कि जैसे पूर्व पुरुखाओं के दुष्कर्म करने के कारण ब्राह्मणों में 'दस्से' आदि नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्यमान हैं और क्षत्रियों में 'मलकाने' आदि मलिन क्षयित्र मिलते हैं तथा वैश्यों में 'वीसे' आदि नामधारी तादृश वैश्य पाए जाते हैं इसी प्रकार शूद्रों में भी 'सत्शूद्र' और 'असत् शूद्र' दो भेद विद्यमान हैं। सत्शूद्रों का आमअन्न ग्रहण और क्रिया विशेष में जलादि ग्रहण भी दूषित नहीं माना है, परन्तु अन्त्यजों के साथ साङ्कर्य्यकारक अमुक २ व्यवहार करने का शास्त्र में निषेध है, जिन व्यवहारों को हम अनुपद आगे लिखेंगे। अन्त्यजों में भी खासकर—परम्परा से मलापकर्षण करने

वाले; मृत पशुवों की की खाल उधेड़ना, उसे रंगना आदि कच्चे चमड़े का काम करने वाले, तथा गोमांसादि अभक्ष्य भक्षण करने वाले व्यक्ति अपने तादृश पेशे के कारण और ब्रह्महत्या अगम्या-गमन आदि गुरुतर अपराध करने वाले व्यक्ति—सामाजिक अनुशासन के कारण मुख्यतया ये चार प्रकार के व्यक्ति, वर्ग या जातियें ही अस्पृश्य कोटि में आती हैं।

पाप संक्रामक स्थितियें

किन २ व्यावहारिक सम्पर्कों से एक व्यक्ति के पाप=बुराइयें दूसरे व्यक्ति में संक्रमण कर सकती हैं इस तथ्य का वैज्ञानिक विवेचन भी वेदादि शास्त्रों में विशदरूप से विद्यमान है यथा—

(क) **तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः** (तैत्तिरीय संहिता ७।१६)

(ख) **श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधात्** (वेदान्त सूत्र १।२।३८)

(ग) **एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम् ।**
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम् ॥
नवधा संक्रमः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह ॥
(कूर्मपुराणे बृहस्पतिवचनम् मिताक्षरायाम्)

(घ) **आसनाच्छयनाद् यानाद् भाषणात्सहभोजनात् ।**
संक्रामन्तीह पापानि तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥
(पाराशर स्मृति)

(ङ) **संलापस्पर्शनिःश्वाससहशय्यासनाशनात् ।**
याजनाध्यापनाद् यौनात्पापं संक्रमते नृणाम् ॥
(देवल स्मृति)

(च) प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात्सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चापि गन्धमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्पन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

(सुश्रुत संहिता निदान स्थान अध्याय ५)

अर्थात्—(क) शूद्र, यज्ञ = (देव पूजा, संगति करण और आदान प्रत्यादान) में असंग्राह्य है । (ख) वेद के श्रवण अध्ययन (उपलक्षित धर्मानुष्ठानों) में प्रतिषिद्ध है (ग) एक विस्तर पर सोना, एक आसन पर बैठना, एक पंक्ति में बैठना, समान बर्तनों में भोजन करना, पके हुये अन्न का एक दूसरे से मिलाना, यज्ञादि कराना, पढ़ाना, यौन सम्बन्ध करना और मिलकर खाना ये नौ प्रकार के संक्रम हैं जो पतित जनों से नहीं करने चाहियें । (घ) एक साथ बैठ-उठ से, साथ सोने से, साथ घूमने फिरने से, वार्तालाप से, और सहभोजन से, एक दूसरे के पाप= बुराइयें—पानी में तेल की बून्द की भाँति फैल जाती हैं। (ङ) परस्पर बातचीत से, छूने से, श्वास से, एक साथ सोने से, रहने और खाने से, याजन अध्यापन और योनि सम्बन्ध से एक का पाप दूसरे में संक्रमण करता है। (ङ) नैकट्य से, गात्र स्पर्श से, श्वास प्रश्वास से, साथ खाने से, साथ सोने बैठने से, चन्दन, (साबुन, तेल, पाउडर इतर सैन्ट क्रीम) फूल माला आदि के ऐक्य से—कुष्ठ, ज्वर, शोष=टी० बी० आंखों की बीमारियें और शीतला चेचक, हैजा, प्लेग, आदि औपसर्गिक रोग एक दूसरे में संक्रमण करते हैं।

संक्रामक आधारों का वैज्ञानिकता

उपर्युक्त प्रमाणों में जो एक से दूसरे में फैल जाने वाली मानसिक किंवा शारीरिक बुराइयें प्रकट की गई हैं उनका मनन करने पर कोई भी बुद्धिमान् यह नहीं कह सकता कि उक्त सब व्यवस्था किसी घृणा पर आधारित है। अमुक २ असावधानियों से न चाहते हुए भी समाज में बुराइयें उत्पन्न हो ही जाती हैं। परन्तु उन्हें समाज में-राष्ट्र में न फैलने देना यह बुद्धिमता का तकाजा है।

यह कोई भी समझदार अच्छी तरह समझ सकता है कि परम्परा से निरन्तर मल मूत्रादि का अपकर्षण करने वाले लोग समाज के एक अनिवार्य अङ्ग हैं। इसी प्रकार कच्चे चमड़े को कमाने वाला वर्ग भी राष्ट्र यन्त्र संचालन का एक आवश्यक पुर्जा है, इन दोनों के बिना राष्ट्र की पूर्ण उन्नति कथमपि सम्भव नहीं है। इस अप्रतिषिद्ध तथ्य को सुतरां स्वीकार करते हुए भी यह मानना ही पड़ेगा कि उक्त दोनों राष्ट्र सेवाओं को करने वाले वर्ग को जहां उचित पारिश्रमिक देकर पालित और पोषित करने की आवश्यकता है वहां उनमें स्वभावत: आ जानेवाली अपवित्रता को समस्त राष्ट्र में न फैलने देने की व्यवस्था की भी अतीव आवश्यकता है। सो महर्षियों ने इसी पुनीत भावना को ले कर ऐसी स्थितियें बतलाई हैं कि जिनमें एक को दूसरे के संक्रमण से बचे रहने की सावधानी बर्तनी चाहिये। यह केवल वेद और धर्मशास्त्रों की ही धार्मिक व्यवस्था मात्र हो सो बात भी नहीं धार्मिक दृष्टि से जहां तादृश संसर्ग का कुफल आध्यात्मिक मृत्यु हो सकती है, वहां महर्षि चरक और सुश्रुत जैसे आयुर्वेद के आचार्यों ने भी डिण्डिम घोष के द्वारा उक्त व्यवस्था का अक्षरश:

समर्थन किया है तथा उसके उल्लंघन का फल अनेक रोगों की अभिवृद्धि प्रकट करके शारीरिक मृत्यु बतलाया है।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में विदेशी वैज्ञानिकों का मत

इस पुरातन भारतीय अस्पृश्यता विज्ञान का आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी शत मुखेन समर्थन किया है। 'इण्डियन थिंकर' नाम की पत्रिका में एक पश्चिमी विद्वान् का अनुभव प्रकाशित हुआ था जो 'सनातनिष्ट' (ता० ११ । ३ । २६) में उद्धृत हुआ। उन्होंने अपने यन्त्रों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी जाति तथा शिक्षा के अनुसार अपने शरीर में एक प्रकार की विद्युत् शक्ति धारण करता है। यह उसके चारो ओर फैली हुई रहती है, और जो मनुष्य उस शक्ति के दायरे के भीतर आ जाता है उस पर उस शक्ति का प्रभाव अवश्य होता है। ऋतुमती स्त्री के शरीर से ऐसी विद्युत् शक्ति निकलती है, जिससे कई वृक्षों के फूल फल पत्ते तक नष्ट हो जाते हैं। वे आगे लिखते हैं कि 'रोग और स्वास्थ्य दोनों ही स्पर्श से सम्बन्ध रखते हैं। खराब शरीर तथा अन्तः करण वाले मनुष्य के साथ मिलने से शरीर तथा मन दोनों ही खराब होते हैं।' ('कल्पप' ६–२४) ।

घृणामूलक अस्पृश्यता महापाप

यदि स्पृश्यास्पृश्य की व्यवस्था घृणामूलक होती तो वह अमुक वर्ग किंवा जाति तक ही सीमित होती और उसे ऐसी दशा

में न केवल अनुपादेय ही अपितु महापाप भी माना जाता, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जहां यह व्यवस्था अमुक वर्ग पर लागू है वहां द्विजातियों के अपने अनुपनीत औरस पुत्रों पर रजस्वला अर्धाङ्गिनी धर्मपत्नियों पर एवं जननाशौच और शावाशौच के समय में स्वयं अपने उन पर भी तथैव लागू है, जिसका पालन आज भी तत्परता के किया जाता है।

धर्मशास्त्र में ज्वरार्त रजस्वला स्त्री की शुद्धि किस प्रकार हो—इस कठिन परिस्थिति की सुव्यवस्था की गई है। एक ओर ज्वर में स्नान करना सर्वथा वर्जित और प्रत्यक्ष मृत्यु को निमन्त्रण देना है, दूसरी ओर स्नानादि के बिना वह कैसे शुद्ध हो यह कठिन समस्या! ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्र कहता है कि—

ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम्।
सचैलावगाह्यापः स्नात्वा चैव पुनः स्पृशेत्॥
दश द्वादश कृत्वेवमाचमेच्च पुनः पुनः।
अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेत्तु सा॥

(पराशर भाष्योद्धृत-उशनशो वचनम्)

अर्थात्—ज्वरग्रस्ता स्त्री बिना स्नान किये कैसे शुद्ध हो सकती है इस का उपाय यह है कि चौथे दिन कोई दूसरी स्वस्थ स्त्री उसको स्पर्श करके स्वयं सचैल स्नान करे, इस प्रकार दश बारह बार पुनः स्पर्श और स्नान करती रहे—हाथ पांव मुख धोती

आचमन करती रहे, इससे रजस्वला का समस्त दोष दूर हो जाएगा, वह वस्त्र बदल कर ऋतुस्नाता की भांति विशुद्ध हो जाएगी।

उपर्युक्त व्यवस्था से स्पष्ट प्रकट होता है कि रजस्वला का दोष स्पर्श करने वाली स्त्री में संक्रमण कर जाएगा और वह उसे सचैल स्नान द्वारा जल में विलीन कर देगी। इस तरह बार २ करने पर रजस्वला विशुद्ध हो जाएगी। क्या कोई विचारशील व्यक्ति इस प्रकार की वैज्ञानिक व्यवस्थाओं को घृणा-मूलक कहने का दुःसाहस कर सकता है।

अस्पृश्यों का देवदर्शन में अनधिकार

वेदादि शास्त्रों में जहां सूतकी, पातकी, रजस्वला और अन्त्यज आदि के लिये द्विजाति-प्रतिष्ठापित देव मंदिर में प्रविष्ट होकर देव प्रतिमाओं का स्पर्श करना, पूजन और उनका दर्शन करना निषिद्ध बतलाया गया है, वहां बलात् ऐसा करने पर उक्त महापाप से होने वाले अनेक राष्ट्र-विप्लवकारी अनर्थों का भी सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है। यथा—

रुद्रस्य वाथ विष्णोर्वा प्राकाराभ्यन्तरे यदि।
रजस्वला वधूश्चैव चाण्डालश्च समागतः॥
तद्देवस्य कलाहानी राज्ञो मरणमेव च।
तद् ग्रामस्य क्षयः प्रोक्तः शस्यानां नाशनं परम्।

(कारणागम–प्रायश्चित्त काण्ड)

अर्थात्—शिव किंवा विष्णु के मंदिर के अन्दर यदि रजस्वला स्त्री और चाण्डाल प्रवेश कर जाते हैं तो इससे प्रतिमास्थ देव की कला हानि हो जाती है। जिसका फल राष्ट्र के कर्णधार की मृत्यु उस ग्राम नगर किंवा देश का विनाश और घास चारे का अभाव होता है।

अस्पृश्यों को देव मंदिरों में क्यों नहीं जाना चाहिये, और उनके बलात् प्रविष्ट हो जाने पर उक्त अनर्थ क्यों होते हैं— इस का वैज्ञानिक रहस्य शास्त्र में बतलाया है, यथा—

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ।
साधकस्य च विश्वासाद् देवतासन्निधिर्भवेत् ॥

(कापिल तन्त्र)

अर्थात्—प्राण प्रतिष्टा आदि वैदिक-तान्त्रिक साधनों द्वारा देव बिम्ब का प्रतिमा में आभिरूप्य होने से और षोडशोपचार आदि नियमित पूजा पद्धति के वैशिष्ट्य से एवं साधक के अचल विश्वास से—मूर्ति में देवता का सन्निधान होता है [व्यापक समष्टि भगवान् प्रतिमा में व्यष्टि रूपेण विराजमान हो जाता है]

सो यदि अनधिकारी देव प्रतिमा के सामने जाएगा तो उपर्युक्त तीनों साधनों से मूर्ति में प्रविष्ट हुई देव कला सर्वव्यापक समष्टि ब्रह्म में समा जाएगी. मूर्ति केवल पाषाण मात्र रह जाएगी। जैसे डैनुमा यन्त्र से पावर हाउस में संगृहीत विद्युत् करन्ट किसी लोहे के छड़ से छुआ देने पर पृथ्वी में विलीन हो जाता है- खारिज हो जाता है; विद्युत् प्रवाहक तारों का किसी भी संक्रामक वस्तु से सम्बन्ध हो जाने पर करन्ट का अपव्यय होने लगता है,

ठीक इसी प्रकार अस्पृश्य के संसर्ग से प्रतिमा में स्थित देव विम्ब भी तिरोहित हो जाता है। राष्ट्रपति को भी प्रजाजन अपनी भावना के बल से एक साधारण कोटि के व्यक्तित्व से शासन सत्ता सम्पन्न बनाते हैं, अर्थात् मूर्ति में देवत्व का आधान करने की भान्ति ही राजसत्ता और प्रजासत्ता का सम्बन्ध है। सो जब अमुक कारणों से देव प्रतिमानिष्ठ विम्ब अपनी कला से विहीन हो जायगा, तो इस का कुफल राजा और प्रजा दोनों को भोगना पड़ेगा। जैसे पावर हाउस की खराबी के कारण तत्सम्बद्ध पूरी लाइन में खराबी आजाती है, ठीक इसी प्रकार मन्दिर संस्था रूप विजली घर में खराबी होने के कारण तत्सम्बद्ध राजा और प्रजाजनों में भी उपद्रव होना स्वाभाविक है। इसलिये मन्दिर मर्यादा के भङ्ग करने का कुफल राजा शासक का मरण और अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, महामारी आदि बतलाया गया है।

जैसे कृपालु माता-पिता अपने अबोध बालकों को कठिन परिश्रम न देकर स्वयं कठिन परिश्रम करते हैं परन्तु उसके फल से प्राप्त होने वाली भक्ष्य भोज्य आदि सामग्री को पहिले बालकों को भर पेट खिलाते हैं, ठीक इसी प्रकार दयालु भगवान् ने भी जहाँ सवर्णों को कठोर जप-तप, पूजा-पाठ करने का आदेश दिया है वहाँ शूद्र, अन्त्यज आदि अपने कृपापात्र अबोध बालकों को मन्दिर का शिखर, कलश, ध्वज और गोपुर (=प्रधान द्वार) मात्र देखकर प्रणाम मात्र करने से ही वही फल मिलने की उदारता दिखलाई है, यथा :—

(क) दर्शनं गेहचूड़ाया दर्शनं गोपुरस्य च।
अन्त्यजानां तथान्येषां विज्ञेयं देवदर्शनम्॥ (शैवागमः)

(ख) पूजा देवालयं दृष्ट्वा प्रणामस्तस्य कीर्तितः।

(सूत संहिता ४।११)

(ग) चाण्डालपुल्कसो वापि तादृशा पुल्कसादयः।
प्रतिलोमान्त्यजादीनां स्तूपं दृष्ट्वा समाचरेत् ॥

(नारद पञ्चरात्र-पद्मसंहिता चर्य्या पाठ)

अर्थात्—(क) अन्त्यज और तादृश अन्य (= रजस्वला सूतकी आदि) गर्भ मन्दिर का शिखर या प्रधान द्वार देखने मात्र से देव-दर्शन के फल के भागी होते हैं। (ख) देवालय को देख कर प्रणाम मात्र करने से अन्त्यजों को मूर्ति पूजा का फल प्राप्त हो जाता है। (ग) चाण्डाल, कंजर किंवा सँहसी गधीले आदि प्रतिलोम संकर और अन्त्यज अन्त्यावसायी आदि; स्तूप = गरुड़ स्तम्भ किंवा ध्वज आदि देखकर भगवद् भक्ति करें।

प्रतिमा के देवत्व में एकमात्र शास्त्र प्रमाण

कुछ आधुनिक लोगों ने अन्त्यजों को सवर्णों से पृथक् रख कर अपना राजनैतिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिये 'देवदर्शन' के नाम पर मन्दिरों की मर्यादा को भङ्ग करने का कुचक्र चला रक्खा है, परन्तु वे सब लोग हमारे इस प्रश्न का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ हैं कि मन्दिरों में जो पाषण धातु काष्ठ आदि की प्रतिमाएं है, उन में देवत्व-साधक क्या प्रमाण किंवा युक्ति है ? प्रत्यक्षतया तो किसी पाषाणादि की प्रतिमा में खुर्दबीन, दूरबीन आदि भौतिक साधनों से देव नामक किसी अलौकिक पुरुष के दर्शन नहीं किये जा सकते। फिर पत्थर से

बनी बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं के देखने का आन्दोलन न करके मन्दिरों की मूर्तियों के दर्शन करने का ही क्या आग्रह ?

इस पर झख मार कर उन्हें अन्त में यही कहना पड़ेगा कि 'पण्डित लोगों से सुना है कि वेदादि शास्त्रों के अनुसार वह पाषाणादि निर्मित प्रतिमा प्राण प्रतिष्ठा आदि के द्वारा भगवद् विग्रह भूत है। अतः उसके दर्शन से हमें भगवत्प्राप्ति होगी'— ऐसा उत्तर देने वाला व्यक्ति अवश्य ही शास्त्रनिष्ठा का विश्वासी है। अब यह प्रष्टव्य है कि जिस शास्त्र के आधार पर प ाणादि निर्मित प्रतिमा, भगवद् विग्रह भूत मानी जाती है, वही शास्त्र उस के दर्शन, पूजन आदि की भी व्यवस्था करता है। तदनुसार रजस्वला, सूतकी और अन्त्यज व्यक्ति, स्वयम्भू मूर्तियों को छोड़ कर अन्य किसी द्विजातिप्रतिष्ठापित पीठस्थ सौम्य देवता के दर्शन के अधिकारी नहीं।

यह तो कोई युक्ति नहीं कि मूर्ति के देवत्व होने में तो शास्त्र-निष्ठा का आश्रय लिया जाए और दर्शन विषयक व्यवस्था में उसी शास्त्र की अवहेलना की जाए। 'अर्ध कुक्कुटी' न्याय से कभी निर्वाह नहीं हो सकता ! आधी मुर्गी काट कर खाजाओ और आधी अण्डे देने के लिये सुरक्षित रक्खो—इस प्रकार का व्यवहार मूर्खता की पराकाष्ठा है। इसलिये देवदर्शन के नाम पर उच्छृङ्खलता का प्रदर्शन करने वाले नर-पुङ्गवों को अपनी सीधी २ स्थिति सुस्पष्ट करनी चाहिये। यदि वे शास्त्र में श्रद्धा नहीं रखते तो मूर्ति के देवत्व में कुछ भी प्रमाण नहीं, अतः वे जलताडनादिवत् क्यों व्यर्थ का गृहयुद्ध खड़ा करते हैं ? और यदि वे शास्त्र में श्रद्धा रखते हैं तब भी शास्त्राज्ञानुसार

उन्हें शास्त्र विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। इस प्रकार उभयथा अन्त्यजादि देव-दर्शन के अधिकारी नहीं ठहराये जा सकते।

अन्त्यजों के नये नाम संस्करण

राजनैतिक स्टन्ट

वेदादि शास्त्रों में ब्राह्मणों को 'अग्रज' और असत् शूद्रों को 'अन्त्यज' नाम से स्मरण किया है। ये दोनों शब्द एक ही कोटि के हैं, जैसे व्यवहार में बड़े भाई को अग्र=पूर्व जन्म धारण करने के कारण 'अग्रज' कहते हैं और छोटे भाई को अनु=पश्चात् उत्पन्न होने के कारण 'अनुज' कहते हैं, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मा जी द्वारा सर्व प्रथम सृष्ट ब्राह्मण वर्ग को 'अग्रज' कहा गया है। अन्त में सृष्ट असत् शूद्र वर्ग को 'अन्त्यज' कहा गया है। इन दोनों शब्दों में न किसी वर्ग के ऊंचा होने का अर्थ निहित है और ना ही किसी के नीचे होने का अभिप्राय गुप्त है, किन्तु पहिले और पिछले काल मात्र का निर्देश है। परन्तु दुर्भाग्यवश अंग्रेज शासकों की कुटिल नीति का शिकार बनकर सर्व प्रथम आर्य्य समाज ने अन्त्यजों को सनातनधर्मियों से पृथक् करने के दुरुद्देश्य से किसी भी हिन्दू ग्रन्थ में जिसका अस्तित्व नहीं वह नया मनघडन्त 'दलित' शब्द खोज निकाला और उन्हें दलित २ पुकार कर भड़काया, तथा उनको 'महाशय' 'वाल्मीकि' और 'जाटव' आदि नाम देकर अपने थोक में मिलने की चेष्टा की। मुसलमानों ने भङ्गियों को 'मुसल्ली' नाम से अपना वोटर बनाया तो सिक्खों ने 'मजहबी' नाम रखकर उन्हें हिन्दुवों से पृथक् कर दिया। इस प्रकार जब बेचारे अन्त्यजों को लावारिस प्रापर्टी

समझकर सभी ने आपाधापी की तो कांग्रेस के कर्णधार इस डाकाजनी में पीछे क्यों रहते। उन्होंने भी अत्यजों को फुसलाने के लिये 'हरिजन' नाम ढूंढ निकाला, इस प्रकार एक अन्त्यज वर्ग के अनेक टुकड़े हो गए।

इन नए नामकरण संस्करणों से राजनैतिक शतरंज के खिलाड़ियों को तो चाहे मत देने वाले नए ग्राहक मिल गए, परन्तु बेचारे अन्त्यजों को अणुमात्र भी लाभ नहीं हुवा। पंजाब के बटाला, गुरुदासपुर आदि जिलों में जहाँ कि आर्य्यसमाजियों ने वहाँ के अन्त्यजों को जनगणना में 'महाशय' जाति लिखाने को प्रेरित किया था अब उस प्रान्त में 'महाशय' शब्द अस्पृश्य का ही निर्विशेष पर्य्याय बन गया है। यदि अब पंजाब के दयानन्दी सवर्ण उपदेशकों को 'महाशय' कहा जाए तो वे चिढ़ते हैं। हम अक्सर शास्त्रार्थों में उन्हें 'महाशय' कह कर तादृश विनोद करते हैं तो उन की भवें तन जाती हैं, नाक भौं सिकोड़ कर बदले में हमें 'मिस्सर जी' कह कर दिल ठण्डा करते हैं। इस प्रान्त में 'मिस्सर जी' शब्द प्रायः भोजन पकाने वाले में रूढ़ सा हो गया है।

यही दुर्दशा आज 'हरिजन' शब्द की हो रही है। पहिले यह शब्द किसी जाति विशेष या वर्ग विशेष का वाचक नहीं था किन्तु 'भगवद् भक्त' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। तुलसी कृत रामायण में जिस समय विभीषण और हनुमान् की प्रथम भेंट हुई है तब दोनों ने एक दूसरे को-- **हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी'** के अनुसार रामभक्त मान कर प्यार किया। श्री भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता में अनेक मुस्लिम भगवद् भक्तों की तालिका देते हुवे अन्त में उपसंहार करते हुवे लिखा है कि **'इन**

मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।' सो ऐसे व्यापक शब्द को किसी वर्ग विशेष के लिये सीमित कर देना कुछ बुद्धिमानी नहीं। हरिजनोद्धार के नाम पर महात्मा गांधी ने जब भारत भ्रमण किया था तो उनके लाहौर आने पर तत्रत्य पण्डितों का एक शिष्ट-मण्डल हमारे नेतृत्व में उन से मिला था। उस समय पूरे एक घण्टे तक इसी विषय पर हमने बातचीत की तो गांधी जी को मौनावलम्बन करना पड़ा था।

गोभक्षकों की अपेक्षा गोरक्षक अन्त्यज श्रेष्ठ

अस्पृश्यता का विवेक केवल सवर्णों तक ही सीमित नहीं अपितु अन्त्यजों में भी एक जाति की अपेक्षा दूसरी जाति को अस्पृश्य मानने की और तदनुसार आचरण करने की परम्परागत व्यवस्था अभी तक अक्षुण्ण चली आती है और उस का आधार उनका तादृश पेशा या तादृश आचार व्यवहार ही है। जैसे खेती बाड़ी और मज़दूरी आदि से आजीविका कमाने वाली अन्त्यज जातियें सवर्णों के अधिक सम्पर्क में रहती हैं। नट धानुक, हेड़ी, नायक, मेघ, कोयरी, मल्लाह, शोरगिर, नूनगर हिन्दू ओड आदि जातियें भी इसी कोटि में आती हैं। तत्तत्प्रान्तों में इन के अन्यान्य नाम भी हो सकते हैं। ये अपने को सर्वश्रेष्ठ अन्त्यज मानते हैं। अपनी २ जाति में रोटी बेटी का व्यवहार रखते हैं।

दूसरी कोटि की अन्त्यज जातियों में—पक्के = कमाए हुवे चमड़े का सामान तैय्यार करने वाले रमदासिये, जटिये और चमार गिने जा सकते हैं। ये उत्तम श्रेणी के अन्त्यज हैं।

तीसरी श्रेणी में मृतपशुओं का पोश उधेड़ने वाले और चमड़ा रंगने वाले खटीक चम्मड़ आदि माने जाते हैं, जिन में मृत पशुओं का मांस खाने की कुप्रथा भी प्रचलित थी जो अब धीरे २ दूर हो रही है। ये मध्यम श्रेणी के अन्त्यज कहे जा सकते हैं।

चौथी श्रेणी में—मलापकर्षण करने वाले, सिंगी लगाने वाले, भंगी, डोम, कोल भील, किरात गोंड आदि परिगृहीत होते हैं, जो प्राय: मुर्दे को गाड़ते हैं; सभी विहित पशुओं के मांस को तथा सब के उच्छिष्ट भोजन को भी खाते हैं। ये सब अधम श्रेणी के अन्त्यज है।

पांचवीं श्रेणी में—सर्वभक्षी (शृगाल, कुत्ता, गधा, सर्प, काक और मनुष्य तक का—फिर चाहे वह स्वयं मृत हो किंवा मारा गया हो—खा जाने वाली) कंजर, संहसी, गधीले, नांगे आदि जातियें परिगणित हैं।

ये सब अन्त्यज प्राय: अपने जैसे थोक में ही रोटी बेटी का व्यवहार रखते हैं। सवर्ण चाहे विचलित होकर किसी भी अन्त्यज से भोजन करने में अपने को सुधारक किंवा कथित प्रगतिशील माने, परन्तु ये लोग अपने से अधमवर्ग के हाथ का छुवा भोजन नहीं करते।

आर्यसमाज और छुवाछूत

आर्यसमाज की यह नीति है कि यदि वह किसी भी भले बुरे आन्दोलन में चन्दा प्राप्त हो जाने की सम्भावना देखता है तो वह गिरगट की भान्ति झट अपना सैद्धान्तिक रंग बदल कर—सत्यार्थप्रकाशादि में लिखे स्वामी दयानन्द के निश्चित

सिद्धान्तों पर हरताल पोतकर—स्वयमपि उस आन्दोलन का समर्थक बनकर—चन्दा चट्टोपाध्यायों का अगुवा हो जाता है। कांग्रेस के कर्णधारों ने जब से अंग्रेजों द्वारा संचालित कूटनीति का अनुसरण करते हुवे फूट डालो और राज करो सिद्धान्त को अपनाया तो उसकी एक कड़ी सवर्ण और अछूत दो कल्पित भेद खड़े करके सवर्णों को अन्त्यजों के शत्रु और अपने को उन का परममित्र प्रकट करने का आन्दोलन भी आरम्भ किया।

कांग्रेसियों की यह चाल यद्यपि अन्त्यज नेता श्री भीमराव अम्बेदकर के शब्दों में भूखे बालक को दूध न पिला कर उसे केवल थपकियें देकर सुलाने का दुष्प्रयत्न करने वाली चालाक धाय के कुकृत्य के बराबर थी। कांग्रेस आर्थिक दृष्टि से हीन दीन अन्त्यजों को माली राहत न देकर केवल देवदर्शन आदि के भुलावे में उलझाकर जहां उनको अपने राजनैतिक अधिकारों की ओर ध्यान न दे सकने की स्थिति में रखना अपने लिये हितकर समझती थी, वहां अपना पक्का वोटर भी बनाना चाहती थी।

उसके द्वारा सञ्चालित हरिजनोद्धार आन्दोलन के मूल में तो यह राजनैतिक कूटनीति काम करती थी, आर्य्यसमाज भी इस अवसर से लाभ उठाने में पीछे क्यों रहता ? झट दलितोद्धार के गीत गाने लगा। द्विजाति लोग तो आर्य्यसमाज को पोल भली भान्ति जान चुके थे। मुट्ठीभर अर्धनास्तिक बाबू लोगों को छोड़कर अन्य कोई उनके पंजे में नहीं फसता था। अतः जनेऊ गायत्री का प्रलोभन देकर बेचारे भोले भाले अन्त्यजों से चन्दा भी वसूल होने लगा और नए ग्राहक भी बढ़ने लगे। और यह सब धांधली मचाई जाने लगी स्वामी दयानन्द जी के नाम पर !

संसार में इस से अधिक जघन्य पाप का उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध होना कठिन ही है कि दिवंगत व्यक्ति के नाम पर उसके लेखों के प्रत्यक्ष विरुद्ध किसी आन्दोलन को खड़ा कर दिया जाए। हम पाठकों को अधिक उत्कण्ठित न कर के आर्य्य-समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थों के कतिपय उदाहरण नीचे देकर अपनी स्थापना को प्रमाणित करते हैं जिससे पता लग सकेगा कि उक्त समाज—असत्य का परित्याग और सत्य को ग्रहण करने के लिये सदैव तत्पर रहना।' अपने ही इस अन्यतम नियम का कितना पालक है :—

(क) (ब्रह्म समाजियों और प्रार्थना समाजियों ने) अंग्रेज यवन, अन्त्यजादि से भी खाने पीने का भेद नहीं रक्खा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने पीने और जाति भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहां उल्टा बिगाड़ होता है। (सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३९८)

(ख) मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अन्त्यज जाति भेद हैं—ईश्वर कृत हैं। (स० प्र० एकादश पृ० ३९८)

(ग) खाना पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता। (स० प्र० पृ २८०)

(घ) (प्रश्न) कहो जी मनुष्य मात्र की की हुई रसोई खाने में क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मण से ले के चाण्डाल पर्य्यन्त के शरीर हाड़ मांस चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है वैसा ही चाण्डाल आदि के...(उत्तर) दोष है, क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के

शरीर में दुर्गन्धादि दोष रहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है पर चाण्डाल चाण्डाली के शरीर में नहीं। क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुवों से भरा हुवा होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डाल आदि नीच भंगी चमार आदि का न खाना।

(स० प्र० समुल्लास १० पृष्ट २८३)

(ङ) भला जब कोई तुम से पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है वैसा ही अपनी स्त्री का भी हैं तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्व स्त्री के समान बर्तेंगे ?...जैसे उत्तम अन्न हाथ से और मुख से खाया जा सकता है तो क्या मलादि भी खाओगे। (स० प्र० पृ० २८३)

(च) आर्य्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें...परन्तु मुख बांध के बनावें। क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुवा श्वास भी अन्न में न पड़े।

(स० प्र० पृ० २७९)

(छ) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला (हवन करे)' (संस्कारविधि सामान्य प्रकरण पृ० २४)

(ज) 'शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुवा अन्न आपत्काल के बिना न खाए।' (स० प्र० पृ० २७९)

(झ) (प्रश्न) एक साथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं? (उत्तर) दोष है, क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्टी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है वैसे ही दूसरे के साथ खाने

में भी कुछ बिगाड़ ही होता है सुधार नहीं। (स० प्र० पृ० २८२)

आर्य्यसमाज के मान्य ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रमाणों की विद्यमानता में—जिन में कि उक्त मत के प्रवर्तक ने खुले बन्दो अन्त्यजों की कौन कहे—शूद्रों के भी मुख से निकले स्वासों और उनसे छुई हुई वायु तथा अग्नि तक को भी अस्पृश्य घोषित किया हो— कौन व्यक्ति दयानन्दी होने का दम भरने वाला इन महाशयों को अस्पृश्यता सिद्धान्त का प्रतिपक्षी मान सकता है। गोप नापित आदि जिन सत् शूद्रों को धर्मशास्त्र सर्वथा स्पृश्य मानता है और व्यवहार में भी यत्रतत्र-सर्वत्र न केवल उनका जल मात्र ही ग्रहण किया जाता है अपितु द्विजातियों के घरों में वे बेरोक टोक प्रविष्ट होकर झाड़ू बुहारी लेपन परिमार्जन आदि सब सेवाएं करते हैं, तब दकियानूस दयानन्दी तो उनके श्वास की वायु की छूत से बचने के लिये बेचारे गरीबों को नाक मुंह पर कपड़ा बांधने का आदेश देकर 'नाकों दम' ही कर डालते हैं, जिसे किसी भी दृष्टि से मानवता नहीं कहा जा सकता ?

अछूत 'उधार' बनाम अछूत 'नकद'

दयानन्दियों की दलितोद्धार सभा के उपदेशक अक्सर कहा करते हैं कि "आर्य्यासमाज तो अछूत उधार करता है पर सनातनधर्म्मी अछूत उधार कुछ नहीं करते।" एक बार यही बात जब एक संस्कृतानभिज्ञ मूसलचन्द भजनोपदेशक ने उपर्युक्त ग्राम्यभाषा में एक देहात में मुझसे कही तो मुझे उसके 'आर्य्या समाज' और 'उधार' उच्चारण पर हँसी आ गई। दयानन्दी समाज के भजनोपदेशक बड़े 'बेधड़क' होते हैं। लज्जा और

शिष्टता को तिलाञ्जली दे चुकने पर ही तो उनकी उपर्युक्त पदवी सार्थक होती हैं, अतः वह महाशय हमारी मुस्कराहट का अर्थ—'उत्तर न दे सकने की दशा में हँस कर टालना'—लगा कर तापक से बोल उठे कि 'पन्डजी महाराज ! हँसने से काम नहीं चलेगा, जबाव द्यो !' मुझे कुछ और भी विनोद सूझा, मैंने कहा—महाशय जी ! आर्य्य समाज तो अछूतों का उधार ही करता है सनातनधर्म्मियों के यहां उधार खाता न होने के कारण वे अछूतों का 'नकद' करते हैं ! अब आप ही बतलाओ कि उधार अच्छा होता है या नकद!! देहाती श्रोता चारों ओरसे एक स्वर में वोल उठे कि 'म्हाराज ! उधार तै तो नकद ही सौदा खरा हो सै। म्हारे देश में कहावत चली आवे के 'तेरां धार ते नौ नगद अच्छे। पर न्यू भताओ समाजी धार क्यूकर करैं, होर तम्ह नगद क्यूक्कर करो !'

मैंने कहा 'भई ! अब जरा ध्यान धर कै सुनल्यो ! समाजी लोग तो अछूतों के गले में एक धेले की रुई का बना हुवा डोरा घाल सवा रुपया गुरु दक्षिणा का उन से वसूल कर लेते हैं और उनके गाढ़े खून पसीने से कमाए हुवे बच्चों के मुंह से तोड़ कर बचाए हुवे दो चार रुपयों का हलवा लड्डू मँगवा कर खा जाते हैं, बोलो इस से बेचारे अछूतों को क्या लाभ हुवा ? यदि ये लोग अछूतों को धोती लंगोटी देते तो उनके काम में आती। अर्ध नग्न अवस्था में जीवन बिताने वालो दरिद्र हरिजनों की बहू बेटियों की लाज ढंपती। बतलाओ अब इस सूत के डोरे का वे क्या बनाएं। न ये नीचे बिछाने के काम में आ सकता है न ऊपर ओढ़ने के ! यह तो सिर्फ पीठ पर घूमती

हुई जूँ और लीखों के लिये जरनैली सड़क का काम दे सकता है, इसके सहारे २ वे आगे पीछे के जितने चाहे चक्कर काटती रहें। समाजियों को अनोखा व्यापार मिल गया एक अधेले के सूत का सवा रुपया बट गया, इतना मुनाफा दुनिया भर के अन्य किसी धन्धे में नहीं मिल सकता, साथ में खाने को हलवा मांडा मुफ्त में। बोलो यह अछूतों का उद्धार हुवा या समाजी फक्कड़ों का? अछूत बेचारे तो उधार खाते में ही रह गए उनको क्या मिला? उल्टा दो चार रुपये का दण्ड शिर पर पड़ गया!'

श्रोतार उचुः—'ठीक सै, ठीक सै। पर ईब थम भताओ! थम नगद के करो।' मैंने कहा सुनो—हम चर्म्मकारों को अपने मृतपशु मुफ्त देते हैं, जो अन्य किसी भी देश में नहीं दिये जाते। भङ्गियों को नित्य अपने भोजन का पका पकाया कुछ अंश और शीतला माताओं को अर्पण किये गए पूड़े, कचौड़ी, गुलगुले आदि नाना उपहार देते हैं। यह भी केवल भारतीय सनातन प्रथा है। प्राचीन प्रथावादी एक हिन्दू के यहाँ कभी बेटा बेटी का विवाह हो तो भूठन में मणों मिठाई उनको मिल जाती है। विवाहों में रुपये पैसों को वर बधू पर बखेर करते हैं। 'बाड़ा देने' के नाम पर अमुक रकम देकर भङ्गी आदि अधिकारियों की हाँडी में नमक डालते हैं। जैसे प्रत्येक हिन्दू घर के साथ एक ब्राह्मण, पुरोहित के रूप में सम्बद्ध रहता है और उसकी जीवन यात्रा यजमानों के द्वारा प्राप्त आजीविका से चलती है इसी प्रकार प्रत्येक घर के साथ एक २ भङ्गी, चमार आदि कर्म्मीण सम्बद्ध रहते हैं उन्हें भी 'घर का चमार' और 'घर का भंगी' बोला जाता है। उनको जहाँ विवाहादि उत्सवों के समय खान पान

आदि उपहार और निश्चित रकम पञ्चायतों द्वारा 'लाग' के नाम पर प्रदान की जाती है वहां साधारण किसान तक भी प्रत्येक फसल पर कट हुवे अन्न के 'गैरे' और 'मुट्ठियें' देते हैं तथा खलिहान उठ जाने पर चरी भूसा आदि घास का नियत भाग और अन्न का भी एक निश्चित भाग प्रदान करता है।

पुरानी प्रथा के अनुसार अन्त्यज भाई सवर्णों से एक पारिवारिक व्यक्ति की भांति सदैव सम्बद्ध रहते हैं। परन्तु ये आज के सुधारक लोग 'शर्मा शू फैक्टरी' और 'वर्मा शू फैक्टरी' के नाम पर जूतों की दुकान खोलकर स्वयं तो मालामाल हो जाते हैं परन्तु चर्मकारों के पेट पर लट्ठा मारते हैं। अत्याचार पूर्ण ढंग से मारे काटे जीवित पशुओं के 'क्रोम-काफ लैदर' चमड़ों से बने लचकीले बूट, जूते बेचकर जहां देश के गोधन के विनाश को प्रोत्साहन देते हैं वहां मृत पशुओं के चमड़े से तैयार होने वाले देशी जूतों के प्रचलन में बाधा उपस्थित करके करोड़ों देहाती चर्म्मकारों को भूखा मारते हैं। दयानन्दी अनाथालयों में बैण्ड-बाजा सिखाकर भङ्गियों के परम्परागत बाजा बजाने के व्यवसाय पर डाका डालते हैं। बोलो! हम नकद करते हैं कि नहीं?

श्रोतार ऊचुः—'सच्ची कहो सो म्हाराज ईब! म्हारो समझ में सारी बात आगी' बस फिर क्या था, देहाती लोगों ने काना फूंसी करके—कल जो पीले २ जनेऊ पहने थे सो अपने २ गले में से निकाल निकाल कर समाजी भजनीक को मेज पर ढेरी लगा दिये और बोले—'म्हाशा जी! ले अपनी जुम्माँ की 'गोहरी' संभाल! सवा रपैया तो म्हारा खाया खप्या, तेरे बाप दादे का होया!! बस, ईब धौले बोज्या! फेर कदी म्हारे गाम की सीमा मैं पैर नाँ धरिये!'

समाजी महाशय, देहातियों से त्रस्त होकर अपनी ढोलक खड़ताल बगल में दबाकर रफू चक्कर हुवे।

इस्लाम और छुवाछूत

कहने को तो मुसलमान यह घोषणा करते हैं कि इस्लाम में छुवाछूत का नामोंनिशां तक नहीं, परन्तु वस्तुतः व्यवहार में जितनी छुवाछूत वर्तमान मुसलमानों में देखी जाती है उतनी अन्य किसी फिर्के में नहीं। पहिले तो इसका अपरिहार्य्य प्रमाण जनगणना का वह हिदायत नामा है जिसमें कि पूरी ७२ नव मुस्लिम कही जाने वाली जातियों को 'रजील' अर्थात्—अछूतों के खाने में अंकित करने का नियम विद्यमान है। अंग्रेजी शासन की अन्तिम जनगणना—जो कि सन् १९४० ईस्वी में हुई थी—तक ७२ मुस्लिम जातियों को जन्मना 'रजील' लिखा जाता रहा। पंजाब के मुस्लिम भंगी 'मुसल्ली' नाम से प्रसिद्ध थे और वे हिन्दु भंगियों की भान्ति ही मुस्लिम समाज में अछूत समझे जाते थे। रोटी बेटी की कौन कहे—तकियों, खानगाहों, मकबरों और मस्जिदों के अतिरिक्त सामूहिक नमाजों तक में भी वे अन्यान्य मुसलमानों के साथ मिल कर उपासना नहीं कर सकते थे। न्यूनाधिक यही दशा प्रायः भारत के अन्यान्य प्रान्तों की है। शीया और सुन्नी कहे जाने वाले प्रसिद्ध मुस्लिम थोक तो एक दूसरे को 'रजील' अछूत मानने में इतने आगे बढ़े हुवे हैं कि वे जीवन काल की कौन कहे—मर जाने पर भी अपने मुर्दे को एक दूसरे के कबरिस्तान में नहीं गाड़ते।

परहेजगार मुसलमान, सिक्ख जाति का छुवा जल तक पीने में भी गुरेज करते हैं। क्योंकि सिक्ख झटका और सूकर का

मांस खाते हैं जो कि इस्लाम में 'हराम' = अभक्ष्य माना गया है। काश्मीर के तो मुसलमान भङ्गी तक भी किसी बड़े से बड़े साफ सुथरे वैष्णव हिन्दू का छूत्रा पवित्र भोजन, जल और धुला हुवा फल तक भी नहीं खा सकते—यह हमने स्वयं वहां यात्रा के समय देखा, पूछा और निश्चित किया।

ईसाइयों में छुवाछूत

कहने को तो सर्वभक्षी ईसाई भी अपने फिर्के में छुवा-छूत न होने की घोषणा करते हैं और जहां तक खान पान का सम्बन्ध है उनके निकट गाय और सूवर दोनों बराबर ही हैं। भारत और अन्यान्य देशों की अस्पृश्य जातियों को अपना राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिये ईसाइयत के नाम पर हजम कर लेने में भी वे देर नहीं लगाते, परन्तु वास्तव में इस फिर्के की धार्मिक और नैतिक मृत्यु हो चुकी है। विशप और लाट पादरियों के फतवे अब कागज के एक पुर्जे से अधिक कीमत नहीं रखते। धर्माचार्यों के यह चिल्लाते चिल्लाते भी कि 'यदि कोई दायीं गाल पर तमाचे मारे तो बदला न चुका कर बायीं गाल उसके आगे कर दो—इस मृत सिद्धान्त की दुहाई देने वाले ईसाई अब हिरोशिमा के प्रति-पक्षी सोलजरों को ही नहीं किन्तु निरपराध बालक, वृद्ध, रोगी, अबला, पशु, पक्षी और कीड़े मकोड़ों तक को भी परमाणु के बम के एक प्रहार से भस्मसात् कर डालते हैं। अतः अब इस फिर्के का दीन ईमान और असूल केवल राजनैतिक स्वार्थ साधन मात्र शेष रह गया है। धार्मिक सिद्धान्त की मान्यता की दृष्टि से इस फिर्के के सम्बन्ध में कुछ कहना प्रायः व्यर्थ है, परन्तु सभ्य शिरोमणि होने का दम भरने वाले

अमेरिकन ईसाइयों की काली करतूतों का भांडा उस समय फूट जाता है जब की वे अमेरिका के आदिमनिवासी रैड इन्डियनों को केवल रंग भेद के कारण जन्मजात अस्पृश्य मानकर सभी मानव अधिकारों से वंचित रख रहे हैं, एवं उनको छोटे से छोटे अपराध पर जीते जी जला डालने का अमानवीय 'लंच' नामक दण्ड देते हैं। दक्षिणी अफरीका के ईसाई योरपीय वस्तियों में किसी एक काले आदमी के प्रविष्ट हो जाने पर उसकी छाया मात्र से उस समस्त भाग को नापाक समझते हैं। हम पीछे कह आए हैं कि आज दिन ईसाइयों में धार्मिक दृष्टिकोण का कोई महत्त्व नहीं किन्तु राजनैतिक दृष्टिकोण ही आज उनका सर्वोपरि ध्येय है, ऐसी दशा में कोई भी बुद्धिमान् अब डंके की चोट कह सकता है कि हिन्दुवों में यदि घृणा से सर्वथा अस्पृष्ट विज्ञान-मूलक धार्मिक अस्पृश्यता विद्यमान है तो ईसाइयों में सर्वथा घृणा-मूलक केवल बाह्य रंग पर आधारित राजनैतिक-अस्पृश्यता उग्ररूप में विद्यमान है।

बौद्ध और छुवाछूत

छुवाछूत के प्रसङ्ग में वर्तमान कथित बौद्धों का जिक्र करना तो वैसा ही है जैसा कि तिल खा सकने के प्रसङ्ग में तिल छँड़ों सहित खा डालने वाले 'देवानां प्रिय' का नाम लेना। जो कथित बौद्ध चूहे, चिउँटे, सर्प, छिपकली, एवं अपने मुर्दा सम्बन्धियों तक के मांस को खा सकते हैं उन सर्वभक्षी बौद्धों का स्पर्शास्पर्श-विवेक विषय में स्मरण करना हास्यास्पद ही है। कदाचित् कोई महा पण्डित (?) अपने इस पतन को भी प्रगतिशीलता का अन्यतम उदाहरण मानकर गर्व अनुभव करता

हो तो इस भाग दौड़ में भी हमारे मियां कुतुबुद्दीन और सर सूकर उनसे कहीं अधिक प्रगतिशील सिद्ध होंगे जो कि संसार भर की जूठी पत्तलें चाटने में और गोबर ही नहीं किन्तु 'नरवर' तक भक्षण करने में भी आगा पीछा नहीं ताकते ! निश्चित ही राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण गुप्त ने नीचे लिखी पंक्तियें ऐसे ही सर्वभक्षी लोगों को लक्ष्य करके लिखी हैं :—

केवल पतंग विहंगमों में जलचरों में नाव ही ।
इक भोजनार्थ चतुष्पदों में चारपाई बच रही ॥

विज्ञान की खोज में मानव रक्त की पाँच श्रेणी

विगत प्रथम महायुद्ध के दिनों में घायल हुवे कुछ ऐसे सेना नायकों को—जिनका की जीवन राष्ट्र के लिये अत्यन्त बहुमूल्य समझा जाता था—जीवित रख सकने के लिये एक नई चिकित्सा प्रणाली को अपनाया गया जो कि अब से पूर्व प्रचलित न थी। वह प्रणाली थी कि घायल=रक्तहीन मनुष्य के शरीर में अन्य स्वस्थ व्यक्तियों का रक्त यन्त्र द्वारा प्रविष्ट कर दिया जाए। 'रक्तं जीव इति स्थितिः' इस आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार वर्तमान पाश्चात्य चिकित्सकों का भी यह निश्चित मत है कि स्वस्थ रक्त का अभाव ही मृत्यु का मुख्य हेतु है। तदनुसार कल्पना की गई कि यदि यान्त्रिक क्रिया द्वारा स्वस्थ पुरुषों का रक्त मुमूर्षू व्यक्ति के शरीर में पहुंच जाये तो उसे मरना नहीं चाहिए। इसी आधार पर उक्त उपचार किया गया, परन्तु परिणाम यह निकला कि इस चिकित्सा से लाभ बहुत कम व्यक्तियों को पहुंचा, उल्टा अधिकांश व्यक्तियों पर विष-भक्षण

जैसी प्रतिक्रिया दीख पड़ी। नया रक्त डालते ही वे अच्छा होने के स्थान पर तत्काल मर गए।]

महायुद्ध समाप्त हो जाने पर रक्त-प्रवेश-चिकित्सा-प्रणाली पर पुनः अधिक अनुसन्धान आरम्भ हुवे। 'यदि रक्ताभाव ही मृत्यु का हेतु है तब नवीन रक्त पहुंचाने पर भी अधिकांश व्यक्ति क्यों मरते हैं?' इस तत्त्व की खोज की गई।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० अब्रामुस महोदय ने लम्बा अनुसन्धान करने के अनन्तर विज्ञान जगत् को बतलाया कि वास्तव में विशुद्ध रक्त की मुख्यतया पांच श्रेणियें हैं। यदि समान श्रेणी के दो रक्त मिलते हैं तो वे रक्त-कीट एक दूसरे से मिल-जुलकर सहयोग पूर्वक जीवन प्रवाह को प्रगतिशील बनाने में समर्थ होते हैं, परन्तु असमान श्रेणी के दो या इससे अधिक रक्तों को मिलाया जाए तो वे रक्त के कीट एक दूसरे के प्रतिकूल हलचल करते हुवे जीवन-प्रवाह को निरुद्ध कर देते हैं और अन्त में विषभक्षण जैसी प्रतिक्रिया से स्वयं समाप्त होकर मुमूर्षु की मृत्यु को भी सम्भावना से पूर्व ला खड़ी करते हैं। उक्त महाशय ने रक्त परिक्षार्थ जिन २ यन्त्रों का अविष्कार किया उनमें मुख्य यन्त्रों के नाम Oscilloscope, Oscillometre, Oscillogram आदि हैं।

इनमें से 'ओसलो स्कोप' में घड़ी के लटकन की भान्ति मध्य में 'पैण्डुलम' रहता है। समान श्रेणी के दो रक्तों को इसके निश्चित स्थानों में भर देने पर वह शनैः २ आकृष्ट होकर ज्यों ही मिलते हैं कि 'पैण्डुलम' प्रगतिशील हो जाता है। परन्तु विषम श्रेणी रक्तों के भर देने पर वह एक बार तो झंझावात की

भान्ति सहसा प्रगति में आ जाता है परन्तु फिर शनैः २ निश्चेष्ट हो जाता है।

जर्मनो के भाग्य-विधाता नाजियों ने अपने शासन काल में उक्त रक्त-विज्ञान के आधार पर ही अपने देश का 'आर्यकरण' आन्दोलन आरम्भ किया था, जिसमें यहूदियों का सामाजिक बहिष्कार या देश-निष्कासन जैसा उग्र कदम भी एक अंग बनाना पड़ा था।

वहाँ विशुद्ध रक्त-परम्परा प्रणाली की रक्षा का अमोघ उपाय (जन्मना वर्ण व्यवस्था का अस्तित्व) विद्यमान नहीं था अतः तत्कालीन जर्मन सरकार ने अगत्या कानून द्वारा उक्त प्रणाली का सूत्रपात किया। विवाहेच्छु वर-कन्याओं का विवाह से पूर्व रक्त-परीक्षण आवश्यक नियत किया गया। उक्त रक्त परीक्षण में जिनका रक्त समान कोटि का प्रमाणित हुआ वे ही परस्पर दाम्पत्य-जीवन में आबद्ध हो सकने योग्य माने गए। विशुद्ध जर्मन रक्त परम्परा के अभिमानी नाजियों ने अजर्मन नस्ल के लोगों से विवाह सम्बन्ध करना कानूनन अपराध घोषित कर दिया।

यहां यह प्रकट कर देना अनावश्यक न होगा कि आज जिन 'परमाणवीय' अस्त्रों पर अमेरिका या रूस आदि देश अभिमान कर रहे हैं उनका मूल आविष्कारक जर्मनी ही है। इसी तरह अन्यान्य अनेक आविष्कार भी प्रायः जर्मनी की ही देन हैं। शायद यह कह देना अत्युक्ति न होगी कि आज का वैज्ञानिक जगत् जितना जर्मन वैज्ञानिकों का ऋणी है उतना अन्य किसी देश का नहीं। ऐसो स्थिति में अन्य देश जर्मनी के लोहा लक्कड़ सम्बन्धी

भौतिक-विज्ञान से तो लाभान्वित होने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु उसके रक्त पर आधारित विशुद्ध नस्ल-संरक्षण विज्ञान पर कुछ भी ध्यान नहीं दे रहे हैं-यह मानव समाज के लिये कितने दुर्भाग्य की बात है।

उक्त रक्त परीक्षण में रक्त की जिन पांच श्रेणियों का पता चला है, उनका वैशिष्ट्य इस प्रकार प्रकट किया गया है।

(१) शान्त कोमल श्वेतकीट प्रधान (२) प्रगतिशील उग्र-रक्तिम कीट प्रधान (३) प्रगतिशील कोमल कीट प्रधान (४) अस्थिर उग्र धूमिल कीट प्रधान और (५) अस्थिर उग्र कृष्ण कीट प्रधान।

अब कोई भी विचारशील व्यक्ति उपर्युक्त श्रेणी बन्धन के आधार भूत वैशिष्ट्य का मनन करने पर यह सहज में अनुमान कर सकता है कि वैदिक विज्ञान में इन्हीं पांचों श्रेणियों का नाम करण विभिन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज हुआ है। रक्त के जिन श्वेत, रक्त, पीत धूमिल और कृष्ण वर्णों का वैज्ञानिकों ने पता चलाया है, हमारे ग्रन्थों में भी ब्राह्मणादि वर्णों का गौर, रक्तिम, पीत, धूम्र और कृष्णवर्ण होना तथैव वर्णित है। वास्तव में तो 'वर्ण व्यवस्था' शब्द में ब्राह्मणादि को 'वर्ण' कहने का अभिप्राय ही तादृश रंग का संकेत करना है। कुछ मूर्ख लोग कल तक ब्राह्मणादि वर्णों की ऊपरी चमड़ी का तादृश रंग निश्चित रूप से न देखकर शास्त्र वर्णित रंग रहस्य का उपहास किया करते थे, परन्तु अब नवीन विज्ञान ने जब गोरे काले सभी रंग के मनुष्यों के रक्त कीटों को विभिन्न रंग का प्रकट कर दिया है तो उनकी नानी सी मर गई है। ऊपर की चमड़ी शीतोष्ण-प्रधान देश की जलवायु के कारण चाहे

तत्तद् देशीय लोगों की समान ही होती हो—[जैसे बंगाल, उड़ीसा और मद्रास आदि प्रान्तों के—ब्राह्मणों का कृष्ण वर्ण होना और पंजाब तथा काश्मीर देश के शूद्रातिशूद्रों का भी गौर वर्ण होना] परन्तु उनके रक्त कीट प्रायः स्व स्व वर्णानुसार अमुक रङ्ग के ही होने आवश्यक हैं। हो सकता है यत्रतत्र गुप्त व्यभिचार जन्य अपराध के कारण विशुद्ध रक्त परम्परा दूषित हो गई हो और इस तरह सवर्णों में भी स्ववर्णोचित रक्त कीट उपलब्ध न हों परन्तु यह सहैतुक अपवाद ही हो सकता है। इस से ब्राह्मणादि वर्णों के तादृश रक्त कीट होने के सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

विवाह सवर्ण में ही आवश्यक क्यों ?

शास्त्र का सिद्धान्त है कि—

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।

(याज्ञवल्क्य स्मृतिः)

अर्थात्—समान वर्ण के पुरुष से समान वर्ण की स्त्री में समुत्पन्न सन्तान ही सजाति होती है–यह क्यों ? इसका विवेचन नीचे की पंक्तियों में किया जाता है।

अब जब कि वर्तमान विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि विभिन्न श्रेणी के दो रक्तों के संमिश्रण का परिणाम जीवन प्रवाह का विघात होता है तब परम्परा-गत आध्यात्मिक गुणों के विकास पर उसका कितना कुप्रभाव पड़ सकता है–यह कोई भी विचारशील सहज में ही अनुमान कर सकता है। यही कारण है कि आज इस भौतिक-उन्नति-प्रधान युग में भी भौतिकता

की चकाचौंध से चुन्धियाया हुवा अशांत एवं श्रांत मानव जब अपने जीवन का चरम लक्ष्य ढूंढने की चिन्ता में व्यग्र हो उठता है, तब वह अपने भोग प्रधान ऐश्वर्य सम्पन्न देशों को छोड़कर कर्म प्रधान भारत भूमि की ओर ताकता है और यहां हिमालय की उपत्यकाओं की खाक छानता हुवा अन्त में किसी न किसी ऐसे गुरु को ढूंढ ही लेता है जो कि उसे आध्यात्मिक मार्ग का पथिक बना सकने में सहायक सिद्ध हो जाता है।

यह विशेषता अभी तक भारत में ही क्यों है? जब कि अन्यान्य देश भौतिक-विज्ञान की उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हैं फिर इस दिशा में वे अभी कोरे क्यों हैं? इन प्रश्नों का सीधा उत्तर यही है कि सौभाग्य-वश एक मात्र भारतवर्ष में ही आदि सृष्टिकाल से लेकर अभी तक जन्म-प्रधान वर्ण व्यवस्था के नाम पर मानव रक्त की पांचों धाराएँ अविच्छिन्न रूपेण परम्परा से सुरक्षित चली आ रही हैं। इस लिये यहां शांत-कोमल-श्वेत-कोट प्रधान रक्त शाखा का प्रतिनिधित्व करने वाले अध्यात्म विद्या पारङ्गत तपस्वी ब्राह्मण अब भी उपलब्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य रक्त-धाराओं के प्रतिनिधि भी भारत में ही प्राप्य हैं। अन्य देश यूँ तो आरम्भ से ही भोग भूमि रहे हैं परन्तु अब तो वे और भी विलासता के अड्डे बन गए हैं। अतः वहां वर्णसांकर्य्य का अत्यधिक बोलबाला है इसीलिये वहां के मानवों की आध्यात्मिक मृत्यु हो चुकी है। सो यदि भारत की यह विशेषता सुरक्षित रखनी अभीष्ट है तो यहां असवर्ण विवाह जैसी कुप्रथा को जन्मने और पनपने नहीं देना चाहिये। अन्तर् जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय विवाह प्रथा का निश्चित परिणाम

यही हो सकता है कि यहां भी सांकर्य्य उपप्लुत समाज की अभि-वृद्धि हो और विश्व की बची खुची आध्यात्मिकता का विनाश होकर मानवता नाम की वस्तु केवल पोथियों के पन्ने मात्र में पढ़ने की सामग्री अवशिष्ट रह जाए।

सगोत्र विवाह निषिद्ध क्यों ?

जैसे असवर्ण विवाह निषिद्ध है इसी प्रकार शास्त्र में सगोत्र और सपिण्ड विवाह का निषेध है यथा—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

(मनुः ३। ५)

अर्थात्—जो माता की छः पीढ़ी में न हो तथा पिता के गोत्र में न हो ऐसी कन्या द्विजातियों में विवाह के लिये प्रशस्त है।

सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के जिन मानसिक पुत्रों से मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ हुआ वे महर्षि मुख्यतया गोत्र प्रवर्तक माने गये। आगे चल कर उनके पुत्र और शिष्य भी इसी श्रेणी में परिगणित हुवे। कई पुत्रों और शिष्यों–दोनों ने ही समान रीति से अपने पिता और गुरु का नाम मूल गोत्र प्रवर्तक रूपेण स्वी-कार किया, जैसे उदाहरणार्थ भारद्वाज और कौशिक गोत्र का नाम उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु समान गोत्र होते हुए भी पिता का रक्त सम्बन्ध तो केवल औरस पुत्र से ही हो सकता था, भिन्न पिता की सन्तान होने के कारण स्वशिष्य से तो नहीं। ऐसी दशा में समान गोत्र में भी औरस और अनौरस भेद के ज्ञापनार्थ प्रवरों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार एक ही गोत्र के

कई २ प्रकार के प्रवर नियत हुए। वैज्ञानिक रीति से जैसे अत्यन्त विजातीय असवर्ण से विवाह सम्बन्ध करने का निषेध है वैसे ही अत्यन्त सजातीय समान गोत्र और समान प्रवर से भी विवाह सम्बन्ध करना वर्जित है। स्ववर्ण की—किन्तु स्वगोत्र और स्व-प्रवर की नहीं—कन्या से ही विवाह सम्बन्ध करना शास्त्र सम्मत है।

समान गोत्र में भी प्रवर भेद से कई गोत्रों में परस्पर विवाह सम्बन्ध की परम्परा शिष्ट सम्मत है। जैसे कौशिक गोत्र के तीन प्रकार के प्रवर 'प्रवराध्यायी' में प्रसिद्ध है। (१) कौशिकात्रि-जमदग्नयस्त्रयः प्रवराः— (२) उतथ्यविश्वामित्रदेवारातस्त्रयः प्रवराः (३) अघमर्षणविश्वामित्रदेवरातस्त्रयः प्रवराः। इनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार भारद्वाज गोत्र में भी प्रवर भेद से विवाह सम्बन्ध प्रचलित है। विस्मृत गोत्र व्यक्तियों का 'कश्यप' गोत्र माना जाता है। यदि उभयपक्षों में ही विस्मरणापन्न 'कश्यप' गोत्र हो तो वह समान कोटि में परिगणित होकर विवाह सम्बन्ध में बाधक नहीं माना जाएगा। उक्त सब व्यवस्था की मीमांसा अपने आप न करके किसी विशेषज्ञ विद्वान् द्वारा ही करणीय है, क्योंकि साधक बाधक समस्त प्रमाणों का समन्वय किये बिना मनमाना आचरण कर बैठना प्रत्यवाय का हेतु है।

'विवाह स्ववर्ण में हो, परन्तु स्वगोत्र में न हो' इसका वैज्ञानिक हेतु यही है कि विजातीय सम्पर्क से दोनों वस्तुओं के गुण नष्ट होकर नवीन विकृति का प्रादुर्भाव होता है और अत्यन्त सजातीय संपर्क से मूल वस्तु में कुछ भी विशेषाधान नहीं होता।

जैसे—यव, गुड़ और बबूर का कस-इन तीन विभिन्न विजातीय द्रव्यों के मिश्रण से मादक शराव का प्रादुर्भाव होता है, अथवा घृत, मधु जैसे उत्तमोत्तम स्वादिष्ट दो विजातीय द्रव्यों के सम-मिश्रण से भी प्राण-घातक विष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। अत्यन्त सजातीय दूध को दूध में ही मिलाने पर कोई वैल-क्षण्य उत्पन्न होने का अवसर नहीं आता परन्तु सजातीय किन्तु विषम दो द्रव्यों के संमिश्रण से दोनों मूल द्रव्यों के गुण का अतीव विकास प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जैसे दूध में तनिक सी तक्र का संमिश्रण उसे दही में परिणत करके तद् व्यापक मक्खन कणों को एकत्र संघटित हो जाने की योग्यता का विशेषाधान कर देता है, ठीक इसी प्रकार असवर्ण विवाह का परिणाम मद्य की भांति विकार-मूलक और सगोत्र विवाह का परिणाम समान दूध के मेल की भांति अनुन्नति कारक होता है, परन्तु सवर्ण असगोत्र विवाह का परिणाम औटे हुए दूध में मठे के संयोग से नवनीत प्रसव की भांति दम्पति के परम्परागत गुणों का विकाशक होता है।

विवाह सम्बन्ध का सीधा सूत्र यही है कि न विजातीय से यौन सम्बन्ध हो और नां ही अत्यन्त सजातीय से। किन्तु सवर्ण असगोत्र का यौन सम्बन्ध ही शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के मानव जीवन की स्थिति का स्थापक हो सकता है। भारतेतर देशों की जातियें जहां उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होकर भी कतिपय शताब्दियों में ही सदा के लिये समाप्त हो जाती हैं वहां संसार की आदिम जाति कही जाने वाली हिन्दू जाति अन्यून दो अर्ब वर्ष से संसार में अपना अस्तित्व स्थिर रख रही है और जब तक आगे भी विशुद्ध रक्त संरक्षण की 'स्ववर्ण असगोत्र विवाह संस्था'—यह प्रणाली

सुरक्षित रहेगी तब तक यह जाति अपने अस्तित्व को स्थिर रखने में समर्थ रहेगी ऐसी आशा है।

आशौच विचार

किसी मनुष्य का जन्म या मृत्यु होने पर तत् सपिण्डों और सगोत्रों को अमुक दिन तक 'जनन-आशौच', और 'शाव-आशौच' प्राप्त होता है—शास्त्रों की यह व्यवस्था भी रक्त सम्बन्ध पर स्थिर है। अतः प्रसङ्गात् यहां इसका उल्लेख करना भी सावसर होगा।]

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
जननेप्येवमेव स्यात्........

(मनु ५। ५९-६१)

अर्थात्—आशौच छः पीढ़ी अभ्यन्तरवर्ती सपिण्ड सम्बन्धियों को मुख्यतया दश रात का लगता है और आगे की पीढ़ियों में वह घटता हुआ दशम पीढ़ी के सगोत्रों को स्नान मात्र का रह जाता है। मन्वादि स्मृतियों में और 'निर्णय-सिन्धु' 'धर्म-सिन्धु' आदि प्रबन्धों में इसकी इयत्ता की उहापोह द्वारा विस्तृत मीमांसा की गई है जिसका उल्लेख यहां अनावश्यक है परन्तु आशौच क्या है? और वह सम्बन्धिजनों पर क्यों लागू होता है? इस अंश की चर्चा यहां सापेक्ष्य है, सो की जाती है।

जैसे—रेडियो यन्त्र का प्रकम्पन, तत्सम्बद्ध भूमण्डल के समस्त यन्त्रों में ईथर तरङ्गों द्वारा तरङ्गित होता प्रत्यक्ष देखा

जाता है। आज के युग में इसके चमत्कार से शब्दों का आदान प्रत्यादान और चित्रों का आदान प्रत्यादान 'माइक्रोफोन' और 'टेलीविजन' यन्त्रों से सर्व विदित हो गया है। ठीक इसी प्रकार एक व्यक्ति की मृत्यु का प्रभाव तत्समान रक्त सम्भूत निकट सम्बन्धियों पर भी सूक्ष्म रूप से अवश्य पड़ता है—यह एक वैज्ञानिक रहस्य है।

नागवल्ली=पान का व्यापार करने वाले व्यक्तियों की यह साक्षी है कि जिस बेल के पान सुदूर देशों में भी पहुँच चुके हों संयोगवश यह बेल यदि मूल से कट जाए तो जहां २ उसके पान पहुंचे हैं वहां २ वे सब निश्चित रूप से गल जाएंगे। ऐसी दशा में ईमानदार थोक माल सप्लाई करने वाले व्यापारी अपने बंधे परचून ग्राहकों की उतनी ढोलियें मुजरे देने का व्यवहार बर्तते हैं। बहुत से जोड़ियां बालक दोनों जीवित रह जाते हैं परन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि उनमें से एक को अमुक रोग हो जाने पर दूसरे को वह तत्काल हो जाता है। फिर चाहे वह रोग संक्रामक किंवा असंक्रामक कैसा भी क्यों न हो! माता पिता के कुलज रोग पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर चलते रहते हैं और कुलज गुण भी वंश परम्परा में बराबर देखे जा सकते हैं।

इन सब प्रत्यक्ष उदाहरणों में रक्त का निकट सम्बन्ध ही हेतु माना जा सकता है। ऋषियों ने उस प्रभाव का विश्लेषण करके यह रहस्य निकाल डाला कि आखीर वह प्रभाव अधिक से अधिक किस पीढ़ी तक पड़ सकता है। तदनुसार यह निश्चित किया कि छ: पीढ़ी तक उनका पूरा प्रभाव रहता है फिर क्रमशः क्षीण होते २ दशवीं पीढ़ी में प्रायः समाप्त हो जाता है और

पीढ़ियों के नैकट्य और दौर्य्य के अनुरूप ही वह अधिक किंवा न्यून काल तक प्रभावित कर पाता है। तदनुसार सपिण्डों पर जहां अधिक से अधिक दस दिन तक वह प्रभाव रहता है वहां असपिण्डों पर पीढ़ियों की दूरी के अनुसार घटते २ स्नान मात्र तक सीमित रह जाता है।

विभिन्न वर्णों में असमान आशौच क्यों ?

जननाशौच की व्यवस्था सभी वर्णों के लिये अधिक से अधिक दश दिन की नियत की गई है और कई परिस्थितियों में देवपितृ-कार्य के अतिरिक्त अन्य व्यवहारों में जातक के माता पिता को छोड़ कर अन्य सपिण्डों और सगोत्रों को आशौच नियमों के पालन में स्वतन्त्रता भी दी गई है, परन्तु मरणाशौच की अवधि वर्णों की तारतम्यता के अनुरोध से न्यूनाधिक नियत है, यथा—

शुद्ध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यो पंचदशाहेन, शूद्रः मासेन शुध्यति ॥

(मनुः ४।८३)

अर्थात्—ब्राह्मण दश दिन में, क्षत्रिय बारह दिन में, वैश्य पन्द्रह दिन में और शूद्र एक महीने में शुद्ध हो जाता है।

यहां शास्त्र ने ब्राह्मण को जहां केवल दश दिन तक सामाजिक धार्मिक कार्य्यों के भार से उन्मुक्त किया है वहां कृपा भाजन शूद्र को पूरे एक मास की छूट देकर अनुगृहीत किया है। मनोविज्ञान के अनुसार यह स्वाभाविक है कि वेदवेत्ता विचार-

शील ब्राह्मण जहां दश दिन में मृतक के शोक को पार करके कार्यनिष्ठ हो सकेगा वहां सेवा आदि कार्य निरत शूद्र अपने अल्प-बोध के कारण महीने भर में शोक सागर को पार कर पाएगा। यही आशय क्षत्रियों और वैश्यों के आशौच काल के न्यूनाधिक्य में निहित है। जनन आशौच में केवल माता ही अधिकतया सूतक की पात्री मानी गई, पिता स्नान मात्र से शुद्ध हो जाता है ऐसा मनु का अभिप्राय है। राजा और राजपुरुष सद्यः शौच माने गए हैं, उनके लिये दश दिन का आशौच बंधन नहीं, क्योंकि प्रजा रक्षण का पुनीत कार्य उनका पावक है।

वर्णव्यवस्था का नियमन शासनाधीन हो।

बौद्ध विप्लव से पूर्व समस्त धार्मिक नियमों का नियमन शासनाधीन रहता था। बौद्धों ने अपना सब बल वर्णसंस्था के रक्षण के बजाय विनाश में लगाया। कई शताब्दियों तक वर्ण-संस्था केवल शासन के नियन्त्रण और संरक्षण से वंचित ही नहीं रही, अपितु बौद्ध शासक वर्ग की ओर से उसे समाप्त कर देने के लिये उचित अनुचित अनेक प्रहार भी किये गए। भगवान् स्वयं अपने अनुशासन का संरक्षण करते हैं तदनुसार उस संकट काल में भगवान् की कृपा से ही श्री आद्यशङ्कराचार्य, श्री यतीन्द्र रामानुजाचार्य आदि विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनके प्रबल प्रचार से पुनरपि वर्ण संस्था को प्रोत्साहन मिला। बौद्ध काल में जो लोग वर्णबाह्य-से हो चले थे उनका भी आगे पतन न हो एतदर्थ चार विशुद्ध वर्णों के अतिरिक्त तदन्तर्भूत अमुक जातियों का संघटन स्थिर किया गया, जिसका बाहुल्य आज भी जाति प्रथा के रूप में विद्यमान है।

बौद्ध काल के बाद दुर्भाग्यवश भारत में सार्वभौम सत्ता की परम्परा प्राय: क्षीण सी हो गई। यद्यपि बीच २ में विक्रम, भोज आदि प्रभावशाली धार्मिक शासक हुए उन्होंने अपने शासन काल में अन्यान्य धर्म नियमों के साथ २ वर्ण संस्था का भी भरसक संरक्षण और पोषण किया जिससे यह अभी जीवित चली आ रही है परन्तु यवन काल और अंग्रेज काल में पुनरपि इसे शासन का सामूहिक प्रोत्साहन न मिल पाया और आज भी वह अनाथ ही बनी हुई है। भविष्य में क्या होगा यह तो भगवान् ही जानें परन्तु मानव समाज का हित इसी बात में निहित है कि विशुद्ध रक्त धारा पर आधारित वर्ण संस्था के संरक्षण को विश्व का संरक्षण समझ कर उसे शासन का प्रश्रय प्राप्त हो। जब गाय, भैंस, सूकर और कूकरों तक की नस्लें सुरक्षित रखने का दायित्व सरकार लेती है फिर मानव नस्ल की रक्षा के प्रति उसकी इस प्रकार की उदासीनता कथमपि अनिन्दित नहीं कही जा सकती।

तादृश शासक के अभाव में धार्मिक क्या करें ?

दुर्भाग्यवश वर्ण संस्था के संरक्षण का भार जब तक भारत सरकार अपने हाथ में न ले, बल्कि अन्तर्जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों को प्रोत्साहन देने के लिये 'सिविल मैरिज ऐक्ट' और तलाक कानून जैसे कानून बनाकर इसे विनष्ट करने का आत्मघात करने पर तुली रहे, तब तक धार्मिक जनता को चाहिये कि वह इसके संरक्षण का दायित्व स्वयं संभाले। वर्ण ध्वंसक कानूनों का भरसक विरोध करे उन्हें कथमपि बनने न दे। कदाचित् सरकार लोकमत की उपेक्षा करके अपने पार्टी बल,

या सत्ताबल से उन्हें कथित कानूनी रूप दे भी डाले तो भी शान्तिपूर्ण ढंग से उनको ठुकराने की जोखम भी उठाने को तैयार रहे। वर्ण संस्था हिन्दु जाति के अस्तित्व का मूल आधार है इसका विनाश विश्व का ही विनाश है, अतः धार्मिक पुरुषों के लिये यह प्राणपण से भी सदैव संरक्षणीय है।

अहिन्दुवों में रक्त परीक्षण ही एक मात्रउपाय

भारतेतर देशों के अहिन्दु लोग जो कि शताब्दियों से वर्ण-संस्था का परित्याग कर के आध्यात्मिक रीति से मर ही चुके हैं—अपने पुनरुज्जीवन के लिये वर्णसंस्था का आश्रय लें। उनमें से कौन किस वर्ण का, आज यह जान सकने का अन्य कुछ आधार तो प्राप्त हो नहीं सकता क्योंकि शताब्दियों से अपने-अपने वर्णों से विछुड़े हुवे ये भाई सांकर्य्य परिप्लुत होते-होते आज कहां से कहां जा पहुँचे हैं इसका अनुसंधान कर सकना सर्वथा असम्भव है। परन्तु आज के युग में जैसे अन्यान्य भौतिक-साधनों से अमुक २ समस्या का हल करने की बात सोची जाती है इसी प्रकार वर्णसंस्था की पुनः स्थापना में भी यान्त्रिक सहायता ली जा सकती है। तदनुसार सब देशों की सरकारें ऐसे कानून बनायें जिनमें कि विवाह से पूर्व विवाहेच्छु वर और कन्याओं का रक्त परीक्षण अनिवार्य हो, और एक मात्र समान कोटि के रक्त वाले जोड़ों को ही दाम्पत्य-बन्धन का अधिकार नियत हो। आगे उनकी सन्तानें भी समान रक्त धारी जोड़े मिला कर ही यौन सम्बन्ध स्थापित करें। इस तरह यदि सात पीढ़ी तक यान्त्रिक सहायता से रक्त-परीक्षण करते २ जोड़े मिलाए जाएँ

तो आठवीं पीढ़ी में अमुक २ रक्त की एक २ विशुद्ध धारा का वर्ग निश्चित हो जाएगा।

हम पूर्व कह आए हैं, कि वर्तमान विज्ञान नें रक्त के मुख्य पांच प्रभेद निश्चित किये हैं। तदनुसार एक दिन समस्त संसार के मनुष्य पांच भागों में बँट कर 'पञ्चजन' बन सकते हैं। फिर उन भागों के नाम प्राचीन रीति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज रखिये चाहे जन्म गुण कर्म और स्वाभावानुसार अन्य नामों की कल्पना कीजिये। यही एक प्रशस्त मार्ग है जिससे संसार में पुनरपि वर्ण-संस्था स्थिर हो सकती है और आज का मानव कहा जाने वाला 'जीवित शव' अपने शारीरिक जीवन के साथ २ मानसिक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता प्राप्त कर के एक बार फिर—'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' का अधिकारी बन सकेगा।

पतितों का पुनः संस्कार

जो मनुष्य किसी भी कारण से धर्मभ्रष्ट हो गए हों परन्तु वे पुनः अपने पातकों से उन्मुक्त होकर सनातन धर्म की शरण में आना चाहें शास्त्र में उनके लिये तादृशी सुव्यवस्था विद्यमान है। भूला भटका मार्गभ्रष्ट व्यक्ति पुनः निष्कण्टक मार्ग पर आरूढ़ हो यह बात पथिक और उसके अन्यान्य साथियों को भी सदैव अभीष्ट है; परन्तु किन हेतुवों से वह मार्गभ्रष्ट हुवा है और सही मार्ग से अब वह कितनी दूर निकल चुका है—इन बातों पर विचार करने पर ही उसके लिये उचित निर्देश निर्धारित किया जा सकता है। अतः शास्त्र में पातक की मात्रा के अनुसार

ही पातकी के लिये प्रायश्चित्त का विधान विद्यमान है। सनातन धर्म में न सब को एक ही लाठी से हांकने की अव्यवस्था है और नांही सब धानों को बाइस पंसेरी के भाव से बेचने की धांधली प्रचलित है। किन्तु जिससे जितनी भूल हुई है और अभक्ष्य भक्षणदि दोषों के कारण उसके शरीर, मन और आत्मा पर जितना दुष्प्रभाव पड़ा है तदनुसार ही वैज्ञानिक पद्धति से देश, काल, पात्र की योग्यता देख कर उसके लिये सरल से सरल और कठिन से कठिन प्रायश्चित्त का निर्णय किया जाता है। जैसे कुछ रोग साध्य होते हैं, कुछ कष्टसाध्य होते हैं और कुछ असाध्य भी होते हैं, ठीक इसी प्रकार पतितों की दशा के अनुरूप प्रायश्चित्त भी तत्काल-करणीय, चिरकालापेक्षित और सर्वथा अकरणीय हो सकता है। जैसे कुछ प्रसंग नीचे अङ्कित किये जाते हैं।

१
बलाद् धर्मभ्रष्ट तत्काल-ग्राह्य

राजदण्ड मृत्युदण्ड आदि का भय दिखा कर जिन लोगों को धर्मभ्रष्ट किया गया हो—उनके संसर्गानुरूप गङ्गोदक, भगवच्चरणामृत, गोमूत्र किंवा पञ्चगव्य आदि पिला कर सरल प्रायश्चित्त द्वारा तत्काल हो पुनः स्वधर्म में परिगृहीत किया जा सकता है; क्योंकि बलात् धर्मभ्रष्ट व्यक्तियों के मन पर तो विधर्मियों के किसी कुसंस्कार की छाप लगती नहीं, उल्टा बलात्कार करने वाले विधर्मियों के प्रति उनके अत्याचार से घृणा का भाव ही बद्धमूल होता है। ऐसी स्थिति में शरीर मात्र पर बलात् किये गए दोष का परिहार भी सुकर पद्धति से ही हो जाता है। शास्त्र कहता है कि—

सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ।

(मनुः ८।१६८)

अर्थात्—मनु जी का आदेश है कि बलात्कार से किये गए सब कृत्य न किये गए ही समझने चाहियें।

बलाद् धर्मभ्रष्टा सगर्भा भी ग्राह्य

यदि दुष्ट विधर्मियों से बलाद् धर्मभ्रष्टा किसी स्त्री को गर्भ रह गया हो तो वह स्त्री भी धर्मशास्त्र-रीत्या परिस्थिति के अनुसार लघु गुरु यथायोग्य प्रायश्चित्त द्वारा पुनरपि तत्काल ग्राह्य है। शास्त्र की आज्ञा है कि--

स्वयं विप्रतिपन्ना या यदा वा विप्रतारिता ।।

बलान्नारी प्रभुक्ता वा चौरभुक्ता तथैव वा ।।

न त्याज्या दूषिता नारी न कामोऽस्या विधीयते ।

ऋतुकाले उपासीत पुष्पकालेन शुद्धयति ।

असवर्णैस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते ।

अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद् गर्भं न मुञ्चति

तदा सा शुध्यते नारी विमलं काञ्चनं यथा ।।

(अत्रि संहिता)

अर्थात्--परिस्थिति या अज्ञान वशात् आपत्ति में पड़ कर जो स्वयं भ्रष्ट हो गई हो, या छल करके बहकाई गई हो, जिसके साथ बलात्कार किया गया हो, जो चोरी से निन्दित अवस्था में

भोगी गई हो--ऐसी स्त्री त्याज्य नहीं हैं किन्तु उसके साथ तब तक संयोग न करे जब तक वह पुनः रजस्वला न हो। रजस्वला होने पर स्त्री शुद्ध हो जाती है। स्ववर्णातिरिक्त अन्य व्यक्ति के द्वारा बलाद् धर्मभ्रष्ट स्त्री के गर्भ रह जाय तो वह केवल तब तक अशुद्ध रहती है जब तक प्रसव नहीं होता। रजस्वला होने पर वह स्त्री शुद्ध होकर निर्मल स्वर्ण सदृश हो जाती है।

बलाद् धर्मभ्रष्ट स्त्री की सन्तान अग्राह्य क्यों?

बलाद् धर्मभ्रष्टा स्त्री तो पुनः स्वधर्म में पूर्ववत् ग्राह्य हो सकती है परन्तु विधर्मियों के वीर्य्य से समुत्पन्न बालक द्विजातियों में परिगृहीत नहीं हो सकता यह शास्त्र का सुनिश्चित सिद्धान्त है। मनोविज्ञान से उक्त परिस्थिति का विश्लेषण स्वयं कर सकने वाले पाठक तो शायद यहाँ 'क्यों ?' पूछने का कष्ट न करेंगे परन्तु सर्व साधारण शङ्कावादी मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि यह तो वही बात हुई कि 'गुड़ खाए और गुलगुलों से परहेज करे'। जब कि बालक को जन्म देने वाली मां ग्राह्य हो सकतो है जिसने कि अनिच्छा से ही सही--बालक को जन्म देने में आधा सहयोग तो यथा तथा दिया ही है फिर तत्सम्भूत निरपराध बेचारी सन्तान पर अग्राह्य होने का अनभ्र वज्रपात क्यों ?

शायद प्रश्नकर्ता महाशय यह भूल जाते हैं कि--बलाद् धर्म-भ्रष्टा स्त्री ने निःसन्देह दौर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति में गर्भ धारण किया है और भ्रूण हत्या के महापाप से बचने के लिये उसे नौ

दश महीने उदर में भी रहने दिया है. परन्तु उसको जन्म देने के अनन्तर रजोदर्शन होते ही गर्भाशय में विधर्म्मी के वीर्य्यांश का कोई कुसंस्कार अवशिष्ट नहीं रह पाता। ऐसी स्थिति में गर्भ-विज्ञान के अनुसार स्त्री सर्वथा अदुष्ट और पर-संस्कार-रहित हो जाने पर पूर्ववत् शुद्ध हो जाती है। परन्तु वह बालक तो जिस वीर्य्य से उत्पन्न हुवा है वह दुष्ट वीर्य्य उसके रोम २ में आजीवन समाया ही रहेगा। खासकर रक्त, अस्थि, वीर्य्य ये तीन धातु तो मानव शरीर में एक मात्र पिता के वीर्य्य से ही समुद्भूत हैं। ऐसी स्थिति में विशुद्ध रक्त परम्परा की अविच्छिन्न धारा को सुरक्षित रखने के विश्वासी हिन्दु समाज में ऐसी विजातीय सन्तान का कैसे प्रवेश हो सकता है ? इसलिये बलाद् धर्मभ्रष्टा स्त्रियें ग्राह्य हैं, परन्तु विधर्मी-समुद्भूत सन्तान कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकती।

बीस वर्ष तक विधर्मी रहने पर भी प्रायश्चित्त

देवल स्मृति का आदेश है कि यवनादि विधर्मियों के संसर्ग में बीस वर्ष पर्यन्त रह चुकने वाला व्यक्ति भी शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त द्वारा पुनरपि शुद्ध हो सकता है यथा--

गृहीतो यो बलान्म्लेच्छैः पञ्च षट् सप्त वा समाः।
दशादिविंशति यावत् तस्य शुद्धिर्विधीयते ॥

(देवल स्मृति ५३)

अर्थात्--जो मनुष्य बलात्कार से म्लेछों के जाल में फंसा हुआ (उनके संसर्ग में अभक्ष्य भक्षण आदि कुकर्म करता रहा है)

इस तरह पाँच छः सात वर्ष तक या दश से बीस वर्ष तक भी बीत गए हों तब भी उसकी शुद्धि हो सकती है।

यहां शुद्धि में अधिक से अधिक बीस वर्ष का उल्लेख अकारण नहीं कहा जा सकता। शरीर-विज्ञान के अनुसार जैसे सब मनुष्यों का देह पहिले दश वर्ष तक स्वभावतः बाल चांचल्य युक्त रहता है। दूसरे दशक में बढ़ता है और तीसरे दशक में कांति विकाश की चरम सीमा तक पहुंच जाता है, ठीक इसी प्रकार आज के खाये भोजन की अन्तिम परिणति पूरे चालीस दिन में होती है। वैद्यों का चालीस दिन तक औषध सेवन का नियम उपर्युक्त शारीरिक विज्ञान पर ही सुस्थिर है। सो खानपान-जन्य अन्तिम धातु वीर्य का एक दौर मानव शरीर में बीस वर्ष में हो पाता है। इसके बाद वह दूसरे दौर में अस्थियों में प्रविष्ट होने लग जाता है। यदि कोई व्यक्ति अधिक से अधिक बीस वर्ष पर्यन्त भी म्लेच्छ संसर्ग में रहकर अभक्ष्य भक्षण आदि करता रहा हो, तो उसका प्रभाव अस्थियों को छोड़ कर अन्य समस्त धातुवों तक ही सीमित रहेगा, जिसका प्रायश्चित्तात्मक वैज्ञानिक उपचार कष्ट साध्य कोटि का अवश्य है, किन्तु असाध्य कोटि का नहीं। अतः कृच्छ चान्द्रायणादि द्वारा उस के शुद्ध हो सकने का अवसर है। यदि बीस वर्ष से अधिक संसर्ग हो चुकने पर खान पान का दुष्प्रभाव अस्थिगत हो चुका हो तो उसका प्रायश्चित्त असाध्य हो जायगा।

यह तथ्य आयुर्वेद-वेत्ताओं से जाना जा सकता है, कि शरीर की अमुक धातु तक पहुंचा हुआ दोष साध्य होता है, परन्तु दुर्भाग्यवश क्षय आदि रोगों की भांति कोई दोष अस्थिगत हो जाए तो फिर वह सर्वथा असाध्य हो जाता है।

यह तो हुई बीस वर्ष या इससे कम समय तक धर्मभ्रष्टता की दशा में रहने वाले व्यक्तियों की बात, बीस वर्ष से अधिक समय तक म्लेच्छ संसर्ग में रहने वाले व्यक्ति की समस्त जीवन-चर्य्या जान लेने पर पण्डित-परिषद् यथोचित प्रायश्चित्त कराकर उसे अमुक पीढ़ी पर्यन्त अपने समान आचार वाले व्यक्तियों से रोटी बेटी का व्यवहार रखते हुवे जात्युत्कर्ष का अवसर दे सकती है। इस प्रकार इस जन्म में वह स्वयं न सही उसके भावी वंश-धर तो एक दिन अपने पूर्वपद पर प्रतिष्ठित हो ही जाएंगे। स्मृतिकारों ने इस कोटि के धर्मभ्रष्टों का पुनः विशुद्ध हो जाना उनके सदाचार और ब्राह्मणों के अनुग्रह पर निर्भर रखा है।

ज्ञात जाति-पतितों का जात्युत्कर्ष

कई पीढ़ियों तक म्लेछच-संसर्ग में रहने वाले व्यक्तियों का भी यदि पूर्व-वर्ण किंवा जाति ज्ञात हो तो वे प्रायश्चित्तानन्तर अपने समान आचार वाले व्यक्तियों से रोटी बेटी का व्यवहार करते हुवे सातवीं पीढ़ी में पुनः अपनी उसी जाति के विशुद्ध द्विज बन जाएंगे और उनका सब व्यवहार उस जाति के समस्त परि-वारों से पूर्ववत् चालू हो जाएगा। जैसा मनु जी कहते हैं—

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्।

(मनुस्मृति १०। ६४)

अर्थात्—(इस प्रकार म्लेच्छ-संसर्गापन्न) वह नीच व्यक्ति भी सातवीं पीढ़ी में श्रेष्ठ जाति को प्राप्त कर लेता है।

यहां सात पीढ़ी का उल्लेख आकस्मिक नहीं, किन्तु रक्त-विज्ञान पर आधारित है। पीढ़ी दर पीढ़ी म्लेच्छ-संसर्ग से दूषित व्यक्ति भी यदि प्रायश्चित्त पूर्वक शुद्ध जीवन बिताता चला जाए,

तो उसके रक्त-कीटाणुओं में आगे तो पातक विकृति का प्रवेश रुक जागगा परन्तु पूर्वकाल से जो विकार प्रवेश कर चुका है, उसके कायाकल्प के लिये सात पीढ़ी तक विशुद्ध आचार-सम्पन्न रहने की आवश्यकता है। सनातन धर्म में अन्यान्य मतों की भांति 'छूमन्तर' से तत्काल कई पीढ़ियों के कुसंस्कारों को दूर कर डालने का मिथ्या विश्वास तो किसी व्यक्ति को दिलाया नहीं जाता; क्योंकि न यह साध्य है और ना ही सम्भव है। फिर आत्म वञ्चना क्यों की जाए ? सनातन धर्म में तो प्रायश्चित्तों का उद्देश्य पातकी के उन सब पातकों को दूर करना है जिनसे कि वह दूषित है। जैसे आयुर्वेद में तत्तद् औषधों के द्वारा अमुक रोगी का 'कायाकल्प' कर डालना एक उपचार है, ठीक इसी प्रकार चान्द्रायण, कृच्छ्र चान्द्रायण और पराक आदि महाव्रत, उपवास भी कायशोधन के लिये विज्ञानानुमोदित धार्मिक उपचार हैं। न वह जादू की छड़ी का कोई करिश्मा है और नां ही अलाउद्दीन का चिराग है, किन्तु रक्त कीटाणुवों को परिवर्तित करने का एक वैज्ञानिक साधन है, जो देश, काल और पात्र के अनुसार यथासाध्य है। वह अमुक के लिये उसके आचारानुसार जहां सात घड़ी या सात दिन, सात महीने और सात वर्ष में सम्पन्न हो सकती है वहाँ अमुक के लिये सात पीढ़ी जैसे लंबे काल की भी अपेक्षा रख सकती है।

इस तरह नियमानुसार संसार का प्रत्येक व्यक्ति हिन्दुत्व का अधिकारी बन सकता है। वह साधारण धर्म का अधिकारी ही रहेगा, या वर्णाश्रम धर्म का अधिकारी भी बन सकेगा—यह व्यवस्था तो उस व्यक्ति की परिस्थति पर विचार करके पण्डित-परिषद् ही नियत करेगी, परन्तु शास्त्र-व्यवस्थानुसार हिन्दु धर्म

का द्वार सबके लिये खुला है—यह डिण्डिम घोषणा के साथ घोषित किया जा सकता है।

जिन विधर्मियों की जाति-पांति का कुछ भी अनुसन्धान नहीं हो सकता और वे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त पूर्वक सनातन धर्म की शरण में आ जाते हैं तो उन लोगों को 'धर्म-पूत' नाम से पुकारा जाना चाहिये, क्योंकि वे धर्म की श्रद्धा से ही 'पूत' अर्थात्—पवित्र हुवे हैं अतः उनका यही नाम उचित और सहैतुक भी है।

आज जैसे-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज नामक पांच वर्ग विद्यमान हैं और वे अपने वर्ग में ही रोटी बेटी का व्यवहार रखते हुवे भी हिन्दु जाति के निर्विशेष अङ्ग हैं, इसी प्रकार यह 'धर्मपूत' वर्ग भी अपने समानाचार व्यक्तियों से रोटी बेटी का व्यवहार रखता हुवा हिन्दु जाति का निर्विशेष अङ्ग बन कर रहेगा। आज जैसे ब्राह्मणों में भी 'गौड़' हैं और क्षत्रियों में भी 'गौड़' होते हैं जैसे—अमरसिंह राठोर का ऐतिहासिक हत्यारा 'अर्जुन गौड़' और प्रसिद्ध स्वर्गीय सर हरिसिंह 'गौड़' आदि; इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी 'माथुर' होते हैं और कायस्थों में भी एक वर्ग 'माथुर' कहा जाता है। ऐसे ही ये 'धर्म-पूत' भी समय पाकर सभी जातियों में अपना अस्तित्व स्थिर कर सकने में सफल हो जाएँगे। इस तरह शास्त्र-रीति से प्रायश्चित्त करने पर वर्तमान वर्णाश्रम-मर्यादा भी सुरक्षित रह सकेगी और संसार के समस्त मानवों को भी लौट कर हिन्दु धर्म की शरण में आकर अपने को कृतार्थ कर सकने का खुला अवसर प्राप्त रहेगा।

आर्यसमाज का शुद्धि-आन्दोलन अशास्त्रीय

ईसाइयों की देखा देखी आर्यसमाज ने भी शुद्धि के नाम पर

एक आन्दोलन खड़ा किया था। यद्यपि अप्राकृतिक होने के कारण आज वह समाप्त सा हो गया है तथापि यत्रकुत्रापि अब भी वे शुद्धि २ चिल्लाया ही करते हैं।

सच तो यह है कि वे अपने जीवन के सौ साल में आज तक किसी एक भी विदेशी विधर्मी को शुद्ध नहीं कर पाए। अमेरिका, इङ्गलैंड, इटली, फ्रांस और जर्मनी का नागरिक क्या— अफरीका का एक हबशी भी उनके फन्दे में नहीं फँस सका। तथापि वे देहातियों में शुद्धि २ चिल्लाकर चन्दा बटोरने में चूक नहीं आने देते। आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी की प्रिय शिष्या प्रसिद्ध रमाबाई आखीर ईसाई बन गई ❀ परन्तु आर्य समाज उसे शुद्ध न कर सका। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का ज्येष्ठ पुत्र श्री हरिश्चन्द्र विलायत गया तो आज तक वापिस नहीं लौटा, कहते हैं वह ईसाई मत में दीक्षित हो गया (श्री हरिश्चन्द्र जी की साध्वी धर्मपत्नी भारत में ही वैधव्यजीवन बिताती रही) आर्यसमाज अपने नेता के एक सुपुत्र को भी पुनः हिन्दु धर्म में न ला सका। सारी आयु में सब बल लगा कर आर्यसमाज ने अब्दुल गफूर नामक केवल एक पञ्जाबी मुसलमान को शुद्ध कर के धर्मपाल बनाया था। उसे सन्तुष्ट रखने के लिये अनाथालय की एक हिन्दु कन्या उसको विवाह दी थी तथा लाहौर आर्यसमाज का प्रतिष्ठित मन्त्री पद भी प्रदान किया था, परन्तु वह वास्तव में मुसलमानों का जासूस था अतः आर्यसमाज के सब अन्तरङ्ग भेद जानकर अवसर आते ही पुनः

❀ कहा जाता है कि उसकी लड़की मनोरमा आज भी दक्षिण भारत में विद्यमान है।

मुसलमान बन गया। सूद व्याज में उस बेचारी हिन्दु कन्या को और उससे उत्पन्न बच्ची वच्चों को भी साथ ले गया। इस तरह आर्यसमाजी चौबे से छब्बे बनते बनते दूबे ही रह गए।

आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन से हिन्दु जाति को लाभ के स्थान में अत्यधिक हानि हीं उठानी पड़ी है और पड़ रही है। मुसलमानों ने शुद्धि का केवल कागजी आन्दोलन देखकर अपने अनुयायियों को 'तबलीग' के लिए प्रोत्साहित किया फलस्वरूप हैदराबाद, भूपाल, रामपुर और लोहारू आदि मुस्लिम रियासतों के नबावों ने करोड़ों रुपया खर्च कर अनेक हिन्दु परिवारों को मुसलमान बना लिया।

आज से पूर्व कुछ नव-मुस्लिम कहे जाने वाले लोग आचरण में हिन्दुवों के ही समकक्ष-से थे, केवल उपासना सम्बन्धी कुछ साधारण मुस्लिम प्रथाओं को अपनाने के अतिरिक्त उनमें अधिक दोष न थे—उनमें कई तो मुर्दे को फूंकते भी थे तथा गोघात का पाप न करके समय २ पर गोदान करते थे।

गुजरात आदि में तो वे अपने आधे नाम भी अभी तक हिन्दु देवी देवताओं पर ही रखते थे जैसे—'राम अली' 'युसुफ कृष्ण' आदि २। कुरान के साथ गीता का पाठ अनिवार्य मानते थे। ऐसे आगाखानी और रामनिवाजी आदि कथित नव-मुस्लिमों को इस शुद्धि अन्दोलन-ने कट्टर मुसलमान बना डाला, जिनमें पाकिस्तान के संस्थापक 'जिन्हा' साहिब भी एक हैं। अभी तक बहुत से लोगों को यह विदित नहीं कि आखीर मुहम्मदअली नाम के आगे यह 'जिन्हा' शब्द क्या बला है। वास्तव में गुजरातियों में अपने नाम से आगे पिता का नाम मिलाकर बोलने की प्रथा है,

जैसे श्री गान्धी जी का मुख्य नाम मोहनदास ही है, परन्तु उसके आगे पिता का नाम मिलाकर उन्हें 'मोहनदास कर्मचन्द' बोला जाता है। 'श्री कन्हैयालाल, माणिकलाल मुन्शी' भी इसी कोटि का सपैतृक नाम है। सो मुहम्मदअली साहिब के पिता का नाम 'झीणा भाई' था अतः प्रान्तीय प्रथा के अनुसार उनका पूरा नाम 'मुहम्मदअली झीणा भाई' था। [झीणा शब्द घरण शब्द का अपर पर्य्याय है] सो जब मुहम्मदअली साहिब आधे हिन्दु से कट्टर मुसलमान बनने चले तो पिता का नाम जो कि हिन्दु ढंग का था बाधक जान पड़ा। अतः उन्होंने 'भाई' शब्द का बहिष्कार करके 'झीणा' को अंग्रेजी ढंग से 'जिन्हा' (Zinha) लिखना आरम्भ कर दिया। आम लोगों ने उसे कोई वंश परम्परागत उपाधि जान कर केवल 'जिन्हा' २ कहना आरम्भ कर दिया जो अभी तक प्रख्यात हो रहा है।

तबलीग—मजहब के नाम पर दुरभिसन्धि

आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन के मुकाबले में मुसलमानों की ओर से चलाया गया 'तबलीग' आन्दोलन भी मजहब की आड़ में संख्या वृद्धि के उद्देश्य से चलाया गया एक कूटनैतिक दुष्प्रहार है। जैसे— कानून चाहते हुवे भी किसी व्यक्ति को वैयक्तिक स्वातन्त्र्याधिकार और आत्मनिर्णय के नाम पर आत्मघात करने की खुलो छट नहीं दे सकता, इसी प्रकार राजकीय अनुशासन में कथित धार्मिक-स्वातन्त्र्य के नाम पर किसी व्यक्ति को मनमाना मजहब बदल सकने का अधिकार भी नहीं होना चाहिये। यदि वस्तुतः कोई व्यक्ति किसी भी अन्य मतसे अत्यन्त प्रभावित हो गया हो और वह अपना भावि-जीवन तदनुसार

विताने की प्रबल इच्छा रखता हो तो वह राजाज्ञा प्राप्त करके ही ऐसा कर सके–संविधान में ऐसी व्यवस्था होनी अनिवार्य है। क्योंकि इससे प्रलोभन, विवशता और बलात्कार से होने वाले धर्म परिवर्तनों की पर्य्याप्त रोक थाम हो सकेगी तथा जातीय संघर्षों का भी अवसर न आएगा। यवन शासन काल में तो इस्लाम के विस्तार के लिये पशुबल का खुला प्रयोग किया ही गया है, परन्तु अब भी धींगा-मस्ती से हिन्दुओं के नाबालिग बच्चों को डरा धमका कर तथा ऐसे ही हिन्दू स्त्रियों को बहका फुसला कर इस्लाम की शान बढ़ाने के प्रयत्न किये जाते हैं। धर्म-परिवर्तन के मूल की खोज करने पर अधिकांश मामलों में ऐसे ही हेतु सामने आते हैं, जिनमें या तो धर्मभ्रष्ट होने वालों की आर्थिक किंवा कौटुम्बिक मजबूरियें ही उन्हें वैसा करने के लिये बाध्य कर देती हैं अथवा स्कूल कालिजों के उच्छृङ्खल वातावरण में सह-शिक्षा के दुष्प्रभाव से अनुचित प्रेम का वीजा-रोपण हो जाने के कारण अन्त में उसके ऐसे परिमाण सामने आते हैं।

हिन्दुओं में भी दुर्भाग्य-वश कुछ ऐसी अशास्त्रीय धारणा बद्धमूल हो गई है कि 'चौके से उतरी हण्डिया कुत्तों के योग्य' अर्थात्—एक बार किसी व्यक्ति से कारण वश कुछ जरा सी भी भूल हो गई कि बस अब वह सदा के लिये बहिष्कृत! हमारी इस धारणा से भी विधर्मी अत्यधिक अनुचित लाभ उठाते हैं। परन्तु हम पीछे लिख आये हैं कि हमारे शास्त्रों सभी प्रकार के धर्मभ्रष्टों को यथायोग्य प्रायश्चित्त करने के अनन्तर पुन: स्वपद पर प्रतिष्ठापित करने की व्यवस्था विद्यमान है। ऐसे अवसरों पर बिना किसी झिझक के उसे प्रयोग में लाना चाहिये,

जिससे विधर्मियों का 'तबलीगी' हथियार कुण्ठित किया जा सके।

इस प्रकार हमारा तो निश्चित मत है कि आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन से हिन्दु जाति को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी है। अब भी आर्यसमाजियों द्वारा समाचार पत्रों में शुद्धि की मिथ्या डींग हांकी जाने पर पाकिस्तान रेडियो-'भारत में-इस्लाम खतरे में' का नारा बुलन्द करने लगता है, विरोध में पत्र भी लिखता है। कांग्रेसी सरकार कुछ तो पहले से ही मुस्लिम परस्त है क्योंकि वह मुसलमानों और हरिजनों को हिन्दुओं से आतङ्कित सा रख कर उन्हें अपने पक्के मतदाता बनाए रखना चाहती है, सो उसे भी शुद्धि समाचारों का और पाकिस्तान के विरोध का बहाना मिल जाता है जिसका परिणाम साम्प्रदायिकता के नाम पर हिन्दुओं के सर्व लोक-कल्याणकारी कार्यों को भी पनपने नहीं दिया जाता।

सनातन-धर्म में लाखों विधर्मियों का प्रवेश

इधर जहां आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन का यह हाल है वहां विना किसी संघर्ष के सनातन धर्म की शरण में कट्टर यवन साम्राज्य काल में भी 'रसखान' जैसे बादशाही साम्राज्य के कई कर्णधार और हर्म में रहने वाली 'ताजबेगम' सरीखी अनेक मुस्लिम महिलाएं आईं। आज भी स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के प्रचार से प्रभावित होकर तथा अन्यान्य प्रचारकों के उद्योग से लार्ड खानदानों के लाखों विदेशी व्यक्ति सनातन धर्मी रूपेण अपना जीवित बिता रहे हैं। श्रीमती

एनीबेसेन्ट द्वारा स्थापित बनारस का हिन्दू स्कूल आज भी उक्त महिला के हिन्दुत्व प्रेम का मुंह बोलता स्मारक है। पाश्चात्य विद्वान् मिस्टर पार्जिटर आदि द्वारा लिखे हिन्दु सिद्धान्त गौरववर्द्धक गाड़ी भर अंग्रेजी साहित्य पर किसी भी हिन्दु को गर्व हो सकता है। सनातनधर्म किसी प्रलोभन या बलात्कार से दूसरे को अपने धर्म में यथा-तथा खींच लाने का पक्षपाती नहीं, किन्तु खूब सोच समझ कर और मनन कर के अपने इस लोक और परलोक को कल्याणमय बनाने के विचार से जो व्यक्ति इसमें प्रविष्ट होना चाहे वह विधर्मी संसर्गजन्य सब बुराइयों का परित्याग करके 'विचारी' सनातनधर्मी स्वयं हो सकता है और इससे आगे यदि वह 'आचारी' सनातनधर्मी होने का भी इच्छुक हो तो वह शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध होकर 'धर्म-पूत' श्रेणी में आ सकता है।

मिश्नरी—विदेशियों के राजनैतिक जासूस

भारतवर्ष में सदियों से बसने वाली जातियों में आज पारसियों की संख्या, एक लाख, बौद्धों की दो लाख, जैनों की सोलह लाख और सिक्खों की ६२ लाख मात्र है परन्तु ईसाइयों ने कूटनीति से अपनी संख्या बियासी लाख तक पहुंचा दी है।* अंग्रेजों के चले जाने पर अब वह जिस तत्परता से—उचित अनुचित सब ढंगों से—विदेशियों के पैसे के बल पर अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं यदि दुर्भाग्यवश यही क्रम जारी रहा तो उससे यह सहज में ही अनुमान हो सकता है कि यहां पाकिस्तान की भान्ति ईसाईस्तान के नाम पर

* टिप्पणी—यह संख्या सन् १९५० की थी। अब १०७२६३५० हो गई है और 'नागालैण्ड' नाम से ईसाईस्तान का श्रीगणेश भी हो गया है।

भी भारत का विभाजन करने की मांग उपस्थित हो जायगी।

अमेरिका आदि सभी ईसाई देश आज मुक्तहस्त होकर पौण्डों और डालरों को पानी की तरह बहा कर भारत वर्ष में अपने कथित मिश्नरी भेज रहे हैं। प्रत्यक्ष में वे चुपके २ खास कर सुदूर देहातों में दवा दारू पुस्तकें बांटते हैं और स्कूल आदि खोल कर मुफ्त शिक्षा देते हैं। न आर्यसमाजियों की भान्ति अपने कार्य का ढोल पीटते हैं और न मुसलमानों की भांति 'अल्लाहो अकबर' का नारा बुलन्द करके हिन्दुवों को चिढ़ाते हैं, अपितु जोंक की भान्ति बिना दर्द किये धीरे २ हिन्दु जाति का रक्त चूस रहे हैं। वह कितना रक्त चूस चुके हैं इसका अनुमान केवल उन आँकड़ों से लग सकता है जो कि हमने ऊपर उद्धृत किये हैं।

आज वे भारत में मजहबी गणना में केवल सौ सवा सौ वर्ष में अपनी जनसंख्या के अनुसार तीसरे पद पर प्रतिष्ठित हैं, जैन बौद्ध सिक्ख पारसी सब को पीछे छोड़ गए। कहने को वे मिश्नरी हैं, केवल आसमानी बाप के इकलौते बेटे का संदेशमात्र देने के लिए परोपकारार्थ भारत में घूम रहे हैं, परन्तु पिछले दिनों पूर्व की नागा पहाड़ियों के अंचल में, झारखण्ड के आदिम निवासियों में और दक्षिण के त्रिवांकुर प्रदेश में उनके जो राजनैतिक कारनामे आए हैं उनसे साफ जाहिर है कि वे केवल कोरे पादरी हीं नहीं हैं अपितु विदेशियों के राजनैतिक जासूस भी हैं जो दवादारू बाँटने के साथ फूट के बीज भी खूब बांटते हैं। आसमानी बाप के सुरीले गीत गाने के साथ पिछड़ी जातियों को भारत राष्ट्र से पृथक् हो जाने के बेसुरे गीत गाना भी सिखाते हैं। जब उनकी हलचलें बहुत ही बढ़ चलीं तब कहीं भारत की चौकस सरकार को कुछ होश

आया है। जब तक विदेशी मिश्नरियों की नाक में कोई कानूनी नकेल न डाली जाएगी तब तक मजहब के नाम पर होने वाले इस कुकृत्य का खात्मा नहीं हो सकेगा।

अस्पृश्यता के अपवाद

शास्त्र, समस्त मानव समाज का अनुग्राहक है अतः उसमें ऐसी कोई भी व्यवस्था नहीं हैं जो कि मानव समाज के व्यावहारिक जीवन में अनावश्यक अड़चन उपस्थित करके उसे सङ्कटापन्न बनाने का हेतु सिद्ध हो। तदनुसार जहां मानव समाज के हित के लिये वेदादि शास्त्रों में विज्ञानमूलक अस्पृश्यता का उल्लेख विद्यमान है वहां तत्तत् परिस्थितियों में उसके कुछ अपवाद भी विद्यमान हैं। जीवन का प्रवाह न तो अनियमित बहे और ना ही वह किसी भी स्थिति में सर्वथा अवरुद्ध ही हो—उक्त दोनों परिस्थितियों को सामने रख कर ही शास्त्र ने निष्कण्टक मार्ग का निरूपण किया है जिस पर चलते हुवे न कभी ठोकर लग सकती है और नां ही कभी फिसलने का भय हो सकता है। नीचे लिखी परिस्थितियों में अस्पृश्यता सापवाद है, यथा—

(क) देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते।

(बृहत्पाराशरीय धर्मशास्त्र ६।२९७)

(ख) आसनं शयनं यानं नावमपि तृणानि च।
चाण्डाल-पतित-स्पृष्टं मारुतेनैव शुद्ध्यति॥

(बौधायान स्मृति १।५।६२)

(ग) प्राकाररोधे भुवनस्य दाहे, सेनानिवेशे विषमप्रदेशे।
आवास्ययज्ञेषु महोत्सवेषु तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः।

(अत्रि स्मृति २३०)

अर्थात्—(क) देव यात्रा में, विवाहों में, यज्ञादि समुदायों में अन्य सब तरह के 'सम्मेलन = महोत्सवों में स्पर्श दूषित (छुये गए) मनुष्य के स्पर्श से छूत या भींट नहीं लगती। (ख) बैठने का आसन [कुर्सी, वायुयान, जलपोत और रेल गाड़ी की सीटें] चारपाई, सवारी, नाव तथा तृण [चटाई मूढ़े टाट] आदि वस्तुवें कुत्ते चाण्डाल और पतित मनुष्यों द्वारा स्पर्श किये हुवे भी वायु लगने मात्र से शुद्ध हो जाते हैं। (ग) जब शत्रु ने नगर को चारों ओर से घेर रखा हो, मकानों में आग लग रही हो, इसी प्रकार की अन्यान्य विषम परिस्थितियों [भूकम्प, बाढ़, डाकाजनी भगदड़ आदि] में, सामूहिक निर्माण कार्यों में, यज्ञों और महोत्सवों [सभा जलूस नगर शोभा यात्रा पर्व स्नान आदि) में स्पर्श का अधिक विचार नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त अपवादों के सम्बन्ध में क्यों का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति उपर्युक्त परिस्थितियों के पाठ मात्र से उक्त अपवादों की सार्थकता का अनुमान कर सकता है। शास्त्रों में विधि और तदपवादों का कैसा सहैतुक विवेचन विद्यमान है, उपर्युक्त प्रघट्ट से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

गृह लक्ष्मी

यहाँ तक 'नरतत्त्व-विचार' के अन्तर्गत सामान्य रूप से मानव जाति, और उसके भेद उपभेदों पर विचार किया गया है। यहाँ 'नर' शब्द का प्रयोग हमने पुरुषत्व-युक्त जाति विशेष के संकुचित अर्थ में नहीं किया है, किन्तु नर नारी दोनों के साधारण अर्थ में किया है। इस लिए नारी जाति का पृथक् निर्देश न करते हुए भी हम जो कुछ लिख आये हैं वह स्त्रियों के लिए भी पर्याप्त ज्ञानसाधक एवं कर्म-मार्ग-प्रेरक हो सकता है।

परन्तु विधाता की सृष्टि में नारी का निर्माण पुरुष से कुछ निराली विशेषताओं को लेकर हुआ है। शास्त्रकारों ने उस के कर्म भी पुरुष से भिन्न ही निश्चय किये हैं, अत धर्म और श्रद्धा की पावन-प्रसूति नारी और उसके धर्म के विषय में यहाँ विशेष लिखा जाता है।

विशेषतया ऐसे समय में जब कि भौतिकवाद के भ्रमावर्त में पड़ी हुई पश्चिमी नारियों की भाँति भारत के स्त्री-वर्ग में भी नारी-जागरण के नाम पर विघातक प्रवृत्तियां जोर पकड़ती जा रही हैं और भारतीय नारी भी सीता सावित्री के पुनीत आदर्श से भटक कर तितली बनने के लिये लालायित हो रही हैं तब इस बात की विशेष आवश्यकता प्रतीत होती है कि इस विषय पर तथ्य एवं पथ्य विचारों का प्रचार कर उन भूलती हुई बहिनों के सामने पुनः एक बार प्राचीन आदर्श की प्रतिष्ठा की जाय।

हिन्दु धर्म में नारी का स्थान

कुछ स्वदेशी और विदेशी आलोचक पुङ्गवों ने संसार के अन्य भागों में स्त्री जाति के प्रति वर्ती जाने वाली लापरवाही, हृदयहीनता और क्रूरता का वर्णन करते हुए भारत देश और उसमें भी सार्व-भौम हिन्दुधर्म को बरबस इस पङ्क में घसीटने का दुःसाहस किया है किन्तु इसे हम उन लोगों के अज्ञान और भ्रम के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ? यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो हम देखेंगे कि नर और नारी इन दोनों के स्वरूप और कर्तव्य कर्म का जितना सर्वांगीण विवेचन हिन्दू धर्म में देखने को मिलता है उतना अन्यत्र नहीं।

मुसलमानों ने तो औरत को वासना-पूर्ति का एक खिलौना मात्र समझा है और एतदर्थ उनका मजहब एक पुरुष के लिये चार चार बीबियाँ—और वे भी बुर्कों में बन्द, जहां कि उन बेचारियों को श्वास के लिए शुद्ध हवा भी मयस्सर नही होती· रखना जायज करार देता है। ईसाई भी स्त्रियों के साथ समान बर्ताव के बहाने उन्हें विलासिता की सामग्री मात्र समझते हैं। यह बात आये दिन पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले उन आंकड़ों से स्पष्ट हो जाती है जो बतलाते हैं कि किस प्रकार इन सभ्य सुशिक्षित ईसाई मुल्कों में आये दिन अपने पतियों से तलाक पाकर लाखों की संख्या में अनाथ स्त्रियें पुरुषों की खोज में मारी २ फिरती हैं और अपने जीवन-निर्वाह के लिये इनको मिलों, फैक्ट्रियों, वर्कशापों, दफ्तरों और होटलों में नौकरी करने को विवश होना पड़ता है। समता की बड़ी २ डींग हाँकने वाले

ये अभारतीय केवल बहिरंग रूप में—हाथ में हाथ डालकर सैर सपाटा करने की सीमा तक ही—नारी की समानता का कृत्रिम अभिनय करते हैं, परन्तु जहाँ एक दूसरे के लिये त्याग और बलिदान का प्रश्न उपस्थित होता है ये लोग झट तोते की तरह आँखे बदल लेते हैं।

इनका अन्तरंग रूप देखना हो तो तब देखिये जब कि कपड़ा खरीदने पर साहेब और मेम के नाम के पृथक् २ कैशमीमो कटते हैं तथा उनकी रकम पेमैंट करने के लिये साहेब पतलून की जेब में हाथ डालता है तो मैम—बिना जेब वाला पहिनावा होने के कारण—हाथ में निरन्तर थमे अपने पर्स को टटोलने लगती है। होटल के बिल, बीमार हो जाने पर डाक्टर की फीस, दोनों को अपने २ बैंक खाते से चुकानी पड़ती हैं। वहाँ का पुरुष समाज तलाक के भय से नकद पूंजी पत्नी के हाथ में नहीं सौंपता। पश्चात्य देशों की स्त्रियों के भूषण-हीन होने का भी यही प्रधान कारण है।

इसके विपरीत हिन्दु धर्म में नारी को अत्यन्त सम्मान पूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। जीवन-मार्ग में प्रस्तुत होने वाले बालक को वेद सबसे पूर्व स्त्री का सम्मान करना सिखाता है। वेद का सबसे महत्त्वपूर्ण और पहिला पाठ यही है—

मातृदेवो भव

अर्थात्— माता को देवता समझ कर आदर करो। भारतीय दर्शन में हमें नारी की लोकोत्तर गरिमा के दर्शन होते हैं। द्वैत, अद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि सभी दर्शन शास्त्रों का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि सृष्टि का मूल कारण निष्क्रिय ब्रह्म नहीं किन्तु

माया है। भगवान् मनु ने (१।३२) सृष्टि के प्रारम्भ में नारी की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा अपने शरीर के दो सम भाग करके आधे को पुरुष रूप में और आधे को स्त्री रूप में परिवर्तित करने से बतलाई है।

वैदिक आम्नाय में जो भी सिद्धान्त स्थिर किया गया है उसमें नारी को प्रथम स्थान मिला है। समस्त वेदों का प्रादुर्भाव जिस गायत्री से हुआ वह नारी जाति का ही प्रतीक है। उसे ही—'छन्दसां माता'—कह कर सर्वश्रेष्ठ गुरु-मंत्र माना गया है। वेदों में पहिली शिक्षा–'मातृदेवो भव' है और पिता तथा आचार्य आदि का निर्देश इसके बाद आता है। पहिले "त्वं स्त्री" और फिर "त्वं पुमानसि"।

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव" आदि हिन्दु धर्म की सभी प्रार्थनाओं में ऋषियों ने प्रभु की पहिले माता के रूप में ही वन्दना की है। आश्विन तथा चैत्र के नवरात्रों में कुमारिका-पूजन के रूप में आज भी प्रत्येक हिन्दु स्त्री-जाति के प्रति अपने चिरन्तन सम्मान को दोहराता है। यज्ञादि समस्त धार्मिक अनुष्ठानों में धर्मशास्त्रानुसार पत्नी रहित पुरुष का अधिकार ही नहीं माना गया और वहां सम्मानार्थ ही पति के दांये हाथ की ओर पत्नी का आसन होना आवश्यक है। विवाह संस्कार में अग्नि परि-क्रमण के समय कन्या के अग्रगामिनी होने की व्यवस्था ही शास्त्रकारों ने वर्णन की है जो कि हिन्दु धर्म में नारी के आदर की सूचक है।

मन्वादि स्मृतिकारों ने स्वतन्त्र स्त्री-धन की भी व्यवस्था की है। पति क्या, अदालत भी इस धन को किसी भी दशा में स्त्री से नहीं छीन सकती। भारत के शास्त्रीय संविधान में बाल्य, यौवन

वृद्धावस्था, किसी भी दशा में नारी को आत्मरक्षा की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, किन्तु पिता पति और पुत्र क्रमशः उसकी सुरक्षा के दायित्व को सम्भालते हैं।

नारी-सम्मान की उस समय पराकाष्ठा हो जाती है जब एक पिता अपने संन्यासी पुत्र के नगर में आने पर उसे जगद्गुरु मान-कर शास्त्र-रीति से उसके चरणों को छूता है किन्तु वही संन्यासी पुत्र जब माँ के सामने जाता है तो मां के चरण छूकर अपने उस समस्त गौरव को उसके चरणों पर न्योछावर कर देता है। स्त्री सम्मान के विषय में मनु जी तो यहां तक कहते हैं कि—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

(मनु-३ । ५६ ।)

अर्थ—जिस घर या परिवार में स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ (उस घर के स्वर्ग-तुल्य होने के कारण) देवता रमण करते हैं। ये उद्धरण हिन्दु-धर्म में स्त्री की स्थिति दिखलाने को पर्याप्त हैं।

स्त्रियों के विशेष-धर्म

पुरुष की अर्धाङ्गिनी होने के नाते स्त्री, पति द्वारा किये जाने वाले सब कार्यों तथा धर्मानुष्ठानों में सहभागिनी तो है ही, किन्तु गृहलक्ष्मी होने के नाते उसके कुछ विशेष धर्म या कर्तव्य भी हैं जिनका पालन प्रत्येक सद्-गृहस्थ नारी को करना चाहिये। इन कर्तव्यों का निर्धारण शास्त्रकारों ने स्त्री और पुरुष की शारीरिक स्थिति, गुण-दोष आदि को देख कर किया है। पुरुष चूँकि उग्र, कठोर, साहसी तथा दृढ़ होता है अतः उसके लिये बाह्य क्षेत्र और स्त्री के मृदु, नम्र, सुकुमार, सरल और श्रद्धा तथा स्नेह-प्रधान होने के कारण उसके लिये घर का क्षेत्र निश्चित

किया है। बाहर के क्षेत्र में पुरुष राजा भी हो सकता है और भिखारी भी, मिल-मालिक हो सकता है और मजदूर भी, किन्तु स्त्री अपने क्षेत्र में सदा उस घर की स्वामिनी है, साम्राज्ञी है महारानी है और गृहलक्ष्मी है। वेद ने उसे श्वसुर घर की महारानी कह कर ही सम्बोधन किया है, यथा—

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।

ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ।। (अथर्व १४।१।४४)

पुरुष जो कुछ कमाकर लाता है स्त्री को सौंप देता है। उसका यथावत् विनियोग स्त्री काम है। शास्त्र कहता है :—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।

अर्थात्—पुरुष को चाहिये स्त्री को धन को सुरक्षित रखने और उसका उचित व्यय करने का कार्य सौंपे।

इस प्रकार हिन्दु आदर्श के अनुसार स्त्री घर की रानी बनकर पतिगृह में पदार्पण करती है और यदि सावधानी पूर्वक अपने गृहस्थ धर्म का पालन करती रहे तो जीवन भर इस गौरव पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित रहती है। यह भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है कि यहां का पुरुष-समाज स्त्रियों से मिलों, कारखानों, होटलों आदि में नौकरी करवाना कभी अच्छा नहीं समझता। हमारे यहां नारी का गौरव एक की 'रानी' होने में है 'नौक़रानी=नौ की रानी' होने में नहीं।

सबसे बड़ा धर्म—पातिव्रत्य

पातिव्रत्य स्त्री का सबसे मुख्य धर्म है। युग-युगान्तर से हिन्दू नारियां अपने पातिव्रत्य के लिये प्रसिद्ध रही हैं। आज से

चन्द शताब्दी पूर्व मुगलकाल में राजपूत ललनाओं ने केवल इसी भावना की रक्षा के लिये ही सहस्रों की संख्या में जौहर करके अपने कुसुम-कोमल कलेवरों को हंसते २ अग्नि की भेंट कर दिया परन्तु अपने शरीर को पर पुरुष से स्पर्श न होने दिया। पाकिस्तान विभाजन के समय विधर्मियों द्वारा भ्रष्ट किये जाने की सम्भावना होने पर अनेकों हिन्दु-नारियों ने अपनी लाशों से कुएं पाटकर पुनः दिखला दिया कि आज भी आर्य-ललनाओं की नसों में सतियों का रक्त निःशेष नहीं हुआ। पंजाब और बंगाल के वे स्थान सर्वदा पवित्र सती-तीर्थ के रूप में स्मरण किये जाएंगे।

शास्त्रकारों ने स्त्री की मृदु प्रकृति को ध्यान में रखते हुए ही उसके लिये इस पति-सेवा रूप अति सुगम और सरल धर्म-मार्ग का निर्देश किया है। पुरुष को जो फल बड़े २ यज्ञों के अनुष्ठान एवं जप-तपादि के द्वारा प्राप्त होता है, स्त्री पातिव्रत्य के पालन मात्र से अनायास ही न केवल उस फल की अधिकारिणी बन जाती है, किन्तु प्रभुप्राप्ति जैसे दुर्लभ लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है। भगवान् मनु कहते हैं—

पतिं या नाभिचरति मनो वाक्कायसंयता।
सा भर्तृ लोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

(मनु० ६। २६)

अर्थात्—जो स्त्री मन वचन और शरीर से संयत होकर पति-सेवा करती है वह पति के साथ स्वर्गादि दिव्यलोकों को प्राप्त होती है और संसार में 'सती' 'साध्वी' आदि शब्दों से सम्मानित होती है।

प्रभु-प्राप्ति का द्वार—पतिसेवा

भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। उसके समस्त कार्यों का उद्देश्य यही होना चाहिये कि जिस किसी प्रकार की भी हो वह श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द को प्राप्त कर सके।

'पति ही ईश्वर है, पति सेवा ईश्वर सेवा है, पति प्रसन्नता ईश्वर प्रसन्नता है'—इत्यादि भावों के परिपक्व हो जाने पर नारी के समस्त कार्य-कलाप का लक्ष्य भी ईश्वराराधन ही बन जाता है। जिस प्रकार रेत से भरे बोरों पर निशाना लगाते २ लक्ष्यवेधक एक दिन सचमुच ठीक लक्ष्य बींध देता है, इसी भांति नश्वर शरीरधारी एवं काम क्रोधादि विकारपूर्ण पति नामक प्राणि में ही ईश्वर दर्शन का अभ्यास करती हुई नारी एक दिन सचमुच अविनाशी एवं अविकारी ईश्वर की सन्निधि को प्राप्त हो सकती है। भगवान् वेदव्यास जी कहते हैं—

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात्—जो स्त्री पति में हरि भाव रखकर लक्ष्मी की तरह उसकी सेवा करती है, वह वैकुण्ठ में हरि को ही प्राप्त होकर लक्ष्मी की भांति आनन्द प्राप्त करती है।

सामाजिक दृष्टि से

स्वस्थ एवं सुखी समाज के लिए भी स्त्री में पातिव्रत्य भावना के होने की बड़ी आवश्यकता है। जिस समाज की स्त्रियों में यह

भावना न होगी वह समाज कभी भी सच्ची सुख शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता । पाश्चात्य देशों में—जहां कि स्त्रियों में इस भावना का प्रसार नहीं है, वहाँ न केवल सच्चरित्रता का अभाव है किन्तु अधिकांश व्यक्ति जीवन भर अस्थिरता एवं असमंजस की सी दशा में जीवन बिताने को वाध्य होते हैं। यह तो गनीमत समझिये कि इन देशों में होटल और हस्पतालों का खरा खासा प्रचार है, जिससे लोग जीवन काल में होटलों में खा लेते हैं और मरने के लिये हस्पतालों में बिस्तर प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। कितना दयनीय जीवन है यह ! पुरुष को सदा डर लगा रहता है कि कहीं घर में जोर से खांस भी बैठा तो तलाक तैयार है, और स्त्रियों को भय बना रहता है कि कहीं मिस्टर आफिस से ही किसी टाइपिस्ट गर्ल-फ्रेण्ड को जीवन-संगिनी बनाकर न लौटें और फिर मुझे दूसरा दर वर ढूँढ़ना पड़े !

अपनी अन्तर्दृष्टि से इस प्रकार के घृणित तथा कष्टपूर्ण सामाजिक जीवन को देखकर ही भारत के क्रान्तदर्शी समाज संस्थापकों ने स्त्रियों के लिये पातिव्रत्य की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया है। इससे रक्त की पवित्रता सुरक्षित रहती है, शुद्ध वंश का विस्तार होता है, स्त्री व पुरुष दोनों स्वकीय कर्म का पालन करते हुए निश्चिन्त रूप से अपनी जीवन-नैया को भव-सिन्धु से पार करने में सफल हो जाते हैं। दोनों में किसी को भी अपने भविष्य के लिये चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः स्त्री का सबसे मुख्य और विशेष धर्म यही है कि शरीर मन और वाणी से अपने पति की सेवा करती हुई सर्वदा उसकी आज्ञा का पालन करती रहे।

गुरुजन सेवा सुश्रूषा

पति सेवा के साथ-साथ घर के अन्य बड़े-बूढ़ों गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा, छोटे बालकों,--देवर, ननद आदि पति के अन्य स्वजनों की देखभाल का पूर्ण ध्यान रखना भी नारी का परम कर्तव्य है। भगवान् राम ने जनक-नन्दिनी को नारी धर्म का निरूपण करते हुए कहा था—

एहि ते अधिक धर्म नहीं दूजा।
सादर सास ससुर पति पूजा॥

गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा कई दृष्टियों से आवश्यक है। प्रथम तो पति-परायणा नारी के लिये वे इसलिये अधिक सम्मान्य हैं क्योंकि वे उसके पति के भी पूज्य ठहरे। उनकी सेवा सुश्रूषा से वह अकेले उन सास-ससुर आदि गुरुजनों को ही नहीं किन्तु पति को भी प्रसन्न कर सकती है। जिस घर में बहू की सेवा से सास ससुर सन्तुष्ट और प्रसन्न होंगे, वहाँ पति की प्रसन्नता की तो चर्चा ही क्या ? और घर में जब सब प्रसन्न रहते हों तो क्या वह घर इन्द्र के स्वर्ग से कुछ कम आनन्दप्रद है।

(२) आज आप बहू हैं किन्तु कल आपको सास भी बनना है। यह संसार तो दर्पण है आप जैसी होंगी वैसी ही उसमें दिखलाई पड़ेंगी। यदि आज आपने सास-ससुर की सेवा की, जेठ जिठानी का सम्मान किया, देवर और ननदों के प्रति वात्सल्य का परिचय दिया तो कल यह सब आपको भी प्राप्त हो सकेगा। जो भी रीति अच्छी या बुरी, आप घर में चला देंगी कल को वह सब न केवल आपके सामने बल्कि आपके अन्तर् में से गुज़रेगी।

आपका व्यवहार यदि परिवार वालों के प्रति बुरा है, क्रूर है, तो पूर्ण विश्वास रखें कि कल को ऐसा ही आपको प्राप्त होगा। क्योंकि आज जो बालक हैं कल को उन्हें बड़ा होना है, जैसा कुछ वे घर में देखते आ रहे हैं वही उन्होंने करना है।

इसलिये यदि संसार को 'इस हाथ दे उस हाथ ले' इस दृष्टि-कोण से भी देखें तो आपको पतिगृह के गुरुजनों की सेवासुश्रूषा और अपने से छोटों के साथ नम्रता का वर्ताव करने में कभी भूल न करनी चाहिये।

(३) वृद्धों की शुभकामनाएँ तथा मंगलमय आशीर्वाद सदा शुभ फलदायी होते हैं। गुरुजनों की सेवा द्वारा जहां आप शीघ्र उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त कर सकती हैं वहाँ आपकी सेवा के कारण उनके रोम २ से निकले शुभाशीर्वाद से आपका कल्याण हो सकता है। उनकी शुभ कामनाएं आपकी सुख-समृद्धि की वृद्धि का कारण बन सकती हैं।

सास या जेठानी आदि का पद पा लेने पर स्त्री के ऊपर और भी अधिक जिम्मेवारी आ जाती है। छोटी बहुओं का कर्तव्य जहां उनकी सेवा सुश्रूषा है वहां उनका भी कुछ कर्तव्य है। उन्हें अपने पद का ध्यान रखते हुए छोटों के प्रति सदा क्षमा तथा दया का भाव रखना चाहिये। यदि बहू से किसी प्रकार—भूल से या प्रमाद से—कोई अपराध हो भी जाय तो उसे अपनी बेटी सदृश समझकर, प्रेम से समझाये, उसके साथ कटुता का व्यवहार न करे। यदि सास और बहू अर्थात् बड़े और छोटे दोनों की ओर से इस प्रकार का प्रेमभाव बर्ता जाय तो आज घर-घर में जो सास-बहू के झगड़े बढ़ते जा रहे हैं उनकी

तुरन्त ही इतिश्री हो जाय। अतः पति सेवा के साथ-साथ गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा, छोटों का सस्नेह पालन, और अतिथि अभ्यागतों का समुचित सत्कार प्रत्येक सद्गृहस्थ नारी का आवश्यक कर्तव्य है।

तुलसी-पूजन

स्त्रियों के लिए शास्त्रकारों ने तुलसी-पूजन का विशेष महत्त्व माना है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्राचीनकाल में अपने अनुपम गुणों के कारण यह पौधा प्रत्येक हिन्दू घर का एक आवश्यक अंग रहा है। हिन्दू घर की अनेक विशेषताओं (Speciality) में तुलसी का पौधा भी एक है। श्री हनुमान् जी महाराज जब सीता का पता लगाने लंका में गये थे तो उन्होंने वहां उस राक्षसों की नगरी में इसी पौधे की सहायता से सनातन-धर्मानुयायी परम-भक्त विभीषण को खोज निकाला था, जैसा कि तुलसीदास जी ने लिखा है —

रामायुध अंकित गृह, शोभा बरनि न जाई।
नव तुलसिका-वृन्द तहँ, देखि हरष कपिराई ॥

अस्तु, इस सबसे तात्पर्य यही है कि प्राचीन काल से प्रत्येक आर्य सद्गृहस्थ के यहां तुलसी वृक्ष रहता आया है और जैसा कि शास्त्रीय विधान है स्त्रियां इसके पूजन के द्वारा अपने सौभाग्य और वंश की समृद्धि की रक्षा करती रही हैं। इसलिये प्रत्येक भारतीय नारी को प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर शुभ्र-वस्त्र तथा मस्तक पर सिन्दूर आदि धारण कर भगवत्-स्मरणानन्तर तुलसी पूजन अवश्य करना चाहिये। पूजन की

पूर्ण विधि से यदि परिचय न हो तो तुलसी वृक्ष का जल से सिंचन और अक्षतों से अर्चन कर, दीप जला कर नीचे लिखे मंत्र से सौभाग्य प्रार्थना करनी चाहिए—

सौभाग्यं सन्तति देवि, धनं धान्यञ्च मे सदा ।
आरोग्यं शोकशमनं, कुरु मे माधवप्रिये ।।

पति वशीकरण मन्त्र

यों तो पुराणेतिहास में स्थान २ पर स्त्री-धर्म का विशद वर्णन मिलता है, परन्तु महाभारत में पति-परायण शाण्डिली का एक छोटा सा उपाख्यान आता है जिसमें गागर में सागर की भाँति स्त्रीधर्म का संक्षिप्त सार भर दिया गया है। कहा जाता है कि जब गृहस्थ-धर्म का सम्पूर्ण सुख भोगने के बाद आयु समाप्ति पर शाण्डिली मृत्यु को प्राप्त होकर भगवान् के पार्षदों द्वारा स्वर्ग में पहुँची तो अनेक देव-पत्नियें इकठ्ठी होकर उसके स्वागतार्थ उपस्थित हुईं और उससे पूछा कि तुमने पृथ्वी पर रह कर ऐसे कौन से शुभकर्म किये थे जिनके प्रभाव से तुम्हें स्वर्ग में भी ऐसा सम्मान पूर्ण पद मिला ?

शाण्डिली ने उत्तर दिया—हे देवपत्नियो ! मैंने शिर मुँडा कर, जटा रखाकर या काषाय वस्त्र अथवा चीर वल्कल धारण कर संसार में कोई तप नहीं किया था। मैंने न घर बार छोड़कर बन की राह ली थी। और न पति सेवा को छोड़कर साधु सन्तों की सेवा में रही थी। मैंने तीर्थाटन और किसी विशेष दान पुण्य से भी स्वर्ग लाभ नहीं किया। मैं तो केवल शास्त्र प्रोक्त गृहस्थ धर्म का पालन करके ही इस पद की अधिकारिणी बनी हूं।

मैंने कभी अपने पति को कठोर वाणी से या क्रोध भरी बातों से कष्ट नहीं पहुंचाया। सदा सावधान और पति-परायणा होकर देवता और पितरों की पूजा और सास-ससुर की सेवा करती रही। मेरे मन में कभी पति या गुरुजनों के प्रति कुटिल भाव उत्पन्न नहीं हुआ। मैं कभी घर के बाहर द्वार पर खड़ी होकर पर-पुरुषों से बातचीत नहीं करती थी। मैंने क्या प्रकट, क्या गुप्त, कभी लोक निन्दा के योग्य कोई कुकर्म नहीं किया। पति जब बाहर से घर में आते तब स्नेहपूर्ण दृष्टि से उनका स्वागत करती, आसन देती और यथानियम उनकी सेवा करती। जो भोज्य वस्तुएं स्वामी को रुचती थीं मैं सर्वदा वही उपस्थित करती और जिन वस्तुओं में उनकी रुचि न होती उन्हें स्वयं भी ग्रहण नहीं करती थी। पुत्र कन्या आदि परिवार के लोगों के जो जो आवश्यक कार्य होते प्रतिदिन भोर में ही उठकर उन्हें पूर्ण कर देती थी। सबको समय पर नहलाना, धुलाना, भोजन देना, अतिथि अभ्यागतों का यथोचित सत्कार करना—इन सब कामों में मैं सदा सावधान रहती। मेरे स्वामी जब कभी विदेश गये हुए होते तो मैं शृङ्गार न करती थी। भोग विलास की इच्छा को छोड़कर चित्त को सर्वथा संयम में रख पति की मंगल कामना करती थी। पति के किसी गुप्त विषय को किसी के सामने प्रकट नहीं करती थी। घर को सदा स्वच्छ और पवित्र रखती तथा सबको खिलाकर खाती व सबको सुलाकर सोती। हे देवियो ! मैंने तो बस अपने जीवन में यही कर्म किये थे और विशेष कुछ नहीं।"

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा ने भी एकबार महारानी द्रौपदी से ऐसा ही प्रश्न किया था और

उस रहस्यमय मंत्र या व्रत को जानने की इच्छा की थी जिसके द्वारा द्रौपदी ने अपने पतियों को वश में किया हुआ था। इसके उत्तर में द्रौपदी ने जो कुछ अपनी दिनचर्या सुनाई थी वह स्त्रियों के लिए बड़ी मनन करने लायक है। पतिव्रता शिरोमणि द्रौपदी ने अपनी सम्पूर्ण सफलता का रहस्य किसी जादू टोने या मंत्र तंत्र को न देकर पतिसेवा को ही दिया था।

अनसूया का सीता को उपदेश

श्री गोस्वामी तुलसी दास जी ने रामचरितमानस में सती अनसूया द्वारा सीता को दी गई पातिव्रत्य-शिक्षा का जो वर्णन किया है उसकी निम्न पंक्तियें प्रत्येक भारतीय स्त्री के लिये सर्वदा स्मरण रखने योग्य हैं :—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी।।
अमित दानि भर्ता वैदेही। अधम सो नारी जो सेव न तेही।।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परीखिय चारी।।
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी धनहीना।।
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना
एकहि धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा।।
जग पतिब्रता चारिविधि अहहीं। वेद पुराण संत सब कहहीं।
उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं।।
मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।।
धर्म विचारि समुझिकुल रहही। सोनिकृष्टतिय श्रुतिअसकहइं
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई।

पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रतधर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई॥
सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

साध्वी स्त्री छः दुर्गुणों से दूर रहे

दुर्गुण तो किसी में भो हो उसके विनाश का कारण हो जाता है, परन्तु स्त्री के दुर्गुण न केवल उसके कष्ट के कारण बनते हैं किन्तु सम्पूर्ण परिवार और दोनों वंशों को विपत्ति-सागर में डुबो देते हैं। इसलिये कल्याण चाहने वाली स्त्री को उचित है, कि स्मृतिकारों द्वारा बड़े अनुभवों से बताये गए नीचे लिखे दुर्गुणों से सर्वदा अपने को बचाये।। व्यास जी कहते हैं—

(क) द्वारोपवेशनं नित्यं, गवाक्षेण निरीक्षणम्।
असत्प्रलापो हास्यञ्च, दूषणं कुलयोषिताम्॥

अर्थात्—अधिक समय तक व्यर्थ दरवाजे पर बैठना, खिड़की रोशनदानों से बार-बार झाँकना, अश्लील गन्दी बातें बोलना या पढ़ना, जोर-जोर से बोलना और हंसना आदि, अच्छे कुल की स्त्रियों को यह बुरी आदतें छोड़ देनो चाहियें।

(ख) पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥

(मनु० ९।१३)

अर्थ—(१) शराब भाँग आदि मादक पदार्थों का सेवन, (२) दुश्चरित्र पुरुष या स्त्रियों से मेल-जोल, (३) पति से अलग रहना, (४) इधर उधर व्यर्थ घूमना, (५) बिना समय के सोना, (६) दूसरे के घर में रहना—ये ६ दोष स्त्रियों के चरित्र को गिराने वाले हैं अतः इनसे सावधान रहना चाहिए।

पतिसेवा ही मुक्ति का द्वार क्यों

स्त्रियों के लिये शास्त्र ने पतिसेवा ही सबसे बड़ा धर्म बतलाया है। स्त्रीधर्म का वर्णन करते हुए वेद भगवान् कहते हैं–

पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृतायकम् ।

अर्थात्—स्त्री को चाहिये कि पति की अनुगामिनी बन कर मुक्ति लाभ के लिये प्रस्तुत हो। सम्पूर्ण वेदशास्त्र और सभी ऋषि महर्षियों द्वारा एक स्वर से स्त्री के लिये केवल पति सेवा को ही परम धर्म मानने की शिक्षा देना कुछ निर्हेतुक नही है। जैसा कि हम पीछे कह आये हैं प्रकृति ने स्त्री को मृदुता, सरलता, दया लज्जा, श्रद्धा, ममता आदि कुछ ऐसी विशेषताएं दी हैं जो पुरुष में नहीं हैं। शारीरिक स्नायुवों और मांस पेशियों की अपेक्षाकृत दुर्बलता, मस्तिष्क के स्थान पर मन की सबलता और बहुमुखी रागवृत्ति की जगह केन्द्रात्मक-रागवृत्ति–ये कुछ ऐसी बातें हैं जो स्त्री को पुरुष से बिलकुल भिन्न करती हैं। ऐसी दशा में अपने इन विशेष गुणों के प्रयोग के लिये स्त्री को किसी सगुण, सशरीर स्थूल और साकार प्राणि के साहचर्य की आवश्यकता है, अर्थात् उसे कोई ऐसा लक्ष्य चाहिये जिसे वह प्रेम कर सके, जिस पर उसकी ममता ठहर सके, जिसके साथ रह कर उसे कभी अपनी

कोमलता सुकुमारता और लज्जा का परिचय देने का अवसर मिले। यह सब इच्छायें स्त्री में स्वाभाविक हैं और जैसे ही उसके शरीर का विकास होकर उसमें कुछ नारीपन आने लगता है उसका हृदय बरबस इस ओर आकृष्ट हो जाता है।

ऐसे ही समय शास्त्र और सामाजिक-विधि से विवाहिता होकर नारी एक पुरुष के सम्पर्क में आती है और उसके जीवन का वह स्रोत जो उच्छृङ्खल रूप से बहता हुआ शायद किसी मरुस्थल में जाकर सूख जाता—गृहस्थाश्रम रूपी नदी के सहारे २ आनन्द-समुद्र में मिल कर शान्त हो जाता है। भाव यह है कि इन्हीं गुणों का प्रयोग यदि स्त्री अनिश्चित रूप से अनेकों के प्रति करे—वह अनेक पुरुषों से प्रेम करे अनेक में ममत्व रक्खे और अपनी सुन्दरता द्वारा अनेकों को आकृष्ट करे, तो इससे उसका जीवन तो एक वेश्या का सा घृणित जीवन बन ही जाएगा किन्तु उन पुरुषों के आपसी राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़े, खून और हत्या का कारण भी बनेगा। इससे समाज में जो एक प्रकार की अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न होगी उसका तो कहना ही क्या है! अतः मानव समाज के शान्तिपूर्ण जीवन के लिये स्त्री में इस अनन्य पति-निष्ठा का होना परमावश्यक है।

यह तो हुई लोक की बात, परलोक के लिये अर्थात्—आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी स्त्री के लिये सब से सुगम एवं अनिवार्य रास्ता पतिसेवा ही है, अन्य कुछ नहीं। पति सेवा को छोड़ कर व्रत दान आदि साधन स्त्री के लिये न उपयुक्त हैं न कल्याणकारी, यथा—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ (मनु ५।१५५)

अर्थात्—स्त्री के लिये न अलग यज्ञ का विधान है न व्रत उपवासादि अन्य किसी धर्माचरण का। वह तो पति सेवा द्वारा ही स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करती है।

हमारे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्री जप तप दानादि बिलकुल न करे। नहीं करे और अवश्य करे। गृहस्थ धर्मानुसार उसे समय २ पर इन सब के करने का अवसर मिलता है, तदनुसार उसे इन का आचरण अवश्य करना चाहिये। समय २ पर शिवरात्री, जन्माष्टमी, गणेश चतुर्थी आदि अनेक व्रत, अमावस्या पूर्णिमा, संक्रान्ति आदि अनेक स्नान दान पर्व आते रहते हैं। इन अवसरों पर यदि नारी अपनी कुल-परम्परा तथा शास्त्र विधिपूर्वक व्रतादि नहीं करती तो वह भी उतनी ही दोष भागिनी है जितनी कि पतिसेवा छोड़ कर निरे धर्माचरण द्वारा मुक्ति कामना करने वाली नारी। इस लिये स्त्री का परम-धर्म यही है कि सर्वथा पत्यनुकूल आचरण करती हुई उभय वंश और उभय लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करे।

भारत की आदर्श हिन्दु नारियां

भारत वर्ष विलक्षणताओं का देश है। यहाँ की अनेक विलक्षण विशेषताओं में हिन्दू-नारी का उदात्त एवं उच्च आदर्श भी अपना विशेष स्थान रखता है। भारतीय नारी सर्वदा आदर्श प्रिय रही है, उसने सदा प्राणपण से अपने आदर्श की संरक्षा की है। क्या घर और क्या बाहर, जिस क्षेत्र को भी उसने अप-नाया वहीं सदा के लिये अपने अनुपम त्याग और तप की अमिट छाप छोड़ दी है। शास्त्राज्ञानुसार आदर्श गृहिणी और आदर्श

पत्नी के रूप में रह कर यदि उसने सामाजिक जीवन में असाधारण सम्मान पाया है तो समय पड़ने पर देश और धर्म की संरक्षा के लिये चूड़ियों वाले सुकुमार हाथों में तलवार सम्भालने में भी वह कभी किसी से पीछे नहीं रही। उस समय चण्डिका और महाकाली का रूप धारण कर उसने शत्रु से वह लोहा लिया कि आज भी उसकी गाथा वीरों के हृदय में रोमाञ्च पैदा कर देती है। देश और धर्म की संरक्षा के लिये किये गिये ऐसे अमर बलिदानों में महारानी पद्मिनी और उसकी संगिनी १४ हजार राजपूत वीरांगना, महारानी सारन्धा, रानी करमवती, पन्ना धाय, वीरपुत्री अहिल्याबाई और—'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी'—की नायिका वीर रमणी लक्ष्मीबाई के बलिदान 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' भारतीय नारी के अनुपम देश प्रेम का स्मरण दिखाते रहेंगे।

गृहक्षेत्र तो नारी का अपना क्षेत्र है ही। उसमें रहते हुए पतिव्रत धर्म के पालनार्थ उसने बड़े से बड़े कष्टों को सहा परन्तु अपने निश्छल पतिप्रेम में कोई अन्तर न आने दिया। वे देवियां यद्यपि आज जीवित नहीं हैं परन्तु उनके पावन यश की सुरभि से आज भी सारा विश्व महक रहा है। राज्य को लात मारकर तथा स्वयं को बेचकर पतिऋण चुकाने वाली महारानी शैव्या, बन में सोती हुई को अकेली छोड़ जाने वाले महाराजा नल को अपने कौशल से पुनः प्राप्त करने वाली दमयन्ती, यम के बन्धनों से भी पति को छुड़ा लाने वाली सावित्री, पति के अपमान के कारण पिता के यज्ञ में अपना शरीर होम देने वाली सती, और अग्नि परीक्षा द्वारा अपनी विशुद्धता का प्रमाण देकर एवं पुनः निर्वासिता होकर भी सर्वदा पति की मंगल कामना करने वाली जगज्जननी भगवती सीता आदि के चरित्र ऐसे चरित्र हैं जो

संसार की स्त्रियों के लिये सदा अनुकरणीय रहेंगे।

धन्य है भारत की यह देवियां ! जिनके सतीत्व की गाथाओं से अनेकों ग्रन्थ भरे पड़े हैं और जिनका चरित्र आज भी पथ भूली हुई स्त्रियों को मार्ग दिखाने के लिये दीप स्तम्भ (Light House) के समान दीप्त हो रहा है !

गृह-लक्ष्मी बनाम दरिद्रा

किन २ गुणों के कारण नारी गृहलक्ष्मी बन जाती है और किन २ दुर्गुणों से वही नारी साक्षात् दरिद्रा बन जाती है यह बात पुराण ग्रन्थों में एक बड़ी रोचक गाथा द्वारा व्यक्त की गई है। हम उस कथा का संक्षिप्त अंश यहां उद्धृत करते हैं जिससे पाठक और पाठिकाएं उसका मनन करके अपने घर को लक्ष्मी का आवास बनाने में सफल मनोरथ हो सकें। तथा दारिद्र्य दुर्बुद्धि की सम्भावित आपदाओं से बचने के लिये सावधान हो सकें।

दरिद्रा, लक्ष्मी की सगी बड़ी बहन है। पुराणों में वर्णन आता है कि जब समुद्र-मन्थन से भगवती लक्ष्मी जी निकलीं और भगवान् विष्णु के साथ उनका पाणिग्रहण होने लगा तो लक्ष्मी जी ने कहा—भगवन्, आप तो स्वयं शास्त्रमर्यादा के निर्माता हैं। जबतक मेरी बड़ी बहन दरिद्रा क्वांरी है, भला मुझ छोटी का विवाह कैसे हो सकता है ?

'तुम्हारी बड़ी बहन भी है यह तो अभी मालूम हुआ। क्या नाम है उसका ? और अभी तक वह क्वाँरी क्यों है ? भगवान् ने पूछा।

लक्ष्मी जी ने अपनी बड़ी बहिन दरिद्रा का परिचय देते हुए बताया कि वर न मिलने के कारण ही अभी तक उसका विवाह न हो सका है।

भगवान् विष्णु आखिर दरिद्रा के लिये वर खोजने निकले, पर जहाँ जाकर चर्चा करते वहीं 'दरिद्रा' यह नाम सुनकर ही सब ठिठक जाते। भगवान् बड़े घूमे फिरे, पर उस देवी के योग्य तथा उसे स्वीकार करने वाला वर उन्हें न मिल सका। अन्त में उन्होंने उद्दालक मुनि के चरण पकड़े और प्रार्थना की कि अन्य किसी दृष्टि से न सही परोपकार के लिये ही सही, वे दरिद्रा से विवाह करलें। उद्दालक सहमत हो गये। विवाह सम्पन्न हो गया। पर मुनि जब उसे परिणीता कर आश्रम को लौट रहे थे तो आश्रम के यज्ञ धूम की गन्ध से दरिद्रा कुछ व्याकुलता सी अनुभव करने लगी और टिठक कर खड़ी हो गई। ऋषि के कारण पूछने पर दरिद्रा ने कहा—जहां ऐसे २ काम होते हों वहाँ मैं नहीं रह सकती। उद्दालक ने पुछा—तुम कहाँ रह सकती हो और कहां नहीं रह सकती हो इसका विस्तृत विवरण दो।

उसने कहा– जहाँ नित्य प्रति झाड़ू बुहारी लगती हो, गाय के गोवर से लेपन होता हो, घर के सब लोग सूर्योदय से पहले सोते उठकर स्नान संध्या भजन आदि कर्म करते हों, पितरों के लिये स्वधाकार और देवाताओं के लिये स्वाहाकार होता हो जिस घर की स्त्रियें स्वच्छ सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत, गोपूजन तुलसीपूजन आदि कृत्य करती हों। घर के बालक युवा और युवतियें गुरुजनों के आज्ञाकारी हों और उनकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हों। जहां समय २ पर व्रत, उपवास, स्नान, दान

और यज्ञ हवनादि कृत्य किये जाते हों, ऐसे घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं कर सकती।

किन्तु मैं तो ऐसे स्थान में सुख पूर्वक बसती हूँ जहां कि घरके लोग सूर्य चढ़ जाने पर भी खर्राटे की नींद ले रहे हों। जहाँ झाड़ू बुहारी न लगती हो, कभी गाय के गोबर का चौंका न लगता हो। रात के जूठे बर्तन दोपहर तक और दोपहर के उच्छिष्ट बर्तन रात तक बिखरे पड़े रहते हों। मक्खी और मच्छरों की भिनभिनाहट से जो घर सदैव मुखरित रहता है। जिस घर की मैले कुचैले वस्त्र और रूखे बिखरे केशों वाली कर्कशा स्त्रियें एक दूसरे से प्रातः सायं लड़ती झगड़ती हों। जहां युवा युवतियें गुरुजनों का पद २ पर अपमान करती हों और वृद्ध जन छोटों से डाट डपट मारपीट से पेश आते हों इत्यादि–ऐसा कह कर दरिद्रा जिद्द करके अपने स्थान पर वापिस आ गई।

इस कथा से प्रत्येक गृहस्थ नारी अपने कर्तव्य को सीख सकती है।

स्वधर्मनिष्ठ नर ही नारायण बन सकता है

इस प्रकार साधारण नर से लेकर उसके वर्ण और जाति आदि अन्य अनेक भेदों-उपभेदों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने के अनन्तर हम नारायण पदाभिलाषी पाठकों को यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्य्यन्त सभी नर नारी अपने २ शास्त्रोक्त धर्म का पालन करने पर क्रमिक उन्नति करते हुए अन्त में भगवत् सायुज्य को = श्रीमन्नारायण पद को सुतरां प्राप्त कर सकते हैं। भगवद् भक्तों की माला में मौक्तिक की भान्ति जहाँ देवर्षि नारद और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जैसे

महामहिम महानुभाव चमक रहे हैं वहाँ उसी प्रकार, धन्ना जाट, नन्दा नाई, सदन कसाई, चेता चमार, रैदास चमार, कलवा डोम और गणिका, गोध तक भी—जात्या अधम से अधम, किन्तु भक्त्या सर्वोपरि, महाभक्त,—कौस्तुभमणि की भान्ति अपनी पुनीत प्रभा से धार्मिक जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं।

इसलिये नर से नारायण बनने का निष्कण्टक पथ केवल शास्त्रोक्त स्वधर्म का निष्कण्ट रूप से पालन करना ही वेदादि शास्त्रों में बतलाया है। जो नर नारी इस तथ्य को समझ कर अपने अपने कर्तव्य का पालन करेंगे वे ही वस्तुत: नर से नारायण बन सकेंगे। अब इन शब्दों के साथ हम इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं।

मनुज जो नित्य कर्म में निष्ठ।
सर्व संस्कारों से सुप्रतिष्ठित ।।
वर्ण आश्रम आचार विशिष्ट।
वही पावे 'नर' विरुद वरिष्ठ ।।
मोक्ष का द्वार एक निज धर्म।
यही पंचम अध्याय सुमर्म ।।

नारायण-तत्त्व निरूपणाध्याय

(छठा अध्याय)

सृष्टिस्थितिलयाध्यक्षोऽरूपो विश्वरूपधक् ।
वेदैकवेद्यः सर्वात्मा श्रीमन्नारायणः स्मृतः ॥

नारायण-तत्त्व विचार

(नारायणात्परतरं नहि किञ्चिदस्ति)

प्रत्येक नर का जन्म श्रीमन्नारायण को प्राप्ति के लिये हुवा है यह आस्तिकों का सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। नर तत्त्व का वर्णन गत अध्याय में किया जा चुका है। अब कम प्राप्त नारायण-तत्त्व का निरूपण किया जाता है।

परमात्मा की मान्यता के विषय में वर्तमान मानव समाज को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) नास्तिक-ईश्वर को सर्वथा और सर्वदा न मानने वाले हैं, जैसे—चार्वाक, लोकायतिक, बौद्ध, जैन, देवसमाजी, कम्यूनिष्ट और सोशलिष्ट आदि (२) अर्ध-नास्तिक—[निराकार है, साकार नहीं,—निर्गुण है, सगुण नहीं—सर्वशक्तिमान् है परन्तु अवतार नहीं ले

सकता, सर्वव्यापक है, परन्तु प्रतिमाओं में सन्देह है–इस प्रकार] ईश्वर के आधे अंश में 'हां' और आधे अंश में 'ना' करने वाले हैं। जैसे—ईसाई, मुसलमान, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी आदि (३) गये बीते—वे हैं जो कहने में तो ईश्वर को खूब मानते हैं, पर कचहरी में ईश्वर की ही शपथ उठाकर झूठी साक्षी देते हैं और पर्दे की ओट में अहर्निश पाप करते हुए यह भूल जाते हैं कि वह सहस्राक्ष अन्तर्यामी मेरे इस दुष्कृत्य को देख रहा है। (४) आस्तिक—जो मनसा वाचा कर्मणा सर्वथा और सर्वदा ईश्वर को सर्वत्र ओतप्रोत देखते हैं, वे वन्दनीय व्यक्ति हैं।

ईश्वर सद्भावे किं मानम् ?

(ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति)

नास्तिकों का यह बहुत पुराना नारा है कि 'ईश्वर के अस्तित्व में क्या प्रमाण ?'– हमारे दर्शनकार महर्षियों ने अनेक युक्तियों और प्रमाणों से नास्तिकों के इस प्रश्न का उचित समाधान किया है' परन्तु आज के युग में उन प्रमाणों की सङ्गति लगाने वाले और युक्तियों का सामंजस्य बिठलाने वाले विद्वानों की संख्या केवल अंगुलियों पर गिनने लायक अवशिष्ट रह गई है। अतः सर्व साधारण की आस्था को दृढ़ करने के लिये उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। हमने इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध सिद्धान्ताध्याय में'अण्डपिण्डवाद' पर विचार करते हुए यह घोषणा की थी कि संसार के किसी भी गम्भीर प्रश्न का तत्काल अकाट्य उत्तर देने के लिए इस 'वाद' का समुचित प्रयोग किया जा सकता। जिज्ञासु या जिगीषु किसी प्रकार का भी प्रश्नकर्त्ता क्यों न हो

उसके प्रश्न का उत्तर उसी समय नकद मिल जाएगा और उसको 'ननु नच' करने का अवसर न मिलेगा–सो हम अब पाठकों की तादृश शङ्काओं का समाधान करने की पद्धति यहां प्रकट करते हैं।

कल्पना कीजिये प्रश्न है—ईश्वर की सत्ता में क्या प्रमाण ? उत्तर—तुम्हरी सत्ता में क्या प्रमाण ?—इसके उत्तर में प्रश्न-कर्त्ता पहिले अपनी जाति, आजीविका, देश, या अन्य किसी विशेषण को उपस्थित करने का प्रयत्न करेगा जैसे--मैं ब्राह्मण हूं, वैद्य हूं. भारतीय हूँ. धनी मानी हूं इत्यादि। तब प्रश्नकर्त्ता से पूछिये कि मैं आपकी जाति पेशा देश अथवा अन्य कोई उपाधि पूछना नहीं चाहता किन्तु जिस सत्ता की ये सब उपाधियें हैं उसको जानना चाहता हूँ कहिये—'आप कौन हैं ?' इस पर वह व्यक्ति आवेश में आकर अन्ततो गत्वा यही कहने के लिए विवश होगा कि-- मैं कौन हूँ-तुम्हारे सामने तो खड़ा हूँ-- पूरा साढ़े तीन हाथ का ! खूब देख परख लीजिये !! अन्धे तो नहीं हो !!!'

इस पर आप पुन: धैर्यपूर्वक पूछिये कि--अच्छा महाशय ! हम अभी परीक्षा कर देखते हैं कि तुम सचमुच साढ़े तीन हाथ के हो या नहीं ? अब आप सिर से लेकर पांव तक उसके सब अङ्गों पर अंगुली रखते हुए प्रश्न कीजिये कि कहिये यह क्या है ? और यह क्या है ?--महाशय उत्तर देंगे कि यह मेरा सिर है, यह मेरी आँखें हैं, यह मेरा पेट है, और यह मेरा पाँव है इत्यादि २। बस ! अब आप महाशय जी को समझाइये कि सिर 'आपका' है तो 'आप' कौन हैं जिसका यह सिर है ? इसी प्रकार आंख, नाक, पेट और पाँव सब कुछ 'तुम्हारे' हैं तो

'तुम' कौन हो ? जिसके ये सब अंग है। जैसे--मेरा मकान कहने से मैं स्वयं मकान नहीं बन जाता किन्तु मेरी सत्ता उस से पृथक् स्वतन्त्र होता है ठीक इसी तरह 'मैं' और 'मेरा' ये दो भिन्न २ वस्तु हैं अर्थात् तुम 'अंगा' हो सकते हो किन्तु 'अङ्ग' नहीं। ऐसी दशा में 'तुम साढ़े तीन हाथ के हो, यह कैसे माना जा सकता है। हां ! तुम्हारा पिण्ड साढ़े तीन हाथ का हो सकता है। इस पर महाशय जी अपनी सत्ता की चिन्ता में पड़ जायेंगे। और अन्त में कहेंगे कि शरीर मेरा है तो इस शरीर में व्याप्त 'चेतन' मैं हूँ। अब महाशय जी ने स्वयं अपने ही मुख से स्वीकार कर लिया कि प्रश्नकर्ता के अस्तित्व में उसका पिण्ड ही सर्वोपरि प्रमाण है। बस ! जैसे मानव पिण्ड स्व-व्याप्त चेतन के अस्तित्व का प्रमाण है, ठीक इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष दृष्ट ब्रह्माण्ड स्व-व्याप्त चेतन सत्ता ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

जैसे--मानव पिण्ड जड़ तथा स्थूल है और उसमें रहने वाला जीव चेतन और सूक्ष्म है ठीक इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड जड़ तथा स्थूल है किन्तु तद्-व्यापक परमात्मा चेतन और सूक्ष्म है। अन्तर केवल इतना है कि साढ़े तीन हाथ के मानव पिण्ड में रहने वाले चेतन का नाम 'जीव+आत्मा' है और एक अर्ब योजन प्रमाण वाले ब्रह्माण्ड में रहने वाले चेतन का नाम 'परम+आत्मा' है। एक के साथ 'जीव' विशेषण लगा है दूसरे के साथ परम' विशेषण लगा है। यदि दोनों विशेषणों को हटा दिया जाए तो 'आत्मा' अण्ड और पिण्ड दोनों में समान है यही विशिष्ट अद्वैतवाद का मौलिक रहस्य है। इसलिए जो यह पूछता है कि ईश्वर के अस्तित्व में क्या प्रमाण हैं ? मानो वह

अपनी ही सत्ता में स्वयं संदेह करता है। इसलिये **'ईश्वरसद्भावे किं मानम्'** का 'अण्ड पिण्ड-वाद' सिद्धान्त के अनुसार सीधा उत्तर हुवा कि **'ईश्वरसद्भावे त्वमेव प्रमाणम्'**। इसी ढंग से इस सम्बन्ध के अन्यान्य प्रश्नों को क्षण-मात्र में समाहित किया जा सकता है, यथा—

ईश्वर कहां रहता है ?

(स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु)

ईश्वर कहां रहता है ? ऐसा प्रश्न करने वाले को कहो कि 'तुम' कहां रहते हो ? उत्तर में पूर्व प्रदर्शित शङ्का-समाधान के अनुसार उसे अन्ततो गत्वा यही कहना पड़ेगा कि 'मैं' नामक मेरा चेतन मेरे इस पिण्ड में सर्वत्र-व्यापक है, बस ! उसे भी कह दो कि जैसे—'तुम' इस पिण्ड में सर्वत्र हो, ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी इसी ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ताने बाने की तरह ओतप्रोत है।

ईश्वर कैसा है ?

(एक दारु गत देखिये एकू)

'तुम कैसे हो ?'—मैं तो शरीर की दृष्टि से जड़ हूँ और जीव की दृष्टि से चेतन हूँ, अर्थात् मेरा शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है। इन दोनों के संघात का नाम 'मैं' हूं। कह दो कि बस ठीक इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड जड़ है और इस में व्यापक परमात्मा चेतन है। दोनों के संघात का नाम ईश्वर है, **'हरिरेव जगद् जगदेव हरिः'**।

इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म, विपरिणामी-शाश्वत्, अनित्य-नित्य आदि २ समस्त विशेषणों को पिण्ड की भान्ति ब्रह्माण्ड पर और जीव की भान्ति परमात्मा पर घटाया जा सकता है।

ईश्वर दीखता क्यों नहीं ?

(न तत्र चक्षुर्गच्छति

'तुम' क्यों नहीं दीखते ?'—अर्थात् जैसे तुम्हारा पिण्ड दीखता है परन्तु तद् व्यापक चेतना नहीं दीखता तथापि उसकी सत्ता में कभी सन्देह नहीं होता, ठीक इसी प्रकार जब ब्रह्माण्ड दीखता है, तब तद् व्यापक चेतन के न दीखने पर उसमें सन्देह क्यों ? जैसे पिण्ड की नानाविध चेष्टाओं से तद्गत चेतन का अनुमान होता है ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड गत अनेक अमानवीय चमत्कारों द्वारा तद्गत चेतन का सुतरां अनुमान होता है इसी लिये न्यायदर्शन में लिखा है कि—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ।

(न्यायदर्शन ३ । १ । ३४)

अर्थात्—जो प्रत्यक्ष न दीखता हो परन्तु अमुक कारण से जिसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता हो–उस पदार्थ का अभाव नहीं माना जा सकता।

ईश्वर का रूप रंग तोल वजन ?

अरूपः सर्वरूपधृक्)

'तुम्हारा रूप रङ्ग तोल वजन है या नहीं ?—जैसे मानव

पिण्ड का रूप रङ्ग तोल बजन सब कुछ है परन्तु तद्गत चेतन का रूप रङ्ग तोल बजन कुछ नहीं, ठीक इसी प्रकार विराट् के शरीर भूत इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु का तोल वजन रङ्ग रूप सब कुछ है, परन्तु तद्गत चेतन का रूप रंग तोल वजन कुछ नहीं।

परमात्मा निराकार है या साकार

उभयं वा एतत्प्रजापतिः)

'तुम' निराकार हो या साकार ?—जैसे साकार पिण्ड और निराकार जीव दोनों के संघात का नाम 'तुम' हो, ठीक इसी प्रकार साकार ब्रह्माण्ड और निराकार तद्व्यापक चेतन दोनों के संघात का नाम भगवान् है इनमें केवल अन्तर इतना है कि सर्व साधारण जीव अल्प शक्ति होने के कारण अपने नानाविध रूप बनाने में असमर्थ है परन्तु परमात्मा सर्व-शक्तिमान् होने के कारण जब जैसा चाहे रूप धारण कर सकता है। कदाचित् जीव भी योग साधना द्वारा परमात्मा से नैकट्य स्थापन कर ले तो वह भी लोकान्तर-गमन, परकाय-प्रवेश, अनेक शरीर बनाना आदि सिद्धियों का स्वामी बन सकता है—यह हमारे 'पुराण-दिग्दर्शन' में द्रष्टव्य है।

वस्तुतः 'निराकार' शब्द ही परमात्मा के साकार होने में प्रबल प्रमाण है, क्योंकि 'निराकार' शब्द का अक्षरार्थ है कि निर्गत आकारो यस्मात्' अर्थात्—निकल गया है, पृथक् हो गया है—आकार जिससे। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पंचम्याः' प्र, निर् आदि उपसर्ग क्रान्त आदि अर्थों में पञ्चमी विभक्ति से

समस्त हो जाते हैं। इस व्याकरण नियम के अनुसार आकार तभी पृथक् हो सकता है जबकि वह पहिले विद्यमान हो। जैसे—पहिले से ही दिगम्बर (नग्न) पुरुष से कपड़े छीनने की बात उपहासास्पद है, ठीक इसी प्रकार यदि परमात्मा में कोई आकार विद्यमान ही नहीं था तो फिर उससे वह जुदा कहाँ से हो गए? इसलिये परमात्मा पहिले साकार होता है फिर निराकार बनता है। सृष्टि के आदि में ब्रह्माण्ड के ये सब दृष्ट साकार पदार्थ परमात्मा में समाए रहते हैं अतः वह साकार कहाता है, ज्यों ही सृष्टि होने लगती है तो ये सब आकार उससे पृथक् हो कर ब्रह्माण्ड रूप में परिणत हो जाते हैं और वह 'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' के अनुसार एक चौथाई में समस्त ब्रह्माण्डों की रचना करके बारह आने में स्वयं बना रहता है। इसलिये निराकार और साकार का प्रश्न करने वाला व्यक्ति वस्तुतः इन दोनों शब्दों के अक्षरार्थ से भी अनभिज्ञ होता है, अर्थज्ञ पुरुष को यह शङ्का ही नहीं हो सकती।

परमात्मा एक है या अनेक ?

(एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति)

सब सम्प्रदायवादी प्रायः ईश्वर को एक मानते हैं, परन्तु सनातनधर्म में ब्रह्म, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश अनेक देवी और देवता ईश्वर माने जाते हैं। यह क्यों?—'गणेश-विज्ञान' प्रघट्ट में इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर दिया जा चुका है यहाँ केवल इतना और अधिक कह देना चाहते हैं कि–सनातन धर्म एक ही परमात्मा का सच्चा पुजारी है परन्तु मूर्खों की दृष्टि में तो

खुदा, अल्लाताला, गाड आदि शब्दों की भान्ति ब्रह्म, परमात्मा ओ३म् ईश्वर आदि शब्द भी पर्यायभूत हैं। परन्तु सनातन धर्म में एक ही परमात्मा के विभिन्न अनेक नाम होते हुवे भी ये सभी नाम एक एक भिन्न भिन्न शक्ति सत्ता के परिचायक पारिभाषिक नाम हैं। ऐसी स्थिति में परमात्मा को एक मानते हुवे भी दार्शनिक विवेचन के अनुसार हम ब्रह्म और ईश्वर को समान पर्य्यायवाची शब्द न मान कर विभिन्न सत्ता के परिचायक मानते हैं। इस उलझी हुई समस्या को जरा लौकिक दृष्टान्त से समझिये, जैसे 'भारत सरकार' (Indian Govt.) शब्द भारत का शासन करने वाली राजसत्ता का एक समष्टि नाम है, परन्तु प्रधान मन्त्री, प्रधान सेनापति, कोषाध्यक्ष, यातायात मन्त्री, डाकखानों का प्रमुख, न्याय विभाग का अध्यक्ष, ये नाम इस एक ही 'भारत सरकार' कही जाने वाली समष्टि के विभिन्न व्यष्टि नाम होते हुवे भी अपनी २ परिभाषा के अनुसार एक खास महकमे का परिचय देते हैं। समष्टि दृष्टि से चाहे इन सब को ही भारत सरकार कहा जाता हो परन्तु व्यष्टि दृष्टि से प्रधान मन्त्री को न्यायाध्यक्ष और न्यायाध्यक्ष को प्रधान मन्त्री नहीं कह सकते। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन्द्र, वरुण और यम आदि एक ही परमात्मा के विभिन्न निर्विशेष नाम हैं, तथापि जिस अवस्था में हम परमात्मा को ब्रह्मा नाम से स्मरण करेंगे तब वहां विष्णु नहीं कहा जा सकता। इस लिये 'ब्रह्म और ईश्वर' ये दोनों शब्द केवल मूर्खों की दृष्टि में ही समान पर्य्याय हो सकते हैं परन्तु दार्शनिक दृष्टि से इन का मूल्य पृथक् २ है।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, क्या हैं?

(स ब्रह्मा स रुद्रः स प्रजापतिः)

ब्रह्म क्या है? ईश्वर क्या है? और ब्रह्मा विष्णु महेश तथा इन्द्रादि देवता क्या हैं?—इन सब प्रश्नों को नीचे लिखे दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

ब्रह्म—कल्पना कीजिये निर्वात स्थान में एक दीपक जल रहा है उसकी ज्योति से समस्त भवन घट पटादि पदार्थ भासित हो रहे हैं परमात्मा की इस शुद्ध दशा का नाम 'ब्रह्म' है।

ईश्वर—उस दीपक के ऊपर एक कांचकी चिमनी चढ़ा दी गई। लागों ने सामान्य दीपक और इस कांच की चिमनी वाले दीप के व्यावहारिक भेद के सौकर्य के लिये जैसे मानो उसे 'लैंप' नाम से स्मरण करना आरम्भ कर दिया, इसी प्रकार जब वही विशुद्ध ब्रह्म अपनी अभिन्न छाया माया से संश्लिष्ट हो जाता हैं दार्शनिक परिभाषा में ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म और इस माया संवलित ब्रह्म का व्यावहारिक विभेद झटिति समझाने के लिये माया संवलित ब्रह्म को 'ईश्वर' कहने लगते हैं।

जैसे दीपक और लैंप के भेद और अभेद का तारतम्य है ठीक इसी प्रकार 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' के भेद और अभेद का स्वारस्य जाना जा सकता है।

त्रिदेव—अब कल्पना कीजिये कि वह कांच की चिमनी लाल, सुफेद और धुंधले तीन प्रकार के विभिन्न रङ्गों से बनी है, तो स्वभावतः ही दीपक का प्रकाश अब कांच की उपाधि से

मकान के घट पटादि पदार्थों को विभिन्न तीन प्रकार के रङ्गों से रंजित कर देगा। यद्यपि इन रङ्गों का दीपक की ज्योतिः पर स्वतः कुछ भी प्रभाव नहीं है वह तो पहिले की भान्ति ही जैसी थी वैसी बनी हुई है, तथापि घट पटादि पदार्थ इन रङ्गों के प्रभाव से विकृत से अवश्य दीखने लग पड़ेगें। बस ! वैसे ही वह काँच की चिमनी रूप माया भी सत्व रजः तमः इन तीन गुणों के स्वाभाविक सङ्घात का नाम है। अतः माया संवलित ब्रह्म—जिसे कि हम सौकर्य के लिये 'ईश्वर' नाम से स्मरण करते हैं—माया के विशेष गुणों के तारतम्य से सृष्टि की रचना, पालना और संहार इन तीन विशिष्ट कार्यों का नियामक है। इसलिये कार्यानुसार इस ईश्वर के भी तीन पारिभाषिक नाम और तादृश रूप स्थिर किये गए हैं यथा—

ब्रह्मा—अर्थात् रजोगुणी माया संवलित ईश्वरापर नामक ब्रह्म, जो समस्त सृष्टि की रचना का अधिष्ठाता है। और ब्रह्मलोक का स्वामी है।

विष्णु—अर्थात्–सत्वगुणी माया संवलित ईश्वरापर नामक ब्रह्म, जो समस्त सृष्टि का पालक, वैकुण्ठ का अधिष्ठाता और मोक्ष का दाता भी है।

रुद्र—अर्थात्–तमोगुणी माया संवलित ईश्वरापर नामक ब्रह्म जो समस्त चराचर का संहार करने वाला, कैलाश का अधिष्ठाता और आशुतोष भी है।

देवता क्या हैं ?

(यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः सर्वे अङ्गे समाहिताः)

इसी प्रकार आगे आगे समझ लीजिये कि जो परमात्मा

सूर्यपिण्ड में स्थित हो कर उस की सत्ता बनाए हुवे है और समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करता है वह 'सूर्य' है। जो जलों को तरल बनाता है और उनकी सत्ता को स्थिर रखता है वह 'वरुण' है। जो मेघों में व्याप्त हो कर वर्षा द्वारा सृष्टि को आप्यायित करता है वह 'इन्द्र' है। इसी तरह तत्तद् वस्तुवों के अभिमानी चेतनों को तत्तत् देवता के नाम से स्मरण किया जाता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ: इन तीन स्थानों की दृष्टि से उन्हें अग्नि वायु और सूर्य इन तीन नामों से स्मरण किया है। अन्यत्र अन्यान्य दृष्टियों से अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति नाम से तेंतीस संख्या वाले कहा गया है। पुनश्च विभिन्न कोटियों की दृष्टि से तेंतीस कोटि और अन्त में स्वयं वेद–

'अनन्ता वै देवाः'।

कहते हुवे उन्हें अनन्त बताता है। वस्तुतः ब्रह्म है ही अनन्त।

देवसत्ता को समझने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि हम नित्य देखते हैं कि पृथ्वी, अपः, तेजः, वायु आदि पदार्थों में से जो मात्रा में अधिक होगा वह मात्स्य न्याय के अनुसार अपने से कम को हजम कर जाएगा। यथा–यदि आग पर पानी डाला जाए तो यदि पानी अधिक होगा तो अग्नि बुझ जाएगी और आग अधिक होगी तो पानी जल जाएगा। इसी प्रकार वायु के अधिक वेग के सामने धूल उड़ जाएगी और मिट्टी के पाषाणमय टीलों के प्रतिरोध से वायु का प्रवाह रुक जाएगा। धूल-कण हथेली पर रख कर यदि जोर से फूंक मारी जाए तो वह विलीन हो जाएंगे और भरे तालाब में मिट्टी का ढेला डाला जाए तो वह

उसी में घुल मिल जाएगा। इसी प्रकार जमीन पर पानी का घड़ा लुढ़का दिया जाए तो वह पानी पृथ्वी में समा जाएगा— तात्पर्य यह हुवा कि ये सब पदार्थ एक दूसरे के विरोधी हैं जो प्रबल होगा वह निर्बल को अपने में विलीन कर लेगा।

अब जरा ब्रह्माण्ड पर विचार करें। इस ब्रह्माण्ड में मृण्मय-पिण्ड से अधिक मात्रा में जल है, और उस से अधिक मात्रा में अग्नि है जो ज्वालामुखी और स्वयं समुद्र के गर्भ में भी वाड-वाग्नि के रूप में छुपा बैठा है, परन्तु ये सब क्यों अपनी-अपनी विभिन्न सत्ता बनाए हुए हैं ? एक दूसरे में विलीन क्यों नहीं हो जाते ? इन सब दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर एक ही हो सकता है कि—इन सब पदार्थों में एक ही परमात्मा समान रूप से व्याप्त है, जो इन सब साधनों की विभिन्न सत्ताओं को स्थिर रख रहा है। तत्तत् वस्तुओं की सत्ता को स्थिर रखने वाली उन विभिन्न शक्तियों का नाम ही देवता है। इसी लिये महर्षि व्यास ने 'ब्रह्मदर्शन' में लिखा है कि—

'अभिमानिनि व्यपदेशस्तु'

अर्थात्—तत्तद् वस्तुओं की अभिमानिनी शक्तियों का नाम देवता है। उन्हीं में समस्त देवतावाद का व्यपदेश है।

देवता दीखते क्यों नहीं ?

(दृश्यते त्वग्रया बुद्धया)

महाभारतादि ग्रन्थों में ऐसी अनेक कथाएं आती हैं जिनमें

वर्णित है कि पाण्डव आदिकों का समय २ पर अनेक देवताओं से साक्षात्कार हुआ। पुराणादि ग्रन्थों के पढ़ने पर तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो वे देवता हमारे निकट सम्बन्धी थे और हमारा उनसे आदान प्रदान था परन्तु अब वे कभी किसी को नहीं दीखते, ऐसा क्यों ?

इस जिज्ञासा के समाधान के लिये प्रथम यह समझना होगा कि *'दृष्टादृष्टवाद' और 'प्रत्यक्ष परोक्षवाद' सिद्धान्त के अनुसार संसार में ऐसे अनेक पदार्थों की सत्ता है जो कि हमारी इन चर्म चक्षुवों के विषय नहीं। हम कह आए हैं कि प्रत्यक्ष में भी नेत्र केवल रूप को देख सकते हैं, रस, गन्ध आदि को नहीं, रसना केवल रस का अनुभव कर सकती है, रूप और गन्ध का नहीं। सो जैसे कोई अन्धा कहे कि मुझे जीभसे रंग क्यों नहीं सूझता ? और बहरा कहे मुझे आंख से क्यों नहीं सुनता ? ठीक इसी प्रकार परमात्मा या देवताओं के देखने के सम्बन्ध में हमारा प्रश्न है। हम पीछे 'लोक परलोकवाद' में सप्रमाण सिद्ध कर आए हैं कि लोकान्तर में आग्नेय, वायव्य और जलीय शरीर धारी प्राणी भी रहते हैं। इन सब को इन्हीं चर्म-चक्षुवों से देखा जा सके यह आवश्यक नहीं है।

यदि प्रश्नकर्ता जिज्ञासु ने कभी गीता पढ़ी या सुनी हो तो इसमें यह प्रसङ्ग आता है कि जब बहुत कहने सुनने पर भी प्रत्यक्षवादी=नास्तिक बने अर्जुन को बोध,न हुआ तब भगवान् ने यह उचित समझा कि अब इसे विराट् रूप दिखाकर वास्तविकता समझानी चाहिये, तो भगवान् बोले कि—

'*दृष्टादृष्टवाद' और 'प्रत्यक्ष परोक्षवाद' के लिये देखिये 'क्यों' पूर्वार्द्ध सिद्धान्ताध्याय।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थात्—हे अर्जुन, लो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूं, इनसे मेरे ईश्वरीय योगयुक्त, विराट् रूप को देखो ।

अब विचारणीय है कि अर्जुन तो बाल्यकाल से ही भगवान् को देखता चला आ रहा है और आज भी सामने ही रथ पर बैठे सारथी भूत भक्त-वत्सल भगवान् को सुतरां देख रहा है। अर्जुन तो बड़ा ही सूक्ष्मदर्शी है, तभी तो द्रौपदी स्वयंवर के समय घूमते हुए चक्र की आड़ में घूमती हुई मछली की परछाई देखकर उसकी आँख में अचूक निशाना लगाया था, परन्तु अर्जुन के वे विशाल नेत्र सामने बैठे भगवान् के विराट् रूप को देखने में असमर्थ हैं। तभी भगवान् को दिव्य नेत्र देने की आवश्यकता पड़ी। दिव्य नेत्र पाते ही अर्जुन भगवान् को देखकर दंग रह गया। अभी तक तो वह सदा मुरली मनोहर के श्यामसुन्दर स्वरूप से ही सुपरिचित था आज तो समस्त ब्रह्माण्ड को ही भगवान् के रूप में समाविष्ट देख रहा है। जब अर्जुन बहुत चकित होने लगा और स्वयं भयभीत होकर पुनः उसी 'सौम्य वपुः' को देखने की बार २ प्रार्थना करने लगा। भगवान् ने स्वप्रदत्त दिव्य नेत्रों को पुनः वापस लौटा लिया बस! 'वही चर्खा वही चूं चूं जो पहले थी सो अब भी है।'

इसी प्रकार सञ्जय को भी दिव्य दृष्टि दी गई थी जिससे वह हस्तिनापुर में बैठा युद्ध के गुप्त से गुप्त रहस्य को भी प्रत्यक्ष देख सकता था। इन सब दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है

कि परमात्मा और उसके अंगभूत देवताओं के दर्शन के लिये किन्हीं दूसरे नेत्रों की आवश्यकता होती है। जब उन नेत्रों के बिना अर्जुन जैसे भक्त को भी सामने खड़े भगवान् नहीं सूझते फिर 'हमा तुमा' का तो जिक्र ही क्या है। ऐसी स्थिति में इन चर्म चक्षुवों से देव दर्शन का हठ करना वैसा ही है जैसे कि कोई बालक 'हाथी को कूजे में डालने के लिये' मचलने लगे।

दिव्य नेत्र क्या हैं ?

(अन्तःकरणेन गृह्यते)

वे दिव्य नेत्र क्या हैं ?—जिनसे कि देव दर्शन हो सकता है—इस विषय में हम श्रीमद्भगवद् गीता का ही एक रहस्य यहां आज की भाषा में उद्धृत करते हैं। जब अर्जुन ने कहा कि भगवन् ! कोई आपका ठिकाना वैकुण्ठ में बतलाते हैं, कोई क्षीर सागर में कहते हैं, कोई गोलोक, कैलाश, चौथे और सातवें अर्शेवरी' पर प्रकट करते हैं—हम बड़े परेशान हैं। आप कृपया अब अपना ऐसा ठीक ठिकाना बतलाइये कि जहां 'विदाउट फेल' जब चाहें तब मुलाकात कर सकें ! भगवान् बोले नोट कीजिये--अर्जुन ने पाकेटबुक और फाउन्टेन पैन तैयार किये-- भगवान् ने कहा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थात्—हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय प्रदेश में रहता है।

हुज्जतों की मरम्मत

(हमारे यार घनचक्कर अगर समझें तो क्या समझें)

यह सुन कर एक अनीश्वरवादी नास्तिक बोल उठे—झूठ ! सफेद झूठ ! मैं डाक्टर हूं मैंने दशों वार कई मरीजों के हृदय= (Heart) का औपरेशन किया है मुझे उसके चीरने पर उसमें से ईश्वर नाम की कोई चीज उपलब्ध नहीं हुई। फिर यह कैसे माना जा सकता है कि हृदय में ईश्वर रहता है ? हार्ट में तो खून के चन्द कतरे रहते हैं और वे भी तब तक जब तक कि उस में प्रगति रहती है, प्रगति बन्द होने पर तो—

अजब शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो इक कतरए—'खूं'—न निकला !

ऐसे शङ्का-पङ्क-निमग्न महाशय भगवान् की भाषा को समझने की कहां क्षमता रखते हैं ! क्या डाक्टर साहिब ने 'आंख' का औपरेशन करने पर कभी उसमें से बीनाई=दृष्टि नाम की कोई चीज बरामद की ? और क्या उन्हें जीभ में से 'स्वाद', कान में से 'आवाज', और नाक में से 'बू' नाम की कोई वस्तु कभी मिली ? यदि नहीं तो फिर आंखमें 'बीनाई', जीभमें 'स्वाद' और कान में 'आवाज' ये मुहावरे क्यों बोले जाते है ? कहना न होगा कि किसी आंखों वाले से यह पूछने पर कि यह सामने जो हिमालय दीख रहा है, वह है कहां ? इसका सही उत्तर यह होगा कि मेरे आंखों के काले तिल में हैं, अर्थात्--आंख का काला तिल ही हिमालय देखने का साधन है। संसार के सब रस जीभ में रहते हैं और 'गन्ध' नाक में रहता है। पित्त से रसना

बिगड़ जाने पर मिश्री भी कटु और प्रतिश्याय से घ्राण बिगड़ जाने पर कस्तूरी भी गोबर। तभी तो 'दांत गए तो स्वाद गया।' और 'आंख गई तो जहान गया।' यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है। बस ! जैसे ये इन्द्रियां अपने २ विषय के प्रत्यक्ष करने में साधन हैं, अर्थात्—अमुक २ विषय, अमुक २ इन्द्रियों में रहता है ठीक इसी प्रकार देव दर्शन का साधन भी अन्त:करण नामक हृदय है।

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादि प्रमाणों के अनुसार उसे हृदय के द्वारा ही देखा जा सकता है। उसी हृदय-चक्षु को 'दिव्य-नेत्र' किंवा 'ज्ञान-चक्षु' कहा जाता है। ये नेत्र यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि नियम पूर्वक अष्टाङ्ग योग के निरन्तर अभ्यास से खुलते हैं अथवा गुरु या प्रभु स्वयं कृपा करके अपनी शक्ति से बिना परिश्रम खोल डाले तब खुलते हैं। सो यह नग्न सत्य है कि परमात्मा हृदय में रहता है। परमात्मा के न मिलने का एक यह भी प्रधान हेतु है कि वह रहता तो है हृदय में, नास्तिक उसे ढूंढते हैं मस्तिष्क में ?

हृदय में क्या २ रहता है, और मस्तिष्क में क्या २ रहता है यह प्राय: सभी सज्जन जानते हैं। मस्तिष्क में रहती है—तर्क, मन्तक दलील, ननु नच, किन्तु, परन्तु, अगर, मगर, चुनाचे How और why ! [कहना न होगा कि ये सब दिमाग़ से उपजने वाली वस्तुवें हैं] और हृदय में रहती हैं श्रद्धा, विश्वास, भावना, तथा अनन्य टेक! [ये सब विशुद्ध हृदय द्वारा प्रसून वस्तुवें हैं] सो नास्तिक लोग परमात्मा को ढूँढना चाहते हैं दिमाग में, तर्क मन्तक दलीलों की दल-दल में, और वह बैठा है हृदय में–श्रद्धा विश्वास और भावना के पुनीत प्रांगण में।

न दीखने का दार्शनिक हेतु

(पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः)

परमात्मा के न दीखने का एक दार्शनिक हेतु यह है, कि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा को--

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'।

अर्थात्—छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा बतलाया गया है, साथ ही 'तद् दूरे तदु अन्तिके' के अनुसार इसे दूरसे दूर और निकट से निकट कहा गया है। सो वह जब ऐसा है तो हमें क्योंकर दीख सकता है क्योंकि हमारी इन्द्रियें तो केवल मध्यम वस्तुवों के प्रत्यक्षीकरण में ही समर्थ हैं। जैसे हम सत्ताशील परमाणु, अणु, आदि पदार्थों को सूक्ष्म होने के कारण नहीं देख पाते, ठीक इसी प्रकार युगपत् सम्पूर्ण हिमालय को भी नहीं देख पाते, क्योंकि वह अपेक्षाकृत बड़ा है। सामने खड़े मनुष्य के भी हम किसी आधे अङ्ग को ही देख सकते हैं आधा अङ्ग उसी की ओट में छुपा रहता है। इसी प्रकार दूर होने के कारण न हम सौ पचास कोस पर होने वाले राज महल को देख पाते हैं और नां ही अत्यन्त निकट होने के कारण अपनी ही आंख में पड़े काजल को देख सकते हैं। जैसे अपनी आँख के काजल को देखने के लिये किसी अन्य काँच आदि चमकीले साधन की आवश्यकता रहती है ठीक इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु को देखने के लिये भी प्रतिमा = प्रतीक आदि साधनों की अनिवार्य आवश्यकता है। सचमुच प्रभु छोटा है तो इतना छोटा है कि परमाणु के भी गर्भ में छुपा बैठा है और बड़ा है तो इतना बड़ा है कि अनन्त कोटि

ब्रह्माण्डों में सर्वत्र ताने वाने की भांति ओत-प्रोत होकर भी तीन चौथाई अभी बाकी पड़ा है। दूर है तो इतना दूर है कि ज्ञानवान् मनुष्य भी--

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' ।

के अनुसार अनेकों जन्मों तक निरन्तर मार्ग लांघता हुआ भी–

'न तत्र वाग् गच्छति'

का 'No Admission' बोर्ड देख कर चकित रह जाता है और निकट है तो इतना निकट है कि हम जिस अन्तःकरण से उसे ढूँढ़ने चले हैं वह उसी के प्रत्येक अंशांश में बिस्तर डाले लेट रहा है। अब आप ही बतलाएं कि माध्यम ज्ञान की साधन-भूत ये बिचारी अकिञ्चन इन्द्रियाँ उस अगम्य तत्त्व को कैसे देख पाएं ?

अनधिकारियों को नहीं दीखते !

(नाहं प्रकाशः सर्वस्य)

देवताओं के दर्शन के प्रश्न का स्वयं वेद ने बड़ा ही विस्पष्ट उत्तर दिया है। देवता क्यों नहीं दीखते ? पूर्व युगों में पाण्डवादि को क्यों दीखते थे ? इत्यादि सब प्रश्नों का वेद की एक ही उक्ति में उत्तर आ जाता है, यथा–

(क) परोक्षं वै देवाः (शतपथ ३।१।३।२५)

(ख) न ह वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति ।

(कौशीतकी ३।२)

(ग) न ह वा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति ।

(ऐतरेय ७।११)

घ) यद् रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति ।

(निरुक्त १० । १७)

अर्थात्—(क) देवता साधारण पुरुषों को चर्म-चक्षु के विषय नहीं हैं । (ख) देवता, [ऋषियों द्वारा परिष्कृत धर्म-मार्ग पर न चलने वाले] अनाड़ियों की हवि नहीं लेते । (ग) [वे यम नियम आदि] व्रतों का पालन न करने वालों की प्रदत्त वस्तुवें नहीं खाते । (घ) [भक्तों पर प्रसन्न हो कर] देवता जब जैसा चाहें वैसा ही रूप बनाकर दर्शन दे सकते हैं ।

आशा है अब 'क्यों नहीं दीखते ?' का उत्तर उपर्युक्त वेद वाक्यों के प्रकाश में स्वयं ही प्रश्नकर्ता समझ लेंगे । यदि हम इस से अधिक कुछ कहेंगे तो शायद वे हमारे उत्तर को 'गाली' समझ कर बुरा मानें !

आर्यसमाज में देवता

(उघरहिं अन्त न होई निवाहू)

मुसलमान 'फरिस्ते' नाम से और ईसाई 'देवदूत' नाम से किसी न किसी रूप में देवसत्ता को स्वीकार करते ही हैं अतः हम इन पन्थों की मान्यता की यहां आलोचना करना व्यर्थ समझते हैं, परन्तु आर्यसमाज की विचित्र 'थ्यूरी' प्रकट किये बिना यह प्रघट्ट अधूरा रहजाता है । इसलिये अब जरा इन महाशयों का भी लगते हाथों नमूना देखते जाइये । आर्यसमाज का दावा है कि विद्वान् मनुष्य से भिन्न और कोई देवता नहीं होते ! वस्तुतः यह दावा वैसा ही है जैसा कि समुद्र के मेंढक के सामने कूप के मेंढक

का अपने कूवें के अतिरिक्त अन्य किसी बड़े जलाशय के न होने का दावा प्रसिद्ध है। परन्तु परोक्षवाद से भागने की चेष्टा करनेवाले स्वामी दयानन्द जी द्वारा अपनी ही कलम से कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण उन्हीं के ग्रन्थों में अङ्कित हो गए हैं कि जिनकी विद्यमानता में देवसत्ता से भागना मानो मध्याह्न-कालीन सूर्य से आंखें चुराकर उलूक पक्षी का अभिनय करना है।

स्वामी जी ने संस्कार विधि के नाम करण संस्कार में लिखा हैं कि "जिस तिथि और जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुवा हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम ले के, इस तिथि और नक्षत्र के देवता के नाम से चार आहुति देना"...जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुवा हो तो—

(१) ओं प्रतिपदे स्वाहा ।

(२) ओं ब्रह्मणे स्वाहा ।

(३) ओं अश्विन्यै स्वाहा ।

(४) ओं अश्विभ्यां स्वाहा ।

(गोभिल २ । ८ । ६-१२)

हमने यहां स्वामी दयानन्द जी का लेख ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। इस लेखके नीचे टिप्पणी में पन्द्रहों तिथियोंके स्वामी और सत्ताईस नक्षत्रों के स्वामी कुल मिलाकर (१५ × २७=४२) बियालिस देवताओं के भिन्न२ नाम दिये गए हैं, जिनमें अमावस्या का देवता 'पितर', आश्लेषा का 'सर्प' और पूर्वा फाल्गुनी का 'भग' लिखा है।

कहना न होगा कि इस प्रसंग में जिन देवताओं का वर्णन हो रहा

है वे आर्यसमाज के कोई आर्योपदेशक नहीं हो सकते, क्योंकि यदि वस्तुतः यहां विद्वान् ही अभिप्रेत होते तो फिर गरमागरम घी का चम्मच अग्नि में न डाल कर उक्त महाशयों के कुतर्क दूषित मुखारविंद में ही डालना युक्तियुक्त होता। साथ ही तिथियों और नक्षत्रों के साथ इन महाशयों का कब विवाह या नियोग हुवा है ? जिस से इनको उक्त श्रीमतियों का पतिदेव स्वीकार किया जा सके ! कदाचित ठोक पीट कर किसी आर्योपदेशक को एतदर्थ तैयार भी किया जाए तो श्रीमान् 'सर्प' और महाशय 'भग' बनने को कोई तैयार हो सकेंगे इसमें भी पूरा सन्देह है।

क्या विद्वान् मनुष्य ही देवता हैं ?

(वदतां किन्तु दुर्घटम्)

आर्यसमाज का विद्वानों को ही देवता मानने का जो महा किला है वह केवल नीचे लिखे एक ब्राह्मण वाक्य के मिथ्या अर्थ की रेतीली दीवार पर ही यथातथा खड़ा किया गया है। सो शास्त्रार्थ के समय उक्त महाशय प्रायः इसमें छुप कर आत्मरक्षा के लिये हाथ पांव मारा करते हैं। परन्तु सनातन धर्मियों की केवल एक फूंक से भरी सभा में यह किला धराशायी होते देर नहीं लगती। पाठक जरा वह ब्राह्मण वाक्य और उस के दयानन्दी अर्थ का भी परीक्षण करें—

विद्वांसो हि देवाः।

अर्थात्--विद्वानों का नाम ही देवता है।

यहां ब्राह्मण ग्रन्थ का तो तात्पर्य है कि देवता लोगों को

मनुष्यों की भान्ति किसी विद्यालय में पठन-पाठन की आवश्यकता नहीं होती किन्तु देवता स्वभावतः ही विद्वान् होते हैं। अर्थात्—जैसे गाय आदि पशुवों के बच्चों को मनुष्य बालकों की भान्ति खड़े होना और जल में तैरना सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु वे स्वभावतः ही जन्मना इन दोनों कलाओं में निष्णात होते हैं। ठीक इसी प्रकार देवता भी स्वभावतः ही विद्वान् होते हैं।

एक बार इस वागुरा में फँसे महाशय जान बचने का अन्य कुछ उपाय न देखकर चिल्लाने लगे कि यदि सचमुच तेंत्तीस करोड़ देवता हैं तो हमें पूरे के पूरे गिनवा दीजिये और दिखा दीजिये ! हमने भी भरी सभा में स्वीकार कर लिया कि रात के अधिवेशन में अवश्य दिखाएंगे और गिनवाएँगे।

सारे नगर में यह खबर बिजली की तरह फैल गई। महाशय लोग घर में ही यह पूरा निर्णय किये बैठे थे कि आज माधवाचार्य बुरी तरह फँस गए ! आखीर रात के अधिवेशन में खूब धड़ल्ले के साथ बड़ी सख्या में महाशय पधारे। नागरिक भी वहुत भारी संख्यामें इकट्ठें होगए ! यह कृष्ण जन्माष्टमी की रात्रि थी। ठीक समय पर सभा का कार्य आरम्भ हुवा महाशय-लोग वड़े उतावले हो रहे थे, हम जान बूझ कर उनकी उत्कण्ठा और आशङ्का बढ़ाने के लिये भजन कीर्तन आदि अन्यान्य कार्यवाही में समय बढ़ाते गये। अन्त में ग्यारह बजे के लगभग जब वे अत्यन्त अधीर हो उठे और चेमेगोइयां करने लगे, तो हमने भी आरती का समय निकट समझ कर देवताओं को गिनाने और दिखाने के लिये ऊंची मेज पर खड़े होकर महाशयों को सम्बोधित करते हुए कहा—

अच्छा साहब ! अब जो २ महाशय देवताओं को देखना चाहते हैं वे सावधान हो जायें, अपनी आंखों को तैयार कर लें ! और जो महाशय गिनना भी चाहते हों वे कागज पेंसिल तैयार कर लें। सभा में एकदम सन्नाटा था, जनता 'किं भविष्यति' के चक्कर में पड़ी थी। हमने पुनः ललकारा· सब सज्जन आकाश की ओर ताकें ! अनन्त आकाश के इस नीलिमा पूर्ण प्राङ्गण में आप जितने चमचमाते ग्रह नक्षत्र तारे सितारे और सैय्यारे देख रहे हैं और यह जो बीचों बीच तारा समूहमय आकाश गङ्गा दीख रही है ये सब देवताओं के निवास स्थान हैं, अब आप इन को खूब देख लें। जो महाशय गिनना भी चाहें शौक से गिन लें !! यदि तेंतीस कोटि से एक भी कम निकले तो हम देन-दार !!!

बस ! फिर क्या था जनता में बड़ा अट्टहास हुआ चारों ओर से जय २ घोष के साथ गगनभेदी नारे लगने लगे। महाशय लोग बहुत फीके पड़े ! तब एक महाशय आवेश में बोल उठे 'श्रीमान् जी ! आप ने ट्रिक से काम लिया है'। मैंने कहा आपका यह कथन सोलह आने गलत है : यह ट्रिक नहीं है। किन्तु वेद प्रामाणिक विज्ञान का चमत्कार है। महाशयजी ने पूछा क्या इस प्रकार का वेद में कोई प्रमाण है ? मैंने कहा– एक नहीं सहस्रों हैं, सुनिये—

(क) द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्। (शतपथ १४।३।२८)

(ख) देवगृहा वै नक्षत्राणि। (तैत्तरीयं १।३।३।२)

अर्थात्—(क) द्यु-स्थान में सब देवताओं का आवास है। (ख) ये नक्षत्र देवताओं के घर हैं। यह सुनते ही पुनः जय घोष से सभा स्थान गूंजने लगा और महाशय लोग इसी बीच नौ दो ग्यारह हो गए।

ब्रह्मा स्वरूप विचार

(ब्रह्म ब्रह्माभवत् स्वयम्)

श्री ब्रह्माजी समस्त ब्रह्माण्ड के रचयिता हैं अतएव संसार के पितामह कहे जाते हैं। प्रलयकाल में भूर्भुवः स्वः इन तीनों लोकों के परिसमाप्त हो जाने के कारण महर्लोक में गये हुए प्राणियों के अवशिष्ट कर्मों के अनुसार ही उनका पुनः भू-लोक में जन्म होता है। कर्मविपाक सिद्धान्त के कट्टर पक्षपाती वैदिक विज्ञान में अकारण ही कोई राजा रङ्क, ज्ञानी, मूर्ख, सर्वाङ्ग सुन्दर और विकलाङ्ग जन्म नहीं लेता, किन्तु यह सब कुछ कर्म विपाक के तारतम्य का ही परिणाम होता है। सो अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का यथावद् द्रष्टा और तदनुसार ही उनके जन्म की व्यवस्था करने वाला भगवान् 'ब्रह्मा' कहा जा सकता है।

शास्त्रीय स्वरूप

(क) ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता।

(मुण्डकोपनिषद्)

(ख) चतुर्मुखो वेदधरः साक्षसूत्रकमण्डलुः।
हंसारूढ़ो रक्तवासा ब्रह्मलोकपितामहः॥

अर्थात्=(क) समस्त देवों में प्रथम विश्वकर्ता ब्रह्मा

अवतरित हुवे। (ख) चार मुख, वेदधारी, अक्षमाला, यज्ञोपवीत और कमण्डलु धारण किये, लाल वस्त्र वाले, हंस वाहन श्री ब्रह्मा जी समस्त लोकों के पितामह हैं।

श्री ब्रह्मा जी के तत्तद् शास्त्र वर्णित गुणों और कर्मों का मनन करने पर कोई भी विचारशील व्यक्ति ब्रह्मा जी की जैसी मनोमयी मूर्ति अपने ध्यान में देख सकता है, सचमुच ऐसा ही सगुण विग्रह धारण करके श्री ब्रह्मा जी महाराज अवतीर्ण हुवे थे।

ब्रह्मा स्वरूप विज्ञान

संसार का पितामह कोई 'अनंकुरित-कुर्चकः सतुसितो पलाङ्गं पयः।' के अनुसार कोई 'अनमूछिया लौंडा' नहीं हो सकता। किन्तु अवश्य ही वह कोई भारी भरकम प्रभावशाली वयोवृद्ध व्यक्ति ही हो सकता है। तदनुसार श्री ब्रह्मा जी महाराज चारों ओर अप्रतिहत दृष्टि रख सकने में सर्वथा समर्थ अपने चारों मुखों पर खरी खासी लम्बायमान दिव्य दाढ़ी बढ़ाए हुवे हैं, जिस से नई नवेली लज्जाशील नवोढाएं इस साइन बोर्ड के कारण दूर से ही पितामह को पहिचान कर अपने कर्तव्य पालन में त्रुटि न कर सकें।

विधाता ने 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार सूर्य चन्द्रादि सभी को पूर्व कल्प के अनुसार रचा है। सो उस पूर्व कल्प का कोई चित्र भी तो सामने होना चाहिए। इस लिये वे अपने एक हाथ में वेद थामें हुए हैं। वहां जैसा लिखा देखा, वैसा ही बना डाला। यह अमूल्य जीवन केवल बच्चे कच्चे उत्पन्न करने के कृत्य में परिसमाप्य नहीं है,

किन्तु घर गृहस्थ के यह सब पापड़ बेलते हुवे भी अपने उद्धार के लिये साथ ही साथ हरि भजन भी चलता रहना आवश्यक है एतदर्थ दूसरे हाथ से निरन्तर माला घुमाते रहते हैं। यह सब सृष्टि—कारण भूत 'आप:'=(पाञ्चभौतिक कललमय जलों) की ही संहति है, अतः समस्त सृष्टि की कारण कलाप सामग्री से भरा कमण्डलु अपने अन्यतम हाथ में थामें रहने पर ही तो रचना की जा सकेगी ? श्री ब्रह्मा जी निरन्तर कमल के आसन पर विराजमान रहते हैं वही कमल श्री विष्णु भगवान् के हाथ में रहता है तथा शिवशङ्कर की पूजा की प्रधान सामग्री के रूप में उन के मस्तक में विद्यमान तीसरे नेत्र की कालानल ज्वाला पर बलिदान किया जाता है।

सृजन क्रिया के अधिष्ठाताको स्वयं प्रपञ्च पङ्क से इतना अस्पृष्ट रहना चाहिये कि उस का आसन पङ्कज=पङ्क से समुत्पन्न भले ही हो, तथापि वह पङ्किल पंक में सना नहीं होना चाहिए। यह ठीक है कि 'प्रजापति' का आसन षट्पद के एक प्रहार से ही डोलने लगता है। परन्तु जब तक वह सर्व रक्षक भगवान् के हाथ में है तब तक उस को कुछ भी खतरा नहीं। यदि कदाचित् रक्षक स्वयं ही एक दम सहस्र सहस्र कमलों की भूतभावन पर बलि चढ़ाना चाहे और एक को कमी देख कर तत्समान अपने नेत्र को भी उपहृत करते हुए आनाकानी न करे तब ऐसी दशा में प्रजापति के आसन का भी क्या मूल्य ?

---

*पुराणों में कथा प्रसिद्ध है कि भगवान् विष्णु नित्य एक सहस्र कमल पुष्पों से शिव का अर्चन किया करते थे। एक दिन प्रभु की लीलावश एक कमल की कमी रह गई। भगवान् विष्णु ने पूजा की विधि को पूर्ण करने के लिये उस कमल के स्थान पर अपना नेत्र कमल अर्पित कर दिया।

यह भी नियति के नियन्त्रण से एक दिन नामशेष होगा ही।

मिल कर एक-रूप हुवे पानी और दूध का विश्लेषण करना एक मात्र हंस का ही कार्य है, सो कर्मानुसार सृष्टि के समस्त जीवों को जन्म देने वाले ब्रह्मा का वाहन भी जब तक 'नीर क्षीर विवेक' के अनुसार 'दूध का दूध और पानी का पानी' न छान सके तो फिर ईश्वर के 'न्यायकारी' होने का प्रमाण ही क्या ? उत्पादक और रचयिता [किसान और मजदूर] **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** के अनुसार अपनी कर्तव्य साधना के उपलक्ष में कभी पूजा प्रतिष्ठा नहीं चाहते। अतः 'श्री ब्रह्मदेव' अन्य देवताओं की भान्ति मठाधिनायकता से दूर रहते हैं।

सरस्वती स्वरूप विचार

(विद्या दानी वाणि गुण खानी)

ब्रह्मशक्ति मां सरस्वती सर्व विद्याओं की अधिष्ठात्री देवी है, जिसकी उपासना के बिना कोई साधक सविद्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि विभिन्न सम्प्रदायों में अनन्यनिष्ठा रखने वाले सभी साधक मां सरस्वती की निर्विशेष रूप से उपासना करते हैं। शास्त्रों में वर्णित सरस्वती स्वरूप का सार इस प्रकार है–

(क) इडा सरस्वती मही तिस्त्रो देव्यो मयोभुवः। (ऋग्वेद)

(ख) शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीम्।
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।

हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिताम्।
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥

अर्थात्--(क) इडा, सरस्वती और मही ये तीनों देवियें सुखदायिनी हों। (ख) शुक्ल वस्त्र वाली वीणा पुस्तक धारिणी, जड़ता नाशिनी, आद्याशक्ति, हाथ में स्फटिक की माला लिये हुए, कमल के आसन पर विराजमान, बुद्धि प्रदान करने वाली भगवती सरस्वती की वन्दना करता हूं।

सरस्वती स्वरूप विज्ञान

द्विपद पशुता से बचने के लिये जिन साहित्य और संगीत का परिचय सर्व साधारण के लिये अनिवार्य माना गया है, उन दोनों विद्याओं के प्रतीक वीणा और पुस्तक मा सरस्वती के दोनों हाथों में सदैव सुशोभित रहती हैं। विद्या का चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, जिसका उपलक्षण-भूत प्रतीक स्फटिक-माला भी एक हाथ में सदैव दीख पड़ती है।

लोक में अमुक कला के पारङ्गत व्यक्ति को 'प्रवीण' कहने की परिपाटी प्रसिद्ध है। यह 'प्रवीण' शब्द निश्चित ही 'वीणा वादन तत्त्वज्ञ' के अर्थ में प्रयुक्त होता होता 'चतुर=निष्णात अर्थ में आरूढ़ हो गया है।

सो साधक को किसी भी विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये 'वीणा-वादिनी' मां सरस्वती का ध्यान करना चाहिये। कमलासन और हंस वाहन का विवेचन 'ब्रह्मा स्वरूप विचार' प्रघट्ट में कर आए हैं तदनुसार ही वह यहां समझना चाहिये।

शास्त्रों में सरस्वती के हाथ में थमी वीणा का नाम 'कच्छपी' लिखा है, जिसका तात्पर्य है कि जो साधक 'कूर्माङ्गानीव सर्वशः' के अनुसार कच्छपी की भान्ति अपनी समस्त वृत्तियों को समेट कर अन्तर्मुख हो जाएगा, वही मां के वरद हस्त का आश्रय पा सकेगा। विद्याव्यसनी को यावज्जीवन पुस्तक-सेवी होना चाहिये— इसी तत्त्व को लक्ष्य करके यावज्जीवमधीते विप्रः' और 'पुस्तकी भवति पण्डितः' इत्यादि अनुभूत तथ्यमयी लोकोक्तियाँ शास्त्र में विख्यात हैं।

विष्णु स्वरूप विचार

साधक को यदि परम शान्ति, परम वैराग्य और साक्षात् परात्पर-पुरुषोत्तम भगवान् के सालोक्य, सामीप्य सारूप्य और सायुज्य पद की आवश्यकता है तो इसके लिये वैकुण्ठाधिनाथ श्री रमानाथ की उपासना आवश्यक है, एतदर्थ साधक को स्वयं कैसा बनना होगा ?—यह तत्व समझाने के लिये श्री विष्णु भगवान् अपने सगुण विग्रह का इस प्रकार शास्त्रों में उद्घाटन करते हैं—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् ।

(ख) शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् ।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।

लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अर्थात्-(क) विष्णु के अनन्त वीर्यों का वेद वर्णन करते हैं। (ख) शान्त आकार है, शेष शय्या पर शयन करने वाले हैं, नाभि में कमल है, समस्त देवों के अधिपति हैं। विश्व के आधार हैं, आकाश के समान हैं। मेघ सदृश कान्ति है, लक्ष्मी के पति हैं। कमल समान नेत्र वाले हैं, योगीजनों द्वारा ध्यान में दीख पड़ते हैं, संसार के समस्त भेदों को मिटाने वाले और सर्व लोक के एकमात्र स्वामी हैं। ऐसे विष्णु भगवान् की साधक को वन्दना करनी चाहिये।

विष्णु स्वरूप-विज्ञान

विष्णु भगवान् शान्त आकार वाले हैं [**देवो भूत्वा देवं यजेत** अर्थात्—जैसा देवता हो स्वयं भी साधक वैसा ही बनने के लिए उसकी उपासना करे-के अनुसार साधक को भी शान्त आकार बनाना होगा। शान्ताकार का उपलक्षण क्या है ?] (भुजग-शयनम्) वे भगवान् सहस्र फण वाले शेष नाग की शय्या पर सो रहे हैं [सर्प की उपस्थिति का भ्रम हो जाने पर भी उस घर में नींद नहीं पड़ती परन्तु जो प्रत्यक्ष महासर्प की गोद में निःशङ्क होकर खर्राटे से सो रहा हो, उससे अधिक शान्तकार होने का और किसको सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। तदनुसार मोक्षाभिलाषी साधक को भी इतना बेखबर होना होगा।

अस्तु, यह लोकोत्तर वृत्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी ? (पद्म-नाभम्) अर्थात्—उस शेषशायी भगवान् की नाभी से पद्म

निकला है, जिसपर ब्रह्मा विराजते हैं [जब तक सृष्टि के मूलभूत पद्म=ब्रह्माण्ड के अस्तित्व को भी अपने अन्दर से न निकाल दिया जायगा तब तक साधक 'शान्ताकार' बन ही नहीं सकता। श्री विष्णु भगवान् तभी शान्ताकार कहलाते हैं जबकि उन्होंने तमोगुण के प्रतीक सर्प को नीचे दबा रक्खा है और रजोगुण के प्रतीक श्री ब्रह्मा को भी अपनी उदर दरी से बाहर ढकेल दिया है। तभी वे केवल विशुद्ध सत्त्वरूप हो पाए हैं। तदनुसार साधक को भी तादृश बनना होगा] तभी वह समस्त दैवी शक्तियों का स्वामी, विश्व प्रपञ्च का एक मात्र आधार, आकाश के समान निर्लेप निरञ्जन, मेघों के समान संसार भर को जीवन प्रदान करके आप्यायित करने वाला, पवित्र अङ्ग सम्पन्न, और माया का अधिष्ठाता बन जाएगा। उसकी नेत्र-दृष्टि कमल की भान्ति सर्वदा भवजल के स्तर से ऊंचो ही उठी रहा करेगी। योगनिष्ठ महात्मा ध्यान में ही इस सगुण विग्रह को पा सकेंगे। तब संसार का भय सब परिसमाप्त हो जाएगा। अन्त में वह साधक समस्त चराचर के एक मात्र अधिष्ठाता भगवान् में विलीन हो जाएगा। इस प्रकार मोक्षाभिलाषी साधक के लिये उस की साधना का अथ से लेकर इति पर्यन्त समस्त चित्र इस एक ही श्लोक में खींच दिया गया है।

विष्णु क्षीरसागर में क्यों ?

(मोहिं कपट छल छिद्र न भावा)

कहा जाता है कि विष्णु भगवान् दूध के समुद्र में—जिसे पुराणों ने क्षीरसागर कहा जाता है—रहते हैं ? यह क्यों ? और कैसे ? क्या ऐसे समुद्र का होना सम्भव है ?

सभी जानते हैं कि विष्णु जगत्के पालक भगवान् का नाम है। सो चतुर्विध सृष्टि के उद्भिज अण्डज और स्वेदज प्राणियों को छोड़ कर सब के सब जेरज प्रायः दूध पिला कर ही अपने २ बालकों को जीवित रखते हैं। कलकत्ता बम्बई और देहली जैसे बड़े नगरों में केवल मानव शिशुओं के पालन पोषणार्थ कई ट्रेनें दूध की आती हैं। एक नगर में ही सहस्रों मन दूध नित्य खपता है। यदि कलकत्ते में खपने वाले एक दिन के भी दूध को किसी एक बर्तन में डाला जाए तो वह खरा खासा छोटा सा तालाब बन जाएगा! और यदि सारे हिन्दुस्थान भर का दूध एक स्थान में इकट्ठा करना सम्भव हो तो न्यूनाधिक पुष्करराज के समान झील बन जाएगी। फिर यदि सब संसार का दूध एकत्रित किया जाए, तो उसके संग्रह का नाम पाठक स्वयं निश्चित कर लें।

यह केवल गाय भैंस बकरी के उस दूध का जिक्र किया जा रहा है, जो कि उक्त जीवों के बच्चों को पिलाने के बाद उनसे इकट्ठा किया जाता है। यदि ऊंटनी घोड़ी गधी कुत्ती बिल्ली और मानुषी स्त्री आदि समस्त दूध पिलाने वाली जातियों के दूध का लेखा जोखा किया जाए तो उस का वजन निश्चित करने के लिये शायद उन्नीस अङ्कों से अधिक अंक वाली किसी संख्या को कल्पना करनी पड़ेगी। अतः जैसे सौ पुरुषों को भोजन खिलाने का दायित्व संभालने वाले अन्नसत्र के प्रबन्धक को साधारणपरिवार वाले से अधिक सामग्री संग्रह करने की आवश्यकता पड़ती है, ठीक इसीप्रकार अनेक ब्रह्माण्डों के अगणित दूध पीकर जीने वाले बालकों की संरक्षा का भार उठाने वाले पालक विष्णु को दूध का कितना स्टाक रखना चाहिये—यह कोई भी बुद्धिमान् स्वयं निर्णय कर सकता है। यदि भगवान् क्षीरसागर में

नहीं रहते हैं, तो फिर वे नित्य प्रत्येक मनुष्य बालक के लिये दो घड़े दूध, और गाय भैंसे आदि के बालकों के लिये चार २ घड़े दूध, कुत्तिया के बच्चों को आठ, सूकरी के बच्चों को पूरे एक दर्जन भरे भराए दुग्धघट कहां से पहुंचाते हैं । सभी संसार के जीव घास फूंस अन्न खाते हैं परन्तु उस का परिणाम होता है अतीव स्वच्छ श्वेत दूध । तो वह क्या शङ्कावादी की नानी की सामर्थ्य से बनता है ? निश्चित ही भगवान् क्षीरसागर में रहते हैं । यदि ब्रह्माण्डस्थ क्षीरसागर के दर्शन करने हों तो उसे उसके संक्षिप्त संस्करण पिण्ड में ही देख लीजिये । वह क्षीरसागर किस प्रकार देवियों के उभरे हुवे उरोजों में, गाय भैंसे आदि जीवों की कसकती हुई ऊधों=लेवटियों में ठाठें मार रहा है । यह पिण्डस्थ क्षीरसागर दिव्य क्षीरसागर की सत्ता का अकाट्य प्रमाण है ।

फिर दूध एक ऐसा पदार्थ है जो की तनिक सी भी खटाई के संसर्ग से तत्काल फट जाता है, अर्थात् दूध ही नहीं रहता । सो ठीक दूध के समान विशुद्ध अन्तःकरण में ही भगवान् रहते हैं । यदि उससे काम क्रोध राग द्वेष रूप खटाई का ज़रा भी सम्पर्क हो गया तो वह क्षीरसागर न रह कर क्षारसागर बन जाएगा, जिस में मृत्यु को पाश हाथ में थामे पापियों के दमन के लिये सदैव सनद्ध वरुणदेव निवास करते हैं ।

यह सु-दर्शन संसार चक्र भगवान् की तर्जनी के सङ्केत पर घूम रहा है । चारों वर्ण पांचवें अन्त्यज — इन पांच जनों की व्यवस्था—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः,

—के अनुसार एकमात्र भगवान् की स्वाभाविक फूंक=वेद पर

अवलंबित है। शक्ति की प्रतीक गदा का अनन्य स्वामी वही श्रीमन्नारायण भगवान् है। संसार के प्रपंचरूप कीचड़ में उत्पन्न हुआ यह प्राणी यदि जलरूप विकार से सर्वथा अस्पृष्ट बने रहने में कृतकार्य हो सका तो, स्वयं भगवान् इसे अपने हाथों में उठाने के लिये सर्वदा उद्यत हैं। समस्त ब्रह्माण्ड का प्रकाशन यह भुवन-भास्कर कौस्तुभमणि की भांति भगवान् के अन्तरिक्ष रूप गले में ही लटकता है। शिरःस्थानीय द्यू लोक तो इससे और ऊंचा है। अभ्युदय और निश्रेयस् दोनों पक्षों से सर्वथा विहीन='विपक्षी' लोग भगवान् के पार्षदों की भी दासता के पात्र नहीं, किन्तु सदैव धर्म-पक्ष में तत्पर पक्षियों के मुखिया-पक्षीराज ही भगवान् का वाहन बनने का सौभागय प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार शास्त्र में भगवान् के सङ्गोपाङ्ग सगुणविग्रह का वर्णन विद्यमान है।

जो लोग शास्त्र पर विश्वास नहीं रखते वे मनमाने ढंग से भगवत्प्रतिमा घड़ लेते हैं जिसके पूजन से पाप ही होता है, क्यों कि वस्तुतः विधान ही तो पाषाण को देवत्व प्रदान करता है, उदाहरणार्थ देहली के एक विख्यात मंदिर में एक विशाल विष्णु प्रतिमा विद्यमान है जिस के बायें हाथ में सुदर्शनचक्र अंकित है, जब कि वैदिक रीति से वह चाहिये था दायें हाथ में, यथा:—

चलत्सुदर्शनं चक्रं घोरं सर्वास्त्रनाशनम् ।
दधार दक्षिणे हस्ते सर्वतेजोमयं हरिः ।।

(ब्रह्मपुराण ६५ । ४४)

लक्ष्मी भगवान् के चरण क्यों पलोटती है ?

लक्ष्मी को जब देखो तभी वह विचारी भगवान् के चरण चापती दीख पड़ेगी। जब हिन्दुओं के इष्टदेव के घर में ही अर्धाङ्गिनी कही जाने वाली लक्ष्मी देवी को नौकरानी सी समझा जा रहा हो तब उसके अनुयायीगण यदि अपनी स्त्रियों को पाँव की जूती बताएं तो कौन नई बात ?

मौलाना के घर में स्त्रियों को जिनस समझा जाता है तभी बुर्कों और टाट पटोरों में लपेट कर स्त्रियों के पुलिन्दे-से बान्ध कर बण्डल बना दिये जाते हैं। ईश्वर की अनुपम देन वायु से भी उन्हें वञ्चित रक्खा जाता है फिर न जाने किस मुंह से वे मौलाना हिन्दुओं की आलोचना करते नहीं लजाते? ईसाई जगत् प्रकट में बड़ा ही स्त्री जाति का हितैषी होने का दम भरता है, परन्तु सभी पाश्चात्य देशों में विवाह से पूर्व ही वहां का पुरुष-समाज रस-लम्पट भ्रमर की भान्ति आधी से अधिक कुमारियों का सतीत्व भङ्ग करके उन्हें 'श्मशान घटिका' की भान्ति जीवन भर के लिए छूछी बना छोड़ता है। सोलज़र कहे जाने वाले ये विदेशी सैनिक प्रायः ऐसे ही व्यभिचार-जात, अज्ञात माता पिताओं की काली करतूत के चलते फिरते नमूने हैं।

समाजी अपने व्याख्यानों में स्त्रियों के आनरेरी वकील बन कर बड़ी वकालत करते हैं परन्तु दिल्ली मथुरा आगरा पटना आदि नगरों के न्यायालयों के उन निर्णयों की अभी रोशनाई भी नहीं सूख पाई है, जिनमें कि वनिता विश्राम आश्रमों और विधवाश्रमों द्वारा कई कई बार बेची गई विधवाओं और कन्याओं की करुणापूर्ण कहानी भरी पड़ी है और इन

संस्थाओं को खुले बन्दों स्त्री-विक्रयकारिणी एजेन्सियें घोषित किया गया है। अब भी पश्चिमी पंजाब से आने वाली अनाथ स्त्रियां समाचार पत्रों में विज्ञापन छपाकर इन्हीं महाशयों द्वारा बेची जा रही हैं। यदि इन जघन्य काण्डों का पूरा विवरण जानना चाहें तो पं० राजनारायन अर्मान का 'खुलाचेलेंज' पढ़ें।

परन्तु सनातन धर्म स्त्रियों को पांव की जूती नहीं समझता अपितु साक्षात् 'देवी' समझता है। तभी तो प्रत्येक कन्या के नाम के पीछे 'देवी' शब्द का प्रयोग करता है। नवरात्रों में कन्याओं का भगवत् प्रतिमा की भान्ति षोड़शोपचार से पूजन करता है। भगवन्नाम का सङ्कीर्तन करते हुए प्रत्येक ध्वनि में भगवान्के नाम से पहिले पाणिनि के 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इस नियम के अनुसार अनिवार्य रूप से मातृ-शक्ति के नामों को सम्मिलित करता है। यथा—लक्ष्मीनारायण, गौरीशङ्कर, सीताराम और राधेश्याम आदि २। सो सनातनधर्म तो स्त्री को बाल्यावस्था में गौरी, युवती होने पर लक्ष्मी और वृद्धा हो जाने पर साक्षात् सावित्री का रूप मानता है। इसलिए जो मूर्ख स्त्री को जूती कहेगा उसे स्वयं फुलबूट या चप्पल बनने के लिए तैयार रहना चाहिए क्यों कि जूती के जातीय भाई बन्धु तो बूट चप्पल ही हो सकते हैं ?

लक्ष्मी भगवान् के सदैव चरणों को पलोटती है ?—इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी की इच्छा करने वाले सांसारिक पुरुषों को यह अटल सिद्धान्त खूब समझ लेना चाहिए, कि यदि वे लक्ष्मी चाहते हैं तो उन्हें श्रीमन्नारायण के चरणाविंद का आश्रय लेना चाहिए, क्यों कि लक्ष्मी का निवास एकमात्र भगवान् के चरण कमलों में ही है। जो रावण की भांति उक्त

तत्त्व को न समझकर राम भगवान् से तो वैर बांधते हैं और सीता—लक्ष्मी को बलात् अपने घर में रखना चाहते हैं उनको समझ लेना चाहिए कि—ऐसी अशास्त्रीय विचारधारा जिन मस्तकों में भरी है वे मस्तक भी रावण के मस्तकों की भान्ति शिव शिव तानि लुठन्ति गृध्रपादैः' के अनुसार एक दिन दुर्गति के भाजन बनेंगे।

लक्ष्मी चंचला क्यों ?

यह भी एक सार्वजनिक प्रवाद है कि लक्ष्मी बहुत चञ्चल है। एक हिन्दी कवि ने तो—'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चञ्चला होय'— कहते हुए इसका बड़ा ही विनोदपूर्ण समाधान किया है। परन्तु वास्तव में 'शाश्वत' और 'विपरिणाम' वाद के अनुसार एकमात्र भगवान् ही शाश्वत हैं। लोक में लक्ष्मी नाम से पुकारी जानेवाली वैभव सम्पत्ति विपरिणामी है। यदि यह दार्शनिक रहस्य समझ में न आता हो तो आज के समय की लक्ष्मी कही जाने वाली करेन्सी—नोटों की पूंजी को आंख खोल कर देख लीजिए ! सोने चांदी और निकल तांबे के टुकड़ों की भांति अब यह पूंजी चिरस्थायी न रहकर कलियुग महाराज की कृपा से अग्नि की एक चिनगारी से, पानी की चार बूंदों से, और वायु के साधारण झोंके से देखते ही देखते अपनी चञ्चलता का तत्काल परिचय दे देती है।

लक्ष्मी का वाहन उल्लू क्यों ?

श्री विष्णु भगवान् की परम प्रिय लक्ष्मी जब अपने पतिदेव के साथ किसी के यहां जाती है तब वह विष्णु भगवान् की गोद में गरुड़ पर सवार रहती है। परन्तु यदि कोई भगवान् को छोड़ कर अकेली का आवाहन करता है तब उसका वाहन

भरे दिन में न देख सकने वाला विनाश का प्रतिनिधि उलूक पक्षी होता है।

यह सब जानते हैं कि गरुड़ जी महाराज के दर्शन को सर्व साधारण समस्त मङ्गलों का मूल समझता है और उल्लू को उजाड़ चाहने वाला मनहूस जानवर मानता है। इसलिये जिस धनी के यहाँ जप पूजापाठ ईश्वराराधन देव-पितृ-कर्म, दान पुण्य और अतिथि-सत्कार होता है वहाँ समझो लक्ष्मी अपने पतिदेव श्रीमन्नारायण सहित पधारी है। और जहाँ अनाचार पापाचार व्यभिचार दुराचार अत्याचार और प्रमाद का बोलबाला हो, —देशजाति धर्म रक्षा के आवश्यक कार्यों को सामने देखते हुए आंख बन्द कर ली जाती हों, शराब, कबाब, वेश्या-गमन, और मुकदमेबाजी में रुपए का अपव्यय किया जारहा हो, वहाँ जान लेना चाहिए कि लक्ष्मी जी अकेले ही तशरीफ लाई हैं। तब ही तो श्रीमान् जी कोरे काठ के उल्लू बने हुवे हैं। वेदादि शास्त्रों ने नारायणानुगा लक्ष्मी की प्रशंसा की है और एकाकिनी की निन्दा की है यथा—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्या पापीस्ता अनीनशम्

(अथर्व ७। ११५। ४)

अर्थात्—पुण्या लक्ष्मी हमारे घर में रमण करे और जो अनर्थमूल पापिनी हैं वह विनष्ट हो जाये।

शिव स्वरूप विचार

अब कल्पना कीजिए कि कोई साधक शक्तिपति बनने की अभिलाषा रखता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि सभी मनुष्य

केवल निवृत्ति मार्ग के पथिक बन कर ही जीवन बिताना चाहते हों, ऐसी स्थिति में सनातनधर्म शक्तिपति बनने की इच्छा रखनें वाले साधक को 'शान्ताकारं' का उपदेश न देकर कहेगा चलिए आपको शक्तिपति के दर्शन कराता हूँ,—

शास्त्रीय–स्वरूप

(क) या ते रुद्र ! शिवा तनुः (यजुः)

श्मशानेष्वाक्रीड़ा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपोऽसृगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं,
तथापि स्मर्तृणां वरद परमं मंगलमसि ।।

अर्थात्—भगवान् शिव श्मशान में क्रीड़ा करते हैं, भूत, प्रेत, पिशाच आदि उनके सहचर हैं। शरीर पर चिता की भस्म लगाते हैं। नरमुण्डों की माला गले की शोभा बढ़ाती है। लोक में अमँगल-रूप समझे जाने वाली समस्त वस्तुओं को धारण करके भी वे भगवान् शङ्कर स्वभक्तों का परम मंगल करने वाले हैं।

शिव स्वरूप-विज्ञान

शक्तिपति कहाँ रहते हैं ?—श्मशान में !—जहाँ रूप यौवन संपन्न मानव-पिण्ड घास फूस की भाँति क्षणमात्र में फूंक दिये जाते हैं। जहां नर कंकालों की बिखरी हड्डियों पर बिना शंका कदम बढ़ाते हुए आगे बढ़ना पड़ता है !! जहां अपनें प्रियतम से प्रियतम व्यक्ति को शक्तिशून्य देख कर अविलम्ब अपनें ही

हाथों अग्नि की भेंट कर दिया जाता है—उस श्मशान में ही तो भूताधिनायक प्रलयङ्कर शङ्कर रहते हैं। साधक ! यदि तुझे भी शक्तिपति बनने का शौक है तो 'देवो भूत्वा देवं यजेत' के अनुसार घर-बार छोड़ सिर पर कफन बान्ध और आ इस बलि-वेदी की ओर !!!

प्रात: उठकर नित्य गाया कर 'श्मशानेष्वाक्रीड़ा स्मरहर पिशाचाः सहचराः' अहो ! यह तो गले में मुंडों की= मानव खोपड़ियों की विशाल माला पड़ी है। हां ! भी तुझे भी शक्तिपति बनने के लिए सहस्रों शत्रुओं की मुण्डमाला पहिननी होगी। इस सब भयंकर नरमेध का दायित्व अपने गले डालना होगा ! यदि तू मक्खी मारने से भी डरता है और देश रक्षा के लिए अनिवार्य शत्रु दमन में भी व्यर्थ ही अहिंसा का कायरता-पूर्ण राग आलापता है तो खबरदार शक्तिपति के विषम-पथ का पथिक मत बन ! घर में ही गुदगुदे गद्दलों पर रातों दण्ड पेला कर ; रङ्गरलियों में खेला कर।

अहो ! ये तो अङ्गों में भयङ्कर विषधर सर्प लिपटे हैं ?—हां ! हां ! तुझे भी फुंकार मार कर कायरों को डरा देने वाले द्विजिह्वों को काबू में करना होगा। ये भले ही तेरे अङ्गों में लिपटे रहें तथापि तुझे निर्विष रहना होगा। ओहो ! भाल में चन्द्रमा की रेखा और शीतल गङ्गाधारा की कलकल ध्वनि तो मुग्ध किये डालती है !—शक्तिपति जितना उग्र हो उसका मस्तिष्क उतना ही ठण्डा रहने की आवश्यकता है ठण्डा लोहा ही तो गरम लोहे को काटता है, चन्द्रमा उसी का प्रतीक है। गङ्गा से अधिक निर्मल और पवित्र वस्तु विश्व तल पर ढूंढे न मिलेगी। तब शक्तिपति के

मस्तिष्क को इन दोनों गुणों से संयुक्त बताने के लिए इससे सुन्दर उपमा और क्या हो सकती है ?

अहो ! यह गले में चमचमाती नीलिमा 'नीलकण्ठ' नाम को सार्थक कर रही है ! शक्तिपति बनने के इच्छुक साधक ! अभी नहीं समझे कि यह नीलिमा तुझे क्या आदेश दे रही है ?—उस दिन अमर बन कर दानवी शक्तियों का विध्वंस करने के विचार से जब समुद्र मन्थन आरम्भ हुआ था, तो ख्याल था कि इससे अमृत निकलेगा। परन्तु भावना के सर्वथा विपरीत निकल आया समस्त ब्रह्माण्ड को भस्म कर देनेवाला 'हलाहल' महा-विष ! देवगण को त्रस्त देखकर, शक्तिपति का हृदय पसीज गया। सब को निरातङ्क बनाने के लिये 'आशुतोष' स्वयं हला-हल का पान कर गए ! अन्त में अमृत भी निकला ! कई तुच्छ हृदय आशङ्कित थे कि कहीं अमृत को भी अकेले ही न उडेल जाएं, परन्तु शक्तिपति अमृत घट के निकट भी नहीं गए। दूर से ही बोले कि सब मिलकर यथायोग्य बाँट पीओ।

यही शक्तिपति का सच्चा चित्र है। यदि किसी जनहित आन्दोलन का फल परिस्थिति-वशात् अशुभ निकले तो नेता को चाहिये कि सब साथियों को बाल २ बचाने के लिये स्वयं उस सब अनर्थ का अकेला उत्तरदायी बन जाए और किसी भी उग्र से उग्र परिणाम को भोगने के लिये कटिबद्ध हो जाए। परन्तु यदि अच्छा परिणाम निकले तो उसका श्रेय: अपने समस्त अनु-यायी सज्जनों को देकर उन्हें सुखोभोग का अबाध अवसर प्रदान करे। स्वयं कूटस्थ ब्रह्म की भाँति केवल द्रष्टा मात्र बना रहे।

देखना, कहीं इस समस्त चित्र में धर्म रूप भगवान् वृषभ को

न भूल जाना। इसी के द्वारा तो शक्तिपति का आगमन होता है !! यही तो सब कामनाओं को बरसाने वाला होने के कारण 'वृषभ' नाम से स्मरण किया गया है। जो इसकी अवहेलना करेगा वह बड़े से बड़ा शक्तिशाली भी मनु के शब्दों में--

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते अलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ।।

(मनु० ८।१६)

अर्थात्—भगवान् धर्म साक्षात् 'वृष' है, जो इसका नाश करेगा वही 'वृषल'—पापीष्ठ कहा जाएगा। अतः धर्म लोप न करना चाहिए।

शक्ति स्वरूप विचार

शक्ति के दर्शन करने हों तो यह देख—तमोगुण के प्रतीक, यम वाहन के सगे भतीजे, महिषासुर के पापमय कलेवर को, रजोगुण के प्रतीक मृगराज से कुचलती हुई स्वयं सिंह की पीठ पर सवार साक्षात् सत्त्वगुण की सौन्दर्यमयी प्रतिमा माँ काली समस्त देवताओं की संघशक्ति का प्रतिनिधित्व करती हुई सामने विराज रही हैं। साधक, तू भी जब तक तमोगुणी दानवी शक्तियों को अपनी रजोगुणी दण्ड शक्ति से कुचल कर और स्वयं उस रजोगुणी शक्ति को भी अपनी सत्व सामर्थ्य से दबाये न रक्खे, तब तक शक्ति के दर्शन का अधिकारी नहीं होगा। सब दिशाओं और विदिशाओं में व्याप्त आठों भुजायें (Army) नाना विध शस्त्रास्त्रों से सदैव सुसज्जित रखना शक्ति का प्रधान लक्षण है।

कोल-अविध्वंसी=सूंवर को न मारने वाली जातियें दुष्ट

आत्मात्यों की गद्दारी से यदि कभी धावा बोलकर भारत के सुरथ को राज्यच्युत भी कर डालें तो भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि उपर्युक्त—'निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्ति' भगवती की की उपासना से विनष्ट राज्य पुनरपि प्राप्त हो जाएगा। परन्तु यह ध्यान रखना कि यह बिल्ली जैसे नेत्रों वाला 'बिड़ालाक्ष' और यह लाल मुखाकृति वाला 'रक्तबीज' भी उपेक्षणीय नहीं है किन्तु यथावसर शक्ति के द्वारा सुतरां दमनीय ही है।

काल भैरव स्वरुप-कोटपाल

काल के सामान भयङ्कर-रव=शब्द करने वाला यह 'काल भैरव' कोटपाल=कोतवाल का जीता जागता सगुण विग्रह है। रातों भूँकने वाला, जरा सी आहट में तत्काल जाग जाने वाला स्वामीभक्ति की मुंह बोलती प्रतिमा यह सारमेय [सार=तत्त्व ही जिसकी मेय=पड़ताल का एक मात्र ध्येय हो] अहर्निश इसके साथ रहता है।

कार्तिकेय स्वरूप विचार

देव-सेनापति के लिए चारों ओर देखना ही पर्याप्त नहीं किन्तु उसे तो नीचे और ऊपर भी देखने के लिये 'षण्मुख' बनने की आवश्यकता है। शक्तिपति का ज्येष्ठ श्रेष्ठ आत्मज ही इस पद का अधिकारी हो सकता है। नानाविध रंगों से रंजित वेषभूषा का प्रतीक मयूर, सेना को विविध वर्दियों=यूनिफार्मों का संकेत करता है; क्योंकि इस प्रकार सेनामुख=फौजी दस्ता सजधज के साथ प्रस्थान करने में जहां द्रष्टाओं को प्रभावित करता है वहां चुपके २ विषधर द्विजिह्व=झूठी अफवाहें फैलाने

वाले कुटिल कर्मा भुजङ्गमों को क्षणमात्र में चटकर जाना भी इस अग्रगामी दल की दैनन्दिनी लीला है। ओ दन्दशूक विलेशयो ! स्मरण रहे, शक्तिपति ने किसी भय से तुम्हें अपना अङ्ग भूषण नहीं बना रखा है; बल्कि यह तो उनकी अनुपम उदारता है। अन्यथा उनका आत्मज सेनानी अपने एक दर्जन नेत्रों में से यदि किसी एक की भी भ्रूभङ्गी से अपने वाहन को संकेत कर दे तो तुम्हारा अस्तित्व मिटाने के लिये तो वही एकला पर्याप्त है।

सेनानी का यह वाहन वर्षा के उद्गम से हृष्ट हुवे किसानों की झोपड़ियों में झूले झूल कर गाती नवोढ़ाओं के आमोद प्रमोद में भी सदैव तत्परता से भाग लेता है। वह बड़े लोगों की भान्ति केवल मन ही मन में मुस्कराने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि स्वयं भी ताण्डव-नृत्य में प्रवृत्त हो कर 'केका' कलरव को उच्चैस्तरां घोषित करता हुआ अपने नायक की ओर से उन्हें वर्द्धापन देता है।

सेना-नायक केवल किसी सती साध्वी माता की कोख से उत्पन्न मात्र होने के कारण नहीं बन जाता, किन्तु उसे तो अग्नि आदि पूरी छः माताओं के गर्भ में रहना पड़ता है*। जब तक वह धधकती आगकी गोदमें खेलने की क्षमता उत्पन्न नहीं करता तब तक तेजस्विता कहां ? किसी उर्दू कवि ने ठीक ही कहा है कि—

दिल को करना है अगर, सोज़े मुहब्बत में कबाब।
करवटें आग के बिस्तर पे बदलना सीखो।

कृत्तिका—वह दोधारी कटारी है कि जिस की तीखी धार

टिप्पणी—*पुराणों में कार्तिकेय जी की अग्नि, कृत्तिका आदि ६ माताओं का वर्णन मिलता है। इसी लिये उन्हें स्थान २ पर 'षाण्मातुर' नाम से पुकारा गया है।

पर अहर्निश कल्लोल करने वाले वीरों को ही प्रखरता बद्धमूल हो जाती है। शरों=[विष में बुझे बाणों] के झुण्ड में तो सेनानियों का जन्म ही होता है। जिन बालकों का लालन पालन मां जाह्नवी जैसी पुनीत गोद में नहीं हो पाता वे वयस्क होने पर अपने चरित्र को सुरक्षित रख सकेंगे—यह कोई नहीं कह सकता। पृथ्वी सी दृढ़ता सेनापति का आवश्यक लक्षण है ही। यह सब कुछ होते हुवे भी यदि वह आजीवन 'कुमार' रहने को तैयार नहीं, तो शास्त्र भी उसे सेनानी पद पर अभिषिक्त करने को प्रस्तुत नहीं।

शीतला स्वरूप विचार

पाश्चात्य जगत् चेचक से बहुत घबड़ाता है। हमें इसका अधिक अनुभव तब हुआ जब कि धर्म प्रचारार्थ अफरीका जाते हुवे मार्ग में जल-पोत में एक व्यक्ति उक्त रोग से पीड़ित हो गया और जहाज भर के यात्रियों को वस्त्र-प्रक्षालन और टीका लगवाने के लिये बहुत परेशान होना पड़ा। यह ठीक है कि यह भयानक संक्रामक रोग है, परन्तु जो डाक्टर औषधियों के उपचार से इसे ठीक करने के स्वप्न देखते हैं, वे वास्तव में इस रोग के मूल कारण से सर्वथा अपरिचित हैं।

शीतला 'माता' क्यों ?

चेचक शब्द का अक्षरार्थ क्या है ? यह बात हमने बहुत से अच्छे डाक्टरों से पूछी परन्तु वे लोग केवल 'एक किस्म का रोग' कह कर चुप हो गए ! भारतीय ऋषियों ने इस रोग के मूल कारण को न केवल जाना ही था, अपितु इसके सब गुण और

दोषों का विश्लेषण करके अपने समस्त अनुसन्धान का रहस्य उक्त रोग के नाम में ही निहित कर दिया था। भारत की अपटित से अपठित ठेठ देहात में रहने वाली देवियां भी उक्त रोग के ऋषि-कल्पित नाम के प्रताप से इसका वास्तविक निदान जानती हैं। भारत के सभी प्रान्तों में और सभी भाषा-भाषियों में इस रोग को 'माता' नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में यह रोग मलेरिया, प्लेग और विशूचिका आदि रोगों की भान्ति बाह्य कीटाणुवों के प्रवेश से उत्पन्न नहीं होता, इस की उत्पत्ति अन्दर से ही होती है।

असल बात यह है कि माता के गर्भ-गत बालक का पालन पोषण माता के उस रक्त के द्वारा होता है जो कि मासिक रजः-स्राव के रूप में प्रतिमास निकला करता है। गर्भ हो जाने पर ऋतु क्यों नहीं होते इस सम्बन्ध में चरक में लिखा है कि—

ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरां चापचीयमान-मपरेत्यभिधीयते शेषं चोर्ध्वान्तरमागतं पयोधरावभि-प्रतिपद्यते। (बृहन्निघण्टु रत्नाकर ४)

अर्थात्—गर्भ ठहर जाने पर रजःस्राव की गति नीचे की ओर रुक जाती है, तब वह ऊपर की ओर अपरा नाम की नाड़ी द्वारा बालक के शरीर निर्माण में व्ययित होने लगता है और शेष भाग ऊपर की ओर दोनों स्तनों में भर जाता है।

गर्भ होते ही मासिक धर्म बन्द हो जाता है। कल तक जो अपवित्र रज बह निकलता था, गर्भ के दिनों में वही रक्त बालक के शरीर के निर्माण में प्रधान सामग्री का काम देता है। बालक के

उत्पन्न हो जाने पर भी कुछ दिन तक रजः-स्राव बन्द रहता है। उस वक्त वह रज दुग्ध रूप में परिणत हो कर बालक की पुष्टि में व्ययित होता रहता है। वाग्भट्ट संहिता में लिखा है कि—

गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाडी निबध्यते।
यया स पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया॥
(अष्टाङ्गहृदय शारीर-स्थान १। ५८)

अर्थात्—गर्भस्थ बालक की नाभि और माता के हृदय का एक नाड़ी से सम्बन्ध रहता है, जिसके द्वारा बालक पुष्ट होता है, जैसे जल कुल्या से खेत सींचा जाता है। कहना न होगा कि प्रत्येक मनुष्य का अपना देह माता के ही उस रक्त का परिणाम है। सो जब खान पान के तारतम्य से अथवा ऋतु के प्रकोप से [जिसे आयुर्वेद शास्त्र में 'मिथ्याहार विहार' के नाम से स्मरण किया गया है—] हमारे शरीर में ओतप्रोत वह माता का रज. शारीरिक विद्युत् से उपद्रुत हो उठता है तो उस समय समस्त शरीरमें कष्ट, और हृदय आदि मर्म अङ्गों में विस्फोट हो जाता है। चूंकि इस रोग का पिता के वीर्य से कुछ सम्बन्ध नहीं किन्तु यह तो माता के दुष्ट रजः के प्रकोप से ही उत्पन्न होता है अतः इस रहस्य को सहसा समझ लेने के लिये महर्षियों ने इसका नाम ही 'माता' रख छोड़ा है। इसलिये 'माता' इस नाम में ही उक्त रोग का समस्त रहस्य छुपा है।

शीतला का उद्गम स्थान

आयुर्वेद शास्त्र के सर्वस्व श्री धन्वन्तरी महाराज के स्वकृत

शीतलास्तोत्र में इस रोग का बड़ा ही मार्मिक वैज्ञानिक विवेचन किया है यथा—

मृणालतन्तुसदृशीं नाभिहृन्मध्यसंस्थिताम् ।
यस्त्वां विचिन्तयेद् देवीं तस्य मृत्युर्न जायते ॥

अर्थात्=गर्भस्थ बालक की नाभि और माता के हृदय के मध्य प्रदेश में स्थित कमल के तन्तु के समान [जिस] अति सूक्ष्म [नाड़ी के द्वारा बालक का पोषण हुवा है उस) शीतलादेवी का जो पुरुष विशेषतया चिन्तन करता है, उसकी कभी (शीतला द्वारा) मृत्यु नहीं होती।

नाभि-चक्र और हृदय-चक्र के मध्य में जो धमनियों द्वारा रक्त का आदान प्रदान व्यापार चलता है वही स्थान उक्त रोग का प्रधान केन्द्र है। कमल नाल के बीच से निकलने वाले अतीव सूक्ष्म तन्तुवों के समान जो रुधिर-वाहिनी शिराओं का जाल बिछा है—उसको जान लेने पर उक्त रोग की चिकित्सा में बहुत सौकर्य हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय चिकित्सा में 'माता' रोग में औषधोपचार को महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु वैज्ञानिक उपचारों और तत्तद् धार्म्मिक अनुष्ठानों पर ही अधिक बल दिया गया है क्योंकि औषधियों तो बाह्य रोग कीटाणुवों के विनाश में ही समर्थ हैं। समस्त शरीर में व्याप्त मातृ-रजोमय विकार को दूर करने की औषधियों में वह सामर्थ्य कहां ?

जैसे साबुन, कपड़े में धंसी मैल को निकालने में तो समर्थ है परन्तु कपड़े के प्रत्येक तन्तु में ओतप्रोत रुई को निकालने की उस में शक्ति नहीं। यदि कोई मूढ़ अतीव तीक्ष्ण

तेज़ाब आदि पदार्थों से तूलिकामय कपड़े में से 'रुई' को पृथक् करने का प्रयास करे तो इसका सीधा तात्पर्य होगा कपड़े के अस्तित्व को खतरे में डालना ! ठीक इसी प्रकार जो पाश्चात्य चेचक रोग में तत्तद् औषधियों के बल से उसे शान्त करना चाहते हैं निःसन्देह वे रोगी की मृत्यु का स्वयं आवाहान करते हैं। यही कारण है कि डाक्टर लोग चेचक की चिकित्सा में अपनें अधिकांश रोगियों को काल का ग्रास बना देते हैं और इसीलिये उक्त रोग से वे बहुत भयभीत होते हैं।

भारत में अंग्रेजों के राज्यकाल से बचपन में ही समस्त बालकों को चेचक का टीका लगाने का जो कानून बना है यह अंग्रेजों की उस अनभिज्ञतामय परेशानी का कारण है, जो कि इस गरम देश में आने पर ठण्डे देश के निवासी होने के कारण उन्हें चेचक का शिकार बनने से भुगतनी पड़ी थी। अतः इस रोग में केवल ऐसी ही औषधि दी जानी चाहिये जो कि किसी नये परिणाम को जन्म न देकर यथास्थिति को सुरक्षित रखने में ही सक्षम हो। उसे हम अपने शब्दों में फिर चाहे 'स्थिति-स्थापक' कहें या यूनानी में 'मोतदिल' कहें ! इस रोग में औषधि न देने से कोई हानि नहीं होती, किन्तु तीक्ष्ण औषधि देने से बीमार उलझ जाता है। दोष पक जाने पर अपनी मर्यादा पर पहुंच कर यह रोग स्वयं धीरे २ शान्त हो जाता है। मियाद से पहिले औषधियों के बल पर टीके लगा कर इसे शान्त करने की चेष्टा करना बहुत खतरनाक सिद्ध होता है।

माता के मुख्य भेद

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और

चामुण्डा ये सात प्रधान माताएं हैं। इन में ब्राह्मी आदि का स्वभाव, स्वरूप स्वनामानुसार सौम्य या उग्र निश्चित किया गया है। इस का तात्पर्य यह है कि उक्त रोग प्रधानतया सात प्रकार का होता है। इनमें चार के आक्रमण ऐसे कहे जा सकते हैं कि जिनमें रोगी को कोई खास खतरा नहीं होता, परन्तु कौमारी वाराही और चामुण्डा का आक्रमण (Attack) खतरनाक है और इन तीनों में भी खासकर चामुण्डा का आक्रमण तो सर्वाधिक भयावह होता है।

कौमारी के आक्रमण में एक बार विस्फोट दीख कर पुनः विलुप्त हो जाता है। नाभि से अधो भाग में विस्फोट अधिक मात्रा में रहता है तन्द्रा प्रायः बनी रहती है। वाराही का आक्रमण बड़ी ही मन्थर गति से होता है, इसीलिये इसे 'मन्थज्वर' भी कहते हैं। केवल कण्ठ के आस पास बड़ी सूक्ष्म मात्रा में विस्फोटक रहता है जो सात दिन से ले कर पूरे चालीस दिन तक रह सकता है। इस में तन्द्रा हर समय बनी रहती है, बीच २ में मूर्छा भी होती है। इस में ज्वर रहते इतना खतरा नहीं जितना कि अन्तिम दिनों में ज्वर समाप्त होते हुवे हो सकता है।

चामुण्डा के आक्रमण में तो सर्वाङ्ग की कौन कहे, जिह्वा और नेत्रों में भी विस्फोटक का प्रादुर्भाव होता है। ठीक उपचार न होने से यदि मृत्यु नहीं तो रोगी विक्षिप्त, विकलाङ्ग और अन्धा तक प्रायः अवश्य हो सकता है। हम सब स्वरूपों का वर्णन न करके ग्रन्थ-विस्तरभयात् केवल चामुण्डा के सम्बन्ध में ही थोड़ा अधिक लिखते हैं।

चामुण्डा का सगुण विग्रह

वन्देऽहं शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बराम् ।
मार्जनीकलशोपेतां सूर्पालंकृतमस्तकाम् ॥

(धन्वन्तरी कृत शीतला स्तोत्र)

अर्थात्=गधे पर बैठी, सर्वथा नग्न, झाड़ू और जल घट उठाए, सूप=छाज को शिर पर भूषण की तरह सजाए शीतला देवी की मैं वन्दना करता हूं।

उपर्युक्त श्लोक में चामुण्डा का जो चित्र खींचा गया है। रोगी यदि इसके प्रत्येक शब्द पर ध्यान दे तो वह रोगोन्मुक्त हो सकता है और यदि सर्व साधारण हर समय इसका ध्यान करे तो घर में उक्त रोग का संक्रमण ही न होगा। 'शीतला' नाम का तात्पर्य है कि उक्त रोग के आक्रमण के समय रोगी दाह से नितरां पीड़ित रहता है उसे शीतलता की बहुत आवश्यकता रहती है, परन्तु वस्तुतः इस रोग की अधिष्ठात्री देवी ही स्वयं शीतला है अतः बाह्य शीतल उपचार करने से कुछ भी लाभ न होगा !

गर्दभ वाहन क्यों ?

शीतला गर्दभ पर सवार है। संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं—एक सौरशक्ति-प्रधान और दूसरे चान्द्रशक्ति-प्रधान। सूर्यशक्ति-प्रधान जीव बहुत चञ्चल, चुलबुले, तत्काल बिगड़ उठने वाले और असहनशील होते हैं। चान्द्रशक्ति-प्रधान प्राणी इससे सर्वथा विपरीत, लद्दड़, स्थैर्य-सम्पन्न एवं सहनशील

होते हैं। गाय, घोड़ा, मृग आदि प्रथम श्रेणी के जीव हैं। और गधा, भैंस, ऊँट आदि दूसरी श्रेणी के। घोड़ा कोड़े पर हाथ डालने मात्र से ही कान खड़े करता है और गधा दिन भर डण्डे खाने पर भी बेखबर! सचमुच यदि गधे की भाँति अन्य किसी भी जीव को दिन भर इतने डण्डे पड़ें तो वह अवश्य ही चन्द दिन में यमराज का अतिथि बन जाए। परन्तु प्रकृति ने चान्द्रशक्ति के आधिक्य से गधे का शरीर ही इस प्रकार का बनाया है कि उसके रुधिर में डण्डों की मार से उत्तेजना नहीं होती। यह प्रकृति माता का उस पर परम अनुग्रह ही है।

चान्द्रशक्ति-प्रधान जीवों में प्रमुख गर्दभ ही माता शीतला का वाहन हो सकता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि जैसे अधिक से अधिक परिश्रम करने पर थका माँदा भी गधा 'सुश्रान्तोऽपि वहेद् भारम्' के अनुसार धैर्य पूर्वक बोझा ढोते ही चला जाता है, इसी प्रकार चामुण्डा के आक्रमण के समय रोग के अधिक से अधिक प्रहार सहन करता हुआ भी रोगी कभी अधीर न हो। इसके अतिरिक्त शीतला रोग में गर्दभी का दूध बहुत हितकर होता है। तथा गधे लोटने के स्थान की मिट्टी और गधों के सम्पर्क का वातावरण उपयुक्त समझा जाता है। संसार में यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि 'ऊँट वाले को कभी पेट का रोग नहीं होता और कुम्हार को चामुण्डा का भय नहीं होता।' तपेदिक में भी गधी का दूध हितकर समझा जाता है।

अन्यत्र = 'चामुण्डा शववाहना' के अनुसार चामुण्डा का वाहन शव—मुर्दे की लाश भी कही गई है। इसका तात्पर्य है

कि चामुण्डा से आक्रान्त रोगी को शव की भांति निश्चेष्ट बन कर मर्यादा (मियाद) की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

वैज्ञानिक विवेचन

पीछे श्लोकों में कहा गया है कि— चामुण्डा दिगम्बरा है अर्थात्—सर्वथा नग्न अवस्था में है, सो चामुण्डाक्रान्त रोगी को भी प्राय: नग्न ही अवस्था में भस्म के बिस्तर पर लेटने के लिये विवश होना पड़ता है। क्योंकि सर्वाङ्ग-व्याप्त विस्फोट से निकलने वाला पीप रुधिर यदि वस्त्र से चिपक जाए तो फिर वह घावों से झटिति उतरता नहीं और बलात् उतारने पर घाव और अधिक गहरे हो जाते हैं जो फिर आयु भर नहीं भरते। चामुण्डा के प्रसाद से विकृत-मुख व्यक्तियों के चेहरे पर वे दाग खूब देखे जा सकते हैं। अत: सब दृष्टियों से सस्ता सुगम और हितप्रद यही उपचार है कि गोमय के कण्डों की नरम राख के बिस्तर पर चामुण्डा के रोगी को सर्वथा नग्न लिटा दिया जाय।

चामुण्डा हाथ में झाड़ू थामे है। सो झाड़ू घर की स्वच्छता का प्रतीक है इसलिये स्वच्छता का विशेष ध्यान दिलाने के लिये शीतला माता के एक हाथ में झाड़ू विद्यमान रहता है। कलश जहां धोने प्रक्षालन करने का प्रतीक है वहां बीमार के निकट जल पूर्ण घट खुले मुंह चौबीसों घण्टे रखने की प्रचलित प्रथा का भी निर्देश करता है। आज के वैज्ञानिक यह उद्घोषणा कर चुके हैं कि रोग से परिलुप्त वातावरण को विशुद्ध बनाने के लिये पानी का खुला टब घर में रखना बहुत लाभप्रद है, क्योंकि

रोग की मूल 'कार्बन गैस' उसमें समा जाती है। इसलिये शीतला को 'कलशोपेता' कहा गया है।

डाक्टर प्राय: जल के खुले टब को बीमार के निकट रखने का तो समर्थन करते हैं परन्तु यह परामर्श नहीं देते हैं कि पुनः उस पानी का क्या बनाया जाय। परन्तु हमारे महर्षियों ने इसकी पूरी २ व्यवस्था की है; यथा—रोगी के सिरहाने रखा हुआ जल प्रातः सायं उठाकर गांव से बाहिर—उस एकान्त स्थान में, जो कि केवल शीतला के लिये ही गांव की ओर से नियत है उडेल दिया जाए, जिससे रोग के कीटाणु दूसरे लोगों से संपृक्त होकर उन पर संक्रान्त न हो पाएं। इस तरह प्रातः सायं नियत समय पर जलपूर्ण पात्र ले जाते देखकर सभी गाँव वाले यह जान सकें कि अमुक घर में चामुण्डा का आक्रमण हो रहा है अतः सबको उनके सम्पर्क से बचना चाहिये। प्राय: ऐसे रोगी के निकट जाने की भी सर्वसाधारण को आज्ञा नहीं होती, बल्कि ऊंचे स्वर से बोलने तक की मनाही होती है। जिससे बीमार को पूरा विश्राम मिले और अन्य लोग सम्पर्क से बचें।

चामुण्डा के चित्र में अन्तिम विशेषण है 'सूर्पालंकृतमस्तकाम्' अर्थात्—उसने अन्न को विशुद्ध बनाने के प्रधान साधक सूप—छाज को अपने सिर का भूषण बना रखा है। कहना न होगा कि जिस घर में भोजन सामग्री की विशुद्धता का विशेष ध्यान रहता है उस घर पर चामुण्डा कभी कुपित नहीं होती।

बासी भोग क्यों ?

शीतला की प्रसन्नता के लिये एक समय का पका यातयाम=

तेल के गुलगुले आदि पक्वान्न चढ़ाने और खाने का प्रायः सर्वत्र प्रचार है। सिन्ध, मुलतान और बहावलपुर स्टेट के हिन्दू तो प्रत्येक सोमवार को बासी—बरूठा खाते थे। इस दिन हिन्दू हलवाई भट्टी तक नहीं चढ़ाते थे। यद्यपि साधारणतया पर्युषित अन्न खाने का निषेध मिलता है, परन्तु चिकित्सा-शास्त्र कहता है कि पर्युषित अन्न भक्षण से शैथिल्य बढ़ता है। सो यह हमारा निजी अनुभव भी है कि रक्त को अनावश्यक बढ़ती हुई प्रगति को रोकने में—अर्थात् रक्त दबाव (Blood Pressure) का बैलेंस ठीक रखने के लिए तेल में पका बासी स्निग्ध पक्वान्न भोजन बहुत हितप्रद सिद्ध होता है। साधारण स्थिति में जो शैथिल्य दूषण है शीतला-प्रकोप में वही वरदान बन जाता है।

यह सभी जानते हैं कि उक्त तीनों देवियों की पूजा का उपहार केवल चाण्डालादि को ही प्रदान किया जाता है और उक्त देवियों के मन्दिर प्रायः इन्हीं लोगों की सम्पत्ति समझे जाते हैं। सो इस प्रकार शीतला पूजन आपाततः हरिजन कहे जाने वाले अन्त्यजों के नकद उद्धार की भी एक अनुकरणीय परम्परागत उदात्त प्रणाली सिद्ध होती है।

अवतार विचार

हिन्दू-दर्शन के अनुसार जब २ संसार में धर्म की हानि और अधर्म का बोलवाला होता है तब २ इस ब्रह्माण्ड का नायक वह प्रभु स्वयं शरीर धारण कर विश्वद्रोही तत्त्वों का विनाश कर पुनः धर्म संस्थापन करता है। सो अवतार क्या है? —इस

सम्बन्ध में भी आवश्यक शङ्काओं का समाधान अङ्कित किया जाता है, तद्यथा—

(क) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋग्वेद ६।४७।१८)
(ख) रूपं रूपं मघवा बोभवीति। (ऋग्वेद ३।३।२७।३)
(ग) प्रजापतिश्चरति गर्भेरन्तरजायमानो बहुधाभिजायते
(यजुः ३१।१६)

अर्थात्—(क) इन्द्र—परमात्मा अपनी माया द्वारा अनेक रूप बनाकर विचरता है। (ख) परमात्मा बार २ मत्स्य कूर्मादि नाना रूप बनाता है। (ग) प्रजापालक भगवान् गर्भ के मध्य में विचरता है यद्यपि वह 'अजन्मा' है तथापि अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है।

क्या 'अज' अवतार ले सकता है ?

जब कि भगवान् अज और अजन्मा कहा जाता है फिर वह अवतार कैसे ले सकता है ?—अण्ड-पिण्ड सिद्धान्त के अनुसार शास्त्रों में जीव को भी 'अज' लिखा है, जैसे—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
'अजो' नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात्—यह जीवात्मा न उत्पन्न होता है और न कभी मरता है न कभी हुआ है और न भविष्य में कभी होने की संभावना है किन्तु यह 'अज' है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है, शरीर के हनन किये जाने पर भी इसका हनन नहीं होता।

सो जैसे 'अज' कहा जाने वाला अल्पशक्ति जीव भी जब निरन्तर शरीर धारण किये प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर हो रहा है तब केवल 'अज' होने के कारण ईश्वर पर यह प्रतिबन्ध कैसा कि वह सर्व-शक्तिमान् होते हुवे भी शरीर धारण नहीं कर सकता।

वस्तुतः जीव न उत्पन्न होता है और ना ही मरता है। लोक में जो यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि 'श्री देवदत्त के घर पुत्र उत्पन्न हुवा है और महाशय रामदत्त की नानी मर गई है! यह केवल शरीर धारण और शरीर परित्याग क्रिया का ही सूचक है। परमार्थतः चेतन जीवकी उत्पत्ति और विनाशका नहीं। क्योंकि पुनर्जन्म सिद्धान्त के अनुसार आज देवदत्त के यहां जो पुत्र उत्पन्न हुवा है उसका जीवात्मा इससे पूर्व भी न जाने कितनी बार जन्म ले चुका है और अनादि काल से इस जन्म मरण के चक्र में परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार महाशय जी की नानी के मरने का भी यह अर्थ नहीं कि नानी जी का जीवात्मा सर्वथा खत्म हो गया किन्तु इसका भी यही तात्पर्य है कि अब वह जीवात्मा इस शरीर का परित्याग करके शरीरान्तर में प्रविष्ट होने चला गया है। इस लिए जब 'अज' कहा जाने वाला अल्पशक्ति जीवात्मा शरीर धारण कर सकता है तब सर्व-शक्तिमान् परमात्मा अवतार क्यों नहीं ले सकता ?

शरीरधारी अनेक दुःखों का भाजन ?

यदि परमात्मा जीवात्मा की भान्ति शरीर धारण करता है तो फिर वह भी हमारी तरह अनेक शारीरिक और मानसिक कष्टों का भाजन बनेगा ?—नहीं, हमारे और अवतारों के शरीर

में बहुत अन्तर है। हमारे शरीर 'कर्म-फल-जन्य' हैं, अर्थात्— पूर्व जन्मों में हमने जो बुरे या भले कर्म किये थे, उनका परिणाम ही यह देह है। तभी तो राजा, रंक, सर्वाङ्ग-सुन्दर, और जन्मान्ध आदि नानाविध प्राणी देखे जाते हैं। इस विभिन्नता हेतु कर्मों का तारतम्य ही है, परन्तु अवतारों के शरीर 'कर्म-फल जन्य' नहीं होते किन्तु स्वेच्छामय 'दिव्य' होते हैं, यह रहस्य वेद में सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है यथा—

...अकायमव्रणमस्नाविर ँ अपापविद्धम् (यजुः ४०)

अर्थात्—परमात्मा 'काया' रहित है, व्रण और नस नाड़ी के बन्धनों से रहित है अत एव पाप से विद्ध नहीं।

वेद के इस मन्त्रांश पर जरा गम्भीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है, तभी इसका गूढ़ रहस्य समझ में आ सकेगा। **'काया'** शब्द **'चिञ् चयने'** धातु से बना है जिसका अर्थ है **'चीयते पापपुण्यादिकं येन'** अर्थात् जिसके द्वारा जीव पाप और पुण्यों का संचय करता हो उसको 'काय' कहते हैं। सो मनुष्यों के शरीर कर्म फल जन्य होने के कारण पाप और पुण्य का संचय करने वाले होते हैं, अतएव उन सब का नाम 'काय' है। परन्तु अवतारों के शरीर 'कर्म-फल-जन्य' न होने के कारण पाप और पुण्य का सञ्चय करने वाले नहीं होते अतः उन्हें 'काय' नाम से स्मरण नहीं किया जा सकता। इस अभिप्राय से मन्त्र में कहा गया है कि—परमात्मा 'अकाय' अर्थात् कायारहित है। यह तत्त्व अगले दो विशेषणों से और भी सुतरां सुस्पष्ट हो जाता है।

यदि वेद में परमात्मा को केवल शरीर-रहित कहना ही इस मन्त्र में अभीष्ट होता तो फिर उसे 'अव्रणम्' और 'अस्ना-

विरम्' कहने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जब उसका सर्वथा शरीर ही नहीं है फिर व्रण और नस नाड़ी के होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता। जैसे 'देवदत्त के पुत्र नहीं' यह कह देने पर पुनः 'काला पुत्र नहीं, गोरा पुत्र नहीं' इत्यादि निषेध निरर्थक सिद्ध होते हैं। इसलिये उक्त वेद मन्त्र में परमात्मा के शरीर का सर्वथा और सर्वदा निषेध करने में तात्पर्य नहीं किन्तु लोकोत्तर शरीर प्रतिपादन करने में तात्पर्य है, इसीलिये यहाँ शरीर, वपुः, गात्र आदि देहवाची अन्य शब्द न देकर 'काय' शब्द का प्रयोग किया गया जिससे कोई भी विचारशील झटिति 'कर्म फल जन्य' शरीरमात्र का निषेध समझ सके। अतः जब अवतार 'काय' = कर्म-फल-जन्य-शरीर-रहित हुए तो उनके वे दिव्य-देह भी मानव देहों मे सर्वथा विलक्षण 'अव्रण' = घाव चोट से रहित और 'अस्नाविर' = नाड़ी नसों के बन्धन से शून्य हैं, और इसीलिये सर्वथा 'अपापविद्ध—पाप पुण्य आदि के प्रभाव से अस्पृष्ट हैं। इसलिये 'दिव्य शरीर धारी' अवतार शरीरी होते हुवे भी दुःख भाजन नहीं हो सकते।

संसार में रहते दुःखी क्यों नहीं ?

जैसे जेलखाने में 'कर्मफल जन्य' जेल-यातना भुगतने वाले कैदी सर्वथा परतन्त्र हैं और अनेक कष्टों के भाजन हैं, परन्तु उसी जेल में जेलर, या कभी शासन-यन्त्र का संचालक प्रधान-मंत्री अथवा राजा भी स्वेच्छा से प्रबन्ध निरीक्षणार्थ पहुँचता है, घण्टों जेलखाने की काल कोठरियों को देखता घूमता है। अमुक प्रसन्नता दिवस के उपलक्ष में कैदियों की इतनी जेल कम करने का आदेश देता है, उनके भोजन आदि के प्रबन्ध में अनेक सुवि-

धाएं देने की आज्ञा देता है और जब चाहता है वापिस लौट जाता है। वह सर्वथा स्वतन्त्र है, अतएव जेलखाने की सीमा के अन्दर रहता हुआ भी वह दुःखभाजन नहीं हुआ। उसे परतन्त्र अपराधियों की भाँति कुछ भी कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि 'सर्वं परवशे दुःखं सर्वमात्मवशे सुखम्' के न्यायानुसार परतन्त्रता ही दुःख है और 'स्वतन्त्रता' ही सुख है। स्वतन्त्र किसान चाहे कैदी से भी अधिक परिश्रम करे और चाहे उसे कैदी के समान भी भोजन न मिल सके परन्तु स्वतन्त्र होने के कारण उसको यह कष्ट इतना नहीं खलता। राजनैतिक कैदियों को खान-पान आदि की सभी सुविधाएं जेल में प्राप्त हों, तथापि वाचिक बन्धन के कारण परतन्त्रता अनुभव होती ही है। सो हम लोग संसार में जेल की भाँति कर्मफल भुगतने के लिए परतन्त्र हैं, आबद्ध हैं, अतएव दुःखी हैं। परन्तु अवतार संसार के अधिष्ठाता के रूप में हमारी सुव्यवस्था निरीक्षणार्थ और भक्तों पर अनेक विध उपकार करने के लिए स्वेच्छा से यहां पधारते हैं। कइयों को भुक्ति और कइयों को मुक्ति प्रदान करते हैं और जब इच्छा होती है तब लीला संवरण कर लेते हैं, अतएव वे स्वतन्त्र हैं। सो जैसे सम्राट् स्वेच्छा से अमुक समय तक कारागार में रहता हुआ भी दुःखी नहीं होता, इसी प्रकार अवतार संसार में शरीर धारण करके भी दुःखी नहीं होते।

सूक्ष्म से स्थूल और निराकार से साकार कैसे ?

जब कि परमात्मा सूक्ष्म निराकार है फिर वह स्थूल साकार

कैसे बन जाता है ?—संसार में अहर्निश प्रत्येक वस्तु साकार से निराकार और निराकार से साकार तथा स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल बनती रहती है। जैसे शंकाकर्ता महाशय अपने देह को समझ लें। इस समय जो यह साढ़े तीन हाथ का पिण्ड दीख रहा है यही पहिले रज-वीर्य था, उससे पूर्व भोजन= खुराक था, उससे पूर्व पृथ्वी, फिर विलोम क्रम से—जल, अग्नि, वायु और आकाश। इस प्रकार अपनी सातवीं पीढ़ी पूर्व यही पिण्ड आँखों से न दीख सकने वाला सूक्ष्म आकाश था और इससे भी पूर्व आत्मा था, क्योंकि आत्मतत्त्व से ही क्रमशः उक्त पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सूक्ष्म और निराकार आत्मा ही स्थूल साकार पिण्ड के रूप में परिवर्तित होता है। पुनश्च मृत्यु के अनन्तर 'कृमी, विट् या भस्म' इन तीनों में से किसी एक रूप में परिणित होकर विलोम-क्रम से आत्मा में ही विलीन हो जाता है।

सैकड़ों मन जल राशि सूर्य की किरणों द्वारा सूखकर अपने स्थूल और साकार रूप को छोड़कर सूक्ष्म और वाष्प रूप में अदृश्य हो जाती है और समय आने पर पुनश्च वाष्प-रूप से जल रूप में परिणत होकर पृथ्वी पर बरसती है। यह व्यापार नित्य प्रत्यक्ष देखने में आता है। सो सूक्ष्म से स्थूल और निराकार से साकार, तथा इसके विपरीत स्थूल से सूक्ष्म और साकार से निराकार—निरन्तर बनते रहना ही संसार-चक्र है जो अप्रतिहत गति से बराबर घूमता रहता है। जब निराकार भगवान् ही अपना ब्रह्माण्ड रूप साकार विग्रह बनाकर विराट् स्वरूप में अवतीर्ण हुए प्रत्यक्ष दीख रहे हैं, फिर उनका मत्स्य कूर्म आदि रूप में अवतीर्ण होना शङ्कास्पद क्यों ?

रामकृष्णादि भी दुःख में रोते झीखते हैं ?

सीताहरण के समय रामचन्द्रजी प्राकृत मनुष्यों की भांति रोते २ व्याकुल हुए। वृक्ष और पर्वतों से भी सीता का पता पूछते हैं तथा लक्ष्मणजी को मूर्च्छित देखकर स्त्रियों की भांति विलाप करते हैं। इसी प्रकार नृसिंह जी क्रोधोन्मत्त होकर अपने नखों से हिरण्यकशिपु का कलेजा फाड़कर उसकी रक्तरंजित अंतड़ियें अपने गले में डाल लेते हैं। वामन बलि से सर्वथा चार सौ बीस करते हैं। परशुराम जी क्रोधान्ध होकर अपने शत्रु क्षत्रियों के खून से पाँच कुण्ड भर देते हैं। कृष्णजी तो पदे२ एक चुस्त, चालाक, चन्ट आदमी की भाँति छल, कपट, दम्भ और मिथ्याचार तथा दुराचार करने तक में कभी नहीं चकते। ये सब कृत्य शुद्ध सच्चिदानन्द कहे जाने वाले परमात्मा के नहीं हो सकते ?

नाटक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रत्येक पात्र जैसा वेष बनाता है वह उसी के अनुरूप हाव-भाव कटाक्ष और कथनोपकथन करता हुआ अमुक व्यक्ति का पूरा २ अभिनय करके दिखाता है। तभी वह दर्शकों को **'रामादिवत् प्रवर्तयितव्यं न रावणादिवत्'**—ऐसी शिक्षा दे सकता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् भी जैसे अवतारी स्वरूप में प्रकट होते हैं वे अपने उसी स्वरूप के अनुरूप चेष्टा करके भक्तों को अनेक शिक्षाएं देते हैं! उदाहरणार्थ मर्यादापुरुषोत्तम राम भगवान् ने सीताहरण के समय व्याकुलता का अभिनय करके सर्वसाधारण को यह शिक्षा दी है कि अनन्यभक्ता सती साध्वी पतिव्रता पत्नी के वियोग में पति को कितना कष्ट अनुभव करना चाहिये! और अपने आज्ञाकारी अनन्य सेवक भ्राता के कष्ट को कितनी गहराई तक अनुभव

करना चाहिये। ये शिक्षाएँ विना ऐसा अभिनय किये प्राप्त नहीं हो सकती थीं।

भुसुण्डी रामायण में सीता वियोग में भगवान् राम के रोने की एक अद्भुत कथा लिखी है; यथा—पञ्चवटी में अनेक ऊर्ध्वरेता मुनि राम के दैनिक सत्संग में उपस्थित होकर ज्ञान चर्चा किया करते थे। सीताजी आश्रम में झाड़ू-बुहारी लेपन आदि करके उसे स्वच्छ रखतीं और भगवान् के लिये कन्द मूलादि का सुप्रबन्ध करती थीं। भगवान् का सब समय ज्ञानचर्चा में व्यतीत होता। मुनियों को भगवान् का जीवन गृहस्थ होने के कारण सुखमय प्रतीत हुआ और अपना सब कृत्य स्वयं करने के कारण दुःखमय। अतः अनेक मुनियों ने भी सगृहस्थ होने का निश्चय किया। अन्तर्यामी भगवान् ने मुनिजनों के इस व्यामोह को दूर करने के लिये सीताहरण के समय रो-रोकर यह व्यक्त कर दिया कि गृहस्थ में नाना दुःख उठाने पड़ते हैं, इससे मुनि शान्त हो गये।

इसी प्रकार अल्पवयस्क प्रह्लाद पर वर्णनातीत अत्याचार करने वाले व्यक्ति का वध करते हुए उग्रातिउग्र रूप बनाकर क्रोधातिरेक का अभिनय करते हुए भगवान् ने यह शिक्षा प्रदान की है कि ऐसे दुराचारी के वध में जितनी भी उग्रता वर्ती जाए सो थोड़ी है। वामन भगवान् ने देवताओं का स्वत्व देवताओं को दिलाने के लिये बिना एक कतरा खून बहाए जो लीला रची है यदि उसका नाम 'चारसौ बीस' है तो फिर आदर्शनीतिमत्ता किसका नाम है? जो रक्षक बनकर भी ऋषियों के घरों से एकमात्र गाय को भी डाका डालकर छीन सकते हैं, ध्यान में बैठे, सर्वथा निर्दोष, लुटने-पिटने पर भी—सर्वथा

शान्त महात्मा का निर्मम बध कर सकते हैं=ऐसे क्षत्रिय नाम को कलंकित करने वाले नराधमों के रक्त से वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए पांच कुण्डों की तो कथा ही क्या है यदि पचास कुण्ड भी भर दिये जाएँ तो वे भी थोड़े हैं। निस्सन्देह कृष्ण भगवान् जहां भक्तों के दास, सदाचारियों के चरणसेवक, मित्रों के साथी और निरीह अबला तथा त्रस्तजनों के प्राणपण से संरक्षक थे, वहाँ गुण्डों के गुरुत; चुस-चालाकों के चौधरी, कपटकारियों के चौपटकारी, दम्भियों के दण्डधर और आततायियों के साक्षात् अन्तक अवश्य थे। सो जैसे नट अपने वेष के अनुसार हर्ष खेद आदि सब प्रकट करता हुआ भी स्वयं वस्तुत. न हृष्ट होता है न खिन्न होता है किन्तु विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से केवल अमुक रसका निष्पादन मात्र करके दर्शकों को प्रभावित करता है, ठीक इसी प्रकार अवतार भी 'जस काछिय तस चाहिय नाचा' के अनुसार केवल तादृश अभिनय मात्र करते हैं और 'जो जो भाव दिखावहिं, आपु न होहिं सोइ सोइ' के अनुसार वस्तुत: वैसे नहीं बन जाते।

एक ही समय में अनेक भगवान् ?

यदि राम आदि अवतारों को परमात्मा मान लिया जाए तो फिर एक ही समय में एकाधिक परमात्मा बन जायेंगे ? जैसे--रामचन्द्रजी और परशुरामजी दोनों एक ही समय में विद्यमान थे और सीता स्वयंवर में 'तू तू मैं मैं' भी कर रहे थे ?

श्री रामचन्द्रजी और परशुरामजी तो केवल दो ही अवतार आप एक समय में बता रहे हैं, यदि आवश्यकतानुसार

इससे अधिक भी हो जाएँ तो परमात्मा के एकत्व में कुछ अन्तर नहीं आ सकता क्योंकि वेद कहता है कि—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

(छान्दोग्य उप०)

अर्थात्—जैसे एक ही अग्नि समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और वह नानाविध रूप बनाकर यत्र-तत्र-सर्वत्र दीख पड़ता है। पाषाणों में भी अग्नि है, समुद्र के गर्भ में भी वाडवाग्नि है, और घर-घर में भी वह प्रत्येक चूल्हे में जलता दीखता है, परन्तु फिर भी वैज्ञानिकों की दृष्टि में अग्नि के एकत्व में कुछ भी अन्तर नहीं आता। ठीक इसी प्रकार एक समय में एकाधिक अवतार हो जाने पर भी परमात्मा के एकत्व में कुछ भी अन्तर नहीं आ सकता।

अयोध्या में राम तो सर्वत्र खाली ?

यदि राम कृष्णादि को परमात्मा माना जाए तो जब रामचन्द्र जी अयोध्या के राजसिंहासन पर विराजमान होंगे तब समस्त संसार तो खाली पड़ा रहेगा ? ईश्वरशून्य हो जाएगा !! सर्व-व्यापक भी न रहेगा !!!

अभी **'अग्निर्यथैको'** मन्त्र में यह प्रकट किया जा चुका है कि जैसे सर्वव्यापक अग्नि सर्वत्र भी बना रहता है और यत्र तत्र प्रकट भी हो जाता है। माचिस की एक सलाई के जल जाने पर अग्नि वहां प्रकट भी हो गया और बाकी सलाइयों में व्यापक भी बना रहा। इसी प्रकार परमात्मा रामादि रूप में अयोध्या आदि स्थानों में प्रकट भी हो गया और यत्र तत्र सर्वत्र व्यापक भी बना रहा, **'नात्र कार्या विचारणा'**।

कला क्या बला है ?

कहा जाता है कि रामचन्द्र जी इतनी कला के अवतार थे और कृष्ण जी इतनी कला के अवतार थे—सो यह कला क्या बला है ?

जैसे संसार में अमुक २ विषयों के परिज्ञान को 'कला' कहते हैं और वे कुल मिलाकर चौंसठ कलाएँ मानी गई हैं, इसी प्रकार परमात्मा को समस्त लोकोत्तर प्रधान शक्तियें भी चौंसठ हैं और वे कलाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

भगवान् के 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' के अनुसार एक चौथाई में समस्त चराचर प्रपञ्चरूप में प्रकट होता है और तीन तिहाई रूप में त्रिपादविभूति धारण किए स्वरूप में सुस्थिर भगवान् रहते हैं। ऐसी दशा में विश्व-प्रपञ्च से सम्बद्ध परमात्मा षोडश-कला-पूर्ण कहा जाता है, वेद कहता है—

(क) षोडश कलं वै ब्रह्म (जैमिनि उप० ३ । २८ । ८)

(ख) स (प्रजापतिः) हैवं षोडशधा आत्मानं विकृत्य सार्धं समैत् (जैमिनि उप० १ । ४८ । ७)

अर्थात्—(क) पूर्ण ब्रह्म की सोलह कलाएं हैं। (ख) वह प्रजापति अपने को सोलह कलाओं में विभक्त करके सब में समा गया।

आर्यसमाज की प्रसिद्ध संस्था डी० ए० वी० कालिज लाहौर अनुसन्धान-विभान के अध्यक्ष श्री हंसराज जी के द्वारा परिष्कृत 'वैदिक-शब्दकोष' में षोडश कलाओं के नाम इस प्रकार लिखे हैं :

(क) स (प्रजापतिः) षोडशधाऽऽत्मानं व्यकुरुत ।

(१) भद्रं च (२) समाप्तिश्च (३) आभूतिश्च (४) सम्भूतिश्च (५) भूतञ्च (६) सर्वञ्च (७) रूपञ्च (८) अपरिमितञ्च (९) श्रीश्च (१०) यशश्च (११) नाम च (१२) अग्रञ्च (१३) सजातश्च (१४) पयश्च (१५) महीया च (१६) रसश्च ।

(जैमिनि उप० १ । ४६ । २)

अर्थात्— परमात्मा ने अपने आपको सोलह कलाओं में विभक्त किया । वे कलाएँ इस प्रकार हैं—

(१) भद्र=भजनीयता, (२) समाप्ति=समस्त गुणों की पराकाष्ठा, (३) आभूति=जड़ चेतनात्मक जगत् का प्रादुर्भाव, (४) संभूति=संरक्षा, (५) भूतम्=संहार, (६) सर्वम्=परिपूर्णता (७) रूप=इन्द्रियजन्य अनुभूति का आधार (८) अपरिमित=मन वाणी बुद्धि से अगम्य (९) श्री= आश्रयणीयगुणों का एकमात्र केन्द्र, (१०) यश=समस्त प्रशंसाओं का एकमात्र पात्र, (११) नाम=समस्त नामों का एकमात्र आधार, (१२) उग्र=समस्त चेष्टाओं का प्रमुख केन्द्र (१३) सजाता= समस्त शक्तियों का एक मात्र सहज स्थान, (१४) पयः=पञ्चमहाभूतों के कललात्मक संम्मिश्रण का आवास, (१५) महीया=महत्तमा माया का एक मात्र आधार, (१६) रसः=समाधिलब्ध आनन्दोद्रेक का एक मात्र आवास ।

कला की सर्व-व्यापकता

कला केवल राम कृष्णादि भगवान् के अवतारों में ही नहीं होती, किन्तु कला तो इतनी सर्वव्यापक है कि यह दृश्यमान

समस्त चराचर, न्यूनाधिक रूप में सर्वथा उससे संपृक्त है। कला आप में भी है और हम में भी। पशु पक्षी भी कला विशिष्ट हैं और वृक्ष एवं लता आदि भी। उपनिषदों में हमें कला के विकास से समस्त सृष्टि के प्रादुर्भाव का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। वहां बतलाया गया है कि संसार की रचना के समय सृष्टि-प्रक्रिया के नियमानुसार सर्व प्रथम अन्न कला का विकास हुआ और इस से उद्भिज्ज-जगत्—वृक्ष लता, गुल्म, वनस्पति आदि की—उत्पत्ति हुई। उद्भिज्जों में इसी कला की प्रमुखता है। खुराक खाना और बढ़ना इस कला की विशेषता है। वृक्षादि पृथ्वी से अपनी खुराक ग्रहण करते हैं और बढ़ते हैं। यदि उन्हें इस खुराक से वंचित कर दिया जाय तो वह कदापि जीवित नहीं रह सकते। अन्नमय कला के विकास के कारण ही ये वनस्पति, औषधि, वृक्ष, लतादि अन्न के प्रमुख गुण—शक्ति पुष्टि स्फूर्ति आदिसे युक्त हैं और संसार के समस्त प्राणियों के द्वारा उपभुक्त होते हैं।

स्वेदज—मक्खी, मच्छर, जूं, लीख कीटाणु आदि छोटे २ दृश्य अदृश्य—प्राणियों में अन्नमय कला के साथ प्राणमय कला का भी विकास देखने में आता है। इस कला के अभाव के कारण वृक्ष स्थावर तथा जड़ रहने के लिए विवश थे, वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जा नहीं सकते थे, परन्तु स्वेदज प्राणियों में प्राणकला की यह विशेषता विद्यमान है कि वे यथेच्छ चल-फिर, उड़ सकते हैं। यही नहीं किन्तु प्राण शक्ति की कुछ और विशेषताएँ भी उन में देखी जा सकती हैं। ये जीव केवल चलते फिरते ही नहीं किन्तु काटते भी हैं, हैजे प्लेग आदि के कीटाणु रोगी को काट कर प्राण तक हरण कर लेते हैं। हमारे खून में विद्यमान रक्त तथा श्वेत कीट रोगोत्पादक कीटों के साथ युद्ध करके हमारे शरीर को स्वस्थ रखते हैं, शुक्र कीट तो

प्राणशक्ति का कमाल ही दिखा देते हैं। हम और आप कभी इन्हीं कोटों के रूप में माता पिता के रज शुक्र में समाये हुये थे जो विकसित हो कर आज सर्वसाधन-सम्पन्न मानव बनने में सफल हो सके हैं। चींटियों का भविष्य के लिये संचय करने में परिश्रम, दीमक का मिट्टी खोद २ कर पहाड़ के टीलों जैसी बांबियों का निर्माण, खटमलों का आत्म रक्षा के लिये चारपाई के गुप्त और अगम्य स्थानों में छिपना और आक्रमण करना आदि प्राण शक्ति के ही चमत्कार हैं जो इन स्वेदज जीवों में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं।

कबूतर, चिड़िया, तोता मैंना साँप, मयूर आदि अण्डजों में अन्न, प्राण के अतिरिक्त मनोमय कला का और विकांस हो जाता है। ये पक्षो जहां खा पी सकते हैं, यथेच्छ उड़ सकते हैं वहां मनोमय कला के विकास के कारण इन में एक विशेषता और है जो पहिले जीवों में नहीं थी। चूंकि हमारा मन सुख, दुःखादि की उपलब्धि का साधन है अतः इस कला के होने से पक्षियों में सुख दुःखादि की अनुभूति स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। कबूतर कबूतरी एक दूसरे को प्यार कर कितना सुख अनुभव करते हैं। चकवे चकवी का प्रेम तो कवियों के वर्णन का विषय रहा ही है। सांप का क्रोध और बदला लेने की प्रवृत्ति विश्व विदित है; यदि सर्प-दम्पति में से एक मर भी जाय तो दूसरा उसका बदला चुकाये विना नहीं छोड़ता। एक २ तिनका चुन कर 'बैया' ऐसा घर तैयार करता है कि उसकी कारीगरो को देख मनुष्य दंग रह जाता है। कोयल स्वयं को शिशुपालन के पचड़े से बचाने के लिए अपने अण्डों को चालाको से कौवे के घोसले में रख आती है। चिड़िया कैसे स्नेह से अपने बच्चे के

मुंह में चुग्गा देती है। मन भावन सावन के दिनों में जब आकाश में घन गर्जन होने लगता है मयूर कितने प्रसन्न मन से नाच २ कर अपने आह्लाद को व्यक्त करता है। किमधिकम्- अण्डजों में ब्रह्म की मनोमय कला के कारण ही यह सब भाव और चेष्टायें स्वतः स्फुरित होती हैं।

जरायुज—अर्थात् पशुओं में पूर्ववर्ती उद्भिज्ज, स्वेदज और अण्डजों की अपेक्षा 'विज्ञानमय' कला का समावेश और अधिक हो जाता है। इस कला के विकास के कारण ही पशुओं में ज्ञान की कुछ मात्रा आ जाती है। घोड़ों और कुत्तों की असीम स्वामिभक्ति, वानरों की मानव सदृश चेष्टायें, हाथियों का यूथप के नायकत्व में संगठन पूर्वक निवास, गाय-भैंस आदि का दिन भर चर चरा कर अपने ठीक घर में वापिस आजाना और सरकसों में सधाये हुये जानवरों द्वारा विविध क्रीड़ा-प्रदर्शन इसी विज्ञानमय कला के विकास के कारण ही सम्भव हो सके हैं।

मानव श्रेणी की गणना इसके अनन्तर को सृष्टि में आती है। मानवों में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और ५ वीं कला आनन्द के साथ साथ २ अन्य कलाओं का भी विकास पाया जाता है। इस प्रकार मानवों में हमें ८ कला तक के मनुष्य मिल सकते हैं। पूर्ववर्ती जीवों को जैसा कुछ प्रकृति ने बनाया वे उसी प्रकार रह कर जीवन निर्वाह करते हैं, परन्तु मनुष्य में यह बात नहीं। आनन्द कला के विकास से उसके संपूर्ण कार्य-कलाप का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति करना हो जाता है। वास्तव में आनन्द क्या है यद्यपि इस विषय में मतभेद हो सकता है, किसी को अंगूर आनन्ददायक हों और किसी को निम्बू, किसी का मन

हलवे से प्रसन्नता पाता है और किसी का चाट पकौड़ी से, परन्तु यह निर्विवाद है कि उन दोनों ही खानेवालों का उद्देश्य एक ही है—आनन्द। मीठे खट्टे की बात छोड़िये; डाक्टर के यहां से दाम देकर कड़वी कुनैन खरीद कर पीने वाले बुखार के रोगी का उद्देश्य भी उस कटु औषधि के पान में आनन्द ही है। फलतः मनुष्य की सब चेष्टाओं का उद्देश्य साधारण तौर पर आनन्द है और विशेष तौर पर कहें तो परमानन्द प्राप्ति है। यद्यपि हम लोगों में से थोड़े ही उसके लिये प्रयत्न करते हैं किन्तु चाहते यही हैं कि काश ! वह "परम आनन्द" किसी प्रकार प्राप्त हो सकता !

यह तो हुई सर्वसाधारण की बात। अपने २ शुभ कर्मों और संस्कारों के कारण, अथवा जप-तप योगादि शास्त्र प्रोक्त साधनों द्वारा पुरुष में अतिशायिनी, विपरिणामिनी, संक्रामिणी आदि २ विशेष कलाओं का विकास भी हो जाता है। ऐसी दशा में ये कलायें तद्विशिष्ट पुरुषों को साधारण मानव कोटि से उठाकर महापुरुषों की श्रेणी में बैठा देती है।

अतिशायिनी कला-विशिष्ट पुरुष उन साधारण कार्यों को करने में समर्थ होता है जिन्हें सामान्यजन कल्पना से भी बाहर समझते हैं। इसके क्षेत्र अनेक हो सकते हैं जैसे—आत्मा, मन, बुद्धि, शरीर, वैभव, ज्ञान आदि। प्राक्तन शुभ कर्मानुसार यदि मनुष्य इन क्षेत्रों में से किसी भी एक क्षेत्र में अतिशायित्व प्राप्त कर ले तो उसकी गणना विशिष्ट कोटि के पुरुषों में होने लग जाती है और सामान्यजन स्वयं पुकार उठते हैं कि उसके पास तो सचमुच भगवान् की निराली देन है। श्री जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य ने दस बारह वर्ष की छोटी-सी अवस्था में ही सम्पूर्ण

शास्त्रज्ञान प्राप्त कर अपने बुद्धिबल से संसार को चकित कर दिया था। अभिमन्यु ने १६ वर्ष की छोटी-सी अवस्था में ही उस अप्रतिम बल-विक्रम का परिचय दिया था कि द्रोण भीष्मादि सातों महारथियों के सामने, उस निहत्थे बालक को मिलकर मारने के सिवाय और कोई चारा ही न रहा था। वीर हकीकत-राय, जोरावर सिंह, गारा और बादल आदि बालकों के चरित्र में इस कला के अल्प विकसित बीज प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं।

विपरिणामिनी संक्रामिणी कलाओं का सम्बन्ध इससे भी ऊपर की कोटि के मनुष्यों के साथ हैं। यह कलायें प्रायः योगियों या अनन्य निष्ठा वाले प्रभु भक्तों में विकसित होतो हैं और इनकी सहायता से वें अनेक असम्भव कार्यों को सम्भव कर दिखाते हैं। अणिमा आदि आठों सिद्धियें,—जिनके प्रभाव से योगी लोग स्वशरीर को यथेष्ट छोटा-बड़ा, हल्का-भारी कर लेते हैं—इसी के अन्तर्गत आती हैं। विपरिणामिनी कला के होने पर जिस किसी वस्तु को अपने दृढ़ संकल्प मात्र से अन्य रूप में परिवर्तित कर सकना यागो के बायें हाथ का खेल है। परकाय-प्रवेश, सर्वभूतरुतज्ञान, लोकान्तर-गमनादिभी इसीसेसंभव होतेहैं।

संक्रामिणी कला की सहायता से मनुष्य अपनी अपूर्व तथा विशिष्ट शक्ति को दूसरे व्यक्ति में भी संक्रमण कर सकता है। महाभारतयुद्ध में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी को सहायता से संजय को अपने दिव्यनेत्र प्रदान किये थे, जिससे वह सम्पूर्ण महा-भारत को हस्तिनापुर में बैठे २ देखने में समर्थ हो सके थे।

यहां तक तो हुई मानवों की बात। इससे उपर अर्थात् ९ से लेकर १६ कला तक का विकास देवों और अवतारों में होता है उन अवशिष्ट ८ कलाओं के नाम हैं—(९) प्रभ्वी, (१०) कुण्ठिनी

(११) विकासिनी, (१२) मर्यादिनी, (१३) संह्लादिनी, (१४) आह्लादिनी, (१५) परिपूर्णा, (१६) स्वरूपावस्थिति ।

(६) प्रभ्वी का अर्थ है कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थं होना। जिस प्रकार भगवान् ने नर और सिंह का अभूतपूर्व तथा अश्रुत पूर्व शरीर धारण कर और उसको पत्थर के खम्भे से उत्पन्न कर सृष्टि नियम विरुद्ध कार्य सम्पन्न किया था। (१०) कुण्ठिनी का अर्थ है पंच महाभूत और विषादि की शक्ति को सर्वथा अक्षम कर देना। भगवान् कृष्ण का दावानल पान और भगवान् शंकर का हालाहल पान इसके कारण सम्भव हो सका था । (११) विकासिनी कला के प्रयोग से वामनावतार में भगवान् विष्णु ने तीन पांवों में ही सारे ब्रह्माण्ड को नाप कर 'त्रिविक्रम' नाम को चरितार्थ किया था। (१२) मर्यादिनि कला के वैशिष्ट्य से ही भगवान् राम ने सर्वशक्ति-सम्पन्न होते हुए भी सब क्षेत्रों में शास्त्र मर्यादा का पालन कर 'मर्यादापुरुषोत्तम' के सम्मान्य विरुद को धारण किया था। (१३) संह्लादिनी का अभिप्राय है—अऋतु और असमय में पुष्प फलादि का उद्गम आदि करके प्राकृतिक नियमों में परिवर्तन कर देना ; जैसा कि रासलीला के समय भगवान् कृष्ण ने शरद् ऋतु में भी वसन्त ऋतु के लक्षणों का संमिश्रण कर दिया था और विविध पुष्पों की मनमोहक आवास से यमुना का वह सारा पुलिन सुरभित हो उठा था। (१४) आह्लादिका श्री राधिका जी, जो कि भगवान् की आदिशक्ति हैं और कृष्ण अवतार की लीलाओं के समय प्रभु की नित्य सहचरी रहकर उनका अनुरञ्जन करती रहीं। (१५) परिपूर्णा अर्थात् सम्पूर्ण कलाओं में निपुणता की पराकाष्ठा, यथा

श्रीकृष्णावतार में भगवान् कृष्ण की विविध कलाओं में अतिशय निपुणता। उनकी अंगुलियें इतनी कोमल और हल्की थीं कि वे बांसुरी वादन में दक्षता प्राप्त करके विश्व को मुग्ध कर सके और कठोर इतनी कि उन द्वारा गोबर्धन पर्वत धारण जैसा कठोर कर्म सम्पन्न कर सके। (१६) स्वरूपावस्थिति=समस्त कलाओं का उपसंहार करके निज रूप में अवस्थिति। जैसे भगवान् कृष्ण द्वापर के अन्त में अपनी समस्त कलाओं को समेट कर अपने नित्य स्वरुप में समा गये थे।

इस विवेचन से आशा है पाठकों को कला के स्वरूप और उसकी सर्व-व्यापकता का ज्ञान प्राप्त करने में अब कोई कठिनाई न रहेगी।

क्या अवतार छोटे बड़े भी होते हैं ?

कहा जाता है कि राम द्वादश कला पूर्ण अवतार थे और कृष्ण षोड़श कला पूर्ण थे, परशुराम जो चार ही कला के बतलाये जाते हैं। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि राम कृष्ण से छोटे थे और परशुराम जी उन दोनों से भी छोटे थे—इस तरह कलाओं के तारतम्य से एक ही परमात्मा छोटा वड़ा और मंझोला नाना प्रकार का बन जाता है—यह क्यों ?

दियासलाई की प्रत्येक तिल्ली में समस्त ब्रह्माण्ड भर के काष्ठ-सञ्चय को फूँकने की शक्ति है इस अंश में कोई भी बुद्धिमान् विप्रतिपन्न नहीं हो सकता। परन्तु संयोगवश जिस सलाईको जितना काष्ठ-कदम्ब प्राप्त होगा उस काष्ठके परिणाम के अनुसार ही वहाँ उतना बड़ा अग्निकाण्ड समझा जाएगा।

कहना न होगा कि अग्निकाण्ड का न्यूनाधिक्य अग्नि की दाह शक्ति के न्यूनाधिक्य का परिचायक नहीं, किन्तु लक्कड़ आदि दाह्यद्रव्यों के न्यूनाधिक्य का ही परिचायक है, परन्तु व्यवहार में छोटा-सा अग्निकाण्ड और बड़ा भयंकर अग्निकाण्ड—ऐसा बोलने में आता है। ठीक इसी प्रकार परमात्मा के सभी अवतार समान शक्ति सम्पन्न होते हैं, उन में शक्ति के न्यूनाधिक्य के कारण छोटाई बड़ाई का कोई प्रसंग नहीं। परन्तु संयोगवश जिस अवतार को जितना अधिक भूभार उतारने का, जितनी अधिक लीलाएँ प्रकट करने का, और अपनी जितनी अधिक विभिन्न कलाओं के प्रदर्शन का अवसर मिला तदनुसार व्यवहार में उसको उतनी ही कला का कहा जाने लगा। इस लिये 'अमुक अवतार इतनी कला का है—इस का अर्थ यह नहीं कि कलाओं की संख्या के अनुसार उसके छोटा या बड़ा होने का अनुमान किया जाए। किन्तु कौन अवतार संयोगबश कितनी लीलायें कर पाया है ? यही उन कलाओं के तारतम्य का तात्पर्य है।

राम से कृष्ण बड़े ठहरे ?

घुमा फिरा कर जो भी कहो किन्तु आखिर परिणाम यही निकलता है कि बारह कला के राम सोलह कला के कृष्ण की अपेक्षा छोटे ही ठहरे ?

शङ्कावादी को मूक करने के लिये यह पूछा जा सकता है कि दो अठन्नो का रुपया बड़ा होता है ? या चार चवन्नी का ? अथवा सोलह आने का ? —कहना न होगा कि कि अठन्नी, चवन्नी और आनों की संख्या विभिन्न होने पर भी, यहाँ रुपएके छोटे या बड़े होने का प्रश्न मूर्खतापूर्ण है। वह तो तीनों प्रश्नों में

समान ही है, ठीक इसी प्रकार बारह कला के राम, और सोलह कला के कृष्ण—यह बात कहने में १२ और १६ संख्या का न्यूनाधिक्य तो अवश्य प्रत्यक्ष दीख पड़ता है परन्तु वस्तुतः तृण की ओट में पहाड़ छुपा हुआ है। क्योंकि शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार और प्रत्यक्ष में भी सूर्य का नाम द्वादशात्मा है अर्थात्-उसकी बारह कलाएं हैं जो बारह आदित्य माने जाते हैं। इसीलिए सूर्य के विभिन्न बारह भेदों के अनुसार ही बारह महीने होते हैं। फलतः सूर्यवंशावतंस भगवान् रामचन्द्र जी महाराज द्वादश कलापूर्ण अवतार कहे जाते हैं। ऐसे ही चन्द्रमा की सोलह कलाएं होती हैं, प्रतिपदा को एक कला उदित होती है और पौर्णिमा को वह षोडशकलापूर्ण दीख पड़ता है, सो श्रीकृष्ण भगवान् चन्द्रवंशावतंस हैं इसलिए वे षोडश-कलापूर्ण कहे जाते हैं।

सो जैसे चान्द्रगणना के अनुसार श्रीकृष्ण जी सोलह कला सम्पन्न होने के कारण पूर्णावतार कहे जाते हैं तथैव श्री रामचन्द्र जी सूर्य गणना के अनुसार बारह कला सम्पन्न होने पर भी पूर्णावतार ही कहे जाते हैं।

जैसे अन्य देशों के सिक्के, पौण्ड फ्राँक, डॉलर आदि भारत में आने पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार रुपए पैसे के रूप में परिवर्तन हो जाने के कारण अपनी पहले वाली संख्या में चाहे न रहें परन्तु उनके मूल्य में कोई अन्तर नहीं आता अर्थात्—एक्सचैञ्ज कार्यालय द्वारा उनका मूल्य उतना ही नियन्त्रित रहता है; ठीक इसी प्रकार सोलह कला के कृष्ण भगवान् का और बारह कला के राम भगवान् का शास्त्र में मूल्य एक ही है अर्थात् बैलेंस बराबर है।

ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता ?

जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी कृपा से अनन्त ब्रह्माण्डों का पालन करता है वह भक्तों की तथैव रक्षा कर सकता है। और जब वह भ्रूभङ्ग के संकेतमात्र से समस्त ब्रह्माण्ड का विनाश कर सकता है तो उसे हिरण्यकशिपु, रावण और कंस सरीखे तुच्छ कीट-पतंङ्गों को मारने के लिए शरीर धारण करके संसार में आना पड़े--यह कल्पना कोरी कल्पना ही है—अतः सर्वशक्तिमान् परमात्मा को अवतार लेने की क्या आवश्यकता ?

प्रश्न बहुत ठीक है परन्तु क्या शङ्काशील महाशय ने कभी यह भी प्रश्न हल किया कि परमात्मा को स्वयं उक्त महाशयजी के ही बनाने की क्या आवश्यकता थी ? यदि वह महाशयजी को न बनाता तो वह कौन ऐसा काम था जो इनके बिना रुक जाता ? और यही क्यों ? परमात्मा को इस इतने बड़े संसार को ही बनाने की क्या आवश्यकता पड़ी थी ? फिर यदि संसार बनाने की भूल की भी थी तो उसमें गुलाब जैसे सुकोमल फूल वाले पेड़ पर प्रखर कांटे लगाने की क्या आवश्यकता थी ? अच्छा, और सब झगड़ा छोड़ो—चलो यही बताओ कि उक्त शङ्कावादी महाशय की इन पिचकी गालों पर सुई की नोक के समान चुभने वाले नोकीले बालों की कौन आवश्यकता थी ? काश ! यदि ईश्वर यह अन्तिम भयंकर भूल न कर बैठता तो सैफ्टीरेज़रों की फैक्टरी क्यों खुलती ? और महाशय जी का नित्य पन्द्रह मिनट का टाइम जो सदर गेट की सफाई में अपव्ययित होता है

वह बच जाता, तथा बिना ही परिश्रम स्वभावतः दोनों कपोल अधिक पके टमाटर के समान सुन्दर बने रहते।

यदि हम ईश्वर की आवश्यकताओं का लेखा-जोखा करने बैठें तो तीन दिन में पागल बन जाएं। ऐसी दशा में जब कि हम गुलाब के कांटों की आवश्यकता बिना समझे भी उसके सुगन्धित पुष्पों को बड़े चाव से ग्रहण करते हैं, चांद के कलङ्क की और सूर्य का आधा टाइम अनुपस्थित रहने की आवश्यकता को न समझते हुए भी इन दोनों से लाभ उठाते हैं, फिर अवतार ही एक विषय शेष रह गया कि जिसकी आवश्यकता बिना समझे महाशयजी के पेट का दर्द बन्द नहीं होता। इसलिये इस प्रश्न का प्रथम उत्तर तो यह है कि सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकताओं को वह अल्पज्ञ जीव समझ ही नहीं सकता! सो अवतार लेने की वास्तविक आवश्यकता को भी स्वयं ईश्वर ही जान सकता है। परन्तु हम शङ्काकर्ता की केवल बोलती बन्द करना नहीं चाहते, किन्तु शास्त्र प्रमाण और हेतुवाद से उसके हृदय पर सनातन धर्म की छाप लगाना चाहते हैं। अतः उक्त प्रश्न का वास्तविक समाधान करते हैं।

वेद ने स्वयं यह प्रश्न उठाया कि परमात्मा को ब्रह्माण्ड रचने की क्या आवश्यकता थी? और स्वयं ही इसका उत्तर दिया है कि—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

(बृहदार. उप.)

अर्थात्—संसार के बनाने में ईश्वर का न कोई कार्य विशेष है

और नांही कोई विशेष प्रयोजन ही है, किन्तु ज्ञान, बल और क्रिया ये तीन वस्तुएं भगवान् के अन्यतम स्वाभाविक गुण हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि जैसे कोई कहे कि अग्नि को दहन की क्या आवश्यकता? और प्रकाश देने की क्या आवश्यकता? इन दोनों प्रश्नों का वास्तविक समाधान यही होगा कि 'वस्तुवैचित्र्य वाद' के अनुसार दहन करना और प्रकाश करना ये दोनों अग्नि के स्वाभाविक गुण हैं, अतः स्वभावतः ही अग्नि जलाता है और स्वभावतः ही प्रकाश प्रदान करता है। उक्त दोनों व्यापारों में उसका अपना कोई निजी प्रयोजन नहीं है। बस! ठीक इसी प्रकार ज्ञान, बल और क्रिया ये परमात्मा के स्वाभाविक गुण हैं। और इनके अनुसार स्वभावतः ही सृष्टि की रचना होती है।

वेद का यही उत्तर अवतार लेने की आवश्यकता पर ठीक फिट बैठता है। ईश्वर के अनन्त गुणों में भक्तों की रक्षा और दुष्टों का संहार करना ये दो ही अन्यतम स्वाभाविक गुण हैं। सो जब उक्त गुणों का उद्रेक होता है तब प्रभु का अवतार हो जाता है, जैसे अन्धकार को दूर करना सूर्य का स्वाभाविक गुण है इसी प्रकार अवतार लेना भी प्रभु का स्वाभाविक गुण है। इसीलिये दर्शन शास्त्र में लिखा है कि—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।

(ब्रह्म सूत्र शां० भा०)

अर्थात्—जैसे लोक में बालक स्वभाव से क्रीड़ा किया करते हैं, इसी प्रकार ईश्वर [अवतार धारण करके] अनेक लीलाएँ रचा करता है।

अपने आप ही क्यों आता है ?

ईसाइयों के कथनानुसार आवश्यकता पड़ने पर God ने अपना इकलौता बेटा क्राइस्ट भेजा, मुसलमानों के कथनानुसार आवश्यकता पड़ने पर अर्शेबरी पर बैठे खुदा ने हजरत नबी को अपना पैगम्बर (सन्देश वाहक दूत) बनाकर भेजा। आर्यसमाजियों के कथनानुसार जब कभी आवश्यकता पड़ती है तो परमात्मा स्वा० दयानन्द सरीखे किसी महापुरुष को भेज देता है।

इस तरह सभी सम्प्रदायवादी अपने २ यहां खुदा के बेटे पोते और नौकर-चाकरों का आना प्रकट करते हैं परन्तु सनातन धर्म में अपने आप स्वयं परमात्मा ही पहुँचता है ? क्या सनातन-धर्मी ईश्वर का कोई नौकर-चाकर या बेटा-पोता नहीं, जो वह उसे न भेजकर स्वयं परिश्रम उठाता है ?

कहा जाता है कि यह प्रश्न यवनसम्राट् अकबर ने बीरबल से किया था, जिसका क्रियात्मक मुंहतोड़ उत्तर देने के लिये बीरबल ने कुछ दिन की मोहलत मांगी और इस बीच चतुर कारीगरों से सम्राट् के दुधमुंहे नन्हे बच्चे का पुतला तैयार करवाया। एक दिन जब कि अकबर, बीरबल सहित यमुना नदी में नाव द्वारा सैर कर रहे थे, पूर्व आयोजन के अनुसार एक दासी उस पुतले को लेकर ठीक समय पर पहुंची और ज्योंहीं बीरबल दासी की गोद से उसे स्वयं नाव में बैठे २ अपनी गोद में लेने लगे, तो उस समय उन्होंने ऐसा अभिनय किया मानो उन का पांव रपट गया है और बच्चा हाथ से छूटकर जमना की गोद में गिर कर डूब रहा है। अकबर अपने प्रिय पुत्र की इस दशा को न देख सके और तत्काल उसे बचाने के लिए जमना में

कूद पड़े तथा बच्चे को फौरन बाहर निकाल लाए। परन्तु ज्योंही उसे छुआ और देखा तो नकली पुतला पहिचानकर बहुत चकित और क्रुद्ध हुए। कड़क कर कहा—ये क्या गुश्ताखी है ? बीरबल ने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया—जहांपनाह ! जब कि यहां दशों मल्लाह मौजूद थे और भी काफी नौकर-चाकर विद्यमान थे और हजूर का नमकख्वार बन्दा भी खुद हाजिर था फिर हजूर ने हम सब में से किसी को आज्ञा न देकर स्वयं ही जमना में छलांग क्यों लगाई ? अकबर ने कहा—बीरबल ! तुम भी क्या फिजूल बातें कर रहे हो ! जब मैंने देखा कि मेरा लख्ते-जिगर, नूरे-नज़र जमना की धार में डूब रहा है तो ऐसे नाजुक वक्त में इतनी फुरसत कहां हो सकती थी कि मैं तुम सब को हुक्म देता फिरूं। मेरे कुदरती प्यार ने मुझे मजबूर कर दिया और बिना तुम्हें कुछ कहे-सुने मैं खुद ही कूद पड़ा। काश ! अगर तुम्हारा बच्चा भी इसी तरह तुम्हारे सामने डूब रहा होता तो तुम भी यही करते।

तब बीरबल ने मुस्कराकर कहा कि बस ! हजूर जैसे अनेक दास-दासियों की विद्यमानता में भी आप अपने नकली पुत्र को बचाने के लिये स्वयं प्रवृत्त हुए, ठीक इसी प्रकार 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः' के अनुसार अपने हृदय के अभिन्न टुकड़े भक्त को दुःख सागर में डूबता हुआ देखकर हमारे भगवान् भी अनन्त सेवक देवो-देवताओं को आज्ञा न देकर प्रेमोन्मत्त होकर उसका स्वयं ही उद्धार करने के लिये अवतरित हो जाते हैं।

हम समझते हैं इस प्रश्न का इससे अच्छा क्रियात्मक उत्तर और क्या हो सकता है। फिर अन्यान्य सम्प्रदायों का ईश्वर तो

कोई चौथे आसमान पर कोई सातवें आसमान पर चढ़ा रहता है साथ ही हूर और गिलमों के जमघट में रहते २ इतना आराम-तलब तबीयत का बन गया है कि स्वयं कुछ करते-धरते नहीं बनता। रईसों की तरह पड़े २ केवल जिह्वा हिलाने में ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता है. परन्तु सनातनधर्मियों का परमात्मा तो सर्वगुण सम्पन्न है, आराम करता है तो इतना आराम करता है कि क्षीरसागर में शेषनाग के गुदगुदे गदेले पर से कभी उठता ही नहीं, और अपनी ड्यूटी पर तनात है तो इतना पक्का हैं कि बलि राजा के द्वार पर अहर्निश खड़ा चौबीसों घण्टे पहरा देता कभी थकता ही नहीं।

क्या ईश्वर मर भी सकता है ?

जब सनातनधर्मियों से यह पूछा जाया करता है कि निराकार परमात्मा अवतार कैसे ले सकता है ? तो वे तपाक से कह दिया करते हैं कि जब प्रभु को सर्वशक्तिमान् कहा जाता है फिर वह अवतार क्यों नहीं ले सकता ? और यदि नहीं ले सकता तो फिर उसे 'सर्वशक्तिमान्' न कहकर 'एक शक्ति कम सर्वशक्तिमान्' कहना चाहिये—इस उत्तर पर हमें प्रष्टव्य है कि— यदि 'सर्वशक्तिमान्' का यही अर्थ है कि वह अपने सृष्टि नियमों के विरुद्ध मनमानी सब कुछ कर सकता है तो फिर क्या वह मर भी सकता है ?

एक बार यह प्रश्न एक शास्त्रार्थ के मध्य में एक महाशय जी ने किया था। हमने कहा कि यह प्रश्न ही निर्मूल है क्योंकि मुमूर्षु मनुष्य में जब तक देखने, सुनने कहने, आदि किसी भी तरह की एक भी शक्ति विद्यमान रहती है तो तब तक वह मर नहीं

सकता, मरता तभी है जब कि उसकी सभी शक्तियें सर्वथा विनष्ट हो जाएँ। इसलिये मृत्यु का अर्थ है समस्त शक्तियों का सर्वथा अभाव। सो जब एक शक्ति की विद्यमानता में भी मनुष्य नहीं मरता फिर सर्वशक्तिमान् होते हुए ईश्वर के मरने का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न हो सकता ! इसलिये सर्व-शक्तिमान् होने के नाते—'वह मर भी सकता है ?'—ऐसा प्रश्न करना अपनी मूर्खता का ही प्रदर्शन करना है।

ईश्वर कच्छ मच्छ वराह क्यों ?

ईश्वर कच्छ मच्छ और वराह जैसे तुच्छ शरीरों में क्यों अवतिरत हुये ? उनको कोई अच्छे शरीर नहीं मिले ?

अमुक शरीर तुच्छ है और अमुक श्रेष्ठ है यह कल्पना तो केवल हाड़ चाम का व्यापार करनेवाले पारखी किया करते हैं। ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि में तो यह समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् का ही अपना स्वरूप है इसलिए श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् ने सर्वत्र अपनी विभूतियों का प्रदर्शन करते हुये अन्त में निर्णय दिया है कि—

सदसच्चाहमर्जुन ! (गीता)

अर्थात्—हे अर्जुन ! सत् और असत् सब कुछ मैं ही हूँ। ईश्वर को सर्वव्यापक मानने वाले आर्यसमाजी, मुसलमान और ईसाई आदि पन्थ क्या यह कह सकते हैं कि उनका ईश्वर मलमूत्र के ढेर में और कुष्टी के कृमीपूर्ण सड़ियल घाव में व्यापक नहीं है। यदि नहीं है तो फिर वह सर्वव्यापक कैसा ? और यदि है तो फिर कच्छ मच्छ और वाराह आदि शरीर को आपने उच्च वस्तुओं की अपेक्षा तुच्छ कैसे समझा ?

अवतारों को मूछें क्यों नहीं होतीं ?

राम कृष्णादि अवतारों की बाजारों में और मन्दिरों में प्रायः जितनी मूर्तिएँ देखी जाती हैं उनमें मूंछ नहीं होती— इसका क्या कारण ?

अवतारों का तो कहना ही क्या सिद्ध, महात्मा, योगियों का भी शरीर जरापलित आदि दोषों से रहित षोडश-वर्ष-वयस्क पुरुष सरीखा रहता है इसलिये वेद में कहा है कि—

(क) न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।
(श्वेताश्वतर २।१२)

(ख) तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ॥
(श्रीमद्भागवत १ । १६ । २६)

अर्थात्—(क) योगाग्निमय शरीर प्राप्त होने पर योगी को न रोग होते हैं न बुढ़ापा व्यापता है और नां ही मृत्यु प्रभावित कर सकता है। [राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत सुनाने जब शुकदेव जी पहुंचे तो] वे सोलह वर्ष के सकुमार दीख पड़ते थे, उनके चरण, हस्त, ऊरु भुजाए कंधे और कपोल तादृश सुकुमार कोमल जान पड़ते थे।

कहना न होगा कि जब पुरुष कोटि में जन्म लेने वाले योगी महात्मा भी अपने पिण्ड को साधना द्वारा तादृश बना सकते हैं, तब स्वभावतः दिव्य शरीर धारी अवतारों का तो कहना ही

क्या है ? सोलह वर्ष के नवयुवकों का जैसा शरीर होता है अवतारों का भी लीला संवरणकाल तक वैसा ही बना रहता है, इसलिये मूछ दाढ़ी आदि नहीं होती।

मत्स्य कूर्म इत्यादि क्रम क्यों ?

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण बुद्ध और कल्की ये मुख्य दश अवतार बताये जाते हैं इनका यह क्रम क्यों ?

'विकाश-वाद सिद्धान्त' के अनुसार सर्व प्रथम जल ही जल था। अतः उस समय जलीयशरीरधारी जीव ही उत्पन्न हो सकते थे, सो उनमें सर्व प्रथम ऐसा जीव मत्स्य ही हो सकता है, यह मत्स्यावतार द्वारा सिद्ध होता है। पुनः जल सूख जाने पर कुछ सूखी भूमि निकल आई तब जल और थल दोनों में रह सकने वाले जीवों का उद्भव हुवा यह कच्छप अवतार का संकेत है। अधिक पृथ्वी निकल आने पर उस पर फिर वृक्षादि उद्भिज्जों की उत्पत्ति हुई, तब ठेठ वन में रहने वाला वराहावतार हुआ। आगे पशुता क्रमशः घटने लगी और मनुष्यता का विकाश होने लगा। ऐसे समय में आधा नर और आधा सिंह इस प्रकार के विचित्र जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। फिर क्रमशः मानवता पनपने लगी तो मनुष्यों का पूरा ढांचा तो बना परन्तु वह अभी उन्नत नहीं हो सका था अतः तब वामन अवतार प्रकट हुवा। इससे आगे के युग में मानवता का सर्वाङ्ग पूर्ण स्वरूप श्री परशुराम भगवान् के रूप में प्रकट हुवा, परन्तु तत्कालीन दुष्टों के दमन के लिए उन्हें परशु को ही व्यापृत रखना पड़ा। अन्त

में मानवता की सुस्थिर मर्यादा का सर्वाङ्गपूर्ण चित्र श्री भगवान् रामचन्द्र जी महाराज के चारु-चरित्र में दीख पड़ा। परन्तु केवल धर्म नीति के बल पर स्थापित मानव मर्यादा तमोगुणी व्यक्तियों द्वारा सदैव अपमानित होती है अतः 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की राजनीति रूप वृत्ति=बाढ़ लगाकर उसको सुरक्षित रखने की आवश्यक पूर्ति श्रीकृष्ण भगवान् के प्रादुर्भाव से हुई। एतदर्थं तादृश लोकमत बनाने के लिए बुद्धिवाद का भी पर्याप्त सदुपयाग हो सकता है जिसको आधार शिला 'अहिंसा' पर स्थिर की जानी चाहिए यह सत्य श्री बुद्धावतारके प्रादुर्भाव से हृदयङ्गम हो सका। परन्तु दुष्टजन, प्रशान्त-आत्मा मनुष्य की कृपामयी प्रवृत्ति को भीरुता समझ कर मनमानी करने पर उतारू हो जाते हैं जैसा कि अब हो रहे हैं। अतः अन्ततो गत्वा 'लातों का भूत बातों से नहीं मानता—यह नीति स्थिर करने को कलि के अन्त में श्री कल्की भगवान् अवतरित होंगे। इस प्रकार विकासवाद सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले सज्जनों को अवतार-क्रम से सृष्टि प्रकिया और उसके क्रमिक विकास का सुतरां आभास मिल सकगा।

मत्स्य कूर्म और वाराह के मन्दिर क्यों नहीं ?

राम कृष्ण के मन्दिर सर्वत्र पाये जाते हैं, नृसिंह वामन परशुराम बुद्ध के मन्दिर भी कुछ हैं परन्तु मत्स्य कूर्म और वराह के मन्दिर देखने में नहीं आते—इसका क्या कारण ?

यद्यपि जम्बू-काश्मीर चम्बा और दक्षिणी भारत के बहुत से स्थानों में दशों अवतारो के मन्दिर विद्यमान हैं तथा यदि कोई भक्त यत्र तत्र जहाँ बनाना चाहे वहाँ बना सकता है, इस में

शास्त्र की कुछ रुकावट नहीं, परन्तु जिन अवतारों के चरित्रों में तादृश लीलाओं का आधिक्य नहीं जो कि मानव समाजके हृदयों को भक्त्युद्रेक से उद्वेलित कर सकें—उनका प्रचार उतना नहीं हो पाया। शास्त्रदृष्टि से तो सभी अवतार समान हैं परन्तु उपासना में प्रतिमा का निर्माण कलासाधक की इच्छा पर निर्भर है, जैसा कि हम पीछे सिद्ध कर आए हैं। अतः अधिकांश साधकों ने सर्व-गुण-सम्पन्न होने के कारण भगवान् राम और कृष्ण को ही अपना उपास्य नियत किया अतः उन्हीं के मन्दिर अधिक बन गए।

वराह का भोग कौन खायगा ?

मनुष्य का भोजन अन्न है और कच्छ, मच्छ की खुराक जल है, सो अन्य सब अवतारों का भोग लगा पदार्थ तो भक्त खूब चाव से खाते-पीते हैं तथा आधे नर और आधे सिंह का भोजन अन्नमिश्रित मांस भी शायद यथाकथंचित् भक्तमण्डली में से कोई खाने को प्रस्तुत हो जाय परन्तु वराह का भोजन तो अतीव घृणित मल होता है उसे कौन खाएगा ?

यह हुज्जतपूर्ण कुतर्क एक बार एक महाशय जी ने की थी, जिसके उत्तर में सनातनधर्म की ओर से कहा गया था कि जैसे महाशय लोग शास्त्रविधि के अनुसार अगर, तगर, छलछलीरा और गुग्गल आदि सुगन्धित पदार्थों से मिश्रित घृत से ही हवन करते हैं। गन्धक, संखिया, वत्सनाभ, हाड़, चाम और विष्टा से हवन नहीं करते तथा सूत का हरिद्रारंजित जनेऊ ही पहिनते हैं चर्म-खण्ड, तसू, आंत और तांत का लुक में रंगा नहीं पहनते। ठीक इसी प्रकार देव, पितर, मनुष्यों को क्या भोग लगाना

चाहिए—इसको शास्त्र में विधि=व्यवस्था विद्यमान है तदनुसार ही प्रत्येक आस्तिक भक्त वैसा करता है।

अन्नों में जौ, गेहूं, मूंग, चावल आदि को ही देवान्न माना है। मसूर, कुलथी, मंडुवा, मक्का आदि अन्न भी देवभोग्य वस्तु नहीं। प्रकार पलाण्डू (प्याज) लसुन, गाजर, टमाटर, सफेद बैंगुन, लाल मूली आदि कन्द, मूल, फल भी देव तथा पितृ कार्य में ग्राह्य नहीं। सनातनधर्मी तो चूंकि शास्त्रमर्यादा द्वारा अपने इष्टदेव की उपासना करते हैं, अतः तथैव पूजा सामग्री का विचार खूब रखते हैं। सो हमारे यहां तो वाराह भगवान् को भी अन्यान्य देवताओं की भांति भोजन व्यञ्जन भोग लगेंगे और उन्हीं को प्रसाद रूप में ग्रहण किया जायगा, क्योंकि—

यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः।

अर्थात्—पुरुष जो स्वयं खाता है अपने इष्टदेव को भी वही वस्तु अर्पण करता है। परन्तु शङ्कालु महाशयों में मांस पार्टी की भांति कदाचित् कोई 'मलाद' पार्टी भी गुप्त रूप से विद्यमान हो तो उसके निमित्त हम तादृश इष्टदेव का भी प्रबन्ध कर सकते हैं जिसको कि मल अर्पण कर सकें और स्वयं भी प्रसाद ग्रहण कर सकें और वह है ग्राम्यसूकर। क्योंकि वही स्वभावतः मलभोजी होता है। यह सब जानते हैं कि वनचर वाराह मलभोजी नहीं होता, इसलिये हमारे वराहावतार के सम्बन्ध में तो महाशय जी को ऐसी आशङ्का भी करने की आवश्यकता नहीं।

सभी अवतार भारत में ही क्यों ?

(पूर्णात्पूर्णमदुच्यते)

भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड के पिता हैं, सभी देशों के मनुष्य

उनकी निर्विशेष सन्तान हैं फिर केवल भारत में ही बार-बार अवतार लेकर भगवान् क्यों आते हैं अन्यान्य देशों में क्यों नहीं आते यह पक्षपात क्यों ?

निःसन्देह भगवान् सब के निर्विशेष पिता हैं और सभी देशों के मनुष्य उनके समान रक्षणीय हैं परन्तु जैसे मिट्टी का मटका वहीं बनता है जहां कि चक्र चिवर दण्ड आदि उसकी समस्त सामग्री विद्यमान होती है, ठीक इसी प्रकार पूर्णपुरुष परमात्मा भी वहीं पूर्ण अवतार रूपेण अवतरित हो सकता है जहां कि उसकी प्रकृति का पूर्ण विकास विद्यमान है। क्योंकि भगवान् ने श्रीमुख से स्वयं कहा है कि —

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया । (गीता)

अर्थात्—मैं अपनी प्रकृति के अधिष्ठान से अपनी माया द्वारा ही अवतरित होता हूँ।

भगवान् के अवतरित होने का मूल हेतु प्रकृति का विकास है। जिस स्थान में प्रकृति का जितना विकास होगा उस प्रदेश में उस विकास की मात्रा के अनुसार ही भगवदवतार हो सकता है। सो सौभाग्यवश ,प्रकृति के विकास का अवकाश एकमात्र भारतवर्ष को प्राप्त हुआ है। अन्यान्य देशों में जहां एक दो ऋतुवें, तत्तद्देशीय मनुष्यों का केवल एक ही रंग, डबल रोटी विस्कुट आदि की तरह का खान पान और पहनावा देखने में आता है वहां भारत में बसन्त आदि छहों ऋतुवें, नाना रंगों के मनुष्य, बहुविध खान पान और वेशभूषा प्रत्यक्ष देखी जा सकती है, जो भारतवर्ष की परिपूर्णता की परिचायक है। अतः पूर्ण देश

में ही पूर्ण अवतार का प्रादुर्भाव विज्ञान संगत है। भारतवर्ष की पूर्णता का अधिक परिचय हमारे 'पुराण दिग्दर्शन' ग्रंथ में 'सृष्टि का आदिम स्थान भारतवर्ष'—प्रघट्ट में देखा जा सकता है।

अन्यान्य अपूर्ण देशों में आवेशावतार आदि अपूर्ण अवतार हो सकते हैं और हुए हैं परन्तु पूर्ण अवतार की लीला भूमि एक मात्र भारतवर्ष ही है। जैसे सूर्य का उदय तो नित्य पूर्व दिशा में ही होता है परन्तु वह अपने प्रखर प्रताप से उत्तर दक्षिण और पश्चिम आदि दिशा और विदिशाओं का भी घोर अन्धकार दूर कर देता है, ठीक इसी प्रकार श्रीमन्नारायण भगवान् के लीला अवतारों को क्रीड़ा स्थली तो एकमात्र भारतवर्ष ही है परन्तु वे यहां अवतरित होकर भी अन्यान्य देशस्थ भक्तों की रक्षा और तत्रस्थ दुष्टों का संहार बराबर करते हैं। जैसे मत्स्य भगवान् ने मनु महाराज की नाव की रक्षा प्रलयङ्कर तूफान के समय भी की थी जिसकी गाथा मुसलमान और ईसाइयों के ग्रन्थों में भी 'नूह की किश्ती', के नाम से प्रख्यात है। भगवान् कृष्ण ने चीन के भगदत्त का, यूनान के कालयवन का, श्री दुर्गा भगवती ने योरोप के 'बिड़ालाक्ष' का और अमेरिका के 'रक्तबीज' का संहार किया था। कलियुग के अन्त में होनेवाले निष्कलङ्क भगवान् भारत में अवतरित होकर समस्त ब्रह्माण्ड के धर्म ध्वंसकों का संहार करेंगे। सो भक्तजनों का रक्षण और दुष्ट जनों का संहार तो श्रीमन्नारायण सर्वत्र समान रीति से ही करते हैं परन्तु अवतार धारण का स्थान प्रकृति के विकास के अनुसार ही होता हैं। भारतवर्ष में भी भगवान् राम और कृष्ण का अवतार अंग वंग कलिंग सौराष्ट्र और मगध आदि देशों में न होकर हिमाचल

बिन्ध्याचल के मध्यवर्ती प्रदेश में ही हुआ है क्योंकि मनु के शब्दों में भारतवर्ष का एक मात्र यह पावन प्रदेश 'याज्ञिक देश' है और अन्याय प्रदेश 'म्लेच्छ' देश हैं। मनु कहते हैं कि—

कृष्णसारस्तु चरति, मृगो यत्र स्वभावतः।

स ज्ञेयो याज्ञिको देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥

अर्थात्—कृष्णसार मृग जहां स्वभावतः विचरण करता हो वह 'याज्ञिक' देश है। सो 'कृष्णसार' मृग स्वभावतः उक्त पावन प्रदेश में ही स्वच्छन्द रीति से आज भी निरातङ्क विचरण करता पाया जाता है अन्य देशों में नहीं। अतः श्रीमन्नारायण के पूर्णवतार पूर्णदेश भारत में ही होते हैं अन्यत्र नहीं। अर्चाव-तार अधिकतया दक्षिण भारत में अवतरित हुवे हैं, क्योंकि भगव-द्भक्ति का अवतरण —'उत्पन्ना द्राविड़े साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता' पद्म-पुराण के इस वचन के अनुसार द्राविड प्रदेश में हुआ है। सो नवधा-भक्तियों में ठीक हृदय की भाँति मध्यवर्ती अर्चाभक्ति के लक्ष्य–अर्चावतारों का प्रादुर्भाव भी तादृश प्रदेश में ही तर्कसंगत है।

नारायण-स्वरूप-लक्षण

नारायण तत्त्व का विचार करते हुये यहां तक हमने उसके 'तटस्थ लक्षण' का विवेचन किया है। दर्शनशास्त्रों की पद्धति के अनुसार जिज्ञासु प्रथम सर्वविदित 'तटस्थ लक्षण' का ही अधिकारी होता है। इसीलिए 'वेदान्त दर्शन' में कृष्णद्वैपायन व्यास ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात्—अब अवसर प्राप्त 'ब्रह्म' को जानने की इच्छा की जाती है—ऐसा उपक्रम करके सर्व प्रथम ब्रह्म का 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् 'इस प्रत्यक्ष दृष्ट जगत्

का प्रादुर्भाव, रक्षण और तिरोभाव जिसके द्वारा होता है सो ब्रह्म है,—ऐसा 'तटस्थ लक्षण' किया है। पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि उक्त लक्षण से ब्रह्म के स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता किन्तु उसकी सत्तामात्र का परिचय प्राप्त हो सकता है। सो इसी रीति से हमने भी धार्मिक जगत् में शास्त्रदृष्ट और लोकश्रुत ईश्वर सम्बंधी किंवदन्तियों विचारों और तर्कों को सामने रख कर अभी तक नारायण तत्त्व का विवेचन किया है। इसे हम 'तटस्थ लक्षण' द्वारा ब्रह्म का बहिरंग विचारमात्र कह सकते हैं। इससे कुतर्कियों का मुखमुद्रण होकर श्रीमन्नारायण भगवान् के अस्तित्व का सुतरां बोध हो सकता है, परन्तु वह श्रीमन्नारायण क्या है—और कैसा है ? अब क्रमप्राप्त उसके 'स्वरूप लक्षण' पर विचार किया जाता है, जिसके द्वारा पाठकों को ब्रह्म का अन्तरङ्ग रहस्य भी अवगत हो सके।

यहाँ यह प्रकट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि हम जिस गहन तत्त्व का यहां निरूपण करने चले हैं वह जब कि मन, वाणी और बुद्धि आदि का भी विषय नहीं है तब वह जड़ लेखनी का तो कथमपि विषय हो ही नहीं सकता। फिर उस अनुभवैकवेद्य समाधिगम्य विषय को लेखनी द्वारा प्रकट करने की हमारी मिथ्या चेष्टा कोरी विडम्बना और आत्म-प्रवञ्चना ही हो सकती है—यद्यपि यह यह बात सोलहों आने सत्य है, तथापि 'स्तोत्र रत्नाकर' के शब्दों में—वेद से आदि लेकर समस्त वाङ्-मय और ब्रह्मा से आदि लेकर समस्त विचारक उक्त तत्व की विवेचना करते २ श्रीमन्नारायण की महिमा के अथाह सागर में

डूब गए, तब हम भी तादृश व्यापार से उनके समश्रेणीक बनने का सौभाग्य क्यों न प्राप्त करें।

विषय की इसी गहनता और दुरूहता को ध्यान में रखकर ही हमने अपने कोमल-हृदय पाठकों को अभी तक कृपाण की धार पर शिर के बल चलने का अवसर न आने दिया। नारायण तत्त्व के सरल सुखद वहिरङ्ग-परीक्षण द्वारा ही उनके ज्ञान की अभिवृद्धि की —माखन मिश्री का ही प्रसाद बांटा, परन्तु अब हम उन्हें ऐसी स्थिति में समझते हैं जब कि वे यदि जान-बूझ कर दिल न चुरायेंगे तो श्रीमन्नारायण के 'स्वरूप-लक्षण' को भी भली प्रकार समझ सकने में अवश्य सफल हो सकेंगे।

इसके अतिरिक्त हम कई बार पीछे कह आये हैं और अब भी पुनः २ इस तथ्य को डिण्डिम घोषेण घोषित करते हैं कि यह ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचारार्थ नहीं लिखा जा रहा है, किन्तु समस्त सम्प्रदायों के समन्वित मथितार्थ को ध्यान में रख कर तत्समुद्भूत सर्वतन्त्र सनातनधर्म की विजय-वैजयन्ती को समुन्नत करने के लिए लिखा जा रहा है अतः तत्तत् सम्प्रदायाग्रही पाठक अपनी २ साम्प्रदायिक निष्ठा को अक्षुण्ण रखते हुए भी इसी दृष्टि से इसका अध्ययन करेंगे तो उन्हें वास्तविक तत्त्व विदित हो सकेगा।

नारायण में अद्वैतभाव

(सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन)

श्रीमद्भगवद्गीता, दश उपनिषद् और व्याससूत्र अर्थात्—प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों में श्री आद्य शङ्कराचार्य और तदनु-

यायी सभी व्याख्याता नारायण में अद्वैत भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रधान आचार्य हैं। अद्वैत परम्परा के परमाचार्य स्वयं श्रीमन्नारायण भगवान् ही हैं, यह रहस्य उक्त सम्प्रदाय की नीचे लिखी सुप्रसिद्ध गुरु परम्परा से सुविदित है यथा—

नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिञ्च तत्पुत्रपराशरञ्च।
व्यासं तथा गौड़पदं महान्तं, श्रीशङ्कराचार्यवरं नमामि॥

अर्थात्—[अद्वैत मत] नारायण, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति और उनके पुत्र पराशर तथा व्यास गौडपादाचार्य एवं आद्य शङ्कराचार्य इस परम्परा से अनादिकाल से प्रचलित है।

क्या शांकर अवैष्णव हैं ?

शङ्कर-मतानुयायी सभी दण्डी 'ओं नमो नारायणाय' इस अभिवादनके प्रत्युत्तर में आस्तिक भक्तों को 'नारायण' कह कर ही आशीर्वाद देते हैं। विशिष्ट व्यक्ति शालिग्राम का पूजन करते हैं और तत्समर्पित भिक्षा ही प्रसाद रूपेण ग्रहण करते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ संकीर्ण विचार वाले कथित दाक्षिणात्य श्रीवैष्णव और उनका अन्धानुकरण करने वाले कुछ औत्तरीय तिलकधारी, पञ्चदेवोपासक इन स्मार्त महानुभावों को केवल 'शैव' २ कह कर आपाततः 'विष्णु द्रोही' बनाने का जो जघन्य पाप करते हैं वह कहां तक न्यायसङ्गत है—यह कोई भी विचारशील व्यक्ति स्वयं भली भांति समझ सकता है।

यद्यपि अब ऐसो समझ के 'अहंमन्य' उत्तरोत्तर कम होते

जा रहे हैं तथापि ऐसे जन्तुओं का अभी तक सर्वथा अभाव नहीं हो पाया है। 'विष्णु सहस्रनाम' में 'शम्भुरीशः पशुपतिः' आदि अमरकोषोक्त सभी शिव नाम विष्णु भगवान् के अन्यान्यतम नाम स्वीकृत हुवे हैं। श्रीशङ्कराचार्य जी ने उनका भाष्य किया है जो 'विष्णु सहस्रनाम भाष्य' नाम से मुद्रित मिलता है। फिर भी कुछ अदूरदर्शी असहिष्णु लोग अपने चेले चांटों के अन्य में श्रद्धा हो जाने पर हमारे हलुवे मांडे में कमी न पड़ जाए इस भय से--समय समय पर बहकाते रहते हैं और अपना स्वयंभू जगद्गुरुत्व बनाये रखने को हाथ पांव मारते रहते हैं।

हमें ये चन्द पंक्तियां इसलिए यहां अङ्कित करनी पड़ीं कि ऐसे लोगों की संकीर्णता से ही सर्व-सम्प्रदाय-समन्वित सनातन-धर्म, विरोधियों की दृष्टि में बदनाम हो जाता है।

अद्वैतवाद की वैदिकता

हां, तो अद्वैतमत का प्रादुर्भाव स्वयं नारायण से हुवा है। वेद में इसके समर्थक अनेक प्रमाणों में से कुछ प्रमाण सर्वोपरि हैं जो महावाक्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं यथा—

(१) **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** (तैत्तिरीय २।१ १)

(२) **प्रज्ञानं ब्रह्म।** (ऐतरेय ५।३)

(३) **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।** (बृहदारण्यक ३।९।२८)

(४) **तत्त्वमसि।** (छान्दोग्य ६।८।७)

(५) **अहं ब्रह्मास्मि।** (बृहद् १।४।१०)

(६) **अयमात्मा ब्रह्म।** (माण्डूक्य २)

अर्थात्—(१) ब्रह्म सत् स्वरूप है ज्ञान स्वरूप है और अनन्त है। (२) ब्रह्म आनन्द रूप है। (३) ब्रह्म विज्ञान और आनन्द रूप है (४) तू [शब्द वाच्य यह जीव] तत् वह [ब्रह्म] है। (५) मैं ब्रह्म हूं। (६) यह आत्मा ब्रह्म है।

यद्यपि वैदिक वाङ्मय में मन्त्र ब्राह्मणात्मक शब्दराशि का निर्विशेष 'वेद' नाम है तथापि आजकल कुछ तर्क-चञ्चु पण्डितम्मन्य मन्त्र भाग की प्रामाणिकता पर अधिक बल देते हैं। हम उनके सन्तोषार्थ उपर्युक्त महावाक्यों का मूल तात्पर्य मन्त्र-संहिता से भी प्रकट करते हैं, यथा—

(क) **हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषदतिथि-र्दुरोणसद् । ऋतसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रि-जो ऋतम् ।** (ऋग्वेद ४। ५१ १४)

(ख) [अत्र सायणाचार्यः] **यश्च सर्वप्राणिहृदि चिद्रूपः स्थितः परमात्मा यश्च निरस्तसमस्तोपाधिकं पर ब्रह्म तत्सर्वमेकमेव प्रतिपद्यते ।**

अर्थात्—(क) वह परमात्मा हंस=गमनशील सर्वत्र व्यापक है। वही देदीप्यमान द्युलोक में तेजोरूपेण विद्यमान है। वही अन्तरिक्ष में सञ्चरण शील होकर सब के जीवन का आधार है। वही सब देवों को हव्य प्रदान करनेवाला यज्ञवेदी में विराजमान अग्निदेव है। वही अतिथि रूप से पूजनीय है। वही सब घरों में अग्निरूपेण दृष्टिगत होता है। वही मनुष्यों में वैश्वानर रूप से प्रकट है। वह व्योममण्डल में सूर्य्यादि रूप से प्रकाशमान है। वही ऋतः सत्यज्ञान रूप से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयों में निवास करता है। वही द्यावाभूमि में

सर्वत्र समान रीति से ओतप्रोत है। स्वयं ऋतु=त्रिकालाबाधित सत्यस्वरूप है। (ख) [सायणाचार्य स्पष्ट करते हैं कि] जो परमात्मा समस्त प्राणियों के हृदय में 'चित्'=ज्ञान रूप से विराजमान है और जो सजातीय विजातीय तथा स्वगत-भेद-शून्य सर्वोपाधि विवर्जित परब्रह्म है, ये सब एक ही हैं यह उक्त मन्त्र में कहा गया है।

शङ्कराचार्य के 'अद्वैतवाद' में नारायण तत्त्व का अद्वैतत्त्व प्रतिपादन करने वाली श्रुतियें तो संगतार्थ हैं ही, परन्तु जो श्रुतियें उसका 'द्वैतत्व' प्रतिपादन करती हैं उनका समन्वय करने के लिए उन्हें 'प्रत्यक्षवाद' मात्र प्रकट करने वाली सिद्ध किया गया है। इस तरह अद्वैतवाद को 'परमार्थवाद' और द्वैतवाद को 'व्यवहार वाद' कह कर स्वाभिमत का समुपस्थापन किया गया है।

अद्वैतवादसे अनीश्वरवाद का भूत भागता है।

अनादिसिद्ध वैदिक अद्वैतवाद का पुनरुद्धार श्री आद्य शङ्कराचार्य द्वारा उस समय हुवा है जब कि अन्यून सहस्राब्दियों से बौद्धजैन, बृहस्पति, लोकायतिक और चार्वाक आदि अनीश्वर-वादी मतों का प्राबल्य था अनीश्वरवादी जगत् ईश्वरवाद का समूलोन्मूलन करने पर तुला था। उक्त नास्तिकों का नारा था कि 'ईश्वर नहीं है। श्रीशङ्कर भगवान् ने इस नारे का ठीक जबाब दिया कि—दूर कहां ढूंढने जाते हो, तुम स्वयं ईश्वर हो, कहना न होगा कि बौद्धादि के अनीश्वरवाद का मुंहतोड़ उत्तर इससे अधिक उपयुक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता था। जैसे कोई चोरों का साथी चोर पक्ष की सफाई में भरी सभा में कहे कि 'इस नगर में कोई चोर नहीं' तब इस झूट का भांडा फोड़

करने के लिए उसे दूसरा कोई सभ्य चैलेञ्ज करे कि—'तुम खुद चोर हो', तो इस मुंहतोड़ उत्तर को सुनकर पहले वक्ता की बोलती बन्द हो जायगी। ठीक इसी प्रकार 'नास्ति कश्चिद् ईश्वरः' कहने वाले नास्तिक को 'त्वमेवासि ईश्वरः' कहना सोलहों आने ठीक बैठता है।

हमें शास्त्रार्थों में कई बार जब आर्य्यसमाजी महाशय कहते हैं कि 'ईश्वर का अवतार धारण करना कहीं नहीं लिखा' तो इसके उत्तर में तत्काल हम यही उत्तर देते हैं कि और तो और खुद तुम्हारे सत्यार्थप्रकाश में ही लिखा है, (देखो स० प्र० पृष्ट २२८) बस, महाशय खामोश हो जाते हैं। सो अनीश्वर-वादी नास्तिकों को पहली किश्त में सुदूर क्षीर-सागर, वैकुण्ठ कैलाश किंवा बिरजा नदी के पार रहने वाले ईश्वर का पता नहीं बतलाना चाहिए। ऐसे दुर्गम स्थानों में बिराजमान दूरवर्ती ईश्वर को सुनकर तो वे और भी घबड़ा जाएँगे, उन्हें तो 'स त्वमेव ईश्वरः' बता देने पर सुविधा प्रतीत होगी। हमारा अभीष्ट तो नास्तिकों को आस्तिक बनाना मात्र है। फिर चाहे वह जिस भी सुगम सुन्दर मार्ग से सिद्ध हो जाय। 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वते व्रजेत्' अर्थात्—यदि घर में ही शहद उपलब्ध हो तो पर्वतों की खाक छानने को कौन जरूरत ?

हमारा यह अपना अनुभव है कि नास्तिकों और अर्ध-नास्तिकों को आस्तिक बनाने के लिए सर्व प्रथम अद्वैतवाद का ही उपदेश देना उचित है क्योंकि यह वाद नास्तिकों को अपनी मान्यता से अधिक दूर प्रतीत नहीं होता। शाङ्कर मत पर किसी आस्तिक का यह विनोदात्मक व्यंग शायद इसी आशय का द्योतक

वेदान्तमपि शास्त्रं स्यात् बौद्धैः किमपराधितम् ।

अर्थात्—यदि [मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अद्वैतवाद प्रकट करने वाला] वेदान्त भी कोई शास्त्र [=अनुशासक ग्रन्थ] हो सकता है तो फिर बेचारे बौद्धों [के धम्मपद आदि ग्रन्थों] ने ही क्या अपराध किया है। वक्ता के कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर नहीं और तू ही ईश्वर' इन दोनों सिद्धान्तों में जीवातिरिक्त अन्य किसी ईश्वर की सत्ता का अभाव समान रीति से स्वीकृत है। ऐसी दशा में आपाततः ये दोनों वाद एक ही थैली के चट्टे बट्टे जान पड़ते हैं। जो भी हो, 'नास्तिक वाद' का परास्त करके वेदवाद की पुनः स्थापना में शङ्कर के अद्वैतवाद ने उस समय जादू का सा काम किया। अन्यून एक सहस्राब्दि से बद्धमूल अनीश्वरवाद की जड़ें हिल गईं। कल तक प्रत्येक नास्तिक की जिह्वा पर जो 'नास्ति ईश्वरः' का उद्घोष था उस का स्थान अब 'त्वमेव ईश्वरः' ने ग्रहण कर लिया था। महाराज सुधन्वा के पुनः वैदिक झण्डे के नीचे आ जाने पर उनके सहयोग से भारत में एक कोने से दूसरे कोने तक वेदमार्ग की पुनः प्रतिष्ठापना हो गई।

अद्वैतवाद की रूपरेखा

यद्यपि शाङ्कर अद्वैतवाद का पूरा परिज्ञान तो प्रस्थानत्रयी के भाष्यों और पञ्चदशी आदि प्रकरण ग्रन्थों के स्वाध्याय से ही हो सकता है, परन्तु 'क्यों' के पाठक भी इस वाद की कुछ रूप रेखा जान सकें एतदर्थ कुछ अधिक लिखने का प्रयत्न किया जाता है।

अद्वैतमत में 'ब्रह्म' ही एक मात्र 'अनादि' और 'अनन्त'

पदार्थ है । शेष (१) जीव, (२) ईश्वर, (३) जीवेश्वर का भेद, (४) अविद्या और (५) अविद्या चेतन का योग ये पांच पदार्थ 'अनादि' तो हैं परन्तु 'अनन्त' नहीं किन्तु 'सान्त' हैं; जैसे 'प्रागभाव' अनादि सान्त होता है । जैसे अग्नि में प्रकाश और उष्णता दोनों धर्म स्वभावतः रहते हैं इसी प्रकार ब्रह्म में विशुद्धता और माया दोनों लक्षण समानतया विद्यमान हैं । सा उसी ब्रह्म को वशवर्तिनी माया के विद्या और अविद्या दो भेद हैं । विद्यायुक्त चिदाभास 'ईश्वर' कहा जाता है और अविद्या युक्त चिदाभास 'जीव' संज्ञक है । अर्थात् कारणोपाधि सहित ब्रह्म 'ईश्वर' है और कार्योपाधि सहित ब्रह्म 'जीव' है ।

ब्रह्म सत् चित् और आनन्दमय है । जीव 'सत्' और 'चिद्' रूप है । माया केवल 'सत्' मात्र है । किंवा सदसद्वि-लक्षण मुक्ति प्राप्तव्य नहीं है । किन्तु मृषाज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर स्व स्वरूप में अवस्थिति ही नित्य प्राप्त मोक्ष है ।

अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पञ्चकोषों की उपाधि से यह विभु जीव मठाकाश और घटाकाश की उपाधि से सीमित से जान पड़ने वाले महाकाश की भान्ति वस्तुतः निरुपाधि है । स्थूल सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीराभि-मानी चिदाभास = जीव केवल पांचभौतिक स्थूल शरीर के परिवर्तन की उपाधि से 'जायते' 'म्रीयते' व्यवहार का पात्र है । पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च प्राण अन्तःकरण और चिदाभास इन सत्रह तत्वों से निर्मित सूक्ष्म शरीर का अभिमानी चेतन नैमित्तिक प्रलय पर्यन्त यथाकर्म्म आप्य तैजस और वायव्य नानाविध शरीरों की उपाधि द्वारा स्वर्ग, नर्क आदि

का उपभोग करता हुआ भूः भुवः स्वः त्रिलोकी का प्रलय हो जाने पर महर्लोक में अवस्थित रहता है जो नवीन सृष्टि रचना के समय कारण शरीर को उपाधि से पुनः 'जायते म्रियिते' का पात्र बनता है। इस प्रकार आमुक्ति यही चक्र चलता है।

नामरूपात्मक जगत्—यावद्दृष्टि तावत्सृष्टि का निदर्शन है। नाम रूप दोनों उपाधि आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र गन्धर्वनगर शशशृङ्ग और मृगमरीचिका के समान नितान्त मृषा है। जैसे सुवर्ण का भूषण बना हुआ पहले भी सुवर्ण होता है और टूट जाने पर भी सुवर्ण ही हो जाता है तो मध्य में—भूषण दशामें—भी उसके सुवर्ण होनेमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार यह संसार ब्रह्म से समुद्भूत है और ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है, तब दृष्टि सृष्टि रूप में विद्यमान भी ब्रह्मातिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया ये चारों विभिन्न दशाएं मायाकृत हैं परन्तु इन सभी अवस्थाओं का जो अन्तर्यामी साक्षी है वह नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त है। जैसे घट फूट जाने पर घटनिष्ठ कपालद्वय सीमोपाधि समुपलक्षित आकाश मठाकाश से असंभिन्न हो जाता है और मठ की दीवारें गिरा देने पर कुड्योपाधि समुपलक्षित मठाकाश महाकाश से असंभिन्न हो जाता है, यद्यपि घट मठ की विद्यमानता में भी तन्निष्ठ आकाश उस महाकाश से परमार्थतः असंभिन्न ही था, तथापि व्यवहारवाद में तादृग् उपाधि का निवृत्ति ही महाकाशत्व प्राप्ति का उपलक्षण कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार स्वभावतः नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त जीवको सर्वविध उपाधि निवृत्ति का ही अपर नाम 'मोक्ष' है। ऐसी दशा में मोक्ष से पुनरावृति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

क्या ब्रह्म अज्ञानी है ?

जब कि ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता ही 'अद्वैतवाद' में स्वीकृत नहीं, तब यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि 'वह अविद्या किंनिष्ठ है, जिसके व्यापार से महद्महिम ब्रह्म भी जीवत्व भाव रूप लाघव को प्राप्त हो जाता है' और ब्रह्म में ही अविद्या को कल्पना की जाय तो वह 'अज्ञानी' बन जाएगा इत्यादि जितने भी दोष प्रतिवादी इस मत में प्रकट करेगा, उन सबका एक ही समाधान दे दिया जाएगा कि—'इष्टापत्तिरस्माकम्' अर्थात्—जब हमारे पक्षमें ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता ही अभिमत नहीं तब जिन २ बातों को तुम दोषरूपेण उद्घाटित करते हो उनकी सबकी उपस्थिति ब्रह्म में हमें अभीष्ट है। इस तरह प्रतिवादी की सब विप्रतिपत्तियें हमारे लिए 'इष्टापत्ति' हैं।

जैसे ईश्वर को सर्वव्यापक मानने वाले वादी को प्रतिवादी के आक्षेपरूप से प्रष्टव्य इस प्रश्न का कि क्या तुम्हारा वह सर्वव्यापक परमात्मा विष्ठा, पीप, रुधिर आदि में भी व्यापक है—उत्तर—'हाँ' में ही देना होगा। अन्यथा उसके सर्वव्यापकत्व का व्याहनन हो जाएगा। यहां विष्ठा पीप रुधिर आदि अपवित्र वस्तुओं में व्यापक होने से परमात्मा के भी अपवित्र हो जाने की कल्पना अकिञ्चित्कर है। किन्तु सर्वव्यापकत्वेन विष्ठा आदि में भी उसका व्यापक होना सर्वव्यापकता का निदर्शन है जो सर्वव्यापक मानने वाले के लिए इष्टापत्ति ही है।

अद्वैतवाद के प्रामाणिक सूत्र

ऊपर जो कुछ विवेचना की गई उसके आधारभूत कुछ

प्रमाण भी यहां उद्धृत करने अनावश्यक न होंगे, जिसके पाठक युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर उक्त वाद का सुतरां मनन कर सकें।

(क) सत्ता चितिः सुखञ्चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥

(ख) अस्ति भाति प्रियं नामरूपञ्चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥
(दृग् दृश्य विवेक २०)

(ग) जडाऽहं तस्य सान्निध्यात्प्रभवामि सचेतना ।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा ॥
(देवी भागवत)

अर्थात्—(क) सत् चित् और आनन्द ये ब्रह्म के अपने स्वभाव हैं। मिट्टी पाषाण आदि जड़ जगत् में केवल सत्तामात्र ही व्यक्त है, उसमें चित् और आनन्द की प्रतीति नहीं होती (ख) अस्ति = सत्ता, भाति = चिति, प्रिय = आनन्द, नाम और रूप ये पांच वस्तुवें हैं जिन में से पहिली तीन वस्तुवें ब्रह्म के रूप को प्रकट करती हैं और अन्त की दो वस्तुवें जगत् को प्रकट करती हैं [अर्थात्—सच्चिदानन्द ब्रह्म है और नामरूपात्मक प्रपञ्च है] (ग) प्रकृति स्वभावतः जड़ है परन्तु पुरुष के सहयोग से वह चेतना-सम्पन्न = तत्तत् कार्य साधनक्षम हो जाती है। जैसे चुम्बक की सन्निधि में जड़ लोहा भी गतिशील बन जाता है।

नारायण में द्वैतभाव

(मो सम दीन न दीनहित, तुम समान रघुवीर)

नारायण में द्वैतभाव की कल्पना भी अनादि सिद्ध है, परन्तु

उसका पुनरुद्धार करने वालों में मध्वाचार्य नाम से विख्यात श्री आनन्द तोर्थ प्रमुख आचार्य हैं। आपने भी प्रस्थान त्रयी पर भाष्य रचकर अपने 'द्वैतवाद' सिद्धान्त की पुष्टि की है। यद्यपि न्याय और वैशेषिक शास्त्र भी अपनी २ रीति से जीव ब्रह्म की पृथक्ता सिद्ध करने वाले विशिष्ट दर्शन हैं, परन्तु वेदादि शास्त्रों के प्रमाण उद्धृत करके युक्ति-पुरस्सर स्वमत की स्थापना और अद्वैत साधक श्रुतियों का स्वमत में समन्वय करना उक्त आचार्य की विशेषता है। इसलिये श्री मध्वाचार्य को ही द्वैतवाद का प्रतिनिधि कहा जाए तो इस में किञ्चिदपि अत्युक्ति न होगी।

इस सम्प्रदाय की गुरु परम्परा के अनुसार 'द्वैतवाद' के प्रथम परमाचार्य वायु देवता उनके शिष्य हनुमान् और तच्छिष्य भीम, आगे परम्परागत श्री आनन्दतीर्थ आदि २ हैं।

द्वैतवाद की वैदिकता

द्वैतवाद का समर्थन करने वाली अनेक श्रुतियों में से कतिपय श्रुतियें यहाँ उद्धृत की जाती हैं, पाठक मनन करें—

(क) ज्ञाज्ञा द्वावजावीशानीशौ (श्वेताश्वतर० ६। ९)

(ख) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्व-जाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति॥ (ऋग्वेद० १। १६४। २०

(ग) समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः, अनीशया शोचति मुह्य-मानः। जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं, अस्य महि-मानमिति वीतशोकः॥ (मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात्—(क) एक ज्ञाता है दूसरा अज्ञ है, वे दोनों ही अज हैं। एक सर्व शक्तिमान् है दूसरा अनीश=अप्रभु किंवा दूसरे के आधीन है (ख) [ब्रह्म और जीव रूप] दो पक्षी [संसार रूप] एक वृक्ष पर इकट्ठे रहते हैं। दोनों की परस्पर मैत्री है। उन दिनों में एक [जीवात्मा, स्वीकृत कर्मों के] फल को खाता है दूसरा [परमात्मा] भोक्ता न होकर [केवल साक्षी रूप से] द्रष्टामात्र बना रहता है। (ग) पुरुष=शरीर रूप नगरी का अभिमानी जीव संसार वृक्ष में निमग्न हुआ बार २ मोह को प्राप्त होकर अपनी विवशता पर आँसू बहाता है, परन्तु जब दूसरे सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म को देखता है तो उसकी महिमा को जानकर शोकातीत पद को प्राप्त हो जाता है।

द्वैतवाद की रूप रेखा

माध्वमत में—यह दृष्ट जगत् सत्य है और द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव ये दश पदार्थ माने हैं। परन्तु ये द्रव्यादि पदार्थ कणाद न्याय के अभिमत पदार्थ नहीं समझने चाहियें, किन्तु उनकी अपनी परिभाषा के अनुसार ही वहाँ इनका अस्तित्व है। जैसे—'द्रव्य' बीस प्रकार का माना गया है यथा:—(१) परमात्मा (२) लक्ष्मी, (३) जीव (४) अव्याकृत आकाश (५) प्रकृति (६) गुणत्रय (७) महत्तत्व (८) अहंकार तत्त्व (९) बुद्धि (१०) मनः (११) इन्द्रिय (१२) मात्रा (१३) भूत (१४) ब्रह्माण्ड (१५) अविद्या (१६) वर्ण (१७) अन्धकार (१८) वासना (१९) काल और (२०) प्रतिबिम्ब।

इसी रीति से गुण और कर्म आदि भी इनकी अपनी परिभाषा के अनुसार अन्यान्य हैं।

इस द्वैत मत में परमात्मा परम तत्व है जो विष्णु नाम से परिगृहीत है। उसमें सजातीय और विजातीय उभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष इन आठों के कर्त्ता एकमात्र भगवान् हैं, वे जीव, जड़ और प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण हैं। निरतिशय ज्ञान और आनन्द आदि कल्याण गुण हो भगवान् के शरीर हैं। वे शरीरी होते हुवे भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। मत्स्य आदि नानाविध शरीर धारण करते हैं और उस प्रत्येक शरीर में परिपूर्ण होते हैं।

लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है जो भगवान् से भिन्न है और सदैव उनके आधीन रहती है। वह परमात्मा के समान ही नित्य मुक्ता है और दिव्य शरीर सम्पन्ना है। ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता क्षरणशील शरीरधारी होने के कारण 'क्षर' हैं, परन्तु श्री लक्ष्मी 'अक्षरा' है

जीव—अज्ञान, मोह, दुःख भयादि अनेक दोषों से युक्त तथा स्वभावतः संसरण शील होते हैं। जीव मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं—(१) मुक्ति योग्य (२) नित्य संसारी और (३) तमोयोग्य। इनमें (१) देव (२) ऋषि (३) पितर (४) सम्राट् और (५) श्रेष्ठ मनुष्य ये पाँच कोटि के जीव 'मुक्तियोग्य' होते हैं। 'नित्य संसारी' जीव स्व-स्व कर्मानुसार नानाविध शरीर पाकर स्वर्ग, नर्क आदि में सुख और दुःख का उपभोग करते हैं। वे कभी मुक्ति नहीं पाते।

'तमोमय जीव' चार प्रकार के होते हैं, (१) दैत्य (२) राक्षस पिशाच और (४) अधम मनुष्य।

प्रत्येक जीव एक इकाई है उसका व्यक्तित्व अन्य जीवों से

भिन्न है और सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमात्मा से तो सर्वथा भिन्न है ही। जैसे जीवन अवस्था में जीव परस्पर भिन्न हैं, इसी प्रकार मुक्ति अवस्था में भी नानाविध तारतम्य बना रहता है। मुक्त जीवों का आनन्द समान नहीं होता, किन्तु ज्ञानादि गुणों के समान आनन्द में भी तारतम्य रहता है। यद्यपि मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म का 'परम-साम्य' प्राप्त कर लेता है, परन्तु परम-साम्य का तात्पर्य अभेद नहीं, किन्तु परमात्मा के समान तत्तद् गुणों का प्राचुर्यमात्र विवक्षित है।

जिन श्रुतियों में जीव ब्रह्म की एकता प्रकट की गई है वह जीव और ब्रह्म दोनों के चैतन्य अंश की समानता को लेकर कही गई है।

भेद पांच प्रकार का है— (१) ईश्वर का जीव से भेद (२) ईश्वर का जड़ से भेद (३) जीव का जड़ से भेद (४) जीव का दूसरे जीव से भेद (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद।

जीव सर्वथा और सर्वदा भगवान् के अधीन है, अतः वह भगवद् अनुग्रह बिना साधारण लौकिक कार्य भी कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता, फिर 'मोक्ष' जैसे पद की प्राप्ति तो भगवद् अनुग्रह के बिना कथमपि सम्भव नहीं। अपरोक्ष ज्ञान 'सतत शास्त्राभ्यास' और 'ध्यान' [विषयों का तिरस्कार करके अखण्ड भगवत् स्मृति] से प्राप्त होता है और 'अपरोक्ष ज्ञान' से 'परमभक्ति' परमभक्ति से 'परम अनुग्रह' तब मोक्ष का जन्म होता है। मोक्ष चार प्रकार का है (१) कर्म क्षय (२) उत्क्रान्ति (३) अचिरादि मार्ग और (४) भोग

फिर 'भोग' भी चार प्रकार का है (१) सालोक्य (२) सामीप्य (३) सारूप्य और (४) सायुज्य। प्रथम चार भेदों के अर्थ नामानुरूप स्पष्ट हैं अतः उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु द्वैतमत में 'सायुज्य' का तात्पर्य—भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के शरीर से आनन्द का उपभोग करना है।

द्वैतवाद के प्रामाणिक सूत्र

ऊपर द्वैतवाद का जो सार अङ्कित किया गया है उसके आधारभूत कुछ प्रामाणिक सूत्र भी यहां उद्धृत कर देने आवश्यक हैं जिससे पाठक युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर उक्त वाद का भी स्वारस्य जान सकें। तद्यथा--

(क) द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समौ व्याप्तावुभावपि॥

(भागवत तात्पर्य निर्णय)

(ख) मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः।

(गीता माध्व भाष्य)

(ग) जीवस्य तादृशत्वं च चित्त्वमात्रं न चापरम्।
तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषां चिदात्मनाम्॥

(अनुव्याख्यान)

(घ) अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः।

(माध्व बृहद् भाष्य)

अर्थात् — (क) इस द्वैतमत में परम पुरुष विष्णु और प्रकृत नाम से व्यपदिष्ट श्री लक्ष्मी ये दो ही तत्व नित्यमुक्त हैं, जो देश और काल की व्यवस्था से दोनों ही समान रीति से सर्वत्र व्याप्त है। (ख) मुक्त जीव श्री विष्णु भगवान को प्राप्त होकर और उनके देह में भली प्रकार आश्रय पाकर भी आनन्द आदि गुणों में तारतम्य से ही अवस्थित होते हैं। (ग) जिन श्रुतियों में जीव को ब्रह्म [=ब्रह्म के तुल्य] प्रकट किया गया है, वहां जीव और ब्रह्म के चैतन्य अंश की समता मात्र विवक्षित है, इससे अधिक अन्य कुछ नहीं। सभी जीव चेतन हैं और ब्रह्म भी चेतन है, इसी समता के वर्णन से अद्वैतवादियों को सर्वांशेन 'एकत्व' का आभास हो जाता है। (घ) विष्णु के मत्स्य कूर्म्म आदि सभी अवतार पूर्ण ही होते हैं।

द्वैत और अद्वैत दोनों ही धर्म क्यों ?

(उभयं वा एतत्प्रजापति)

पाठक 'द्वैतवाद' और 'अद्वैतवाद' का रहस्य पिछले पृष्ठों में पढ़ चुके हैं। उक्त दोनों वादों की प्रामाणिक श्रुतियें भी जो वहां उद्धृत की गई हैं वे अतीव सुस्पष्ट हैं। उभय वादों में अन्यान्य बातों में चाहे कुछ कथित खेंचातानी की गई है, परन्तु जहां तक प्रमाणवाद का सम्बन्ध है कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि उक्त दोनों ही वाद वैदिक हैं और अपने २ स्थान पर दोनों वादों की युक्तियें भी अपरिहार्य हैं।

यह ठीक है कि आज सर्व साधारण में 'वेदान्त' शब्द अद्वैतवाद और शांकरमत का अपर पर्य्याय बन गया है परन्तु

फिर भी भारतेतर देशों में मुट्ठिभर सूफियों और थियाँसुफिस्टों को छोड़ कर सभी इस्लाम-परस्त और क्रिश्चियन्स, 'द्वैतवादी' हैं और भारत में भी तत्तसम्प्रदायों के अधिकांश व्यक्ति उपास्य उपासक रूपेण अपने इष्टदेव में आपततः द्वैतभावना के ही विश्वासी हैं।

शब्द शास्त्र की दृष्टि से द्वैत और अद्वैत का कभी समन्वय सम्भव नहीं, क्योंकि द्वैत का निषेधक ही अद्वैत हो सकता है। परन्तु दोनों वादों के श्रुति-सम्मत होने के कारण इन में से किसी एक का निषेध भी नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों का अपनी २ ढपली पीट कर अपर पक्ष की निन्दा करना अन्ततोगत्वा वेद की निन्दा करना ही है। हमें यह कहते हुवे दुःख होता है कि शाङ्कर और माध्वों का गृहयुद्ध पुरातन काल से चला आ रहा है। दोनों पक्षों की ओर से सैद्धान्तिक खण्डन की आड़ में अपशब्दों का भी पर्य्याप्त प्रयोग हुआ है। अब भी समय २ पर पुरानी चिनगारियें धधक उठती हैं। यह सब खुराफात विपक्षियों को सनातन धर्म के प्रति कटाक्ष करने का कुअवसर देती हैं। खैनी खाकर घर में ही फक्कि फांकने वाले महानुभाव इस विप्रतिपत्ति का और तत्स-मुद्भूत अनर्थ परम्परा का अनुभव नहीं कर सकते परन्तु जिनको अवैदिक और कथित वैदिक मतानुयायियों से शास्त्रार्थ में लोहा लेना पड़ता है वे ही लोग यह अनुभव कर सकते हैं कि प्रति-पक्षियों द्वारा किया गया तादृश मर्माघात भरी सभा में कितना पीड़ा-जनक हो सकता है।

हमारा सुस्पुष्ट मत है कि द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों ही

वैदिक है, ऐसी दशा में यहां शास्त्र का यह सर्व-वादि-सम्मत नियम लागू होता है कि—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभावपि ।

(व्याससमृति १ । ५)

अर्थात्—जहां परस्पर विरुद्ध जँचने वाली दोनों प्रकार की श्रुतियें उपलब्ध होती हों वहां दोनों ही धर्म मानने चाहियें। सभी आचार्य वेद के परम भक्त थे। इसलिये हम सभी आचार्यों में निर्विशेष श्रद्धा रखते हैं, परन्तु इस श्रद्धातिरेक के प्रवाह में वह कर हम किसी भी आचार्य द्वारा वेद के प्रति की गई छोटी सी भूल को—फिर चाहे वह तत्तत् परिस्थितिवशात् जानबूझ कर किंवा अनजानपन में, कैसे भी क्यों न की गई हो—सहन नहीं कर सकते। इसलिये अद्वैतवादियों द्वारा द्वैतवादिनी श्रुतियों को 'प्रत्यक्षानुवाद' कह कर चुटकियों में उड़ा देना और द्वैतवादिनी श्रुतियों को 'चैतन्यांश-समत्व-मात्र-द्योतिनी' बता कर हवा में उड़ा देना हमारी विनम्र सम्मति में कथमपि शास्त्र-स्वारस्य का निदर्शन नहीं। अस्तु,

क्या साधक यथेच्छ मार्ग चुनने में स्वतन्त्र है ?

यद्यपि श्रुति द्वैध से ये दोनों ही वाद धर्म हैं तथापि कोई साधक किसी भी मार्ग का अवलम्बन करे—यह साधक का अपना ऐच्छिक विषय नहीं है किन्तु इसमें भी शास्त्र ही नियामक है। क्योंकि यदि यह कल्पना कर ली जाए कि पात्र की योग्यता के अनुसार उभयविध धर्मों का निर्वाह हो जाना चाहिये ! तदनुसार कम योग्यता वाले अधिकारी पहिले भेदनिष्ठा से वर्णाश्रमोचित कर्म कलाप का अनुष्ठान करते

रहें जब षट्-सम्पति हो जाए तो फिर अभेद-निष्ठा का आश्रय लेकर मुक्त हो जाएं। अथवा कम योग्यता वाले आलसी अधिकारी पहिले अभेद बुद्धि से, विना कुछ किये ही—'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना द्वारा ब्रह्म की सत्ता के विश्वासी बन जाएं। जब यह विश्वास दृढ़ हो जाए फिर भेदनिष्ठ उपास्य उपासक भावना का आश्रय लेकर श्रीमन्नारायण के सायुज्य को प्राप्त हो जाएं।

यहां उपर्युक्त दोनों मोक्ष-निःश्रेणियों में से पहिली में 'प्रथम परिश्रम करो और फिर उसके फल का उपभोग करो'—ऐसी व्यवस्था है और दूसरी में 'पहले आराम करो फिर परिश्रम करो'—ऐसी व्यवस्था है। अब कोई भी समझदार लौकिक दृष्टान्त द्वारा यह सुतरां समझ सकता है कि पहिली अवस्था में कमर बांध कर परिश्रम करने वाले व्यक्ति अन्तिम अवस्था में परिश्रम-जन्य सामग्री का आराम से बैठकर उपभोग करें—यह परिस्थिति साधक के लिये कितनी सुविधा जनक है। परन्तु जो पहिली अवस्था में आराम तलब बन जाए वह अन्तिम अवस्था में परिश्रम कर ही नहीं सकता और यदि अगत्या विवश होकर उसे करना ही पड़े तो बहुत क्लेश पाता है। ठीक इसी प्रकार कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड के वर्णाश्रमोचित अनेक क्रिया कलापों का परिश्रम साध्य अनुष्ठान करने वाला भेद-निष्ठासम्पन्न व्यक्ति समय पाकर विवेक वैराग्य और मुमुक्षुत्व आदि के प्रादुर्भाव से मोक्ष मार्ग का पथिक सहज में बन सकता है। परन्तु जो व्यक्ति पसले ही कर्म उपासना के झमेलों से दिल चुराकर 'अहं ब्रह्मास्मि' के गुदगुदे गदैले पर आराम तलबी से जीवन बिताने का आदि बन जाएगा वह ढलती आयु में परिश्रमसाध्य भगवान् की अर्चा पूजा आराधना में तत्पर हो

सकेगा—यह बात मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती।

श्री आद्य शङ्कराचार्य की भान्ति—'अद्वैतवाद' के प्रमुख आचार्य होते हुए भी शिव, विष्णु, अन्नपूर्णा आदि देवी देवताओं के सगुण स्वरूपों की स्तुतियें रचकर द्वैतवादि उपासकों को भी मात दे देने वाली भेदनिष्ठा की पराकाष्ठा कर देना सर्व साधारण का काम नहीं। इसीलिये आज पुरुषार्थ के मूर्त स्वरूप श्री शङ्कराचार्य के वेदान्त का दम भरने वाले अधिकांश व्यक्ति तुन्दपरिमृज ही दीख पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में जैसे षट्-सम्पत्ति-असम्पन्न व्यक्ति का 'अहं ब्रह्मास्मि' यह उद्घोष कोरी आत्म-विडम्बना है, वैसे ही सर्वभूतस्थ भगवान् को सर्वथा न पहिचान कर आयुभर पत्थर धोने को भगवत् पूजा मानना भी कोरी आत्मवञ्चना ही है। इसीलिये उक्त दोनों वादों में से किसी एक को चुनना यह साधक का ऐच्छिक विषय नहीं किन्तु दोनों ही निष्ठाओं का समन्वय करके मध्यम मार्ग का अनुसरण करना यही वेदादि शास्त्र सम्मत और युक्तियुक्त सिद्धान्त है!

द्वैत और अद्वैत का माध्यम 'विशिष्टाद्वैत'

जैसे पतितपावनी पुण्यतोया भागीरथी के दोनों तट एक दूसरे से सर्वथा और सर्वदा भिन्न तथा कभी भी सम्मिलित न हो सकने वाले जान पड़ते हैं, परन्तु ब्रह्मद्रवरूप गङ्गा का जल-प्रवाह युगपद् एवं एक ही समय में उन दोनों तटों का समान रीति से स्पर्श करता हुआ अबाध गति से आगे बढ़ता २ अन्त में महासागर में विलीन हो जाता है। ठीक इसी प्रकार द्वैतवाद और अद्वैत ये दोनों ब्रह्म विचार धारा के महातट हैं जो एक

दूसरे के प्रतिद्वन्द्विता में सिर ऊँचा किये सदैव अपने २ स्थान पर अडिग रूप से खड़े रहते हैं। ब्रह्म की विचार धारा उक्त दोनों तटों से बाहिर कभी जा ही नहीं सकती। संसार के सभी वाद उक्त दोनों वादों को सीमाओं को पार करके कहीं इधर उधर जा सकेंगे यह कल्पना ही नहीं की जा सकती है। कोई कितनी छलांगें मारे परन्तु वह न द्वैतवाद से इधर कहीं जा सकता है न अद्वैतवाद से उधर कहीं जा सकता है, निःसन्देह दोनों तट एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी ही होते है। परन्तु उक्त दोनों तटों को समान रीति से स्पर्श करके निरन्तर आगे बढ़ने वाला जलप्रवाह रूप तीसरा वाद 'विशिष्टाद्वैत' है जो उक्त दोनों वादों का स्वारस्य, मथितार्थ किंवा 'माध्यम' कहा जा सकता है। उसका स्वरूप क्या है—यह नीचे की पक्तियों में प्रकट किया जाता है:—

नारायण में विशिष्ट-अद्वैत भाव

प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों में अनादिसिद्ध 'विशिष्टाद्वैत' वाद के समुद्धारक श्री रामानुजाचार्य उक्त वाद का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रमुख व्यक्ति कहे जा सकते हैं। 'विशिष्टाद्वैत' वाद की परम्परा भी श्रीमन्नारायण भगवान् से आरम्भ होती है, जैसा की उक्त सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा के निम्नलिखित पद्य से प्रतीत होता है यथा—

लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥

अर्थात्—लक्ष्मी के प्राणनाथ श्रीमन्नारायण भगवान् से यह परम्परा आरम्भ होती है, और श्री नाथमुनि श्री यामुनाचार्य आदि महानुभाव इस परम्परा के माध्यम आचार्य हैं तथा श्री रामानुजाचार्य से लेकर तच्छिष्य प्रशिष्यों द्वारा अवि.

छिन्न रूप से प्रचलित साम्प्रतिक साधक के गुरुदेव पर्यन्त आने वाली विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की यह गुरुपरम्परा वन्दनीय है।

श्रीमन्नारायण भगवान् ने उक्त वाद की दीक्षा सर्वप्रथम श्रीशब्दवाच्या लक्ष्मी को दी है। अतः उक्त विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का अपर नाम 'श्रीसम्प्रदाय' भी जगत् में प्रसिद्ध है।

क्या वैष्णव अशैव हैं ?

जैसे शाङ्करमत में नारायण की प्रधानता है इसलिए उन्हें कथमपि 'अवैष्णव' नहीं कहा जा सकता। ठीक इसी प्रकार श्रीसम्प्रदाय परम्परा में 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' के अनुसार श्री शंकर भगवान् को भी प्रधान वैष्णव स्वीकार किया गया है। अतः सभी वैष्णव कथमपि 'अशैव' नहीं हो सकते।

शिवतत्त्व और विष्णुतत्त्व क्या है—यह प्रसङ्गान्तर है जिसके निरूपण का यह स्थल नहीं है। हम देखते हैं एक ओर जहां विष्णु के प्रधान अवतार भगवान् राम अपनी विजय कामना के लिए 'रामेश्वर' लिङ्ग की स्थापना करके शिव से तादृश वरदान पाते हैं और भगवान् कृष्ण पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन को साथ लेकर कैलाश तक की यात्रा करते हैं तथा सहस्र कमल बलि उपहार में एक कमल के कम हो जाने पर अपना कमल-सा नेत्र ही निकाल कर अर्पण कर देते हैं, वहां शंकर भी अपने इष्टदेव भगवान् राम का निरन्तर नाम जपते हुए एकबार अपनी अर्धाङ्गिनी सती द्वारा सीता का रूप बनाकर राम की परीक्षा कर लेने पर उसका सदा के लिए परित्याग कर देते हैं। ये और ऐसी अन्य अनेक गाथाएं उक्त दोनों तत्वों का 'ऐक्य' जानने लिये पर्याप्त हैं। इसलिये

न शाङ्कर अद्वैतवाद हैं और न श्री वैष्णव 'अद्वैत' हैं किन्तु दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं।

विशिष्टाद्वैत-वाद की वैदिकता

जैसे अनेक श्रुतियों में द्वैतवाद और अनेक श्रुतियों में अद्वैत वाद का सुस्पष्ट वर्णन विद्यमान है [जैसा कि हम पीछे प्रकट कर आये हैं] वैसे ही अनेक श्रुतियो में युगपद् उक्त दोनों वादों के समन्वयभूत 'विशिष्टाद्वैतवाद' का भी विशद वर्णन विद्यमान है यथा :—

(क) यद् यद् अद्रेश्यं अग्राह्यं अगात्रं अचक्षुःश्रोत्रं तद् अपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद-व्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डक)

(ख) स पर्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वय-म्भूः, याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु० ४०। ८)

(ग) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ (कठोपनिषद्)

(घ) य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोऽन्तरो यमयति स ते आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृहदारण्य० ५।७।३)

(ङ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तैत्तरीय आनन्द ६।२।१०)

अर्थात्—(क) यह जो न दिखने वाला, न ग्रहण योग्य, गात्र रहित, चक्षु: श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित और अपाणि पाद=हाथ पांव आदि कर्मेन्द्रियों से वर्जित है वह 'ब्रह्म' है। नित्य विभु=व्यापक सर्वगत, अतीव सूक्ष्म अव्यय और समस्त भूतों का कारण जो अन्तर्यामी है, धीरा=मेधावी लोग उसको भली प्रकार देखते हैं (यहां मन्त्र के पूर्वार्द्ध में 'अद्रेश्य' से लेकर 'अपाणिपादम्' तक नपुंसक लिङ्ग निर्दिष्ट सब विशेषण ब्रह्म रूप के परिचायक हैं और 'नित्यम्' से लेकर 'भूतयोनिम्' पर्यन्त पुंलिङ्ग निर्दिष्ट सब विशेषण अन्तर्यामी रूप श्रीमन्नारायण के द्योतक हैं जो 'परिपश्यन्ति' क्रिया के कर्मभूत होने के कारण द्वितीया विभक्त्यन्त हैं)।

(ख) सः=वह अन्तर्यामी चारों ओर से परिव्याप्त हुआ है। ब्रह्म रूप से वह तेजोनिधि कर्म-फल जन्य शरीर रहित अतएव व्रण आदि से तथा स्नायु आदि नस-नाड़ियों के बन्धन से वर्जित शुद्ध और पाप पुण्य से अविद्ध है। अन्तर्यामी रूप से वह क्रान्तदर्शी, ज्ञान स्वरूप, सर्वव्यापक एवं स्वयं-समुत्पन्न है और सनातन काल तक यथावत्-रूपेण समस्त व्यवस्था का सम्पादन करता है। [यहां भी 'शुक्रम्' से 'अपापविद्धम्' पर्य्यन्त नपुंसकलिङ्ग निर्दिष्ट सब विशेषण 'ब्रह्मत्व' द्योतक हैं और 'कवि' आदि पुंल्लिङ्ग निर्दिष्ट सब विशेषण 'अन्तर्यामित्व' स्वरूप के द्योतक हैं] (ग) इस शरीर में दो चेतना सता हैं उनमें से एक स्वकृत पाप पुण्य रूप कर्मों का दुःख सुख रूप फल भोगती है, दूसरी कर्म फलों का भोग कराती है। दोनों ही हृदयाकाश में बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट हैं,

उनमें से एक संसारी और दूसरी असंसारी है। ब्रह्मवेत्ता गण और गृहस्थ लोग उन को धूप और छांव की भांति परस्पर विभिन्न कहते हैं। (घ) जो परमात्मा जीवात्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर अव्यवहित है फिर भी जोव जिसे नहीं जानता यह जीवात्मा जिस का शरीर है ; जो जीवात्मा से कर्मोपभोग में पृथक् रहकर उसका नियमन करता है। वह तेरा अविनाशी 'अन्तर्यामी' आत्मा है । (ड.) वह परमात्मा चित् और अचित् उभयविध प्रपञ्च को रचकर स्वयं उसमें अनुप्रविष्ट हो गया।

विशिष्टाद्वैतवाद की रूपरेखा

श्री रामानुज सिद्धान्त में चित् अचित् और ईश्वर ये तीन पदार्थ हैं। 'चित्' का तात्पर्य भोक्ता जीव, और 'अचित्' का तात्पर्य भोग्य जगत् तथा 'ईश्वर' का तात्पर्य सर्वान्तर्यामी। यद्यपि जीव और जगत् वस्तुतः नित्य हैं और इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है तथापि ये दोनों ईश्वर के आधीन रहते हैं, क्योंकि ईश्वर अन्तर्यामी रूप से इन दोनों के भी भीतर विराजमान रहता है। इसी लिये 'चित्' और 'अचित्' ये दोनों तत्व 'ब्रह्म' शब्द वाच्य परमात्मा के शरीरभूत हैं। ईश्वर प्राकृत गुण रहित, निखिल हेय प्रत्यनीक [=समस्त हेय अगुणों से असंस्पृष्ट] यशोवदान्य आदि असीम कल्याण गुणों का आगार, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप, सृष्टि स्थिति संहारकर्ता है।

इसप्रकार चित् अचित् विशेषण-द्वय-सम्पन्न श्रीमन्नारायण ही परमतत्त्व है,* जो सजातीय और विजातीय भेदशून्य होता

* टिप्पणी—परतत्त्व का पूरा २ विवेचन हमारे बनाए 'परतत्त्व-दिग्दर्शन' पुस्तक में पढ़ें।

हुवा भी स्वगत भेद-सम्पन्न है। ईश्वर के समान अन्य कोई सजातीय किंवा विजातीय पदार्थ है ही नहीं, इसलिये वह द्विविध भेदशून्य होने के कारण अद्वितीय है। परन्तु चिद् और अचिद् ईश्वर के शरीर हैं, जिन में चिदंश अचिदंश से सर्वथा भिन्न रहता है। अतः ईश्वर स्वगत भेद से अशून्य नहीं है, यही विशिष्ट अद्वैत की रूप रेखा है। ईश्वर का और तत् शरीर भूत चित्-अचित् का कैसा सम्बन्ध है? इस जिज्ञासा का समाधान—अमुक द्रव्य और उसमें रहने वाले अमुक गुण के विश्लेषणात्मक ज्ञान से हो सकता है। जैसे पुष्प में गन्ध का आवास और सिता में मिष्ट गुण का अस्वादन अपृथक् होने का आधार अपृथक्भूत है ठीक इसी प्रकार चित् अचित् और तदनुप्रविष्ट अन्तर्यामी भी 'अपृथक् सिद्धि' से सुसिद्ध है। यहां इतना और अधिक समझ लेना चाहिये कि यह 'अपृथक् सिद्धि' न्याय और वैशेषिक दर्शन सम्मत 'समवाय सम्बन्ध' की भांति केवल बाह्य सम्बन्ध मात्र पर सुस्थिर नहीं अपितु यह तो अन्तरसम्बन्ध पर आधारित है जो किसी लौकिक दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं रखती।

शरीर वही है जिस में आत्मा के लिये नियमेन-आधेयत्व, नियमेन विधेयत्व और नियमेन शेषत्व हो। अर्थात् जिसे आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपने अनुकूल प्रयोजन की सिद्धि के लिये तादृश कार्य में प्रवृत करता है। सो श्रीमन्नारायण भी चिदचिद् को आश्रित करता है, नियमन करता है और कार्य में प्रवृत्त करता है। इन में जो प्रधान होता है वह 'नियामक' होता है, अतः 'विशेष्य' कहलाता है। जो गौण होता है वह 'नियम्य' होता है अतः 'विशेषण' कहलाता है

यहाँ नियामक और प्रधान होने के कारण ईश्वर 'विशेष्य' है। नियम्य और गौण होने के कारण जीव तथा जगत् 'विशेषण' हैं। आत्मभूत ईश्वर के चिदचिद् शरीर हैं। विशेष्य भूत ईश्वर के चिदचिद् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न रहकर सदैव विशेष्य के साथ ही सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना सर्वथा युक्तियुक्त है। ब्रह्म अद्वैत है क्योंकि अङ्गभूत चिदचिद् की अङ्गी से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। यही 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण का रहस्य है। यही ईश्वर सकल जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। यह कारण व्यापार न तो अविद्या कर्म निबन्धन है और न परनियोग-मूलक है अपितु स्वेच्छा-जन्य है।

सृष्टि रचना का प्रयोजन केवल लीला है। संहार भी लीला का उपसंहार नहीं किन्तु लीला का ही अन्यतम अनुष्ठान है। जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं अतः सर्ग और प्रलय का तात्पर्य केवल स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप में परिणत हो जाना मात्र है। प्रलय काल में जगत् के सूक्ष्मापन्न हो जाने के कारण सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है और सृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण करने पर स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। वह निर्विशेष किसी भी अवस्था में नहीं रह सकता। द्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य चिदंश और अचिदंश के तात्त्विक भेद के निरूपण में है। और अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य 'कारणावस्थ ब्रह्म' में है। ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है यही उसके 'निर्गुण' होने का अर्थ है। 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतियों का विषय वही अव्याकृत ब्रह्म, है जिसमें प्रलयकाल में जीव तथा जगत् सूक्ष्म रूप को धारण कर लेते हैं। वस्त्वन्तर-विशिष्ट में 'अद्वितीयत्व

चरितार्थ है! भक्त अनुग्रहार्थ और जगद् रक्षार्थ वह ईश्वर पञ्च विध रूप धारण करता है, (१) पर (२) व्यूह (३) विभव (४) अन्तर्यामी (५) अर्चावतार।

चित्—देहेन्द्रिय मनः प्राण बुद्धि से विलक्षण, आनन्दस्वरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव निर्विकार और ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के विना स्वयं प्रकाशित होने से वह 'अजड़' है। सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुख पूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव जीव को 'आनन्द रूप' सिद्ध करता है। हृदय प्रदेश में निवास करने के कारण वह 'अणु' है। जीव सर्वतोभावेन ईश्वर पर अवलिम्बत है अतः वह 'शेष' है। देह और देही की भान्ति जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप=जीव का अधिपति है। ब्रह्म अखण्ड है अतः जीव उसका खण्ड नहीं किन्तु अग्नि और तत् स्फुलिङ्ग की भान्ति ब्रह्म का अंश है। जीव ब्रह्म व्याप्य है और ब्रह्म का शरीरभूत है यही अभेद श्रुतियों का आशय है। इस तरह जीव ब्रह्म का अंशांशी भाव या विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध है। 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य भी है—'अचिद्-विशिष्ट जीव शरीर वाला ब्रह्म 'त्वं' शब्द वाच्य है और सर्वज्ञ सत्य संकल्प जगत् कारण ईश्वर 'तत्' शब्द वाच्य है इन दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है। अर्थात्—अन्तर्यामी ईश्वर और विश्वप्रपञ्च निर्माता ईश्वर दोनों की तात्त्विक एकता है। यही 'विशिष्टयोरद्वैतम्' के अनुसार विशिष्टाद्वैत है

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु 'अचित्' है। वह (१) शुद्ध सत्त्व (२) मिश्र-सत्त्व और (३) सत्त्व शून्य, भेद से तीन प्रकार का है। शुद्ध सत्त्व नित्य विभूति है। मिश्र सत्त्व रजस्तमोयोग से सृष्टि

का उपादान है, इसी का अपर नाम माया किंवा 'प्रकृति' है। सत्त्वशून्य अचित् 'काल' कहलाता है। यह नित्य ज्ञानानन्द का जनक निरवधि तेजो-रूप द्रव्य विशेष है। इसीके द्वारा नित्य और मुक्त पुरुषों के शरीर भगवत्संकल्प से होते हैं। भगवान् के व्यूह विभव और अर्चावतार भी इसी शुद्ध सत्व के उपादान से निर्मित होते हैं। मुक्त पुरुष शुद्ध सत्व शरीर प्राप्त करके भगवत्कैङ्कर्य का अधिकारी बनता है। त्रिपाद् विभूति किंवा वैकुण्ठ परमपद इसी नित्य विभूति के अपर नाम हैं। भगवद् अनुग्रह से ही मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु वर्णाश्रमोचित कर्म तदर्थ उपादेय हैं। क्योंकि वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान से ही चित्त की शुद्धि होती है। तभी ब्रह्म जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसीलिए 'ब्रह्म मीमांसा' से 'कर्म मीमांसा' पूर्ववर्तिनी है। ज्ञान और कर्म, भक्ति के उदय होने में सहकारी कारण हैं। मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान हेतु है उसमें भी 'प्रपत्ति'= शरणागति सर्वोपरि है।

शरणागति में जबतक 'आत्म समर्पण' की भावना दृढ़ न हो तब तक तत्तद् विहित कर्मों का अनुष्ठान 'वानरी वैधृति' की भांति परमावश्यक है। अर्थात्—वानर बालक जैसे माता के वक्षःस्थल से चिपका रहता है इसीप्रकार साधक को श्रीमन्ना-रायण के हृदयभूत शास्त्र विहित कर्म कलाप में आबद्ध रहना चाहिये परन्तु जब आत्म समर्पण की दृढ़ भावना बद्धमूल हो जाए तब 'बैड़ाली वैधृति' के अनुसार अर्थात् जैसे बिल्ली का बच्चा सर्वथा एक मात्र माता पर अवलम्बित रहता है, माता ही उसे यत्र तत्र सुरक्षित स्थानों में लिये डोलती है—ऐसी

स्थिति में केवल लोक संग्रहार्थ ही कर्मानुष्ठान की इतिकर्तव्यता शेष रह जाती है।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के 'वड़गल' (वटकले) और 'तिंगल' (तेनकले) दो प्रधान भेद उपर्युक्त दोनों वृत्तियों की आधार भित्ति पर ही सुस्थिर हैं। 'शास्त्रविहित कर्म किसी भी दशा में त्याज्य नहीं, फिर चाहे वे लोक-संग्रह की दृष्टि से क्यों न किये जाएं। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व सर्वसंकल्पत्व आदि अनेक गुण तो भगवान् के समान ही उदित हो जाते हैं, परन्तु स्थिति लय कर्तृत्व आदि गुण केवल ईश्वर में ही रहते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद के आधारभूत प्रमाण

ऊपर विशिष्टाद्वैतवाद का जो निरूपण हुआ है वह जिन प्रमाणों पर आधारित है उनका संक्षेप से यहां उल्लेख किया जाता है, जिससे पाठक उक्त वाद की प्रामाणिकता का मनन कर सकें।

(क) ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थास्त्रितयं हरिः।

ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः॥

(सर्वदर्शन संग्रह पृष्ठ ३८)

(ख) स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव।

(श्रीभाष्य पृष्ठ १०६)

(ग) बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(घ) स कारणं करणाधिपाधिपः। (श्वेताश्वतर ६।९)

(ङ) तत्पदं हि सर्वत्र सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परा-

मृशति त्वं पदञ्च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। (श्रीभाष्य जिज्ञासाधि० पृष्ठ ९८)

(च) जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते।

(आहिर्बुध्न्य संहिता १४। १९)

अर्थात्—(क) ईश्वर चित् और अचित् ये तीनों पदार्थ ही श्रीमन्नारायण शब्द वाच्य हैं। ईश्वर चिद् है, जीव और यह दृश्य जगत् अचित् है। (ख) स्थूल, सूक्ष्म चिदचित्प्रकारक ब्रह्म ही है। गो बाल के अग्रभाग के भी सैकड़ों सूक्ष्म भाग किए जाएं तत्समान अतीव सूक्ष्म जीव है जो मोक्ष को प्राप्त होता है। (घ) वही ईश्वर संसार का कारण है, करणाधिप— जीव का अधिपति है। (ङ) तत्त्वमसि का 'तत्' पद सर्वज्ञ सत्यसंकल्प जगत्कारण ब्रह्म की ओर संकेत करता है और 'त्वं' पद अचिद् विशिष्ट जीव-रूप शरीर में भी व्याप्त ब्रह्म का बोधक है (ये दोनों तत्त्वतः निर्विशेष हैं)।

उर्युपक्त अवच्छिन्नवाद और प्रतिविम्बवाद दोनों का समन्वित मथितार्थ 'विशेष्य विशेषणवाद' है, जिसका निरूपण हम संक्षेप से कर चुके हैं। जीव अवश्य ब्रह्म का अंश है, वह वस्त्र-खण्ड की भांति अखंड ब्रह्म की अखण्डता का घातक नहीं, अपितु जैसे अग्नि में प्रकाश और उष्णता दोनों विलक्षण गुण अविरोधी भाव मे निरन्तर रहते हैं और तदवच्छिन्न दाहक एवं भास्वर अग्निपुञ्ज ही अग्नि' शब्द वाच्य है और उसका प्रत्येक स्फुलिङ्ग भी तथाभूत है, परन्तु स्फुलिङ्ग के पृथक् हो जाने से अग्निपुञ्ज के दाहकत्व में न्यूनता की कल्पना भी नहीं की जा सकती और स्फुलिङ्ग भी इन्धन के तारतम्य से अग्निपुञ्ज की अपेक्षा न्यूनाधिक्य का तारतम्य रखता हुआ भी असीम दाह समूह के दहन में समर्थ है ; इसी प्रकार अंशांशीभाव सम्पन्न

जीव और ब्रह्म न सर्वांश में एक दूसरे से सर्वथा और सर्वदा भिन्न हैं और न अभिन्न हैं, किन्तु एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे स्थूल फूल के बिना सूक्ष्म गन्ध की प्राप्ति असम्भव है और सूक्ष्म गन्ध के बिना स्थूल फूल भी अकिञ्चित्कर है, ठीक इसी प्रकार चिदचिद् विशेषणों का वैशिष्ट्य ब्रह्म के अस्तित्व का बोधक है और ब्रह्म चिदचिद् विशेषणों की सार्थकता का हेतु है।

त्रिविध भावों का समन्वय

यद्यपि नर और नारायण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं, तथापि द्वैत और अद्वैत इन वादों को छोड़कर अन्य वाद एक दूसरे के सर्वथा विरोधी नहीं जँचते, किन्तु अंशतः समान ही से प्रतीत होते हैं। हमने अद्वैतवाद और द्वैतवाद इन दोनों वादों का वर्णन करने के अनन्तर अन्यान्य वादों को छोड़कर तीसरे केवल 'विशिष्टाद्वैतवाद' का ही उल्लेख किया है। इसका यही कारण है कि जब उक्त वाद में परस्पर अत्यन्त विरोधी जँचने वाले द्वैतवाद और अद्वैतवाद का भी सुतरां समन्वय हो जाता है तब अन्यान्य वादों की तो कथा ही क्या है। उनका तो इसमें अन्त-र्भाव होने में कुछ कठिनता ही नहीं होगी। अतः फिर सभी वादों की चर्चा करके व्यर्थ पिष्टपेषण क्यों किया जाय।

हमारी घोषणा है कि वेद में एक भी ऐसा मन्त्र नहीं जो कि पूरा का पूरा मन्त्र नारायण के 'निराकार' किंवा 'साकार' इन दोनों रूपों में से केवल किसी एक रूप का ही प्रति-पादक हो। सभी मन्त्र साकार और निराकार दोनों रूपों का साथ २ युगपत् प्रतिपादन करते हैं। जैसे यजुः पुरुषसूक्त के

सुप्रसिद्ध एक ही मन्त्र में गाड़ी के दोनों चक्रों की भांति निराकार और साकार दोनों रूपों का वर्णन साथ २ चलता है यथा:—

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

अर्थात्—वह परमात्मा समस्त प्रजा का पति=कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् प्रभु है [यह विशेषण उसके निराकार स्वरूप का पोषक है—परन्तु साथ ही वह] गर्भ के मध्य में विचरण करता है [यह विशेषण उसके साकारत्व की सूचना देता है ।] वह (अजायमान:)=अज अजन्मा है परन्तु फिर भी वह (बहुधा) नाना रूप धारण करके (विजायते) बार २ जन्म लेता है । [ये दोनों विशेषण भी क्रमश: निराकार और साकार दोनों पक्षों के प्रतिपादक हैं ।] पीछे हम निराकार पक्ष के प्रबल पोषक कहे जाने वाले ········अकायमव्रणमस्नाविरम्' आदि ईशावास्योपनिषद् के प्रसिद्ध मन्त्र में भी 'अव्रणम्' आदि विशेषणों द्वारा 'साकार' पक्ष की साधना इसी अध्याय के ३६० पृष्ठ पर कर आए हैं ।

किसी भी वैदिक मंत्र में निराकार के साथ साकार का भी निश्चित वर्णन होने की घोषणा के साथ २ हमारी यह भी प्रबल घोषणा है कि वेद में ऐसा एक भी मन्त्र नहीं जो कि 'द्वैत वाद' किंवा 'अद्वैतवाद' इन दोनों में से किसी एक ही वाद का प्रतिपादन करता हो किन्तु जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध प्रतिपादन करने वाले जितने भी मन्त्र उपलब्ध होते हैं, वे सब के सब समान रीति से 'द्वैतवाद' और 'अद्वैतवाद' दोनों ही पक्षों का युगपत् प्रतिपादन करते हैं । ऐसी स्थिति में श्रुति द्वैध के कारण दोनों ही वादों की वैदिकता सुस्थिर हो जाने पर उनका पर्यवसान द्वैतभाव और अद्वैतभाव के समन्वयभूत विशिष्टाद्वैत भाव में होता है । यह हमारी कोरी कल्पना नहीं है और नांहीं

श्रीवैष्णव होने के नाते हमारा कोई पक्षपात है, किन्तु 'वेदान्त दर्शन' के मूल सूत्रों में निबद्ध वेदव्यासजी का अपना हार्द है। [शाङ्कर मतानुयायी हमें ऊर्ध्वपुण्ड्र के कारण चाहे कट्टर वैष्णव समझते हों, और श्रीवैष्णव समाज चाहे 'ओंकार शिवलिङ्ग' आदि ग्रंथ लिखकर शिव की महिमा गाने वाला तिलक मात्र का वैष्णव किन्तु वस्तुत: घोर 'शैव' मानते हों परन्तु वस्तुतः हम तो शास्त्र के पक्षपाती सिद्धान्तवादी व्यक्ति हैं और सम्प्रदाय के नाम पर को जने वाली सङ्कीर्णता के घोर विरोधी हैं। ऐसी दशा में पाठक हमारे व्यक्तित्व को एक ओर रखकर प्रमाण और युक्तिवाद का मनन करें तथा उन्हीं के प्रकाश में जीव ब्रह्म सम्बन्ध के जटिल प्रश्न को स्वयं सुलझाने का प्रयत्न करें।]

जीव ब्रह्म ही है या जीव ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है—इस विषय में द्वैतवाद और अद्वैतवाद की विचार धाराएँ पीछे व्यक्त की जा चुकी हैं। वेदान्त-दर्शनके व्याख्याता अद्वैतवाद को 'अवच्छिन्नवाद' के नाम से स्मरण करते हैं और उसका प्रतिपादन करते हुये लिखते हैं कि—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके। (वेदान्त दर्शन २।३।४३)

अर्थात्—जीवात्मा परमात्मा का अंशरूप है। जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश के एक होने पर भी उसका घट मठ आदि उपाधि भेदानुसार घटाकाश, मठाकाश, आदि संज्ञा होती है, परन्तु वास्तव में घटाकाश और व्यापक आकाश में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है ठीक इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। केवल अन्तःकरण रूपी उपाधि के योग से एक ही ब्रह्म नाना जीव रूप में व्याप्त हो रहा है। इसी प्रकार दूसरा पक्ष है कि—

आभास एव च । (वेदान्त दर्शन) ३ । २ । ५०

अर्थात्—जीवात्मा परमात्मा का केवल आभास मात्र है। जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य चन्द्र का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब सूर्य चन्द्र की तरह देखने में होने पर भी वास्तव में सूर्य या चन्द्र नहीं है। ठीक इसी प्रकार परमात्मा का—(प्रतिबिम्ब) जो अन्तःकरण पर पड़ता है वही जीवात्मा है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है किन्तु ब्रह्माभास है।

प्रमाणवाद भी दोनों पक्षों का पोषक है यथा:—

(क) ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । (गीता)

(ख) एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

(ब्रह्मबिन्दूनिषद्)

अर्थात्—(क) [ब्रह्मावतार श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि] जीवलोक में मेरा ही अंश सनातन काल से 'जीव' रूप में विद्यमान है। (ख) एक ही ईश्वर सब प्राणियों में 'अन्तर्यामी' रूपसे विराजमान है। जल में चन्द्रमा की भान्ति समस्त जीवों के अन्तःकरण में वह प्रतिबिम्बित है।

इस प्रकार अद्वैतवादिनो व्याख्या के विपरीत द्वैतवादिना व्याख्या को जातो है, अन्ततोगत्वा दोनों का स्वारस्य 'विशिष्टाद्वैत' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

श्रीभाष्य ग्रन्थ (२।३।४२) में **'एकवस्त्वेकदेशस्थं ह्यंशत्वम्'** लक्षण करते हुवे अद्वैत और द्वैत परक श्रुतियों का—जीव और ईश्वर का अंशांशीभाव तथा स्वभाव भेद—उभयथा समन्वय किया है। जीव और ईश्वर दोनों का वैविध्य श्रुतियों में उपलब्ध है जैसे ईश्वर-स्रष्टा, नियन्ता, सर्वज्ञ, स्वाधीन, शुद्ध कल्याण

गुणाकर, और पति, वर्णित है परन्तु जीव—सृज्य, नियम्य, अल्पज्ञ, पराधीन, अशुद्ध, दोषागार और शेष प्रसिद्ध है।

इसलिये वस्त्र खण्ड की भान्ति वह अखण्ड ब्रह्म का तादृश खण्ड नहीं है किन्तु मन्त्र वर्णन और गीता आदि स्मृतियों के निरूपण मे कार्य कारण भावोपलक्षित अंगांशो भाव ही यहां अभिप्रेत है। प्रलय काल में अव्यक्त रूप से ब्रह्म में विलीन रहने नित्य और चेतन जीव सृष्टिकाल में उसी परमात्मा से प्रकट हो जाते हैं। इस लिए पिता और सन्तान की भान्ति जीवों को ईश्वर का अंश मानना ही उपयुक्त है इसी प्रकार जीव ब्रह्म का भेद और अभेद कहने वाली उभयविधि श्रुतियों का समन्वय हो जाता है इसके विरुद्ध जो कहा जाएगा सो आभास मात्र होगा वस्तु स्थिति से सर्वथा विपरीत होगा।

इस प्रकार हमने श्रीमन्नारायण के स्वरूप लक्षण का सांगोपाङ्ग संक्षिप्त निरूपण करके पाठकों को एक बड़े और गहन विषयसे परिचय प्राप्त कर सकने का अवसर दिया है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि श्रीमन्नारायण भगवान् ताने बाने की भांति समस्त ब्रह्माण्ड में ओतप्रोत हैं। नर नाम धारी जो प्राणी उस नारायण-तत्त्व को खोजना चाहता है, तदवच्छिन्न चेतन जीव में भी श्रीमन्नारायण भगवान् 'अन्तर्यामी' रूप से तथैव विराजमान है। तत्तद् सम्प्रदायानुरोधेन जीव और ब्रह्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है—इस जटिल दार्शनिक प्रश्न का समाधान भी हमने संक्षेप से प्रदर्शित किया है। चूंकि ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष की निष्ठा के प्रतिपादनार्थ नहीं लिखा जा रहा है किन्तु सर्व सम्प्रदायों के समन्वित सिद्धान्त युक्त 'सनातनधर्म' के प्रतिपादनार्थ लिखा जा रहा है ऐसी स्थिति में सनातनधर्म विरोधी लोगों के प्रतिपक्ष का निराकरण द्वैत-अद्वैत और विशिष्टाद्वैत

आदि जिस भी वाद द्वारा जहां जैसे झटिति हो सकता हो वहां वैसे ही हमने उस वाद का अवलम्बन किया है।

सनातनधर्म के समन्वयवाद में सभी वादों का निर्विशेष रूप से समावेश ही हमें अभीष्ट है। अन्यथा किसी एक 'वाद' को ही सर्वथा सर्वदा उपादेय और अन्यों को हेय मान लेने पर मुट्ठी-भर तद् सम्प्रदायानुयायियों को छोड़ कर असंख्य सनातनधर्माभिमानी सनातनधर्म की सीमा से वहिष्कृत हो जाएंगे जो किसी भी आस्तिक को अभीष्ट नहीं हो सकता। जैसे सभी देवता अन्ततोगत्वा अङ्गाङ्गीभाव से श्रीमन्नारायण के ही अन्यतम अङ्ग हैं और उन में से किसी एक की भी पूजा अधिकारी भेद से आपातत: श्रीमन्नारायण की ही पूजा है—फिर चाहे वह 'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' के ही अनुसार तरुमूल-सेचन न होकर स्कन्ध पल्लवादि सेचन के समान ही क्यों न हो। ठीक इसी प्रकार द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धान्त साधक की निष्ठा के भेद से विभिन्न होते हुए भी अन्ततोगत्वा नर को श्रीमन्नारायण-तत्त्व तक पहुँचा देने में ही पर्य्यवसित होते हैं। इसलिए हमें स्वाभिमत 'वाद' में दृढ़ आस्था रखते हुए भी अन्य वादानुयायी जनों के साथ आदर और सद्भावना का परिचय देना चाहिए। यही आज की आवश्यकता और सनातनधर्म की सबसे बड़ी सेवा है। इन शब्दों के साथ इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं।

सृष्टि स्थिति प्रलय का कारण, बिन-आकार किन्तु साकार।
वेद-शास्त्र-सरिता का उद्गम, प्राप्ति लक्ष्य है पारावार॥
द्वैताद्वैत सभी वादों का, एक उसी में पर्य्यवसान।
नारायण है ध्येय वस्तु, अध्याय षष्ठ का तत्त्व महान्॥

उपाय-तत्त्व निरूपणाध्याय

(सातवां अध्याय)

व्रतोपवासतीर्थेज्या, विविधा समुपासना ।
तत्त्वज्ञानं प्रपत्तिश्च मुक्त्युपाया इहाङ्किताः ।।

नर तत्त्व और नारायण तत्त्व का निरूपण विगत अध्यायों में हो चुका है । मनुष्य जन्म का चरम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति है यह एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । सो नर, नारायण प्राप्ति के लिये किन २ उपायों का अवलम्बन करें—इस जिज्ञासा के समाधान के लिये क्रम प्राप्त उपाय तत्त्व का निरूपण इस अध्याय में किया जाता है ।

अन्तःकरण शोधन के उपाय

भक्त भगवत्-सायुज्य को कैसे प्राप्त हो सकता है,—अथवा जीव को स्व-स्वरूप का कैवल्य-ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस एक ही बात को चाहे किन्हीं शब्दों में प्रकट किया जाए इससे वस्तुस्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, इसलिये शब्दाडम्बर को छोड़कर सीधा २ यूँ कह लीजिये कि यह नर श्रीमन्नारायण पद को कैसे प्राप्त कर सकता है, इस समस्या के समाधायक

उपायों को प्रकट करना ही इस अध्याय का ध्येय है। वह प्राप्तव्य श्रीमन्नारायण नर से कहीं दूर प्रदेश में ही रहते हों, ऐसी बात नहीं किन्तु जहाँ वे भक्तों की अपनी २ भाषा में त्रिपाद विभूति, परमपद वैकुण्ठ, क्षीरसागर, सत्यलोक, कैलाश, विरजा नदी के पार, गोलोक, साकेत, नित्य निकुञ्ज, राधास्वामी लोक और सातवें किंवा चौथे आसमान पर रहते हैं, वहां वे गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' के अनुसार प्रत्येक प्राणी के हृदय में भी सुतरां विराजमान हैं।

श्रीमन्नारायण की दर्शनानुभूति का जो साधन यन्त्र है उसे योगभाषा में अन्तःकरण कहते हैं। वह अन्तःकरण प्रायः मल, विक्षेप और आवरण नामक तीन दोषों से दूषित रहता है। जब तक इन तीन दोषों का परिमार्जन न हो तब तक अन्तःकरण के दोषों के कारण हृदयान्तरवर्ती दहराकाश में अन्तर्यामी रूप से सर्वात्मना विराजमान श्रीमन्नारायण की दर्शनानुभूति नहीं हो सकती। यह बात अनुपदं उपासना प्रकरण में विस्तार से लिखी गई है।

समस्त वेद और शास्त्रों की सार्थकता उक्त दोषों की निवृत्ति में ही पर्यवसित है। हम पीछे सिद्ध कर आए हैं कि वेद वाङ्मय की एक लक्ष ऋचाएँ हैं जिनमें से अस्सी हजार मन्त्र अन्तःकरण की मलिनता को दूर करने के उपाय बतलाते हैं, वेद की इस विस्तृत ज्ञानराशि का नाम 'कर्म-काण्ड' है। सोलह सहस्र मन्त्र मनः की स्वाभाविक चञ्चलता को हटाने का विधान बतलाते है, इस ज्ञानराशि का नाम 'उपासना काण्ड' है। वेद का उपनिषदात्मक चतुःसहस्रात्मक अन्त=सिद्धान्त भाग अज्ञानजन्य जवनिका का निराकरण करने की शिक्षा देता है इसका नाम

'ज्ञान-काण्ड' प्रसिद्ध है । अन्यान्य सब शास्त्र भी साक्षात् किंवा परम्परया वेद के इन त्रिविध उपायों का ही उपबृंहण और उपोद्वलन करने वाले हैं, जैसे महाभाष्यकार पतञ्जलि व्याकरण पठन का प्रयोजन 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः······स्वर्गेलोके कामधुग् भवति' प्रकट करते हैं, तो अलङ्कार शास्त्र के परमाचार्य श्री मम्मट भी काव्य का चरम लक्ष्य 'सद्यः परनिवृत्तये' बतलाते हैं। आयुर्वेद के प्रथम प्रथयिता श्रीधन्वन्तरि तो 'धर्मार्थकाम-मोक्ष' चतुर्वर्ग फल प्राप्ति का ही मूल शरीर रक्षा कहते हैं। इतिहास पुराणकार भी तत्पठन का फल 'भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसिनः श्रेयसे' और 'यत्र त्रिसर्गो मृषा' करते हुवे मोक्ष ही प्रकट करते हैं।

इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग समस्त वैदिक-वाङ्मय कर्म, उपासना और ज्ञान इन त्रिविध उपायों द्वारा अन्तःकरण संशोधन पूर्वक प्रपत्ति द्वारा श्रीमन्नारायण के साक्षात्कार का आदेश करते हैं। हम पाठकों के परिज्ञानार्थ यहां सर्वप्रथम वेद के उन तीनों कांडों का क्रमशः निरूपण करते हैं—और अन्त में भगवत्प्राप्ति के अमोघ उपाय 'शरणागति' का वर्णन करेंगे।

कर्म-काण्ड-विचार

(कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः)

कर्मवश चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव भगवान् के वियोग में भटक रहा है। जन्म-जन्मान्तर में जीव ने जो सुकर्म किंवा दुष्टकर्म किये हैं, उन सब कर्मों को सामूहिक रूप से 'सञ्चित कर्म' कहते हैं।

सञ्चित कर्मों का उग्रतम भाग—जिसको भोगने के लिये जीव अमुक जन्म लेता है उसे 'प्रारब्ध-कर्म' कहते हैं। पश्वादि तिर्यंञ्च योनियें केवल भोग योनि हैं, और स्वर्ग-नरक भी सुख-दुःख के ही उपभोग करने के स्थान हैं परन्तु मनुष्य योनि तथा मर्त्यलोक में—उसमें भी विशेषतया भारत-भूमि में, जहाँ जीव को प्रारब्ध कर्म भोगने का अवसर मिलता है वहां आगे के लिए भी शुभाशुभ कर्म कर सकने की योग्यता रहती है। अतः इस तीसरी कोटि के कर्म-कलाप को 'क्रियमाण-कर्म' कहते हैं। इस तरह भोग्य भोक्तव्य दृष्टि से कर्म के (१) संचित, (२) प्रारब्ध (३) क्रियमाण तीन भेद हैं।

कई बार जिज्ञासु पूछा करते हैं कि 'प्रारब्ध' मुख्य है या 'पुरुषार्थ'? वे भोले भाई ऐसा प्रश्न करते हुए यह भूल जाते हैं कि वास्तव में पुरुषार्थ का ही अपर नाम 'प्रारब्ध' है। प्रारब्ध कोई ऐसी विलक्षण वस्तु नहीं है कि जो जीव को ईश्वर की ओर से उपहार में मिल जाती हो, किन्तु जन्मान्तर के पुरुषार्थ को ही प्रारब्ध कहते हैं जिसका निर्माता स्वयं जीव है।

सञ्चित कर्म के अंशभूत प्रारब्ध कर्म के उपभोग के लिये जीव जन्म लेता है, परन्तु मनुष्य योनि में वह कुछ नये कार्य भी करता है। इस तरह कर्मों से पुनजन्म और जन्म से पुनः कर्म यह जन्म-कर्म का तांता कभी समाप्त होने में नहीं आता।

श्रीमन्नारायण को प्राप्ति तब तक असम्भव है जब तक कि प्रारब्ध कर्म भोगते २ सञ्चित कर्म निःशेष न हो जाएँ। कुछ साधक इस उभयतः पाशारज्जुः का उपाय कर्म का परित्याग समझ बैठते हैं, परन्तु कर्म त्याग तो कथमपि सम्भव नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में सुस्पष्ट लिखा है कि—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

अर्थात्—कोई जीव क्षणमात्र भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। यदि हाथ पर हाथ रखकर बैठ भी जाए तब भी स्थिति रूप कर्म चालू रहेगा तथा मानसिक व्यापार भी चलता हो रहेगा। ऐसी स्थिति में सर्वशास्त्रमयी गीता ने इस कठिन समस्या का एक बहुत सुन्दर समाधान किया है, जो वस्तुतः कर्म-विज्ञान का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। भगवान् ने उसका नाम-करण 'निष्काम कर्मयोग' किया है जिसका प्रधान सूत्र है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गी० २-४७)

अर्थात्—मनुष्य को भगवदाज्ञारूप स्ववर्णाश्रमोचित कर्म करने का ही अधिकार है, उसके फल की वांछा करना कथमपि उचित नहीं।

सो निष्काम भाव से किया हुआ कर्म 'क्रियमाण कर्म' कोटि में नहीं आता, अतः वह भोगना नहीं पड़ता। इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों का क्रमशः उपभोग होते-होते एक दिन सञ्चित कर्म निःशेष हो जाएंगे। तब अन्तःकरण पर जो कर्मजन्य मलिनता जमी है वह सर्वथा दूर हो जाएगी। इसलिए भगव-दाज्ञा रूप वर्णाश्रमोचित कर्म कथमपि त्याज्य नहीं हैं, किन्तु निष्कामभावेन सर्वथा और सर्वदा करणीय हैं।

कर्मयोग का शास्त्रीय स्वरूप

(क) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।

(यजु ४०।२)

(ख) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
(गीता ३।७)

(ग) यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
(गीता ३।९)

अर्थात्—(क) संसार में निरन्तर कर्म करते हुए ही सौ वर्ष की आयु तक जीवित रहना चाहिये। (ख) कर्म अवश्य करना चाहिए क्योंकि बिना कर्म किये रहने से कर्म्मानुष्ठान ही श्रेष्ठ है। (ग) यज्ञ, देवपूजा, लोकोपकार और दान आदि शास्त्र-विहित कर्म के अतिरिक्त जो मनमाने कर्म किये जाएंगे, वे ही बन्धन के कारण होंगे।

निष्काम कर्म से मल-निवृत्ति क्यों ?

यह लोक में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि जिस वस्तु में हमारा जितना अधिक ममत्व होगा, उसके छिन जाने पर हमें उतना ही दुःख होगा। संसार का कोई पदार्थ स्वयं सुख और दुःख का हेतु नहीं, किन्तु अमुक वस्तु में ममत्व-भावना के कारण हमारा 'राग' होता है, और तद्-विघातक अमुक वस्तु में परत्व भावना के कारण हमार द्वेष होता है। वास्तव में स्वत्व और परत्व ही सुख और दुःख का हेतु है।

दृष्टान्तरूपेण समझिये देवदत्त के पास कोई बहुमूल्य रत्न है उसमें उसका अति ममत्व है, उसे सोते-जागते यही चिन्ता रहती है कि कभी कोई चोर, लुटेरा, डाकू इसे न छीन ले ! कभी इसे राजा न जब्त कर ले !! अथवा अन्य किसी अतर्कित उपद्रव से यह विनष्ट न हो जाए !!! किसी मित्र ने उसे परामर्श दिया कि

तुम इसे बेचकर सुवर्ण खरीद लो और उसे थोड़ा-थोड़ा करके कई स्थानों में भूमि में गाड़ दो। एक रत्न को कोई भी हथिया सकता है और उसके चले जाने पर तुम्हारा सर्वस्व ही नष्ट हो जाता है, परन्तु सुवर्ण के पासे कई होंगे और विभिन्न स्थानों पर गड़े रहने के कारण कभी कोई लूट-खसोट की दुर्घटना होगी तब भी सर्वस्व नष्ट नहीं होगा, तुम्हारे भाग्य से कुछ न कुछ बच ही जाएगा।

देवदत्त ने उसे बेच डाला, उसके स्थान में सौ तोला सुवर्ण राशि प्राप्त हुई। देवदत्त का ममत्व अब रत्न में नहीं रहा, किन्तु तत्प्रतिनिधिभूत सुवर्ण राशि में हो गया। रात्निक जौहरी के अधिकार में गया वह रत्न अब भले ही लुट जाए, देवदत्त को उसके विनाश से किञ्चिदपि कष्ट न होगा। अब तो उसके ममत्व का केन्द्र एकमात्र सुवर्णराशि हो गई। देवदत्त को अब सुवर्ण की चिन्ता सन्तप्त करती है। समय पाकर देवदत्त को स्थानान्तर में जाना अनिवार्य हो गया। सवा सेर सोने का भार जेब में डालना या गांठ में बांधकर चलना उसे भयावह प्रतीत हुआ। अतः उसने सुवर्ण को बेचकर हजार २ रुपये के करेन्सी नोटों के रूप में परिणित करने की बुद्धिमता की। अब उसका ममत्व दो तीन तोला भर वजन के नोटों के पुलिन्दे में आबद्ध हो गया कि ये कलयुगी लक्ष्मी की पत्रमयी प्रतिमाएं कभी पसीने या आंसुओं के ही जल में न गल जाएं ! बीड़ी सिगरेट से झड़ी हुई आग की एक ही चिनगारी इन्हें भस्मसात् न कर डाले !! अपने ही श्वास का एक ऊंचा झोंका इन्हें उड़ा न डाले !!!

यज्ञदत्त ने देवदत्त से प्रार्थना की कि मेरी पुत्री का विवाह है, रुपये की आवश्यकता है। कृपया एक मास के लिये पांच हजार

रुपया उधार दे दीजिए, विवाहोपरान्त व्याज सहित चूकता कर दूँगा। देवदत्त मित्र की प्रार्थना टाल न सके। नोट उसके हवाले किये और यज्ञदत्त से बतौर सनद के एक परिपत्र (प्रनोट) लिखवा लिया। देवदत्त का सर्वस्व अब केवल एक कागज का पुर्जा बन गया, वह ममत्व के कारण उसे ही सम्भालकर रखता है। दृष्टान्त कुछ विस्तृत हो गया. परंतु पाठक विचारें कि देवदत्त ने जिस-जिस वस्तु में अपना ममत्व किया वही-वही वस्तु उसकी चिन्ता का केन्द्र बन गई, और जिस-जिस वस्तु में उसकी परत्व भावना हुई वह उसकी चिन्ता से उन्मुक्त होता गया। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि हमारे सुख और दुःख का कारण वस्तु विशेष नहीं, किन्तु अमुक वस्तु में ममत्व भावना ही है।

क्रियमाण कर्मों में जब हमारा ममत्व ही न होगा तो तज्जन्य शुभाशुभ फल का उपभोग हमें क्यों करना पड़ेगा। इसलिये प्रभु आज्ञा समझकर स्व-स्व वर्णाश्रमोचित कर्मों का निष्काम भावना से अनुष्ठान करना यही अनासक्त कर्मयोग का सारभूत सिद्धान्त है। ज्यों-ज्यों निष्काम कर्मानुष्ठान की भावना दृढ़ होगी त्यों-त्यों ही वासना के क्षीण होने से अन्तःकरणस्थ मल विनष्ट होता चला जाएगा।

इस प्रकार कर्मकाण्ड का सामान्य निरूपण करने के बाद अब क्रम प्राप्त उपासना काण्ड का विवेचन किया जाता है।

उपासना-विचार

(प्रार्चत प्रियमेधासः)

प्रायः सभी ईश्वरवादी सम्प्रदाय ईश्वर की उपासना की इति-कर्तव्यता में एकमत हैं । अर्थात् –ईश्वर की उपासना होनी चाहिये—इस अंश में सभो सहमत हैं, परन्तु उपासना की विधि क्या है ?—इस विषय में एक का दूसरे से मेल नहीं, सभी 'अपनी २ ढफली और अपना २ राग' आलापते हैं ।

अन्य मतों में उपासना का ढंग

ईसाई कहते हैं कि आठवें दिन रविवार को 'गिरजाघर' में जाकर घुटनों के बल बैठकर या कुर्सी पर ही तने तनाए—अथवा सपाट खड़े रहकर ही कह दिया जाए कि—'ऐ खुदा !! मुझे इम्ति-हान में न डाल ! और मुझे कलकी रोजी बख्श !!' बस एतावता उपासना की रस्म अदा हो गई । हजरत ईसा ईसाइयों द्वारा आज भी किए जाने वाले गुनाहों का फल भोगने के लिये दो हजार वर्ष पूर्व फांसी पर झूल चुके हैं । अतः ईसा पर विश्वास लाने वाले लोगों के सब पाप खुदा क्षमा कर ही देगा, अब भले ही हीरोशिमा के निरीह प्राणियों पर परमाणु बम गिराकर उन्हें चौथे आसमान का फ्री पास दे दिया जाए !

मुसलमान कहते हं कि दिन में पांच बार घुटनों के बल बैठ कर और जमीन में सर रखकर खुदाताला को 'सजदा' करना और 'कुरान' की चन्द आयतें पढ़ डालना एक खरे-खासे मोमिन

की पहिचान है। हज़रत मुहम्मद साहिब क़यामत के दिन उन मोमिनों के सब गुनाह क्षमा कराने के लिये खुदा से सिफारिश करेंगे जो कि नबी पर यकीन लाएँगे। सो अब भले ही बेरोक-टोक कुन्द छुरी से असंख्य जीवों को हलाल करके उन्हें अपनी दुष्पूर उदरदरी में दफना दिया जाए और भरपेट शक्कर सेंवियों के शड़प्पे लगाए जाएँ।

राधास्वामी—कानों में अंगुली डालकर हृदयचक्र की धड़कन की ध्वनि सुनने मात्र से ही कथित सुरतयोग=उपासना की इतिश्री समझ लेते हैं फिर चाहे दिन भर दयाल बाग फक्टरी (आगरा) में बने काफलैंदर चमड़े की दलाली ही क्यों न की जाए।

जैन लोग अपने तीर्थङ्करों की कथा सुनकर या उनकी प्रतिमाओं के दर्शन द्वारा ही अपने आपको कृतकृत्य मान लेते हैं, फिर चाहे दिन भर चोर बाजारी और सूद-दर-सूद की दोधारी तलवार से गरीबों का कलेजा तराश कर अहिंसावाद को बरबाद ही क्यों न कर दिया जाय। पहिले महायुद्ध के समय अंग्रेज अमरीकन फौजों को गो-मांस सप्लाई का ठेका भी कई प्रसिद्ध जैनी साहूकारों के पास ही था और आज भी अनेक बूचड़खानों के कन्ट्राक्ट इन्हीं अहिंसावादियों के पास हैं।

सिक्ख—शब्द वाणी के गीत गाकर और कड़ाह प्रसाद का 'कुणाका' बरता कर ही 'श्री वाहे गुरु जी की फतह' मान लेते हैं फिर चाहे यह सब काम नित्य नियम की भांति शराब का 'अद्धा' सदर गेट में उंडेल कर सिनेमा की नई २ तर्जों का असफल अनुकरण ही क्यों न सिद्ध होता हो।

आर्यसमाजी—तो सभी कार्यों में सब से निराले हैं फिर उपासना में भी वे अपनी 'टेक' क्यों छोड़ें ! वे उपासना के नाम पर डटकर बैठ जाते हैं। दोनों हाथों के दो डबल घूँसे बना लेते हैं और सीने को उभारते-उभारते सड़क पर गड़े माइल की भांति जम जाते हैं। निराधार चञ्चल मन को शून्य में टिकाने के असफल प्रयास में दोनों मिची आंखों और नाक को इतना सिकोड़ लेते हैं कि उन मतवाले महाशयों की मुखमुद्रा ऐन हनुमान् दल के सिपह-सालारों सी जँचने लगती है। बस, इस तरह जो अन्धकार दीख पड़ता है उसे ही निराकार बाबा जानकर उपासना की पराकाष्ठा समझ लेते हैं।

उक्त सब मतमतान्तरों की पूर्वोक्त उपासना पद्धतियों को पढ़कर कोई भी समझदार सहज में यह परिणाम निकाल सकता है कि आखीर इनकी इस सब तवालत का तात्पर्य क्या ?

आर्यसमाज की उपासना—मिथ्याचार

(मनुवा तो जहँ तहँ फिरे यह तो सुमिरन नाय)

कदाचित् मुसलमान और ईसाई मतों की उपासना प्रणालियों को निरर्थक मानकर भी आप उनमें ईश्वर के प्रति विनम्रता के भाव को तो अनुभव करेंगे परन्तु आर्य्यसमाज की उपासना प्रणाली में तो उल्टा अकड़ और लड़ाई झगड़े पर उतारू पुरुष जैसा अभिनय प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, जिसे उपासना न कहकर दंगे का आयोजन कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है।

इन सब उपासना-विधियों में अन्य दोष तो तब मालूम होंगे जब कि हम सनातनधर्म की वैज्ञानिक उपासना-प्रणाली का

विवेचन करेंगे परंतु इनमें सबसे बड़ा एक हिमालय-सन्निभ दोष तो यह प्रत्यक्ष ही है कि उक्त सभी मत-मतान्तरवादी अपने-अपने मत के प्रत्येक सदस्य को बिना किसी योग्यता के विचार के एक ही प्रकार का विधान बताते हैं, अर्थात्—पठित-अपठित, देहाती नागरिक, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध—चाहे कोई भी क्यों न हो—मुसलमानों में सभी को एक ही तरह की नमाज पढ़ने के लिये विवश किया जाता है।

आर्यसमाजियों में सभी एक चवन्नी चन्दा देते ही योगी-राज बना दिये जाते हैं। अभी अभी हमने आर्यसमाज की उपासना प्रणाली की जो आलोचना की है उसका अर्थ यह नहीं है कि सनातनधर्म में इस प्रकार आसन बांध कर ध्यान करने की कोई विधि ही नहीं है। हमारी उस आलोचना का तात्पर्य केवल यह है कि जब तक मन तत्तद् इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करना न छोड़े तब तक कोई भी ऐरा गैरा महाशय आंख बंद करके बैठने मात्र से योगीराज नहीं बन सकता ! निश्चित ही चार आने चन्दा मात्र चुका देने से किसी को ऐसा करने की आज्ञा देना सुस्पष्ट ही उसे 'मिथ्याचार' करने के लिये प्रेरणा देना है। यह बात हम नहीं कहते, भले ही भगवान् श्रीकृष्ण महाराज से ही पूछ लीजिये।

आखें मीचे, सीना उभारे और डबल घूँसे बनाए बैठे हुए एक महाशय को देखकर हमने श्रीकृष्ण भगवान् से पूछा कि भगवन् ! ये सामने कौन महाशय दीख पड़ते हैं ? ज़रा इनके सम्बन्ध में आप अपनी विशुद्ध सम्मति प्रदान कीजिये, भगवान् बोले—

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् 'विमूढात्मा' मिथ्याचारः स उच्यते ।।
(श्रीमद्भगद्गीता)

अर्थात्—जो पुरुष हाथ पांव आदि कर्मेन्द्रियों को समेट कर भी मन से तत्तद् इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करते हुवे [इन महाशय की भान्ति] बैठता है, वह 'विमूढ़ात्मा'=एक नम्बर का मूर्ख—है और उसके इस व्यापार का नाम 'मिथ्याचार' =झूटमूठ का दम्भ है ।

आशा है पाठक अब हमारी आलोचना की वास्तविकता का अवश्य अनुभव करेंगे । आर्यसमाज भी भगवान् कृष्ण को कम से कम योगीराज तो मानता ही है ऐसी स्थिति में वे भी श्री योगीराज द्वारा खींचा हुआ अपना सही फोटो देखकर अपने यथार्थ रूप से परिचित हो जाएँगे । अस्तु, ये सभी मतवाले उपसना शब्द के अर्थं से भी परिचित मालूम नहीं पड़ते फिर उसके प्रयोजन और वैज्ञानिक लाभों का तो जिक्र ही क्या है । इसलिये अब क्रम प्राप्त सनातनधर्म की उपासना प्रणाली की यहाँ विवेचना करते हैं ।

उपासना की प्राकृत विधि

(मद्भक्तिः समुपासना)

'उपासना' शब्द का अक्षरार्थ है—उप=समीप में, आसना= स्थिति । अर्थात्—परमात्मा से निकट सम्बन्ध उपस्थापित करना । हम 'अण्डपिण्ड' सिद्धान्त में यह प्रकट कर आए हैं कि

भगवान् समस्त शक्तियों का भण्डार है और मनुष्य पदे २ उन शक्तियों से भीख लेकर ही जीवन निर्वाह करता है। जैसे बिजली के 'पावर हाउस' से कनक्शन मिलाए बिना हमारी बत्ती नहीं जल पाती और नांही पंखा चल पाता है। एवं नल की टूँटी में जलधारा तभी आती है जब कि उसका मेल 'वाटर वर्क्स' नामक जल-कोश से कर दिया जाए। ठीक इसी प्रकार हमारी आध्यात्मिक शक्तियाँ तभी विकसित हो पाती हैं जबकि हम सर्व-शक्तिमान् परमात्मा से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। इसी सम्बन्ध स्थापना का ही अपर नाम है 'उप' अर्थात्—परमात्मा के निकट 'आसना'—संस्थित होना।

उपासना कैसे होनी चाहिये?—इस प्रश्न का उत्तर सीधा है। शास्त्र कहते हैं परमात्मा समस्त शक्तियों का अपरिसमाप्य अटूट भण्डार है, परन्तु पुरुष अपनी योग्यता के अनुसार ही उससे शक्ति उपार्जन कर सकता है। पात्रके अवकाश के अनुसार ही उसमें वस्तु समा सकती है। प्रकृति के वैलक्षण्य से संसार का प्रत्येक व्यक्ति समान योग्यता नहीं रखता। जब मानव-पिण्ड ही एक का दूसरे के समान नहीं है, एक की दूसरे से न शक्ल मिलती है नां ही अक्ल! तभी तो—**'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'** और **'भिन्नरुचिर्हि लोकः'**—अर्थात्—जितने मूण्ड उतनो हो भिन्न २ मति हैं' तथा—'सब की भिन्न रुचि है'—इत्यादि अनेक अनुभव पूर्ण लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। तब आध्यात्मिक शक्तियों के विकाश का स्तर तो समान हो ही नहीं सकता। उसमें उच्चावच तारतम्य का होना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में सब पुरुषों को एक लाठी से हांकना, सबकी एक ही कीमत आंकना, न किसी की योग्यता की ओर ताकना और नांही किसी की मूर्खता को

जांचना—इसी प्रकार का व्यवहार आध्यात्मिक मार्ग में तो जान-बूझकर धूल फांकना है। तभी तो सभी मत वाले आयुभर उपासना के नाम पर अपनी आयु का काफी भाग व्ययित करने पर भी ज्यों के त्यों मूसलचन्द बने रहते हैं। बुद्धि का तकाजा तो यह है कि उपासना प्रणाली मनुष्य की अपनी योग्यता पर ही निर्भर होनी चाहिये। इसलिए जहाँ अन्यान्य मतों में अपने सभी अनुयायियों को एक ही प्रकार की उपासना करने के लिए विवश किया जाता है वहां सनातनधर्म में मुख्यतया नौ प्रकार की उपासना प्रणाली विद्यमान हैं जिसको 'नवधा भक्ति' के नाम से स्मरण किया गया है।

इन नवों भेदों के नाम ये हैं – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। इनका विस्तृत वर्णन हमारे 'सनातनधर्म' नामक पुस्तक में विद्यमान हैं अतः हम जानबूझ कर इस विषय के प्रमाण और उनकी व्याख्या यहां देकर पिष्टपेषण करना अनावश्यक समझते हैं। यहां तो केवल इतना समझ लेना चाहिए कि जो साधारण योग्यता का व्यक्ति हो उसे हम सर्व प्रथम केवल भगवन्नाम सुनने मात्र का अधिकारी समझ कर ऐसा ही करने का आदेश देते हैं। जब यह इस प्रथम श्रेणी में परिपक्व हो जाए अर्थात् भगवत् चरित्र सुनते-सुनते कभी ऊबे नहीं, किन्तु ज्यों-ज्यों सुने त्यों-त्यों अधिकाधिक रुचि बढ़े तब समझना चाहिए कि वह अब दूसरी श्रेणी 'कीर्तन' का अधिकारी बन गया, अर्थात् अब वह स्वयं भी बिना संकोच भगवन्नाम गान करने का पात्र है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आगे-आगे की श्रेणियें भी समझ लेनी चाहियें। हमारी प्राकृतिक उपासना प्रणाली में आज जो पुरुष केवल श्रवण मात्र करने का

अधिकारी समझा गया है, वही आध्यात्मिक मार्ग में क्रमशः उन्नति करता हुआ अन्त में 'आत्म-निवेदन' अर्थात्—अपने प्रभु के चरणों में विलीन हो जाने का पात्र बन जाता है। इसमें न किसी की योग्यता का अपमान है और नां ही किसी की मूर्खता का सम्मान ! किन्तु जो जैसा होता है वह वैसा ही फल पाता है।

उपासना क्यों करनी चाहिये ?

(भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः)

यहां यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि आखीर हमें उपासना करनी ही क्यों चाहिए ? यदि कहा जाए कि परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये !–तो इस उत्तर से भगवान् भी लौकिक पुरुषों की भांति प्रशंसा सुनने का शौकीन सिद्ध होने लगता है। यदि कहा जाए कि हम प्रभु के जैसे गुणों का स्मरण और मनन करते हैं, जो नाम जपते हैं वही गुण हममें विकसित हो जाते हैं तो आर्यसमाजियों के शब्दों में—'गुड़ कहने से जिह्वा मीठी क्यों नहीं होती ? और 'अग्नि' शब्द का जाप करने से जीभ क्यों नहीं जल जाती ?—इस प्रकार सभी मत-मतान्तर-वादी उपासना का जो भी प्रयोजन बताने चलेंगे उससे वे स्वयं ही अपने बनाए जाल में फंस जाते हैं।

उपासना क्यों करनी चाहिये ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर सनातनधर्म यह देता है कि आप वैद्य, हकीम और डाक्टर की उपासना क्यों करते हैं ? प्राड्-विवाक्, मुख्तार और वकील की उपासना क्यों करते हैं ? कम से कम दोनों समय तुले तुलाए तीन पाव अन्न भगवान् की उपासना क्यों करते हैं ?

इन समस्त प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है, हम जब बीमार होते हैं मजबूरन वैद्य हकीम ढूँढने पड़ते हैं और मुकदमे में फंस जाते हैं तो बैरिस्टर साहिब के कमरे की खाक छानने के लिये विवश होते हैं, भूख के लिये अन्न और मल के परित्याग के लिये शौचालय देखना पड़ता है। बस जैसे अपनी अड़ी हुई बात ठीक करने के लिये पुरुष झख मार कर अमुक २ पुरुषों पदार्थों और तुच्छातितुच्छ द्रव्यों की उपासना करने के लिये वाध्य है, इससे भी कहीं अधिक विवशता से वह ईश्वर की उपासना करने के लिये लाचार है।

डाक्टर और वकील चाहे हज़ार बार भी चाहें कि कोई आसामी आए, पर हम केवल उनकी इच्छा पूरी करने के लिये जान बूझ कर रुग्ण और अभियुक्त बनने को प्रस्तुत नहीं होते। किन्तु जब हमारा अपना प्रयोजन आ पड़ता है तभी हम आसामी बनते हैं। ठीक इसी प्रकार भगवान् दिन रात भी चाहे कि जीव मेरी शरण में आएँ परन्तु हम हतभाग्य तव तक उधर अपना मुख भी करने को तैय्यार नहीं होते जब तक कि हमारा अपना काम न अटका हो। सो भूख लगते ही हम अन्न-भगवान् की शरण में जाते हैं, प्यास लगते ही श्री वरुणदेव को ढूँढते हैं, शीत लगते ही अग्नि की उपासना करते हैं, गर्मी से पीड़ित होते ही वायुदेव का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार चौबीसों घण्टे हम अगणित उपासनाएँ करने के लिये बाध्य हैं। इसलिये हमारा उत्तर है कि उपासना भगवान् के किसी लाभ के लिये नहीं है, किन्तु यह तो जीव के ही अपने लाभ के लिये है। हमारी प्रार्थना सुनकर भगवान् फूल कर कुप्पा नहीं होते और यदि हम उपासना न करें तो वे दुबले नहीं पड़ते, किन्तु वह तो दोनों ही दशाओं में

निर्लेप और निरञ्जन बने रहते हैं। परन्तु जैसे अन्न की उपासना न करने पर भूखा स्वयं यमराज का कलेवा बन जाता है, और जलकी उपासना न करने पर प्यासे के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं ठीक इसी प्रकार ईश्वर की उपासना न करने वाले व्यक्ति की आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है ! नैतिक मृत्यु हो जाती है !! इखलाकी मौत हो जाती है !!!

उपासना मानसिक रोगों की चिकित्सा ।

(सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः)

हम 'अण्डपिण्ड-सिद्धान्त' में समझा आए हैं कि यह केवल जड़ शरीर ही हम नहीं हैं किन्तु हमारा एक दूसरा चैतन्यरूप भी है जिसके आश्रय से यह जड़ पिण्ड प्रगतिशील बना हुआ है। हमारे शरीर में ज्वर, शोथ, पाण्डु, जलोदर, कास श्वास, क्षय, अर्श और भगन्दर आदि अगणित व्याधियें होती हैं और सदैव कोई न कोई बनी ही रहती है। इसी प्रकार हमारे आध्यात्मिक कलेवर में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मात्सर्य, ईर्ष्या, दम्भ, द्वेष राग, अनुराग, संकीर्णता छद्म, प्रतारणा, प्रमाद, दुराग्रह और आलस्य आदि २ अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। शारीरिक रोगों का नाम शास्त्रकारों ने 'व्याधि' रक्खा है और आध्यात्मिक रोगों का नाम 'आधि'। अमरकोश-कार प्रसिद्ध विद्वान् कहते हैं कि—'**आधिर्मानसी व्यथा**' अर्थात्—मानसिक व्यथाका नाम 'आधि' है। वाग्भट्टसंहितामें लिखा है कि—

रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ॥२१॥
धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनो दोषौषधं परम् ॥२६॥

अर्थात्—रजोगुण और तमोगुण ये दो मन के दोष हैं। बुद्धि, धैर्य, और आत्मज्ञान ये तीन मन के रोगों की सर्वोत्तम औषध है। सो जैसे शारीरिक रोगों को दूर करने के लिए तत्तद् उपचारों की आवश्यकता है ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक रोगों की निवृत्ति के लिए 'उपासना' की आवश्यकता है। जैसे रोग अनेक हैं तो उनकी औषधियें भी अनेक हैं, किस रोगी को कौन औषधि देनी चाहिये यह निर्णय केवल सुयोग्य वैद्य ही कर सकता है, ऐसे ही सनातनधर्म में भी उपासनामार्ग का निर्णय करना भी गुरुदेव के आधीन है। साधक को चाहिए कि वह किसी सुयोग्य गुरु को ढूंढ कर उसके सामने अपने समस्त आध्यात्मिक रोगों का बिना सङ्कोच वर्णन कर दे। तब सुयोग्य चिकित्सक की भान्ति आध्यात्मिक रोगों का पारंगत अनुभवी गुरु साधक की योग्यता के अनुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि जिस भी औषधि को उपयुक्त समझेगा उसके सेवन का परामर्श देगा। नारद जी ने जब वाल्मीकि जैसे असाध्य आधि से पीड़ित व्याध की चिकित्सा आरम्भ की तो उसे 'राम' नाम जैसी पेटेन्ट सर्व-रोगहर औषधि की मात्रा के योग्य भी न समझा। अतः उसे 'मरा' की ही पुड़िया दी, और उसी से 'वाल्मीकि भै ब्रह्म समाना' हो गये। सो सनातनधर्म में उपासना प्रणाली की प्राकृतिक चिकित्सा को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने केलिए उसका आधार 'गुरुशिष्य सम्प्रदाय' पर स्थिर किया गया है। इसलिए उपासना क्यों करनी चाहिये ? इसका उत्तर है कि—आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिये।

आध्यात्मिक रोग अनुभव क्यों नहीं होते ?
(दिवान्धाः प्राणिनः केचित्)

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि यदि सचमुच काम क्रोधादिक रोग हैं तो वे हमें प्रतीत क्यों नहीं होते ? इसे यहां यों समझना चाहिए कि मनुष्य उन्हीं रोगों को अधिक अनुभव करता है जो कि एकदम भयानक रूप से मनुष्य पर आक्रमण करते हैं और जिनसे दैनिक व्यवहार में कुछ अड़चन पड़ जाती है, जैसे—ज्वर, उदरशूल, शिरदर्द आदि-आदि । परन्तु वह उन रोगों को झटिति अनुभव नहीं कर पाता जो कि शनैः-शनैः मनुष्य के शरीर में पैठकर घुन की भान्ति अन्दर ही अन्दर उसे जीर्ण-शीर्ण और मृत्यु का ग्रास बना देते , जैसे—शोष, भगन्दर, नासूर, क्षय, तपेदिक आदि । कहना न होगा कि शारीरिक रोगों में क्षय=तपेदिक आदि दूसरी श्रेणी के रोगों को अधिक खतरनाक समझा जाता है । वस्तुतः इन रोगों के बद्धमूल हो जाने का कारण ही यह है कि दुर्भाग्यवश ये रोग जब पहिले पहिल किसी को लगते हैं तो वह रोगी महीनों क्या वर्षों तक तो स्वयं यह समझ ही नहीं पाता कि 'मैं रोगी हूं' ।

इसका कारण स्पष्ट है कि ये क्षयादिक रोग इतनी मन्थर गति से मानव पिण्ड में प्रविष्ट होते हैं कि रोगी अपने को रोगी ही नहीं अनुभव करता । क्योंकि उसकी दिनचर्य्या में इनसे इतनी रुकावट नहीं पड़ती । आधा प्वाइण्ट ज्वर हुआ, पर नहाते भी रहे, खाते भी रहे, कार्य व्यवहार भी चलता रहा । सैर-सपाटे में भी कुछ रुकावट नहीं पड़ती और स्त्री-सेवन की प्रवृत्ति तो पहिले से भी अधिक बढ़ गई । अब ऐसी स्थिति में रोगी

अपने को रोगी क्यों समझने लगा और घर वालों को भी चिंता क्यों होने लगी ? तात्पर्य्य यह है कि जैसे एक सौ चार डिग्री ज्वरग्रस्त पुरुष स्वयं भी घबरा उठता है और अभिभावक भी सब काम छोड़कर तत्परता से उसकी चिकित्सा करवाते हैं, इसके सर्वथा विपरीत तपेदिक रोग के आरम्भिक महीनों में रोगी और अभिभावक दोनों ही बेखबर रहते हैं। कहना न होगा कि इस रोग में लापरवाही का प्रधान हेतु उक्त रोग की सूक्ष्मता ही है। अर्थात् यह इतनी थोड़ी मात्रा में प्रादुर्भूत होता है कि सर्व-साधारण इसे अनुभव ही नहीं कर पाते। सो सबसे बड़ा खतर-नाक रोग कौन ?—वह कि जिससे पीड़ित स्वयं रोगी भी अपने को रोगी अनुभव न कर सके।

काम, क्रोध, लोभ मोहादि आध्यात्मिक रोग भी इतने ही सूक्ष्मतर हैं। यद्यपि वे हमें लगे रहते हैं परन्तु हम उनकी सूक्ष्मता के कारण उन्हें अपने में अनुभव नहीं कर पाते। इसीलिए उनकी चिकित्सा की भी परवाह नहीं की जाती, परन्तु हमारे इस प्रमाद का वही परिणाम होता है जो कि तपेदिक के रोगी का होता है। जैसे निश्चित ही असाध्य दशा में पहुंचे क्षय रोगग्रस्त मनुष्य की शारीरिक मृत्यु हो जाती है ठीक वैसे ही काम क्रोधादि आधियों से पीड़ित पुरुष की भी आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है।

क्या काम क्रोधादि रोग हैं ?

(काम आदि घातक भवरोगा)

प्रश्न हो सकता है कि क्या काम, क्रोधादिक भी कोई रोग हैं ? हम कहेंगे—हां ! न केवल रोग ही हैं अपितु अत्यन्त कष्ट-

साध्य खतरनाक महारोग हैं। सम्भवत: रोग का सर्ववादी-सम्मत यही लक्षण बन सकता है कि जिसके आक्रमण से स्वस्थ प्रकृतिस्थ मनुष्य भी नानाविध विकारों का पात्र बन जाए, वही रोग है। कहना न होगा कि जैसे ज्वरार्त मनुष्य की बोलचाल, मुखाकृति, नाड़ी और हृदय की धड़कन सब कुछ बदल जाती हैं ठीक इसी प्रकार क्रोध के आवेश में भी उपर्युक्त सभी लक्षण ज्यों के त्यों क्रोधी में दीख पड़ते हैं। कामचेष्टा में व्यासक्त मनुष्य की यदि अन्तिम परिणाम पर पहुँचने के समय परीक्षा की जाए तो उसमें निस्सन्देह ज्वरार्त मनुष्य के समस्त लक्षण घटित होते दीख पड़ेंगे। वही नाड़ी की तीव्र गति, वही हृदय की आतङ्कपूर्ण विषम धड़कन, वही श्वासोच्छ्वास का प्रबल वेग और वही अङ्गशैथिल्य एवं अवसाद। गर्ज है कि भयङ्कर ज्वर वेग और कामादि के वेग में कुछ भी अन्तर नहीं।

लोभ मोह आदि रोग क्षय और दिक की भान्ति सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने के कारण रोगी को स्वयं अनुभव नहीं होते परन्तु वस्तुत: हैं वे कामक्रोधादि से भी अत्यधिक खतरनाक। क्योंकि जैसे प्रबल ज्वरार्त को घर वाले या अन्य कोई भी देखने वाला दयालु मनुष्य संभालने की चेष्टा करता है ठीक इसी प्रकार क्रोधी को शान्त करने के लिए अनेक लोग बलात् पकड़कर रोक-थाम के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। कामासक्त को भी गो० तुलसीदास की धर्मपत्नी की भान्ति बहुत-सी धर्मपत्नियें ही समझा-बुझा लेती हैं परन्तु लोभ मोहादिक खतरनाक रोग का तो पड़ौसियों को भी बिना वास्ता पड़े पता नहीं चलता इसलिये ये और भी अधिक असाध्य हैं।

ईश्वरोपासना की इच्छा क्यों नहीं होती ?

(न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः)

शास्त्र, गुरुजन, आस्तिकजन अहर्निश ईश्वरोपासना के लिये प्रेरित करते हैं, स्वयं अपना अन्तरात्मा भी उपासना को लाभप्रद मानता है तथापि न जाने क्यों ईश्वरोपासना की इच्छा नहीं होती, इस तरफ मन नहीं जाता—यह क्यों ?

बात बहुत सीधी है—जैसे ज्वर के अंश में अन्न में अरुचि हो जाती है, चाहता हुवा भी मनुष्य अन्न नहीं खा पाता ठीक इसी प्रकार चाहते हुवे भी ईश्वर उपासना की अभिरुचि न होना यह लक्षण भी आध्यात्मिक रोग की विद्यमानता का प्रधान प्रमाण है। सो जैसे शारीरिक जीवन के लिये अत्यावश्यक अन्न में भी अभिरुचि न होना—यह सिद्ध करता है कि तादृश पुरुष रोगग्रस्त है और उसे तत्परता पूर्वक अपनी चिकित्सा करानी चाहिये, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवन के लिये अतीव अनिवार्य ईश्वर उपासना में भी अभिरुचि न होना इस बात का सुस्पष्ट संकेत है कि तादृश व्यक्ति को अविलम्ब अपनी आध्यात्मिक चिकित्सा करानी चाहिये। जैसे ज्वर शान्त हो जाने का यह सर्वविदित लक्षण है कि 'अब भूख लगने लगी है, वैसे ही आध्यात्मिक रोग की निवृत्ति का भी यह प्रधान लक्षण है कि अब ईश्वर उपासना में मन लगने लगा है। जैसे भूख लगने के लिये भी ज्वर की औषधि का तत्परता पूर्वक सेवन करना ही एकमात्र उपाय है ठीक इसी प्रकार ईश्वर की उपासना में अभिरुचि बढ़ाने का उपाय भी ईश्वर की उपासना ही है।

उपासनासे आधियों की शान्ति कैसे ?

(मोरे भजन मिटहिं भवरोगा)

यहाँ पूछा जा सकता है कि श्रवण कीर्तन आदि से कामादि आधियें कैसे शान्त हो जाएँगीं ?–हम 'भावनावाद' में सिद्ध कर चुके हैं कि श्रद्धा और विश्वास पूर्वक जब ईश्वर के गुणों का श्रवण कीर्तन और स्मरण किया जाएगा तो उससे एक ऐसी दृढ़ भावना का जन्म होगा कि जिससे न केवल उपासक की अपनी ही काम क्रोध आदि आधियें उपशान्त हो जाएँगी, अपितु उस व्यक्ति के निकट सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्तियों की भी ये बीमारियाँ समूल नष्ट हो जाएँगी। पिछले प्रघट्टों में 'वातावरण' का विवेचन करते हुए यह सिद्ध किया जा चुका है कि हमारे विचारों का भी वायुमण्डल पर समुचित प्रभाव पड़ता है। फिर जव एक साधक बार-बार भगवान् के दयालुतापूर्ण, न्यायानुमोदित, वात्सल्य-परिप्लुत पवित्र चरित्र सुनेगा तो उसके हृदयाकाश में तादृश दया, न्याय, वात्सल्य आदि गुणों का प्रादुर्भाव क्यों न होगा ?

शब्द स्फोट का प्रत्यक्ष प्रभाव !

(वाङ्मूला नियताः सर्वे)

गुड़-गुड़ कहने से मुंह मीठा न होने का कुतर्क बहुत लचर है, क्योंकि वास्तव में जब कभी भी मुंह मीठा होगा तब आरम्भ में गुड-गुड़ कहकर ही दुकानदार से उसे खरीदा जाएगा, घर-वाली से मांगा जाएगा। यदि महाशय जी मूक होंगे तो संकेत द्वारा गुड़ कहा जाएगा। गर्ज है कि न केवल मुंह मीठा करने

के लिए ही गुड़ शब्द के उच्चारण की आवश्यकता है, अपितु संसार का यावन्मात्र व्यवहार शब्दमूलक है। इसीलिये वैदिक विज्ञान में शब्द से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव माना है। सृष्टि के प्रधान पांच तत्त्वों में सबका आदिम पिता शब्द-गुणक आकाश ही है। प्रलयानन्तर खाली पोल में शब्द गुण की योग्यता आते ही उसकी संज्ञा 'आकाश' हो जाती है, यही आकाश फिर वायु आदि तत्त्वों का प्रसव करता है। हमारा दावा है कि संसार में प्रत्येक वस्तु शब्द के सांचे में ढलकर जिह्वा पर आने पर ही व्यवहार जगत् में देखी जा सकती है अन्यथा नहीं।

भारत के स्वनाम-धन्य वैज्ञानिक युवक श्री हंसराज वायरलैस ने पिछले दिनों देहली प्रदर्शनी में अपने कुछ वैज्ञानिक चमत्कार सबको प्रत्यक्ष दिखाए थे। उनमें यह चमत्कार भी था कि हाथ से बिजली के स्विच को न दबाकर केवल जिह्वा से 'लाइट' शब्द बोलते ही बत्ती जग जाती थी, पंखा घूमने लग जाता था। यह युवक सनातनधर्म हाई स्कूल लायलपुर में पढ़ता रहा, मैं भी वहाँ धर्म शिक्षा विषय के व्याख्याता के रूप में उन दिनों सेवा करता रहा हूँ। अतः इस युवक ने बताया कि जिह्वा से शब्द निकलते ही ईथर में तरंगें उत्पन्न होती हैं, मैंने अपनी बत्ती के स्विच को उन तरङ्गों से सम्बन्धित कर दिया है, परन्तु उसमें यह ध्यान रक्खा गया है कि प्रत्येक अक्षर के उच्चारण (प्रोनन्सियेशन) से समान तरंगें उत्पन्न नहीं होती किन्तु जिह्वा के स्फोट के अनुसार भिन्न-भिन्न तरह की तरंगें बनती हैं। मैंने 'लाइट' शब्द के स्फोट से बनने वाली तरंगों के ही साथ इसे संयुक्त किया है, अतः इसी शब्द के बोलने से बत्ती जल सकेगी अन्य से नहीं। किन्तु यदि मैं चाहूँ तो इसे हिन्दी

के विद्युत् शब्द से भी सम्बन्धित कर सकता हूँ ।

हमारे महर्षियों ने इस विज्ञान को बहुत गहराई तक समझा था अतः वे पूरे शब्दों के भी उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं समझते थे किन्तु किसी एक ही अक्षर से नानाविध प्रयोजन सिद्ध कर लेते थे। इसी सिद्धान्त के आधार पर तो हमारे यहां 'बीज मन्त्रों' का प्रादुर्भाव हुआ है। कहने को तो ॐ, ऐं, ह्लीं, क्लीं आदि निरर्थक अक्षर हैं परन्तु वस्तुतः इनमें से किसी एक के भी उच्चारण मात्र करने से वातावरण में वह विलक्षण स्फोट उत्पन्न होता है कि जिससे साधक जो चाहे सो लाभ उठा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस तत्त्व को खूब पहिचाना था, तभी तो अपने ग्रन्थ रामायण में—

अनमिल अक्षर अर्थ न जापू ।
प्रकट प्रभाव महेश प्रतापू ।।

--कहते हुए सावर मन्त्रों की चमत्कारपूर्ण महिमा का बखान किया है। सो अग्नि कहने से जीभ क्यों नहीं जलती ? यह उस युग की आशङ्का थी जबकि वर्तमान भौतिक विज्ञान ने सनातनधर्म के सिद्धान्तों का समर्थन नहीं किया था ! अब यदि कोई ऐसी कूप-मण्डूकतापूर्ण हुज्जत करे तो उसे फौरन पागलखाने भेजने का प्रवन्ध किया जा सकता है। आज तो अग्नि कहने से न केवल जिह्वा, अपितु शङ्कालु महाशयों का पूरा का पूरा किला भस्म किया जा सकता है। युद्ध या विप्लवादि के समय नायक के मुख से 'फायर' निकलते ही अग्नि वर्षा शुरु हो जाती है।

विश्ववन्द्य श्री गान्धी जी के नेतृत्व में भारतीयों ने जब अंग्रेजोंके लिए 'भारत छोड़ो' नारा बुलन्द किया था तो उसदिन

भारत के वायसराय लार्ड वेवल ने हमारा उपहास करते हुवे कहा था कि यह नारा अली बाबा के 'खुलजा सम सम' जैसा कोई चमत्कार नहीं है जो इसके कहने मात्र से भारत से अंग्रेज भाग जाएंगे ! परन्तु मिस्टर वेवल को क्या मालूम था कि जब चालीस करोड़ भारतीय संयुक्त रूप से 'भारत छोडो' कहेंगे तो इससे यहां का समस्त वातावरण ही ऐसा बन जाएगा कि जिससे अंग्रेजों का अन्तरात्मा स्वयं यहाँ न रहने के लिये उतावला हो जाएगा। यह इस युग में प्रत्यक्षदृष्ट एक जीता-जागता सामूहिक उद्घोष का चमत्कार पूर्ण उदाहरण है। इसलिये श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि उपासना प्रणालियों द्वारा साधक अपने आध्यात्मिक रोगों की सम्यक् चिकित्सा कर सकता है—इसमें क्या सन्देह ?

लोक में शारीरिक रोगों को दूर करने के लिये जैसे सद्वैद्य सत् प्रयत्न, सद् औषधि और सदुपचार यदि प्रारब्धवश उपलब्ध हो जाएँ तो फिर भगवत् कृपा से रोगशान्ति की भी आशा बंध जाती है, ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिये भी सद्गुरु, सत्सङ्ग, सदुपासना और सदाचार के सेवन से अवश्य ही मनुष्य का कल्याण हो जाता है।

विभिन्न देवताओं की उपासना क्यों ?

(यो यो यां यां तनूं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति)

जब एक परमात्मा ही सर्वशक्तियों का भण्डार है और उस की ही उपासना से सब कुछ प्राप्त हो जाता है फिर चक्रवर्ती को छोड़ कर द्वारपालों की क्यों खुशामद की जाए ? अर्थात् विभिन्न देवताओं की उपासना क्यों की जाए ?

'अण्ड पिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार हमारा यह मानव पिण्ड विभिन्न देवताओं से प्राप्त हुई भीख का परिमाण है। देवता क्या हैं ?—यह देवता-विज्ञान प्रघट्ट में प्रकट किया जा चुका है। सो जैसे एक ही भारत के डाकखाना, बैंक, कचहरी आदि अनेक विभाग=महकमे विद्यमान हैं, परन्तु जिसको पोस्टकार्ड लिफाफे, मनीआर्डर आदि कार्यों की आवश्यकता हो उसे भारत सरकार के डाकखाना विभाग की उपासना करनी चाहिए। उसकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति डाकखाने में ही हो सकती है और यदि रुपये पैसे करेन्सी से सम्बन्धित कोई प्रयोजन हो तो फिर उसे भारत सरकार के सुरक्षित कोश (रिजर्व बैंक) की उपासना करनी चाहिये। न्याय के इच्छुक को सीधा कचहरी पहुँचना चाहिए।

वह पुरुष बहुत ही व्यवहारानभिज्ञ एवं मूर्ख समझा जाएगा जो कि पोस्ट कार्ड खरीदने के लिये सीधा प्रधान मन्त्री के कार्यालय में पहुँचे या डाकखाने से न्याय मांगे और कचहरी में मनी-आर्डर कराता फिरे। अन्यान्य मत-मतान्तरों में ऐसी ही मूर्खता-पूर्ण चेष्टाएँ की जा रही हैं। वे या तो छोटे-से-छोटे कार्य के लिये भी सीधे महामहिम भगवान् का दर्वाजा खट खटाते हैं अथवा निराकार से बीबी तलब करते हैं। निर्विकार से पुत्र मांगते हैं और निर्लेप निरञ्जन से धन चाहते हैं। सनातनधर्म की उपासना में यह धांधली नहीं। यहां साधक को जो चाहिये उसके अनुसार वैसा ही नाम रूप गुण विशिष्ट भगवान् का एक विग्रह नियत है, वही उपासना विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में 'देवता' कहा जाता है।

पञ्च-देवोपासना क्यों ?

(पञ्चभूतमयो देही)

सनातनधर्म में प्रधानतया विष्णु, सूर्य, शक्ति, शिव और गणेश इन पांच देवताओं की अनन्य उपासना का विधान है। अर्थात्—प्रत्येक व्यक्ति को इन पांचों में से किसी एक देव को अपना इष्टदेव मान कर उसकी ही अनन्य उपासना करनी चाहिये। इसी शास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर वैष्णव, सौर, शाक्त, शैव और गाणपत्य ये पांच मुख्य सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं।

अनन्य उपासना का रहस्य

आज भले ही मूर्खों की दृष्टि में तत्तत् सम्प्रदाय एक-दूसरे से लड़ने के अखाड़े समझ जाते हों; विगत शताब्दियों में तत्तत् सम्प्रदाय भेद के नाम पर उपद्रव करवाये गए हों और अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये तत्तद् ग्रन्थों को भी विकृत करने में कोरकसर बाकी न रक्खी हो, परन्तु वस्तुतः सम्प्रदाय भेद सुतरां मानव प्रकृति के स्वाभाविक भेद पर ही सुस्थिर किया गया है।

अनन्यता का यह तात्पर्य हरगिज नहीं कि अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य देवताओं को न पूजा जाए, या उनको अपमानित किया जाए ! गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् राम के अनन्य भक्त थे और इतने कट्टर अनन्य भक्त थे कि ब्रजयात्रा के समय श्रीकृष्ण भगवान् को—

'तुलसी मस्तक तब नमे, धनुषबाण लो हाथ।'

कहते हुवे धनुषधारी रघुनाथ बनने के लिये विवश कर दिया था, परन्तु उनके ग्रन्थों में शिष्टाचारानुसार गणेश आदि सभी देवताओं की यथवद् वन्दना विद्यमान है। गोस्वामी जी विनय पत्रिका के आदिम पद्य में श्री गणेश जी की वन्दना करते हैं परन्तु उनसे चाहते यही हैं कि—

मांगत तुलसिदास कर जोरे।
बसहु रामसिय मानस मोरे॥

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति की अनन्य पत्नी होती है, परन्तु वह सास ससुर आदि सभी गुरुजनों की यथाविधि सेवा सुश्रूषा करती हुई भा यही वर चाहती हैं कि–'अचल होहु अहिवात तुम्हारा, जब लगी गंग जमुन जल-धारा'। ठीक इसी प्रकार अनन्य भक्त को उचित है कि वह शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार समस्त देवताओं का यथायोग्य पूजन सत्कार करता हुवा भी उनसे यही वर मांगे कि—'मुझे ।.रे अमुक इष्टदेव में अटल भक्ति दीजिये'।

कथा प्रसिद्ध है कि एक वैष्णवाचार्य की शोभा यात्रा निकल रही थी। उसी नगर का एक परम विद्वान् श्रीवैष्णव अचानक उस समय लक्कड़ का गट्ठा शिर पर उठाए सामने से आ निकला और उसने बड़े विनयभाव से उसी दशा में भीड़ चीर कर आचार्य महोदय को साष्टांग प्रणाम किया, परन्तु शोभा यात्रा के समय लक्कड़ का गट्ठा सामने देखकर इस सरल-हृदय वैष्णव को मूर्ख समझकर आचार्य जी को क्रोध आ गया और आवेश में बोले–तुम कौन हो ? वैष्णव ने कहा—महाराजजी, आप कौन हैं ? आचार्य बोले— हम तो वैष्णव हैं। इस भोले व्यक्ति ने कहा महाराज मैं भी वैष्णव हूँ। आचार्य जी ने फिर कड़ककर पूछा—

कौन वैष्णव ? इसने भी तथैव प्रश्न किया कि कि श्री महाराज, आप कौन वैष्णव हैं ? वैष्णवाचार्य अभिमानपूर्वक बोले—हम तो 'अनन्य वैष्णव' हैं। इस विद्वान् महात्मा को वैष्णवाचार्य की क्रोधपूर्ण प्रवृत्ति पर कुछ आश्चर्य-सा हुवा अतः विनोदपूर्ण भाषा में उत्तर दिया कि 'मैं फनन्य वैष्णव हूँ।' अब तो वैष्णवाचार्य और भी उत्तेजित हुवे और बोले फनन्य वैष्णव कौन होता है ? महात्मा बोले अनन्य वैष्णव कौन होता है ? वैष्णव आचार्य बोले—'जो विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी देवता को न माने वह अनन्य 'वैष्णव' कहा जाता है जैसे हम ! महात्मा बोले—'जो विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी को जाने ही नहीं वह 'फनन्य' वैष्णव होता है, जैसे यह आपका तुच्छ सेवक !

कहना न होगा कि इस विनोद पूर्ण उत्तर में अनन्यता का बड़ा भारी रहस्य छुपा है। जो अन्य देवता को नहीं मानते उनके ज्ञान में कम-से-कम अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्यान्य देवताओं की सत्ता का अस्तित्व तो विद्यमान है, परन्तु जो महात्मा अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य किसी देवता की सत्ता को जानते ही नहीं, अर्थात्—जिन्हें स्वप्न में भी विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्यका भान न हो निःसन्देह उनकी अनन्यता बहुत ही स्पृहणीय है। श्री गोस्वामी जी ने भी उत्तम पतिव्रता वह मानी है जो कि **'सपनेउ आन पुरुष जग नाहीं'** के उच्च आदर्शानुसार अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष की सत्ता को भी संसार में नहीं जानती हो।

पांच ही देवता प्रधान क्यों ?

प्रधानतया पांच ही देवता उपास्य क्यों हैं ?—इसका उत्तर यह है कि यह संसार तीन गुण वाली माया का प्रपञ्च है। माया

के तीन गुणों का व्यास ही पंच महाभूत हैं जैसे—शुद्ध सत्त्व-आकाश। सत्त्व रजः का सम्मिश्रण-वायु। शुद्ध रजः-अग्नि। रजः तमः का संम्मिश्रण—आप और शुद्ध तमः—पृथ्वी। अर्थात् इनमें आकाश, अग्नि, पृथ्वी, ये तीन तत्त्व विशुद्ध हैं जो सत्त्व रजः तमः के प्रतीक कहे जा सकते हैं। वायु जल दो तत्त्व एक दूसरे के संमिश्रण से उद्‌भूत हैं। इसीलिये आजके वैज्ञानिक जल को दो गैसों का परिणाम बताते हैं, वायु के विश्लेषण तक अभी वर्तमान वैज्ञानिकों की पहुँच नहीं है। सत्त्व और तमः के एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण आग और पानी की तरह इन दोनों का संमिश्रण सम्भव नहीं, अतः पांच ही मूल तत्त्व हुवे। सो जैसे ब्रह्माण्ड में तीन गुणों के तारतम्य से पांच तात्त्विक भेद बन गए हैं, ठीक इसी प्रकार मानव पिण्ड में भी उक्त तीन गुणों से प्रपञ्चित पंच महाभूतों के तारतम्य से पांच भेद पाए जाते हैं, अर्थात् प्रधानतया मनुष्यों के स्वभाव पांच प्रकार के हैं।

यह प्रकट कर देना अनावश्यक न होगा कि यह सब स्थापना **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** इस न्याय के अनुसार ही की जा रही है। क्योंकि साधारणतया तो प्रत्येक वस्तु पांच महाभूतों के संधान से ही बनी है, परन्तु जिस मानव पिण्डमें जो तत्त्व अधिक मात्रा में है उसे हम यहां उसी तत्त्व का कह कर पुकारेंगे। जिस पुरुष में आकाश तत्व का आधिक्य है वह स्वभावतः सत्त्व गुण सम्पन्न होगा, जिस में वायु-तत्त्व अधिक होगा वह सत्त्व और रजः दोनों गुणों के सम्मिश्रण से बनी प्रकृति का होगा, और पृथ्वी प्रधान तामसी प्रकृति का प्राणी होगा।

आयुर्वेद शास्त्र ने अपनी परिभाषा के अनुसार उक्त प्रकृति के तीन गुणों का नाम वात पित्त और कफ रख छोड़ा है। इसमें

वात=वायु, पित्त=अग्नि और शेष को कफ कहा जा सकता है। शारीरिक चिकित्सा में सुदक्ष वैद्य प्रत्येक रोगी की वात पित्त या कफ संघटित प्रकृति के तारतम्य के अनुसार ही औषधि और उसकी मात्रा की कल्पना करता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इसी प्रकार प्रधानतया विभिन्न पांच प्रकार की विशिष्ट प्रकृति वाले मनुष्यों के आध्यात्मिक रोगों को दूर करने के लिए सद्गुरु को उचित है कि वह साधक की निजी प्रकृति स्वभाव आदात का मनन करके उसके निमित्त तादृश देवता की उपासना का ही निर्णय करे जिसकी कि उसें आवश्यकता है।

आकाश-तत्त्व के आधिक्य से संघटित सात्त्विक-प्रकृति-सम्पन्न अधिकारी ही विष्णु देवता की उपासना से लाभान्वित हो सकता है। वायु-प्रधान के लिए सूर्य, अग्नि-प्रधान के लिए दुर्गा, जल-प्रधान के लिए गणेश और पृथ्वी-प्रधान के लिए शिव उपयुक्त देव हैं। यदि इसके विपरीत मनमानी की जाएगी तो उसका उचित परिणाम न होगा। जैसे रोगी के लिए कोई भा औषधि देनी उचित नहीं हो सकती, किन्तु उसके रोग के अनुसार और उसकी प्रकृति के अनुसार दी हुई दवाई ही लाभदायक हो सकती है, अन्यथा—

यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन प्रपेषयेत् ।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ।।

अर्थात्—जिस किसी भी वृक्ष के मूल को जैसे तैसे कूट पीस छान कर तैय्यार करके जिस किसी को भी खिला दिया जाए जो सो कुछ-न-कुछ तो फल होगा ही—इस न्यायानुसार रोगी की मृत्यु अवश्यम्भावी है।

इसलिए हमारे शास्त्र में सुस्पष्ट आदेश दिया है कि—

आकाशस्य पतिर्विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥

(कापिल तन्त्र)

अर्थात्—आकाश का अधिष्ठाता विष्णु है, वायु का सूर्य्य, अग्नि की दुर्गा, जल का गणेश और पृथ्वी का शिव ।

यही कारण है कि पार्थिव पूजन में शिवजी की प्रतिमा पीली मिट्टी के ढेले से बनाई जाती है ! गणेश जी पार्वती जी के स्नान कालीन पादपङ्क से प्रादुर्भूत हैं। इसीलिए 'गजाननम्···' आदि प्रसिद्ध स्तुतिपद्य में उन्हें 'पादपङ्कजम्'=पादपङ्काज्जातम्' ऐसा कहा गया है। ज्वालामुखी आदि में ज्वालाओं को दुर्गा की प्रतिनिधि माना जाता है, प्रत्येक यज्ञ में भी कुण्ड को गर्भाशय माप्रकर उसके साथ योनि का निर्माण किया जाता है।

हमारी इस स्थापना का तात्पर्य्य यह है कि पंच-महाभूत-जन्य मानव-पिण्ड तत्तत् तत्त्वों के न्यूनाधिक्य के कारण विभिन्न पांच प्रकार का पाया जाता है और उसके इस जड़ पिण्ड के संघटन का प्रभाव अन्तःकरण पर भी बराबर पड़ता है। इसी-लिये कोई पुरुष स्वभावतः अतीव शान्त तो दूसरा महाक्रोधी ; कोई रूखा-सूखा चना-चूरी खाता हुआ भी गणपति-सन्निभ स्थूलकाय ! तो दूसरा अहर्निश घी घूटता हुआ भी सुदामा का उत्तराधिकारी ! स्थूलकाय प्रायः शान्त; और दुबले-पतले प्रायः धधकती अङ्गीठी ! कहना न होगा कि यह सब विभेद पञ्च-महाभूतों के न्यूनाधिक्य पर ही अवलम्बित है। अत. प्रधानतया मनुष्यों की पञ्च-विध प्रकृति होने के कारण ही प्राकृतिक उपा-

सना-पद्धति भी पञ्च-देवोपासना के रूप में मनोविज्ञान के अनुसार सुस्थिर की गई है ।

ईश्वर की आराधना में उपासना का स्थान

ईश्वर की आराधना में—संध्या, तर्पण, यज्ञ, हवन, जाप और वेदपाठ आदि नानाविध कार्य किए जाते हैं । भगवत् कथा श्रवण, भगवन्नाम सङ्कीर्तन, मूर्तिपूजन आदि अनेक धर्मानुष्ठानों से भी भगवदाराधन होता है, अथच यमनियमादि सेवन पूर्वक ध्यान-समाधि लगाकर भी योगीजन उसकी उपासना करते हैं । उक्त नानाविध आध्यात्मिक प्रयत्नों का एक दूसरे की अपेक्षा मूल्य क्या है ? अर्थात् कौन कृत्य क्या महत्त्व रखता है ?—यह भी तो एक महान् प्रश्न है ।

भारतीय ऋषियों ने सभी धार्मिक अनुष्ठानों का वर्गीकरण करते हुवे उन्हें ३ विभागों में विभक्त किया है । जैसे—(१) कर्म (२) उपासना और (३) ज्ञान । हम पीछे 'ईश्वर क्यों नहीं दीखता' इस प्रघट्ट में दार्शनिक रीति से ईश्वर के न दीखने के अनेक कारण प्रकट कर आए हैं, परन्तु वेदान्त शास्त्र में इसी प्रश्न का उत्तर बड़े ही मननीय शब्दों में दिया है, प्रसङ्गवश उसका हम यहां पुनः निरूपण करना चाहते हैं । शास्त्र बतलाते हैं कि ईश्वर को देखने के लिये अन्तःकरण=हृदय-चक्षु के खुलने की आवश्यकता है । 'अन्तः करण' का तात्पर्य है–'मनः, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चार सूक्ष्म तत्त्वों का आध्यात्मिक संघात !' ईश्वर दीखने का यह अर्थ नहीं कि वह कहीं एक प्रदेश में उपस्थित है ? और ज्ञान चक्षु खुलते ही सामने दीख पड़ेगा, किन्तु इस समस्या को एक दृष्टान्त से समझना चाहिये ।

कल्पना कीजिये कि मैदान में जल से परिपूर्ण एक स्थाली रक्खी है। इसके जल में मिट्टी-कण मिले हैं जिससे पानी बहुत गँधला है। साथ ही वह निरन्तर हिलती है, क्षणमात्र भी नहीं टिकती, तथा उसके ऊपर एक वस्त्र भी ढका है। जब ठीक मध्याह्न के समय सूर्य्य भगवान् गगन-मण्डल में थाली के समान सूत्र में भी आ पहुँचे तब भी उसमें सूर्य्य का प्रतिविम्ब नहीं झलकता ; क्यों ?

—उत्तर स्पष्ट है कि थाली में सूर्य्य प्रतिविम्व के न दीखने में तीन प्रतिवन्ध=रुकावटें हैं ; पानी गँधला है, चञ्चल है और सूर्य्य तथा पानी दोनों के मध्य में कपड़े का अन्तर पड़ा है। कदाचित् उक्त तीनों दोष दूर हो जाएं तो फिर सूर्य्य-प्रतिबिंब के झलकने देर न लगेगी। निर्बंसी, फिटकड़ी निर्मलकरणी आदि औषधियें डालकर जल की मैल काटी जाए, उसका हिलना रोक दिया जाए जिससे सब मैल सिमट कर नीचे बैठ जाए और अन्तमें उस पर्दे को भी हटा दिया जाए, बस ! त्रिविध प्रयत्न करने से गगनगत महामहिम सूर्य्य इस तुच्छातितुच्छ थाली में भी अवश्य ही प्रतिबिंबित हो जाएगा, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह देख सकेगा।

यहां भी ईश्वर देखने के साधनभूत अन्तःकरण रूपी नेत्र में भी तीन दोष रहते हैं। प्रथम—पाप-कर्मों की मलिनता दूसरा—मनः की अतीव चञ्चलता=क्षण मात्र भी स्थिर न होना तीसरा—जड़ और चेतन के विश्लेषण की अक्षमता रूप अज्ञान, इन तीनों दोषों को वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में क्रमशः मल, विक्षेप और आवरण कह सकते हैं। अन्तःकरण के इन त्रिविध दोषों को दूर करने के लिये ही समस्त वैदिक वाङ्मय की प्रवृत्ति है। ग्यारह सौ इकतीस शाखात्मक वेद-चतुष्टय के कुल मन्त्र

एक लक्ष हैं। उनमें से अस्सी हजार मन्त्र केवल प्रथम दोष अर्थात्—अन्तःकरणस्थ मल को दूर करने के लिए यज्ञ यागादिक नानाविध कर्मों का आदेश देते हैं। सोलह हजार मन्त्र विक्षेप नामक मन की चञ्चलता दूर करने के लिए प्रतिमा-पूजन आदि उपासना का उपदेश देते हैं। वेद के अन्तिम चार सहस्र मंत्र जड़ चेतन विश्लेषण की अक्षमता रूप आवरण दोष को दूर करने के लिए ज्ञान का सन्देश देते हैं। वेद के इन तीन प्रकार के मन्त्र समुदाय को क्रमशः (१) कर्म काण्ड (२) उपासना काण्ड और (३) ज्ञान काण्ड कहा जाता है। इस प्रकार ईश्वर की आराधना में उपासना का प्रमुख स्थान है। मन की चंचलता दूर हुए बिना यज्ञ यागादि कर्ममें भी उचित फल प्राप्तिकी संभावना नहीं की जा सकती, ज्ञान की तो फिर कथा ही क्या है ?

उपासना के नौ ही भेद क्यों ?

उपासना के श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नौ भेद हैं—सो नौ ही क्यों हैं ? न्यूनाधिक क्यों नहीं ? यह भी एक महत्त्वशाली प्रश्न है, जिसका उत्तर यह है कि जैसे माया के तीन गुणों के तारतम्य से पांच प्रकार के मनुष्य पीछे सिद्ध किए गए हैं इसी प्रकार उन पंचविध मनुष्यों के तारतम्य से नौ प्रकार के ही उपासक हो सकते हैं न्यूनाधिक नहीं। आप अपने हाथ की यदि तीन अंगुली फैलाएँगे तो स्वभावतः तीन अंगुली और बीच वाली अंगुली के दोनों ओर छूटे हुवे दो अन्तर कुल पांच ही स्थान हो सकेंगे न्यून या अधिक नहीं। किन्तु यदि अंगुष्ठ सहित पूरा हाथ फैलाया जाए तो पांचों अंगुलियों के मध्य में चार अंतर होते हैं, सो पांच अंगुली और चार अन्तर दोनों मिलाकर कुल

नौ भेद बनते है न्यून या अधिक नहीं बनते। चूँकि भावनानुसार उपासक नौ प्रकार के हो सकते हैं, इसलिए उपासना के भी नौ ही भेद होने चाहियें।

प्रतिमा पूजन क्यों ?

प्राय: सनातनधर्मी मूर्तिपूजा को ही ईश्वर की उपासना समझते हैं यह क्यों ? उपासना के नौ भेदों में श्रवण, कीर्तन, स्मरण और पाद सेवन ये चार भेद पहिले आते हैं इनके बाद पांचवां नम्बर अर्चन–अर्थात्—मूर्तिपूजा का है। वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये चार भेद आगे आते हैं। इस तरह मूर्तिपूजा को उपासना का माध्यम समझना चाहिए। जैसे नाभि में ही पहिए के सब अरे लगे रहते हैं और वह एक धुरी में घूमता है ठीक इसी प्रकार ईश्वर की धुरी में घूमने वाले चक्र की नाभि मूर्तिपूजा है। शेष सब भेद विभिन्न अरे हैं।

यह ठीक है कि अमुक 'अरा' जमीन की ओर है तो दूसरा उसकी अपेक्षा आकाश में चढ़ा है परन्तु आखीर हैं वे सब एक ही नाभि में ओत-प्रोत। ठीक इसी प्रकार श्रवणादिक साधन साधारण अधिकारियों के लिए होने के कारण कहने में भले हो तुच्छ साधन समझे जायें और आत्म-निवेदन को ऊँचे अधिकारियों की वस्तु मानकर इसे उच्चतम खयाल किया जाए परन्तु वस्तुत: 'काम जो आवे कामरी क्या ले करे कमाच'—के अनुसार सर्वविध अधिकारी अपनी २ साधना की पद्धति को किसी से कम मानने को प्रस्तुत नहीं। भूखे को अन्न जितना प्रिय मालूम पड़ता है, प्यासे को उससे कहीं अधिक जल प्रियतम लगता है।

आध्यात्मिक मार्ग में किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के गुण दोषों पर निर्भर नहीं, किन्तु अधिकारी के लिए उसकी उपादेयता पर निर्भर है। लोक में भी पानी के स्थान में सुवर्ण का सुमेरु प्रदान करने पर भी प्यास नहीं बुझती। सुमेरु देकर यदि एक चुल्लू पानी मिल सकता हो तो तृषित मुमूर्षू उसे सहर्ष खरीदने को तैयार होगा। सो श्रवण आदि को तुच्छ और वन्दन आदि को उच्च समझने की भ्रान्ति हेय है। इसी प्रकार ध्यान, योग, समाधि उत्तम हैं और प्रतिमा-पूजन निकृष्ट है इस प्रकार की जो भावना मूर्खों के हृदय में बद्धमूल हो रही है, वह भी सर्वथा भ्रम-मूलक और अज्ञान-गर्त में गिराने वाली है।

हम पीछे कह चुके हैं कि उपासना का नाम प्रतीक-उपासना है। इसका सीधा अर्थ है कि जब हम श्रवण करने चलते हैं तब भगवान् के सगुण चरित्र ही तो हमारे श्रवण का विषय हो सकते हैं। भगवन्नाम-कीर्तन में भी सगुण-रूप के नाम लेना ही हमारा ध्येय रहता है। जिसका श्रवण और कीर्तन हुआ उसी का तो स्मरण होगा ! पाद-सेवन भी 'अपाणिपाद' का सम्भव नहीं। वन्दना=अभिवादन और स्तुतिपाठ 'अवाङ्मनसोगोचर' का क्योंकर हो सकता है ? कोई स्वामी हो तभी तो हम उसके दास बनेंगे। जब हम स्वयं ही श्री१०८ स्वामी बने बैठे हैं फिर 'दास्य' का अभिनय केवल विडम्बना है। समान शील और व्यसन में ही 'सख्य' संभव है, निर्गुण निर्लेप के साथ हमारी समता क्या ? 'आत्म-निवेदन' तभी सम्भव है जब कि इस भेंट को ग्रहण कर सकने वाला कोई हमसे पृथक् हो !

कहना न होगा कि सब का सब उपासना काण्ड पूज्य-पूजक और स्व-स्वामी-भाव-सम्बन्ध की भित्ति पर ही स्थिर है। यहां

'सोऽहम्' के स्थान में 'दासोऽहम्' का ही साम्राज्य है। एतावता यह सिद्ध हुवा कि मूर्ति-पूजा ईश्वर उपासना की जान है। या द्रविड़ प्राणायाम किए बिना सीधे शब्दों में यूं कह दो कि मूर्ति-पूजा ही वस्तुतः ईश्वर उपासना है। ज्ञान कोटि में पहुँचने के लिए साधक का मनः जब तक सुस्थिर न हो सके तब तक मूर्तिपूजा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है कि जिसके द्वारा मन को वश में किया जा सके। शास्त्र में लिखा है कि—

मनोधृतिर्धारणा स्यात्समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः।
अमूर्तौ चेत्स्थिरा न स्यात्ततो मूर्ति विचिन्तयेत् ॥

(रणवीर भक्ति रत्नाकर)

अर्थात्—मन की धृति को धारणा कहते हैं। ब्रह्म में स्थित हो जाने का नाम समाधि है, परन्तु यदि बिना मूर्ति मन स्थिर न हो तो तव मूर्ति की आवश्यकता पड़ती है।

मूर्ति-पूजा

उपासना की पाँचवी श्रेणी मूर्तिपूजा है। चञ्चल मन को चारों ओर से रोककर एकाग्र करने का यही एक मात्र उपाय है। वेदादि शास्त्रों में विस्तार पूर्वक मूर्तिपूजा का विधान आता है। यथा—

वैदिक-स्वरूप

(क) मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि।

(तैत्तिरीय प्रपा० अनु ५)

(ख) सहस्रस्य प्रतिमा असि। (यजु० १५।६५)

(ग) अर्चंत प्रार्चंत प्रियमेधासो अर्चंत ।

(ऋग्वेद अष्टक ६ अ० ५ सू० ५८ मं० ८)

(घ) मुखाय ते पशुपते ! यानि चक्षूंषि ते भव, त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः । अंगेभ्यस्त उदराय जिह्वाय आस्याय ते दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ।

(अथर्व० ११।२।५-६)

(ङ) एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

(अथर्व० २।१३।४)

(च) एतु प्राणा एतु मनः एतु चक्षोरथो बलम् ।

(अथर्वं० ५। ६०। १२)

(छ) ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु देव्याय प्रस्तराय ।

(अथर्वं० १६। २। ६)

(क) अर्थ—हे महावीर. तुम ईश्वर की प्रतिमा हो। (ख) हे परमेश्वर, आप सहस्रों की प्रतिमा (मूर्ति) हैं। (ग) हे बुद्धिमान् मनुष्यो ! उस प्रतिमा का पूजन करो, भली-भांति पूजन करो (घ) हे पशुपते शिव ! आप के मुख को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, रूप को, अङ्गों को, उदर (पेट) को, दांतों को और नासिका को नमस्कार हो। (ङ) हे परमात्मन् ! तुम आकर इस पाषाण में विराजमान हो। यह आपका शरीर बन जावे और सब देवता सैंकड़ों वर्ष पर्यंन्त इसमें आपकी विभूति को स्थिर करें। (च) इस प्रतिमा में प्राण आयें, मन आये, नेत्र और

बल आये । (छ) हे प्रतिमा ! तू ऋषियों का पाषाण है, तुझ दिव्य पाषाण के लिये नमस्कार हो।

शास्त्रीय-विवेचन

अनादि काल से हमारे पूर्वज विधिपूर्वक प्रतिमा पूजन करके मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होते रहे हैं। आज से अर्बों वर्ष पूर्व बालक ध्रुव ने नारद जी के उपदेश से मूर्ति की पूजा करके केवल छः मास में परमात्मा के दर्शन पाये थे। यह कथा श्रीमद्‌भागवत (४। ८। ७१) में आती है। रामचन्द्र जी का स्थापित किया हुवा 'रामेश्वर' नामक शिवलिङ्ग सेतुबन्ध में अभी तक विद्यमान है, वाल्मीकीय रामायण (युद्ध० १२५) में इसका उल्लेख मिलता है। रावण तो यात्रा में भी सुवर्णमय लिङ्ग साथ रक्खा करता था और उसकी नित्य पूजा किया करता था, यह बात भी वाल्मीकि रामा० (उत्तर० २१) में लिखी है। यह दोनों घटनाएँ आज से नौ लाख वर्ष पुरानी हैं।

एकलव्य नामक भील ने द्रोणाचार्य्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर गुरु भावना से सम्मानित की थी, जिसके प्रताप से वह बाण-विद्या में अर्जुन से भी अधिक निपुण हो गया था महाभारत के आदिपर्व १३३ में यह वर्णन मिलता है।

यूं तो संसार के सभी पंथ किसी-न-किसी रूप में मूर्तिपूजक हैं ही, परन्तु फिर भी वे अपने घर की सम्भाल न करके सनातनधर्म पर जड़ोपासना का आक्षेप करने का साहस किया करते हैं। इसलिए यहाँ कतिपय प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पन्थों की जड़ोपासना का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा।

रोमन कैथोलिक ईसाई—जो कि वास्तव में ईसाई पन्थ के उत्तराधिकारी हैं—मरियम और यशुमसीह की मूर्ति अपने चर्चों में रखते हैं, बाकी ईसाई भी 'क्रास' की पूजा करते हैं।

मुसलमान - मक्केशरीफ में जाकर 'संगे असबद' नामक काले पत्थर को जो कि कभी मक्केश्वर महादेव था, चूमते हैं। ज़मजम कूंवे में खजूर की पत्तियें डालने में पुण्य मानते हैं। ताजिये, और महदी निकालते हैं। केवल पश्चिम दिशा में मुंह करके ही नमाज पढ़ते हैं। टोपियों पर आधे चांद की मूर्ति लगाते हैं और नमाज पढ़ते समय तहमद बांधना आवश्यक समझते हैं, अन्यथा निमाज के नाश हो जाने का भय मानते हैं।

आर्यसमाजी—उस्तरा, कुशा, पटेला, अंजन, शीशा, छाता, लाठी, जूता आदि की पूजा=उपासना=प्रार्थना करते हैं। चांद को अर्घ्य देते हैं। नित्य पृथ्वी को चन्दन अक्षत से पूजते हैं। रीढ़ की हड्डी में मन टिकाते हैं।

अकाली सिक्ख——स्यालकोट में बेरी साहिब, अमृतसर में टाली साहिब, कहीं रिठा साहिब, कहीं मंजी साहिव नाम से वृक्षों और चारपाइयों तक की पूजा करते हैं। कपड़े लपेटते हैं। हर एक गुरुद्वारे के साथ कपड़े के खोल में छुपा हुआ झण्डा-साहिब खड़ा रहता है। ग्रन्थ साहिब की पुस्तक पर चौंर ढोलते हैं, रेशमी कपड़े लपेटते हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य पन्थ भी स्वयं सैंकड़ों प्रकार की जड़ चीजों को अनावश्यक सन्मान देते हैं, परन्तु सनातन-धर्म के वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त प्रतिमा-पूजन पर कटाक्ष करते नहीं लजाते।

पीछे कहा जा चुका है कि परमात्मा साकार=मूर्तिवाला

ग्रौर निराकार=मूर्तिरहित दोनों प्रकार का है। सो साकार को प्रतिमा द्वारा उपासना की जाती है और निराकार का ध्यान किया जाता है, जब तक मूर्तिपूजा द्वारा मन स्थिर न हो जाए तब तक ध्यान लगाने का प्रयास ढोंग मात्र हैं, और स्वयं अपने आप की वञ्चना करने के बराबर है।

सनातन धर्म पाषाण, धातु और मिट्टी आदि जड़ पदार्थों की उपासना की शिक्षा नहीं देता, किन्तु पाषाणादि-व्यापक चेतन परमात्मा की पूजा का आदेश करता है। इसीलिए प्रतिमा के सामने कभी कोई सनातन-धर्मी यह शब्द नहीं कहता कि 'हे काले ! गोरे ! अमुक रंग के पत्थर ! अथवा मिट्टी ! गारे ! धातु आदि ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ' बल्कि यही कहते हैं कि 'हे सर्वव्यापक ! सर्वान्तर्यामी प्रभु ! तू संसार का रचयिता, पालयिता, और संहर्ता है, मैं तुझे बार-बार प्रणाम करता हूँ'।

विचार करें कि यह स्तुति पाषाण आदि जड़ पदार्थों में घटित होती है या चेतन परमात्मा में ! रहा प्रश्न यह कि मूर्ति सामने रखने की फिर जरूरत ही क्या है ? सो यह अटल सिद्धान्त है कि जड़ वस्तु के आश्रय के बिना चेतन की पूजा की ही नहीं जा सकती। उदाहरणार्थ समझना चाहिए कि कोई सुपुत्र अपने पिता की पूजा करना चाहता है; वह पिता को स्नान कराएगा, वस्त्र पहनाएगा मस्तक पर सुगन्धित चन्दन का लेपन करेगा और गले में पुष्पमाला डालेगा। कहना न होगा कि यह सब कार्य अस्थि-चर्म-निर्मित जड़-शरीर पर ही किए जाएंगे, परन्तु इनसे प्रसन्न होगा पिता का चेतन आत्मा। असल बात तो यह है कि जड़ देह के आश्रय के बिना चेतन आत्मा को किसी

प्रकार सन्तुष्ट किया ही नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार किसी जड़ वस्तु के आश्रय के बिना चेतन परमात्मा की पूजा को ही नहीं जा सकती।

यदि कोई कहे कि फिर किसी शरीरधारी मनुष्य की ही परमात्मा के स्थान में पूजा क्यों नहीं कर ली जाय ? सो शरीर-धारी मनुष्य मनुष्य होने के कारण सदैव विकार-रहित नहीं रह सकता। समय के फेर से वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार-सम्पन्न हो सकता है, उस समय हमें उसका दुष्कर्म देख कर उस पर घृणा हो जायेगी, परन्तु पाषाणादि से बनी हुई प्रतिमा सदैव निर्विकार निश्छल एवं शान्तिमयी बनी रहती है इसलिए उसमें उत्तरोत्तर हमारा अनुराग बढ़ता ही जायगा।

जिस प्रकार निराकार ज्ञान को प्राप्त करने के लिए साकार पुस्तकों की आवश्यकता है, निराकार ताल और स्वर को उन्नत करने के लिए साकार तबले सारंगी की जरूरत है। निराकार मीठे, खट्टे, चरपरे आदि रसों का आस्वादन करने के लिए साकार मिश्री, अमचूर, मिरच आदि पदार्थों को खाने की जरूरत है इसी प्रकार निराकार परमात्मा को पाने के लिए साकार मूर्ति की आवश्यकता है।

अपठित गंवार की दृष्टि में भूगोल का चित्र टेढ़ी मेढ़ी लकीरों से भंडा हुआ कागज मात्र है. परन्तु भूगोलवेत्ता मनुष्य उन्हीं रेखाओं को नदी, समुद्र, पर्वत, समतल, देश, ग्राम एवं नगर के रूप में देखता है। वह घर बैठा हुआ उस छोटे से चित्र की सहायता से समस्त भूमण्डल का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार सनातनधर्मियों की मूर्ति अज्ञानी मूर्खों को पत्थर नजर आती है परन्तु सनातनधर्मी उसमें

'भूपादौ यस्य नाभिर्वियदसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे'

के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करते हैं और ब्रह्माण्ड-व्यापक चेतन प्रभु की बांकी झांकी निहारते हैं।

एक पैसे में बहुत से कोरे कागज आ जाते हैं और सैंकड़ों रद्दी कागज यूंही बाजारों में रुलते रहते हैं, परन्तु जिस कागज पर बादशाह की मुहर लग जावे, हस्ताक्षर हो जावे—मूर्ति छप जावे, फिर वह हजारों रुपये का कीमती नोट बन जाता है, लोग उसे लोहे की पेटियों में संभाल कर रखते हैं। उस समय कोई गंवार कागज समझ कर रद्दी की टोकरी में नहीं फेंकता। इसी प्रकार पत्थरों के ढेर के ढेर पर्वतों पर एवं टोकरी में रुलते फिरते हैं, परन्तु जब किसी पाषाण पर वेद-मन्त्रों की मुहर लग कर प्राण-प्रतिष्ठा हो जाए और वह प्रभु की मूर्ति बन जाए तब वह पत्थर पत्थर नहीं रहता किन्तु मुक्ति का द्वार बन जाता है। इसलिए चञ्चल मन को एकाग्र करने के लिए विधिपूर्वक प्रतिमा पूजन अवश्य करना चाहिए।

प्रतिमा-पूजन का मनोवैज्ञानिक रहस्य

प्रतिमा पूजन के सम्बन्ध में सप्रमाण सयौक्तिक विवेचन हमारे 'सनातनधर्म' 'ओंकार और शिवलिङ्ग' तथा 'पुराण-दिग्दर्शन' में विस्तृत रूप में आ चुका है अतः हम जान बूझकर यहां पिष्टपेषण नहीं कर रहे हैं, परन्तु यहां इतना और अधिक समझ लेना चाहिए कि मन को स्थिर करने का प्रधान साधन मूर्तिपूजा है। जब हम ईश्वर की आराधना करने बैठते हैं तो उस समय मनीराम को दुनिया भर के बखेड़े सूझते हैं। यह कभी

अनुभूत रसों के आस्वादन को स्मरण करने लगता है तो जीभ पानी छोड़ जाती है। कभी दृष्टचर रूप-लावण्य की अनुभूति में गर्क हो जाता है तो आंखें आकुल हो उठती हैं। कभी सुश्रुत शब्द सौन्दर्य को, कभी समाघ्रात सौरभ-सम्पत्ति को और कभी संस्पृष्ट कमनीय कोमल अङ्गयष्टि को सुतरां स्मारं स्मारं तत्तत् सुखद अनुभूतियों के तरङ्गित सागर में डुबकियें लेने लगता है। तब तत्तद् विषयों की अहर्निश-अनुरागिणी इन्द्रियें साधक को पूजा-पाठ का बखेड़ा छोड़कर अपने-अपने स्पृहणीय विषयों को जुटाने के उद्योग में व्यापृत हो जाने की प्रबल प्रेरणा देने लगती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य प्रायः मन के सामने हथियार डाल देता है।

कई साहसी योद्धाओं ने मन को मात देने के लिए इन सब इन्द्रियों के द्वारों को सहसा रोककर ध्यान के किले में बैठ जाने का प्रयत्न किया। कानों में रूई डाली नाक में काक फिट किया, आंखें बलात् बन्द कर डालीं, जीभ को दान्तों के सीखचों में ऐसा जकड़ा कि टस-से-मस न होने दी और कछुवे की तरह हाथ-पावों को समेट कर बण्डल बन कर बैठ गए। परन्तु मिस्टर मनीराम को अपनी उधेड़-बुन के लिये बाह्य-सामग्री की आवश्यकता ही नहीं। किले के दरवाजे ज्यों-के-त्यों बन्द पड़े रहे, परन्तु श्रीमान् जी साधक के हृदय के एक कोने में बैठे-बैठे ही अपनी कल्पनामय सृष्टि यथापूर्व रचते रहे। घेरा डालना व्यर्थ सिद्ध हुआ। इससे चिढ़कर सूरदास जी जैसे प्राणों पर खेल कर भी विजय पाने वाले वीरों ने तो अपनी आंखों की वे दोनों खिड़कियें ही तोड़-फोड़ डाली, जिनसे कि चिन्तामणि वेश्या उनके मन-मन्दिर में आ घुसी थी। निःसन्देह यह सूझ रूस की घर फूंक नीति की भांति शत्रु को छकाने की एक

साहसपूर्ण प्रतिक्रिया थी परन्तु बना इससे भी कुछ नहीं। क्योंकि मिस्टर एम० एन० साहिब का चर्म-चक्षुवों से वास्ता ही क्या ? वह तो जन्मान्ध को भी कल्पित सौन्दर्य का रस पिलाने में सिद्धहस्त हैं। आखीर वह कौन उपाय किया जाए कि जिससे यह उधेड़-बुन शान्त हो ? बस, इस समस्या का सुनहला हल एक-मात्र मूर्तिपूजा है।

वैदिक वर्णन के अनुसार यह शरीर रथ है, इन्द्रियें घोड़े हैं, मनः लगाम और बुद्धि सारथी है, तथा आत्मा रथी है। जैसे कोई यात्री अपने रथ को तोड़ कर घोड़ों को मार कर, रस्सी को विनष्ट करके एवं कोचवान को धता बताकर अपने उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता, ठीक इसी प्रकार जीव अपने शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धि आदि का समूल नाश करके परमात्मा के निकट नहीं पहुँच सकता। इसलिये हमारे शास्त्रों में शरीर रक्षा को धर्मार्थ काम और मोक्ष का मूल कारण माना है। इसलिये किसी ऐसे राजयोगात्मक उपाय की आवश्यकता है कि जिससे न शरीर का शोषण हो, न इन्द्रिय रूप घोड़े अपने विषयोपभोग रूप खुराक से वंचित रहें, परन्तु मनीराम नत-मस्तक होकर हमारा आज्ञापालक बन जाए ! ऐसा एकमात्र उपाय है—भगवत् प्रतिमा का यथाविधि पूजन ! वह कैसे—अब जरा इस रहस्य को समझ लीजिए।

साधक अपने मन को टिकाने के लिये ज्यों ही बैठा, त्यों ही मन ने अपने स्वभाव के अनुसार कानों के रास्ते से बाहर निकल कर इधर-उधर की गपशप सुनने के विचार से उडार भरी। मन्दिर के पुजारी ने इससे पूर्व ही शङ्ख, घड़ियाल, झांझ, मजीरे, मृदङ्ग और नगारे, न जाने क्या-क्या अनन्त बाजे बजा-कर इतना प्रबल उद्घोष किया कि जिससे मन्दिर का वातावरण

बाह्य वातावरण से सर्वथा अछूता हो गया। अब बाहर चाहे बारात के जलूस की रंगरलियें हों और चाहे 'राम राम सत्य है' की ध्वनि के साथ करुणाजनक चीत्कार हो, दोनों का ही साधक पर कुछ प्रभाव नहीं। मन ने जब कान के द्वार पर भगवान् के रंग में रंगा हुवा कर्णमधुर वाद्यघोष सुना तो कर्णेन्द्रिय को अपना विषय मिल जाने के कारण तृप्ति अनुभव की।

कानों की ओर से तृप्त होकर अब मन सौन्दर्य सुधापान के लिये व्याकुल होकर नेत्र द्वार से बाहर झांकने लगा। यहां भी पुजारी ने झट परदा हटाकर भुवन-मोहन भगवान् की लावण्यमयी मूर्ति को सामने उपस्थित कर दिया और दिन में भी दीपक जलाकर चरणारविन्द से लेकर मुखारविन्द पर्यन्त बार-बार प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को दिखाते हुए भावनामयी मूक भाषा में कहा—'ओ! रूप लावण्य के रसिक, उन्मत्त मन! यदि तू रूप सुधाकर का ही प्यासा है तो नर्क में गिराने वाले किसी मलमूत्र के थैले की दुर्गन्धपूर्ण नश्वर प्रतिमा की घिनौनी रूपमाधुरी पर क्यों आसक्त होता है? यह देख तेरे सामने 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करहिं'—का छवि सुधा-सागर अपनी उत्ताल तरङ्गों से विश्व को आप्यायित करता हुवा ठाठें मार रहा है।'

साधक का सौन्दर्याभिलाषी मन यहां भी नेत्र रूप घोड़े को अपना भोजन मिल जाने के कारण परितृप्त हो गया, परन्तु अब सुगन्ध के लिये छटपटाता हुआ नासिका के द्वार पर आ डटा। पुजारी ने यहां भी चतुरता से काम लिया। झट अगरबत्ती धूप आदि विशुद्ध भारतीय वनस्पतियों के रस से बने हुवे आघ्रेय धुका डाले, घ्राण को भर पेट अपना भोजन मिल गया। अब मन अपना अन्तिम ब्रह्मास्त्र थाम कर रस चखने की लालसा से

जीभ के फाटक पर मोर्चा बान्ध बैठ गया। पुजारी जी यहां भी नहीं चूके। झट भोग लगाते ही कभी छप्पन भोग, कभी छत्तीस व्यञ्जन और कभी पेड़ा बताशा ही सही, साधक के हाथ पर रख दिया। मुंह में डालते ही मनीराम बोल उठा—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्यासु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठति ॥

अर्थात्—प्रसाद=भगवान् के प्रसन्न होते ही [अथवा होड़ा चक्र के उत्तरार्द्धप्रोक्त व्याख्यानुसार—पेड़ा बताशा मिलते ही] जीव के सब दुःख परिसमाप्त हो जाते हैं, प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि सुस्थिर हो जाती है।

अब मनीराम को कोई द्वार नहीं मिला कि जहां बैठकर वह गोलाबारी कर सके। सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषय भी मिल गए, जो भगवान् के रंग में रंगे हुवे होने के कारण नर्क के हेतु न बनकर मोक्ष पथ के पथिक साधक की संबल सामग्री बन गए।

आज के इस वैज्ञानिक युद्ध में मन बहुत घबड़ाया। उसने सोचा कि आज शत्रु ने मुझे काबू करने के लिये क्या अजीब व्यूह रचना की थी! मैं किले के जिस द्वार पर गया वहीं मेरे ही चहेते प्रियतम, शत्रु के रंग में रंगे हुवे, पञ्चाङ्गी बने फिफ्थ कालम का काम कर रहे हैं!! इन्द्रियों के जिन झरोखों में बैठकर आज तक मैं साधक पर प्रहार करता रहा हूँ अब उन सब स्थानों पर ईश्वरी झण्डा गड़ चुका है! सबसे बड़ा अनर्थ यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि मेरे प्रधान सेनानी आज स्वयं ईश्वरीय रङ्ग में रंगे हुवे उस झण्डे के रक्षक बने हुवे हैं, ऐसी दशा में अब युद्ध चालू रखना भारी जोखों से खाली

नहीं ! इसलिये सन्धि कर लेनी चाहिए। बस ! अगले रोज मनीराम स्वयं ही झख मारकर ढीला पड़ गया। साधक नित्य इसी अनुभूत युद्ध-पद्धति से आगे बढ़ता रहा। कुछ दिन के बाद प्रत्येक काम में अनावश्यक अड़ंगे लगाने वाला मनीराम इतना सीधा हुआ कि अब वह साधक का परम हित-चिन्तक दास बना हुआ है। संकेत पाते ही आध्यात्मिक मार्ग में समस्त सुविधाएँ समुपस्थित करना उसका प्रधान कर्त्तव्य है। साधक ने अब उसे विश्वस्त मित्र समझकर अपना प्रधान मार्ग-दर्शक नियत कर लिया है।

प्रतिमा अनिवार्य क्यों ?

अब स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है, कि प्रतिमा पूजन अनिवार्य क्यों है ? उसके द्वारा मन अपनी चञ्चलता छोड़कर शान्त वा एकान्त कैसे हो जाता है ?— एतदर्थ पहिले यह सभझ लेना चाहिए कि योगदर्शन के अनुसार मन को निर्विषय=[कोई उधेड़-बुन ही उसके सामने न हो ऐसा—] बनाना ही ध्यान है—परन्तु वह निर्विषय कैसे बने— यह बात बिल्ली के गले में धण्टी बांधने के समान म्याऊँ का ठौर पकड़ने वाली अतीव कठिन समस्या है। इसलिये महर्षि पतञ्जलि ने उक्त काठिन्य को अनुभव करके तत्काल ही अगले सूत्र में बतलाया है कि—

यथाभिमतध्यानाद्वा । (योग दर्शन)

अर्थात्—जिस को जो अभिमत हो उसका ध्यान करने से भी [मन शान्त हो सकता है] तात्पर्य यह है कि मन टिकाने के लिये किसी भी भौतिक साधन को प्रतीक बनाने की तो

अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता के शब्दों में—

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम् ।

अर्थात्—अव्यक्त वस्तु में मन टिकाना अतीव दुष्कर है। इसलिये कोई प्रतीक अवश्य होना चाहिए।

कौन प्रतीक हो ?

वह प्रतीक कौन हो ? इस विषय में शास्त्र ने साधक की अपनी इच्छा को महत्त्व दिया है; क्योंकि जिस वस्तुमें स्वभावतः ही साधक का मन अधिक टिकता हो यदि उसको ही उपास्य का प्रतीक बना लिया जाए तो मनोविज्ञान के अनुसार वह साधन कार्य-सिद्धि का सर्वाधिक उपयुक्ततम कारण सिद्ध होगा। जैसे यदि कोई साधक सूर्य को देखकर अधिक प्रभावित होता है और घण्टों तक तद्विषयक विचार सागर में विमग्न हो जाता है तो उसे सूर्य-मण्डल को प्रतीक मानकर ही—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती ।
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ॥

—के अनुसार सूर्य के माध्यम से भगवदुपासना करनी चाहिए। इसी प्रकार गङ्गा-यमुना की उत्ताल तरङ्गों की कल-कल ध्वनि में ही स्वभावतः आनन्द-विभोर हो जाने वाले साधक को इसी प्रतीक में—

'वयं तु तापसंतप्ता नीराकारमुपास्महे'

—कहते हुवे भगवान् की उपासना करनी चाहिए। इसी प्रकार गुरु पिता-माता के पाञ्चभौतिक पिण्डों को भी—

'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः'

—के अनुसार भगवान् का प्रतीक मानकर उपासना की जा सकती है, परन्तु उक्त सब प्रतिमाएं सर्वथा और सर्वदा उपादेय नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि सूर्य को प्रतीक मानने पर उसके रात में, या बादल में छुप जाने पर, या ग्रहण समय में उसे न पाकर साधक निराश हो सकता है। इसी प्रकार गङ्गा भी सर्वत्र प्राप्य नहीं। गुरु, पिता, माता—मनुष्य होने के नाते कभी-न-कभी काम, क्रोध आदि विकारों से पराभूत अवश्य हो सकते हैं। तब उनको वैसा देखकर भगवत्प्रतिमा मानने वाला साधक अपनी श्रद्धा को स्थिर न रख सकेगा। ऐसी दशा में प्रतीक ऐसा होना चाहिए, जो कि सर्वदा सर्वत्र सुलभ भी हो तथा काम क्रोधादि विकारों से अस्पृष्ट भी रहे! शास्त्रकारों ने इसीलिये शैली, दारुमयी, लौही, लेख्या, लेप्या, सैकिती, मनोमयी और मणिमयी इन आठ प्रकार के प्रतीकों में सर्वप्रथम पाषाणमयी प्रतिमा को प्रशस्त माना है, क्योंकि पाषाणमयी प्रतिमा अपेक्षाकृत सर्व-सुलभ भी है और काम आदि विकारों की भी उसमें सम्भावना नहीं। इसलिये अधिकांश प्रतिमाएं पाषाणमयी ही होती हैं।

यह तो हुआ सुलभता और उपयोगिता की दृष्टि से प्रतीक का निर्वाचन। अब यह निर्णय भी साधक की अपनी रुचि पर ही निर्भर है कि—गुरु जी जी ने विष्णु की उपासना का तो आदेश दिया है, परन्तु विष्णु की कौन प्रतिमा की उपासना करूं? **'सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलम्'** को पूजूं? या भक्त ध्रुव के मुख में अपने कर कमलों से शङ्ख द्वारा जल डालते हुवे भक्त-वत्सल भगवान् को पूजूं? किंवा **'जैसे तुम गज काज नंगे पांव धाए**

हो' का स्मरण करूं ? कहना न होगा—कि इस विषय में शास्त्र ने साधक को पूरी स्वतन्त्रता दी है कि चाहे—**'दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तम्'** को, चाहे **'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः'** को, चाहे **'करधृत-राधापयोधरः पातु'** को, चाहे **'मल्लानामशनिः'** को और चाहे **'धृत-रथचरणः श्रमवार्यलंकृतास्यः'** को यथेच्छ पूजा जा सकता है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने सुस्पष्ट लिख दिया है कि साधक **'यथाभिमत'** का ध्यान करने में स्वतन्त्र है।

ध्यान करने की गुरुगम्य विधि

यद्यपि यह विषय गुरुगम्य है, इस प्रकार सर्व साधारण के लिए पुस्तकों और ट्रैक्टों में छापने योग्य नहीं। क्योंकि आज कल के निगुरे जो कि केवल **'पुस्तकं प्रत्ययाधीतम्'** को चरितार्थ करते हुवे स्वयं ही 'मुतायला' करके पल्लव-ग्राह्य पाण्डित्य-मात्र से ही **'द्विप इव मदान्ध'** होकर फूले नहीं समाते। वे लोग उक्त विषय के स्पर्श के भी अधिकारी नहीं है, तथापि प्रसंग उपस्थित हो जाने के कारण कुछ भी न कहना कर्त्तव्य से पराङ्मुख होना होगा, अतः संक्षेप से लिखते हैं। साधक को ईश्वर की उपासना करते हुए मूर्ति का ध्यान कैसे करना चाहिए ? —यह रहस्य सावधान होकर समझ लेना चाहिए।

शास्त्रोक्त विधि के अनुसार आसन पर यथोक्त दिशा में मुख करके **'समकायशिरोग्रीवम्'** के अनुसार रीढ़ की हड्डी और ग्रीवा को सीधी करके यथोक्तमाला हाथ में लेकर गुरुप्रदत्त अमुक मन्त्र का उपांशु जाप करते हुए अपने सामने अपने अभि-मत इष्टदेव की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए। मन्त्रजाप और माला का व्यापार यथाविधि चलता रहे और जपे जाने वाले मन्त्र के गुरूपदिष्ट अर्थ का भी चिन्तन चलता रहे। [ये सब अङ्ग

उपासना के बाह्य शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग समझने चाहियें और अर्चा=उपासना का प्राण एको समझना चाहिए] साधक अपने नेत्रों के सामने रक्खी भगवत्प्रतिमा को पांव से मस्तक पर्यन्त देखकर आंख बन्द कर ले और फिर अभी सामने जैसी प्रतिमा देखी थी वैसी ही प्रतिमा ज्यों की त्यों हृदय-प्रदेश के भ्रूमध्य-प्रदेश में ध्यान से देखने का प्रयत्न करे। अवश्य ही नेत्र बन्द करते ही सामने की प्रतिमा का पूरा चित्र ध्यान में न रह सकेगा। कौन अङ्ग-प्रत्यङ्ग, कौन भावभङ्गी और कौन रङ्गरूप कैसा है—इस विषय में भ्रम-सा हो जाएगा। बस, फिर जरा आंख उघाड़कर विस्मृत अङ्ग, भावभङ्गी या रङ्गरूप को सावधानी से खूब ताक लो और पुनः नेत्र बन्द कर लो।

उपासना के इस अभ्यास को करते हुए ध्यान रहे यह नेत्र उघाड़ने बन्द करने का व्यापार ऐसी रीति से होना चाहिए कि जैसे नव-वधूटी गुरुजन-मध्यगत अपने प्राणनाथ को देख भी लेती है और—'यह देख रही है—' ऐसा गुरु-जनों को विदित भी नहीं होने देती। सो साधक उतनी ही आंख उघाड़े जितनी कि भगवद्-मूर्ति को देखने के लिए आवश्यक हो। इतनी अधिक न खोले कि जिससे घर भर के घट-पटादि पदार्थ स्मृति-रूढ़ हो जाएं, और आँख बन्द होते ही ध्यान में भगवद्-प्रतिमा के बजाए झाडू थामे लल्ला की मां सामने समुपस्थित दीख पड़े। सो नेत्र उतने ही खोले जाएं जितने आवश्यक हों, और बन्द भी इस रीति से करे कि जैसे दरवाजे पर चिक छुटी रहती है। बलात् उत्पीड़न-पूर्वक बन्द करके अपनी सूरत को न बिगाड़ बैठे। कभी फिर कोई उर्दू का कवि पते की सुनाने लगे कि —

इक हम हैं लिया अपनी सूरत को बिगाड़,
इक वे हैं जिन्हें तस्वीर बनाँ आती है ।।

सो आप भी ध्यानमयी तसवीर बनाने चले हो। अतः अपना मुंह स्वयं भोंडा न बनाएं। नेत्र बन्द करने पर भी ज्यों-ज्यों आँखों की पुतली डोलती हैं त्यों-त्यों उनके तारतम्य के अनुसार हमारा ध्यान भी तरङ्गित होने लगता है। अतः बन्द नेत्रों के काले बिन्दु, हृदय या भ्रू-मध्य की ओर ही अपना रुख रक्खें, तभी ध्यान में सामने का चित्र स्थिर हो सकेगा। अब मन का काम होगा भागना और आपका काम होगा उसको पुनः पकड़कर भगवत्-चित्र-निर्माण के व्यापार में संलग्न करना। आखीर-'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' के अनुसार एक दिन आप यह अनुमान करने लग जाएगे कि सामने वाला भगवान् का चित्र नेत्र बन्द करने पर भी आपको ज्यों-का-त्यों सर्वाङ्ग-पूर्ण दीख रहा है। बस, उस दिन समझो कि साधक ध्यान की प्रथम-कक्षा में उत्तीर्ण हो गया।

ध्यान रहे, मन की और तुम्हारी यह भाग-दौड़ की रस्सा-कशी अधिक दिन तक चलाने की आवश्यकता न पड़ेगी किन्तु यदि आप नियमपूर्वक उपासना करते चले गए तो उत्तरोत्तर आप मन को थकता और अपने आपको सफल होता अनुभव करने लगेंगे। इसी कशमकश का नाम शास्त्र में अभ्यास है। योगदर्शन में और श्रीमद्भगवद्गीता में भी मन की चञ्चलता दूर करने का एक मात्र उपाय—'अभ्यास' और 'वैराग्य' ही बतलाया है। सो वैराग्य का तात्पर्य तो भला उन-उन विषयों से ग्लान्त होना हो सकता है जिनमें कि मन भाग कर संलग्न

होना चाहता है, परन्तु 'अभ्यास' क्या है—यह बात व्याकरण काव्य, कोशों के बल पर नहीं समझी जा सकती। 'अभ्यास' यह योगशास्त्र का 'पारिभाषिक' शब्द है। 'योग' केवल पुस्तकों में लिखित सूत्रों और उनके भाष्यों को कण्ठ करने का नाम नहीं किन्तु यह तो गुरुगम्य-विद्या है।

अस्तु, यदि अभ्यास की प्रथम श्रेणी में साधक उत्तीर्ण हो गया तो अब उसे दूसरी कक्षा में प्रविष्ट होना चाहिए। वह यह है कि आज तक तो उसने सामने के चित्र जैसा मानसिक-चित्र बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु अब उसे चाहिए कि वह चन्द इंच या फुट भर के चित्र को पूरे स्वरूप में देखने का प्रयत्न करे। जैसे हमारे मित्र का चित्र यदि दो इंच भर का है तो भी हम उसे साढ़े तीन हाथ का ही देखते हैं और चित्र में केवल एक ही ओर=साइड दिखाई दिया करती है तो भी हम उसमें उभरा नाक, सुडौल भुजाएँ और गहरी नाभि इत्यादि विलक्षण-ताएं स्वयं अनुभव करते हैं। चित्रकार=फोटोग्राफर भी छोटे चित्र को बड़ा बनाते हैं इस क्रिया को वे Enlarge कहते हैं। सो साधक को भी दूसरी श्रेणी में अपने इष्टदेव को केवल चित्र के रूप में न देख कर असली रूप में देखने का प्रयत्न करना होगा, अर्थात्—चित्र —प्रतिमा—प्रतीक-भावना निकालकर उसे वस्तुतः भगवान् के तादृश दर्शन करने होंगे। यह साधना भी यथासमय पूरी हो जाएगी और साधक प्रतिमा से प्रतिमावान् को देख पाएगा। जिस दिन यह सम्भव हो जाए उस दिन समझ लो कि साधक अर्चात्मक-उपासना की दूसरी श्रेणी में भी उत्तीर्ण हो गया।

अब तीसरी कक्षा का अभ्यास समझिए। साधक को चाहिए

कि उसने अपने इष्टदेव की जिस प्रतिमा को आज तक मनुष्य जैसे आकार-प्रकार रंगरूप और कद में देखा था अब वह उसे उत्तरोत्तर और विस्तृत करने लगे और इतना विस्तृत कर ले कि यह सब ब्रह्माण्ड ही इष्टदेव का विराट् रूप दीखने लगे। सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, तारे-सितारे और सैय्यारे तथा पृथ्वी-समुद्र हिमालय सब कुछ उसी इष्टदेव के अंग प्रत्यंग जँचने लगें। बस! जिस दिन यह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी उस दिन समझ लेना चाहिए कि अब साधक उपासना-कांडका पारंगत हो गया है। यह स्थिति कितने समय में हो सकेगी और अमुक कक्षा का अभ्यास कितना समय- ाध्य है इस का सीधा उत्तर यह है कि साधक जितनी लगन से और जैसी तत्परता से साधना करेगा उसको उतना ही समय सापेक्ष्य होगा। दृढ़ निश्चयी एकांत और शांति-प्रिय यदि एक मास में कक्षा उत्तीर्ण करेगा तो ढुलमुल, प्रपंच-प्रिय और अस्तव्यस्त व्यक्ति को ६ मास लग सकते हैं।

आशा है पाठक गण अब स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि जिस प्रतीकोपासना को मूढ़ लोग पाषाण-पूजन बुतपरस्ती आदि नाम रखकर बदनाम करते हैं वह किस प्रकार एक मनोवैज्ञा- क =(yc › logical) आध्यात्मिक अनुष्ठान है, जिसका यथाविधि अभ्यास करने से नर-नारायण के सन्निधान में पहुँच जाता है। हम यहां यह भी प्रकट किए बिना इस प्रघट्ट को समाप्त नहीं करेंगे, कि पाठक पूर्वोक्त ध्यान-विधि के अनुसार स्वयं अभ्यास करके हमारे इस गुरु-गम्य मार्ग से अवश्य लाभा-न्वित होने का प्रयत्न करें। यदि इस राजमार्ग पर चलते हुवे कोई अड़चन अनुभव में आए तो किसी अभ्यासनिष्ठ महात्मा से उसकी निवृत्ति का उपाय जानने का प्रयत्न करें।

शिवलिंग शालिग्राम को हाथ पांव क्यों नहीं ?

प्रतीक कहे जाने वाली ये मूर्तियें भी विचित्र होती हैं; शिवलिग और शालिग्राम को हाथ-पांव ही नहीं ! गोलमटोल अनगढ़ पत्थर हो रख लिए जाते हैं यह क्यों ?—

प्रतीक चार प्रकार के होते हैं यथा—(१) स्वयम्भू-विग्रह— अर्थात्—अपने आप प्रकट होने वाले ईश्वर कृत पदार्थ—जैसे , चन्द्र, अग्नि, पृथ्वी और दिव्य-नदी आदि २ (२) निर्गुण-विग्रह—जो भगवान् के निराकार निर्लेप निरंजनरूप के प्रतिनिधि माने जाते हैं जैसे शालिग्राम, शिवलिंग, नर्मदेश्वर, शक्तिपिण्डी, मिट्टीपिंड या सुपारी विरचित गणेश आदि २। (३) सगुण-विग्रह—सशंखचक्र चतुर्भुज विष्णु; पञ्चमुख शिव; सिंहवाहिनी-अष्टभुजी दुर्गा ; लाक्षासिन्दूरवदन लम्बोदर गणेश आदि-आदि (४) अवतार-विग्रह—धनुर्धारी राम, वंशी-विभूषित कृष्ण, **'मृगो न भीमः कुचरो गरीष्ठः'** नृसिंह आदि २।

सो स्वयम्भू-विग्रह तो जैसे भगवान् ने बनाए वैसे हैं ही। गुण-विग्रह भी पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार शास्त्र में जैसे वर्णित हैं वैसे सर्वांग-सुन्दर बनाए जाते हैं। अवतार-विग्रह का यथावत् बनाना स्वाभाविक है, परन्तु शिवलिंग और शालिग्राम आदि प्रतिमाएँ जब कि निराकार ही की प्रतीक हैं तब उनमें हाथ-पांव आदि अंगों के अस्तित्व का प्रश्न ही निर्मूल है। इसीलिए इनको 'मूर्ति' शब्द से स्मरण नहीं किया जाता। हस्त-पादादि-अंग-विशिष्ट मूर्ति से इनका वैलक्षण्य प्रकट करने के लिए इनका नाम ही **'लिंग'**=अर्थात्—**'लीन'** और=छुपे व्याप्त शिव, गणपति, विष्णु भगवान् को **'ग'**=प्रकट करने वाला

चिह्न और 'शालि'=देव समूह का ग्राम=आवास स्थान रक्खा गया है। इसलिए निराकार के प्रतीक होने के कारण शिवलिंग और शालिग्राम के हाथ-पांव आदि अंग नहीं होते।

शालिग्राम समस्त ब्रह्माण्डभूत नारायण का प्रतीक है—यह स्कन्दपुराणोक्त कार्तिक-माहात्म्य में शिव भगवान् ने स्कन्द के प्रति कहा है। यथा—

(क) शालिग्रामशिलायाँ तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
मया सह महासेन ! लीनं तिष्ठति सर्बदा ।

(रणवीर भक्ति रत्नाकर)

(ख) शालिग्रामं हरेश्चिह्नं प्रत्यहं पूजयेन्नरः ।

(र० भ० रत्नाकर-हेमाद्रौ दैवलः)

अर्थात्—(क) हे देवसेनानी ! शालिग्राम की शिला में सचराचर तीनों लोक और स्वयं मैं भी सर्वदा लीन रहता हूँ। (ख) शालिग्राम विष्णु का चिह्न है (न तु मूर्ति) मनुष्य को प्रतिदिन उसका पूजन करना चाहिए।

गोल मटोल ही क्यों ?

यदि शिवलिंग और शालिग्राम आदि निर्गुण ब्रह्म के विग्रह हैं तो फिर गोल मटोल ही क्यों बनाए जाएँ ? क्या निर्गुण ब्रह्म गोल मटोल है ?—

हम पीछे कह आए हैं कि ईश्वर के अस्तित्व में सबसे बड़ा प्रमाण यह प्रत्यक्ष-दृष्ट ब्रह्माण्ड है, क्योंकि जब कोई बुद्धिमान् पुरुष—'यत् यत् कार्यं तत्तत्कर्तृजन्यम्'—अर्थात् जो २ भी कार्य है वह

वह किसी कर्ता का बनाया है ? नैय्यायिकों के इस सिद्धान्तानुसार घटपटादि समस्त कार्यों के कर्ताओं को देखता है तो स्वभावत: उसे सूर्य्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र आदि के भी कर्ता की जिज्ञासा होती है। जब बहुत ढूंढने पर भी उक्त पदार्थों का कोई लौकिक पुरुष-विशेष कर्ता नहीं मिलता, तो अवश्य ही किसी अदृष्ट अलौकिक कर्ता का अनुमान करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह ब्रह्माण्ड ही ब्रह्माण्डाधिनायक की सत्ता का प्रबल प्रमाण है। सो अण्ड-पिण्ड सिद्धान्त के अनुसार भगवान् का यह स्वयम्भू-देह-रूप ब्रह्माण्ड प्रत्यक्ष गोल अण्डाकार है। यही नहीं बल्कि सूर्य-चन्द्र पृथ्वी, आदि सभी पिण्ड गोल-मटोल बने हैं। इसलिए भगवान् की आदिम स्वयम्भू प्रतिमा ब्रह्माण्ड के अनुसार ब्रह्माण्डाधिनायक भगवान् का निर्गुण विग्रह भी गोल ही होना मनोविज्ञान-सिद्ध है।

तुलसी, जपा, करवीर बिल्व और दूर्वा आदि का विधान क्यों ?

अन्यान्य षोड़श उपचारों की विद्यमानता में भी विष्णु पर तुलसी, सूर्य को जपा कुसुम, दुर्गा को कनियर और शिव पर बिल्व तथा गणेश पर दूर्वा=दूब चढ़ाना ही अधिक आवश्यक क्यों ? बात यह है कि साधक जिस इच्छा से जिस देवता की उपासना करेगा तदनुसार ही आसन, माला, मन्त्र, पूजन-सामग्री आदि अन्यान्य उपकरण भी लेने आवश्यक होंगे। यदि मोक्ष के लिए सात्विक देव विष्णु भगवान् की उपासना करनी हो तो सात्विक-रंग—श्वेत ऊन का आसन, सात्विक-गुण-संपन्न तुलसी की माला, सात्विक-द्रव्य—कमल सकुंकुम श्वेत-चंदन,

तुलसीपत्र आदि पूजन सामग्री का उपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार आरोग्य के निमित्त सूर्य की उपासना में रक्त चंदन, जपा कुसुम आदि सामग्री होनी चाहिए। यदि कोई विवाहार्थी दुर्गा पूजन करे तो उसे रजोगुणी लाल ऊर्णा का आसन, रजोगुणी कनियर आदि के पुष्प, द्राक्षा नारिकेल आदि फल, पूजन सामग्री में सम्मिलित करना उचित है। आयुष्य-वृद्धि के निमित्त आशुतोष शंकर की उपासना करने वाले को आयुष्य वर्धक बिल्वपत्र अर्कधतूर पुष्प रुद्राक्षमाला 'त्र्यम्बकं' मन्त्र आदि सामग्री का सदुपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार विघ्न-निवृत्त्यर्थ गणेश का पूजन करते हुए सदैव बनी रहने वाली मांगलिक द्रव्य दूर्वा का तथा सुन्दर मोदकों का उपहार भेंट करना चाहिए। भाव यह कि—जैसा देवता वैसी ही पूजा सामग्री होनी चाहिए, तभी तो लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है कि जब किसी गुंडे की पूजा करनी अनिवार्य हो जाए तो फिर 'नष्टदेव की भ्रष्टपूजा' सिद्धान्त का पालन करते हुए **'लात घूंसा कमरमध्ये लष्टिका टकणाय च'** प्रमाण के अनुसार पूजन सामग्री भी चप्पल सलीपर डण्डा सोटा ही होनी चाहिए।

अमुक देव पर अमुक द्रव्य क्यों नहीं ?

जैसे अमुक देव के लिए अमुक द्रव्य भेंट करना अत्यावश्यक समझा जाता है ठीक इसी प्रकार अमुक देव पर अमुक द्रव्य नहीं चढ़ाना यह भी व्यवस्था पाई जाती है, जैसे—

नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं न केतक्या महेश्वरम् ।
आरक्तैनार्चयेच्छम्भुं करवीराम्बुजैर्विना ।।

(रणवीर-भक्ति-रत्नाकर)

अर्थात्—विष्णु पर अक्षत, शिव पर केतकी तथा कनियर और कमल के अतिरिक्त अन्य लाल फूल न चढ़ाएँ। इसी प्रकार विष्णु गणेश पर तुलसी आदि २—यह सब पोपलीला क्यों ?—

पर्याप्त समझाने पर भी 'फूले फरे न वेंत' की भांति क्यों के मरीजों को अब भी हमारी अमुक शास्त्रीय विज्ञान पूर्ण व्यवस्था में पोपलीला की गन्ध आती है। अन्यथा जब यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार के गुणकर्म स्वभाव का देवता हो वैसी ही उस देवता की पजा की सामग्री होनी उचित है। फिर जब इसी से आपाततः यह सिद्ध हो जाता है कि तद् विरुद्ध सामग्री नहीं होनी चाहिए फिर इसमें भी 'क्यों ?' का अड़ंगा लगाना अपनी 'अर्थापत्ति' सिद्धान्त न समझ सकने की अयोग्यता का ही परिचय देना ठहरा। अस्तु जो द्रव्य जिस देवता पर न चढ़ाने की व्यवस्था है समझ लो कि वह द्रव्य अपेक्षित गुणों के विरुद्ध गुण रखता है, जैसे विवाह समय में 'राम राम सत्य' और मृत्यु के समय 'मंगल गान', दुलहा को चार मनुष्यों के कन्धे पर रक्खी अर्थी पर चढ़ाना और मृतक के शिर पर मौड़ = सेहरा बांधना।

ठीक इसी प्रकार मोक्षाधिष्ठाता देवोचित द्रव्य का प्रवृत्ति मार्ग परिष्कर्ता देव के ऊपर चढ़ाना और प्रवृत्तिमार्ग के अधिष्ठाता देवोचित द्रव्य को निवृत्तिमार्ग परिष्कर्ता देव के अर्पण करना एक प्रकार का उपासना का उपहास ही करना है, जो कथमपि मान्य नहीं हो सकता। सो शान्त रस के स्थायीभाव 'निर्वेद' को परिपुष्ट करने वाले परमाणु पुञ्ज से संघटित तुलसी पत्र को शृंगार रस के परिपोषक श्री गणेश देव पर चढ़ाना और प्रसाद समझकर साधक द्वारा निरन्तर उसका सेवन करना

उद्देश्य के विरुद्ध ही सिद्ध होगा। इसी प्रकार चावल, जो कि विष्णु के प्रधान व्रत एकादशी के उपवास में भी सर्वथा अग्राह्य माने जाते हैं—जिसका वैज्ञानिक विवेचन यथास्थान किया जाएगा—विष्णु के अर्पण नहीं किए जा सकते। इसी तरह अन्यान्य अनुल्लिखित तत्तद् वस्तुओं के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

सौ की एक बात

उपासना के प्रायः सभी सम्भावित प्रश्नों पर विचार करने के अनन्तर उपसंहार में हम पुनः पाठकों को शंकाओं के अमोघ प्रतिवज्र* 'अण्डपिण्ड-सिद्धान्त' का यहां स्मरण दिलाते हैं, जिससे सभी शंकाकों का क्षणमात्र में अकाट्य समाधान हो जाएगा।

उपासना कैसे करें ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर है—'जीवात्मा की अर्थात् तुम्हारी उपासना कैसे करनी चाहिए।'—मेरी पूजा-प्रतिष्ठा-उपासना तो मेरे जड़ शरीर की मार्फत होती है, जैसे कोई शिष्य गुरु की, सुयोग्य पुत्र माता पिता की सेवा सुश्रूषा करना चाहे तो वह उनके जड़ शरीर को स्नान कराएगा, वस्त्र पहिनाएगा, चंदनादि द्रव्य से चर्चित करेगा, पुष्पमाला अर्पण करके सुन्दर आसन पर बिठलाएगा और फिर भोजन, जल, ताम्बूल आदि यथोचित द्रव्य प्रदान करेगा। कहना न होगा कि ये सब क्रियाएँ स्थूल और जड़ शरीर पर प्रतिफलित होंगी, परन्तु इन सब कृत्यों से प्रसन्न होगा गुरु पिता व माता का सूक्ष्म चेतन जीवात्मा।

---

*टिप्पणी—देखो क्यों पूर्वार्द्ध सिद्धान्ताध्याय।

शरीर के चर्म पर जल पड़ने से चेतन बोल उठता है 'स्नातोऽहम्'ः चर्मावनद्ध अस्थिपञ्जर के गले में फूलमाला पड़ते ही सभी को यह भान होता है 'सत्कृतोऽहम्'। सो 'अण्ड-पिण्डवाद' के अनुसार यह सर्वथा अखण्डनीय सिद्धान्त स्थिर हो गया कि जैसे—मानव पिण्डस्थ चेतन जीव के सत्कार के लिये स्थूल और जड़ मानवपिण्ड पर ही सब क्रियाएं करनी पड़ती हैं, परन्तु उनसे प्रसन्नता अनुभव करता है पिण्डाभिमानी सूक्ष्म चेतन जीव ! बस [ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड व्यापक चेतन परमात्मा की पूजा प्रतिष्ठा, सम्मान और सत्कार के लिये भी सब क्रियाएं जड़ और स्थूल तत्तद् ब्रह्माण्डस्थ वस्तुओं पर ही करनी अनिवार्य हैं, परन्तु उनसे भी प्रसन्न होगा ब्रह्माण्डाभिमानी चेतन सूक्ष्म भगवान् ।

किस पर क्या चढ़ायें क्या न चढ़ायें—क्यों ?

हम यह कह आए हैं कि ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीर है, पृथ्वी आदि सब पदार्थ विराट् के अमुक-अमुक अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं। संसार में हमारे जिस अङ्ग के योग्य जो द्रव्य होता है वह द्रव्य उसी अङ्ग के अर्पण किया जाता है; जैसे—पांव में चरणपादुका, कटि में धौतवस्त्र, कन्धे पर दुपट्टा, शिर पर टोपी या पगड़ी, और हाथ में लाठी। उक्त द्रव्यों को अंग व्यवस्था के विरुद्ध शिर पर खड़ाऊँ, कटि में चोगा, कन्धों पर टोपी और मूंड पर लाठी—इस प्रकार अर्पण करने वाला व्यक्ति न केवल मूर्ख अपितु पूज्य व्यक्ति का अपमान करने वाला भी माना जाएगा। ठीक इसी प्रकार विराट् के चक्षुरूप सूर्य को अर्घ्य, मुख=अग्नि में आहुति और अमुक देवप्रतिमा पर अमुक द्रव्य

आदि जैसी भी शास्त्र की वैज्ञानिक व्यवस्था है उसके विपरीत गड़बड़ी करना वैसा ही है, जैसे कि कोई फूहड़ नायिका आँखों में महावर और ओठों पर काजल पोतकर सूर्पनखा बनने का प्रयत्न करे।

आरती में सृष्टि-प्रक्रिया

मन्दिरों में देखा जाता है कि आरती के समय शंख फूंकते हैं, ज्योति घुमाते हैं, यह सब क्यों ?—वस्तुतः आरती सृष्टि-प्रक्रिया का एक विज्ञानपूर्ण अभिनय है, जिसमें भक्तों को कौन तत्त्व कैसे बना और उन तत्त्वों का अनुक्रम तथा व्युत्क्रम क्या है—यह अतीव गम्भीर रहस्य सुतरां बता दिया जाता है। यद्यपि दुर्भाग्यवश आजकल यह तत्त्व जब पुजारी ही नहीं जानते तब दर्शकों को बताए कौन ? दूसरे सम्प्रदायों में पादरी और मुल्ला वही लोग रक्खे जाते हैं, जो कि बाइबिल चर्च के ज्ञाता और कुरान के हाफिज हों ! परन्तु सनातनधर्म में आजकल प्रायः पुजारी पद पर वही निरे निठल्ले सस्ते ग्राम्य और अक्षर-शून्य व्यक्ति रक्खे जाते हैं, जो कि अन्य कुछ काम करके अपना पेट भरने में सर्वथा असमर्थ हों। सनातनधर्म जितना वैज्ञानिक और वास्तविकता पर स्थिर है, इसके अधिकांश कथित अनुयायी उतने ही रहस्य से कोशों दूर और गड्डलिका-प्रवाह-पतित हैं, इसीलिए साक्षर व्यक्ति पुजारी बनने में अपमान सा अनुभव करते हैं। वस्तुतः इस पद पर अधिक से अधिक योग्य विद्वान् को अभिषिक्त करना चाहिए, और विद्वानों को भी उक्त पद को हीन न समझ कर जनता का उपकार करना चाहिए। अस्तु, पाठक अब जरा वेदोक्त सृष्टि-प्रक्रिया पर ध्यान दें, वेद कहता है कि:—

आत्मनः सकाशात् आकाशः सम्भूत आकाशाद् वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी । (छान्दोग्य उपनिषद्)

अर्थात्—आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई ।

आरती में भी पर्दा खुलते ही साधक सर्व प्रथम भगवान् को देखता है, फिर प्रथम तत्त्व शब्दगुणक आकाश के प्रतीक शंख को फुंकारा जाता है, फिर दूसरे तत्त्व=वायु का प्रतीक चँवर ढुलता है या वस्त्र से ही इस क्रिया का प्रदर्शन होता है, पुनः तीसरे तत्त्व=अग्नि, धूप से आरती होती है, इसके अनन्तर चौथे तत्त्व=जल का प्रदर्शन कुंभारती के रूप में होता है, अन्त में पांचवें तत्त्व=पृथ्वी का प्रदर्शन अर्चक अपनी अंगुली अंगुष्ठादि अंगों द्वारा मुद्राएँ दिखाता हुआ करता है। यह सृष्टि-प्रक्रिया का दार्शनिक अभिनय हुआ ।

दार्शनिक सिद्धान्त है कि—जिस क्रम से ये तत्त्व उत्पन्न होते हैं उसी विलोम क्रम से एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं और अन्त में वही एक आत्मतत्त्व शेष रह जाता है। सो आरती में भी पूर्वोक्त अनुक्रम दिखाने के अनन्तर फिर व्युत्क्रम आरम्भ होता है, पुनः प्रथम मुद्राएँ इसके बाद जल पूरित शंखभ्रमण, तदन्तर दीप आरती, चौथे नम्बर पर वही चमर अथवा वस्त्र प्रदर्शन और अन्त में शंख का जल दर्शक भक्तों पर छिड़क कर खाली शंख प्रदर्शन और सब कुछ हो जाने पर वही एकमात्र भगवान् के दर्शन ।

हो सकता है बहुत से पुजारी इस क्रम से अपरिचित होने के कारण अमुक कार्य को आगे पीछे भी कर डालते हों, परन्तु

वस्तुतः आरती का शास्त्रीय रूप यही है जो हमने प्रकट किया है। न्यूनाधिक शंख, वस्त्र, दीप, जलसिंचन और मुद्रा, नहीं तो हाथ जोड़ना ये मोटी २ पांच क्रियाएँ तो प्रायः सर्वत्र होती हैं, सो पाठक इनका सृष्टिक्रम की दृष्टि से मनन कर सकते हैं।

शंख बजाने से क्या लाभ ?

हिन्दूजन पूजा, आरती कथा वार्ता आदि धार्मिक अनुष्ठानों में शंख अवश्य फूंकते हैं इससे क्या लाभ ?

(क) शंखेन हत्वा रक्षांसि (अथर्व० ४। १०। २।)

(ख) अवरस्पराय शङ्खध्वम् (यजु० ३०। १९।)

(ग) यस्तु शङ्खध्वनिं कुर्यात्पूजाकाले विशेषतः ।
विमुक्तः सर्वपापेन विष्णुना सह मोदते ।।

(रणवीर भक्ति-रत्नाकर स्कान्दे)

अर्थात्—(क) शंख से सब राक्षस मारकर, (ख) शत्रुओं का हृदय दहलाने के लिए शंख फूंकने वाला व्यक्ति अपेक्षित है। (ग) पूजा के समय विशेषतः जो पुरुष शंख ध्वनि करता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, और विष्णु भगवान् के साथ आनन्द करता है। श्री जगदीशचन्द्र बसु जैसे भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने यन्त्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि एकवार शंख फूंकने पर जहाँ तक उसकी ध्वनि जाती है वहाँ तक अनेक बीमारियों के कीटाणुओं के हृदय दहल जाते हैं, और वे मूच्छित हो जाते हैं। यदि निरन्तर यह क्रिया चालू रक्खी जाए तो फिर वहां का वायुमण्डल तादृश कीटाणुओं से सर्वथा उन्मुक्त हो जाता है।

यह सभी विज्ञानवेत्ता मानते हैं कि शब्द की प्रगति में सूर्य किरणें बाधक सिद्ध होती हैं। इसलिए हमारे यहां प्रातः सायं हो प्रायः शंख फूंका जाता है, जिससे कि शंख घोष से पूरा लाभ उठाया जा सके। मूकता और हकलापन दूर करने के लिये निरन्तर शंख का शब्द श्रवण करना एक अचूक महौषधि है। निरंतर शंख फूंकने वाले व्यक्ति को कभी फुफ्फुस (फेफड़ों) का रोग नहीं हो सकता। दमा, ऊरुक्षत, कास, छर्दी, प्लीहा, यकृत् और इन्फ्लूंजा जैसे रोगों के पूर्वरूप में शंखध्वनि लाभप्रद है। इसलिये देवमन्दिर, कथाभवन आदि स्थानों में जहां मनुष्यों का अधिक जमाव होता हो, और उनके मुख से निकलने वाले श्वास से वायुमण्डल दूषित होने का पर्याप्त अवसर हो ऐसे स्थानों में शंख बजाकर प्रथम ही वायुमण्डल को विशुद्ध बनाना बहुत लाभप्रद है।

शङ्ख का जल क्यों छिड़का जाए ?

अभी नीराजन आरती के प्रसंग में शंख में जल भरकर दर्शकों पर छिड़कने का उल्लेख किया गया है यह क्यों ?

ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि—

जलेनापूर्य शंखे च तत्र संस्थापयेद् बुधः ।
पूजोपकरणं तेन, जलेन क्षालयेत्पुनः ।।

(ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड २६।६७)

अर्थात्—शंख में जल भरकर देवस्थान में रक्खे, पुनः उससे समस्त पूजा सामग्री का प्रक्षालन करे।

'वस्तु वैचित्र्यवाद' के अनुसार शंखस्थ जल और वह भी विष्णु भगवान् की प्रतिमा के सामने उपहृत परम पवित्र माना गया है। अथर्ववेद में शंख को मणि नाम से स्मरण किया है और इसकी महिमा के वर्णन में पूरा एक सूक्त भरा है। पात्र के संयोग से अमुक वस्तु भी उसके गुणों से प्रभावित हो जाती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, जैसे पीतल के वर्तन में मट्ठा विकृत हो जाता है, कांसे और ताम्बे वर्तन में भी घृत आदि द्रव्य बिगड़ जाते हैं, इसी प्रकार अमुक पात्र में तत्तद् वस्तुवें तद्गुण-सम्पन्न हो जानी स्वाभाविक हैं। सो शंखस्थ पावक गुणोंसे अन्यान्य वस्तुवों और दर्शकों को भी लाभान्वित कैसे किया जाए–इसका सहज उपाय यही हो सकता है कि तत्संयुक्त जल में शंख के गुणों का आधान करके फिर उसे सर्वत्र वितरण किया जाए। इस क्रिया में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जल में डाले हुए द्रव्यों की विशेषता सौ गुणी हो जाती है, यह हम 'वस्तु वैचित्र्यवाद' प्रघट्ट में सिद्ध कर आये हैं। सो शंखस्थ जल के सेचन से संस्पृष्ट समस्त वस्तुजात विशुद्ध हो जाती है। सगर्भा स्त्री यदि शंखस्थ जल द्वारा स्नात शालिग्राम शिला का चरणामृत पान करे तो अन्यान्य लाभों के साथ उससे प्रसूत बालक कभी मूक नहीं हो सकता। रुक-रुककर बोलने वाले हकले व्यक्ति पर तो हमने शंखजल पान का स्वयं प्रयोग करके देखा है। पाठक स्वयं भी अनुभव कर सकते हैं। धैर्य और नैरन्तर्य की आवश्यकता है, लाभ अवश्य होगा।

आरती कितनी बार, और क्यों घुमानी चाहिये ?

आरती केवल अन्धकार में बैठे भगवान् की प्रतिमा को

भक्तों को दिखाने मात्र को नहीं की जाती, क्योंकि झाड़ फानूस और बिजली के प्रखर प्रकाश की विद्यमानता में भी टिमटिमाता दीपक लेकर निरन्तर आरती की ही जाती है। अतः यह एक शास्त्रीय विधान है जिसे दुर्भाग्यवश आज प्रायः पुजारी भी नहीं जानते कि दीपक को बाएं से दाएं और दाएं से बाएं किधर क्या, कितनी बार, घुमाना आवश्यक है ?

इसका वास्तविक रहस्य 'भावनावाद' सिद्धान्त के अनुसार यह है कि जिस देवता की आरती करने चलें उसी देवता का बीज-मन्त्र स्नान-स्थाली, नीराजन स्थाली, घण्टिका और जल कमण्डलू आदि पात्रों पर चन्दनादि से लिखना चाहिए और फिर आरती के द्वारा भी उसी बीजमन्त्र को देवप्रतिमा के सामने बनाना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति तत्तद् देवताओं के विभिन्न बीजमन्त्रों का ज्ञान न रखता हो तो सर्ववेदों के बीजभूत प्रणव= ॐकार को ही लिखना चाहिए, अर्थात् आरती को ऐसे घुमाना चाहिए जिससे कि 'ॐवर्ण' की आकृति उस दीपक द्वारा बन जाए।

कितनी बार घुमाना ? इसका रहस्य यह है कि शास्त्र में जिस देव की जितनी संख्या लिखी हो उतनी ही बार आरती घुमानी चाहिये। जैसे विष्णु, आदित्यों में परिगणित होने के कारण द्वादशात्मा माने गये हैं, इसलिये उनकी तिथि भी द्वादशी है और महामन्त्र भी द्वादशाक्षर है अतः विष्णु की आरती में बारह आवर्तन आवश्यक हैं। सूर्य सप्तरश्मी है, सात रंग की विभिन्न सात किरणों वाले, सात घोड़ों से युक्त रथ में बैठा है। सप्तमी तिथि का अधिष्ठाता है। अतः सूर्य आरती में सात बार बीजमन्त्र का उद्धार करना आवश्यक है। दुर्गा की नव

संख्या प्रसिद्ध है, नवमी तिथि है नव अक्षर का ही नवार्ण मन्त्र है, अतः नौ बार आवर्तन होना चाहिए। रुद्र एकादश हैं, अथवा शिव, चतुर्दशी तिथि के अधिष्ठाता हैं. अतः ११ या १४ आवर्त्तन आवश्यक हैं। गणेश चतुथ तिथि के अधिष्ठाता हैं, इसलिए चार आवर्तन होने चाहियें। इसी प्रकार मन्त्र संख्या या तिथि आदि के अनुरोध से अन्यान्य देवताओं के लिए भी कल्पना कर लेनी चाहिए। अथवा सभी देवताओं के लिए सात वार भी साधारणतया किया जा सकता है। जिसमें चरणों में चार बार, नाभि में दो-बार और मुख पर दो बार।

आरती लेनी क्यों चाहिये ?

भगवान् की आरती हो जाने के बाद सब भक्त उस ज्योतिः पर हाथ घुमाकर अपने-अपने मुख पर लगाते हैं यह क्यों ?

शास्त्र में लिखा है कि—

(क) यथैवोर्ध्वगतिर्नित्यं राजन् ! दीपशिखा शुभा ।
दीपदातुस्तथैवोर्ध्वगतिर्भवति शोभना ॥

(रणवीर भक्तिरत्नाकर विष्णुधर्मोत्तरे)

(ख) नीराजनबलिर्विष्णोर्यस्य गात्राणि संस्पृशेत् ।
यज्ञलक्षसहस्राणां लभते स्नानजं फलम् ॥

(रणवीर भक्तिरत्नाकर भविष्यत्)

अर्थात्—(क) हे राजन् ! जैसे दीपक की लौ नित्य ऊपर को जाती है, इसी प्रकार दीप-दान=आरती करने वाले भक्त को भी ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है। (ख) भगवान् की ज्योतिः

आरती जिस भक्त के गात्र को स्पर्श करती है उसे सहस्रों यज्ञान्त अवभृथ स्नानों का फल मिलता है।

'भावनावाद' सिद्धान्त के अनुसार भक्त-जन ज्योति की निरन्तर ऊंचे उठती हुई 'लौ' को देखकर यह भावना दृढ़ करता है कि जैसे यह ज्योति की शिखा चारों ओर बराबर रिक्त स्थान होते हुए भी इधर-उधर न जाकर केवल ऊपर को ही जाती है क्योंकि इस अग्नि का उत्पादक मूल स्रोत सूर्य भगवान् ऊपर द्यौः लोक में ही विराजमान हैं। अतः यह अग्नि सूर्य का अंश होने के कारण अपने अंशी सूर्य की ओर ही सदैव अभिमुख होता है। इसी प्रकार मुझ नर को भी अपने उद्गम-केन्द्र नारायण प्रभु की शरण में ही जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देव-प्रतिमा के सान्निध्य से तथा बीज मन्त्र के अभिमन्त्रण से प्रभावित विद्युत् ज्योति का हाथों द्वारा ग्रहण करके ज्ञानेन्द्रियों के केन्द्र स्थान अपने मुख में आधान करना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी है, जिससे भक्तों के ज्ञान तन्तुओं में एक विलक्षण अदृष्ट स्फुरणा उत्पन्न होती है, और जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव 'मैस्मरेजम' के अभ्यासी मास्टरों द्वारा इसी प्रकार अपने हाथों के व्यापार से अमुक व्यक्ति को मूर्छित तक कर सकने में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

चरणामृत क्यों ले ?

दण्डवत् प्रणाम का वर्णन 'क्यों 'पूर्वार्ध' के 'अभिवादन-विज्ञान' प्रघट्ट में हो चुका है। अब क्रमप्राप्त चरणामृत लेने की इतिकर्तव्यता का निरूपण किया जाता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) पापव्याधिविनाशार्थं, विष्णुपादोदकौषधम् ।
तुलसीदलसंमिश्रं, जलं सर्षपमात्रकम् ।।
(र० भ० र० बृहन्नारदीये)

(ख) यथौषधेन देहस्थं हन्यते देहिनो विषम् ।
तथैव पातकं सर्वं विष्णुपादोदकं हरेत् ।।
(र० भ० र० पाद्मे)

(ग) अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
सर्वपापक्षयकरं विष्णोः पादोदकं शुभम् ।
(रणवीर भक्ति-रत्नाकर)

(घ) तुलसीगन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः ।
विदिशश्च दिशः पूताः भूतग्रामश्चतुर्विधः ।।
(र० भ० र० स्कान्दे)

(ङ) पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः ।
शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासनम् ।
(र० भ० र० गारुड़े)

(च) तुलसीस्पर्शनेनैव नश्यन्ति व्याधयो नृणाम् ।
(क्रिया योगसार-पाद्मे)

अर्थात्—(क) पाप व्याधियों को दूर करने के लिये विष्णु भगवान् के चरणों का अमृत रूप-जल सर्वोत्तम औषधि है । उसमें तुलसी दल का सम्मिश्रण होना चाहिए और वह जल

सरसों का दाना जिसमें डूब सके इतने प्रमाण में होना चाहिए। (ख) जैसे विषघ्न औषधि के सेवन से शरीर का विष नष्ट हो जाता है इसी प्रकार चरणामृत समस्त पातकों का नाश करता है। (ग) अकाल मृत्यु दूर करता है, सब रोगों को नष्ट करता है और पवित्र चरणामृत सब पापों का भी क्षय करता है। (घ) तुलसी की गन्ध से सुवासित वायु जहां तक घूमता है वहाँ तक दिशा और विदिशाओं को पवित्र करता है और उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज चारों प्रकार के प्राणियों का प्रीणन करता है। (ङ) नित्य भगवान् का चरणामृत पीना चाहिए और भगवत्प्रसाद खाना चाहिए, शेष पुष्प चन्दन आदि द्रव्य शिरोधार्य करने चाहियें—यह वैदिक अनुशासन है। (च) तुलसी के स्पर्शमात्र से मनुष्यों की व्याधि नष्ट हो जाती है।

वैज्ञानिक-विवेचन

तुलसी की उत्पत्ति, उसका शालिग्राम शिला से सम्बन्ध, तथा विष्णु भगवान् का उक्त दोनों पदार्थों से वैज्ञानिक सम्पर्क एवं उक्त सब आख्यानों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तात्पर्य आदि सब बातें 'पुराणदिग्दर्शन' ग्रंथ के विष्णु वृन्दा प्रघट्ट में विस्तारपूर्वक लिखी जा चुकी है, वहीं चरणामृत के द्वारा पूर्वोक्त फलों की प्राप्ति का भी विवेचन किया गया है। इसलिये यहां हम पुनरपि पिष्टपेषण न करते हुवे केवल इतना अधिक कह देना चाहते हैं कि अन्यान्य सम्प्रदायों को जीना तो आता ही नहीं, उनको मरना भी नहीं आता। आर्यसमाजी भाई अपने अन्त्येष्टि संस्कार की बड़ी प्रशंसा

किया करते हैं और कहा करते हैं कि 'संस्कार विधि के अनुसार हमारे यहां मुर्दे की लाश के बराबर [तोलकर ही यह सम्भव है] घी और इतना ही चन्दन, इतनी ही केसर आदि सुगन्धित वस्तुएँ डालनी लिखी हैं सचमुच हमारी अन्त्येष्टि बहुत ही शानदार है, सनातनधर्म में ऐसा विधान नहीं।' एक महाशय ने बड़े ही गर्व के साथ एक बार जब हमसे यह चर्चा की तो मैंने पूछा कि जहां तक संस्कार-विधि की पंक्तियों का सम्बन्ध है निःसंदेह आपकी अन्त्येष्टि गर्व की वस्तु है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि आप तो मर ही जाएंगे, ये सब वस्तुएं आपके साथ जलाना या न जलाना यह तो घर वालों की कृपा पर निर्भर है। यदि वह न डालें तब ?। प्रत्यक्ष भी देखने में आ रहा है कि लाश के बराबर क्या ?—आपकी खोपड़ी के बराबर भी घी नहीं डाला जाता, चन्दन केसर की तो कथा ही क्या है ? फिर ऐसी पराधीन व्यवस्था पर इतना इतराना अनावश्यक है, कहीं संस्कार विधि के कोरे काले लेखमात्र पर फूलकर झटपट मरने के लिए उद्यत हो जाने की भूल मत कर बैठना ! हमने और भी बहुतसी विनोदपूर्ण आलोचना की।

हमारी इस सच्ची आलोचना पर महाशय जी सन्नाटे में आ गए, बोले—'बात तो ठीक है ! वाकई सभी सम्बन्धी अपने-अपने स्वार्थ के होते हैं, फिर ऐसा क्या उपाय हो सकता है कि जिससे घरवाले कंजूसी न कर सकें ? मैंने कहा—महाशय जी, यदि आप हमारे महर्षियों की विधि को प्रयोग में लावें तो फिर आपको घरवालों की कृपा पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं किन्तु अपनी अन्त्येष्टि की आवश्यक सामग्री आप स्वयं पहिले से ही जुटा सकेंगे और चन्दन केसर का इतना स्टाक आप बिना दाम दिए अपने साथ रख सकेंगे, कि जिससे घर वालों की

कंजूसी का खतरा आपके जीवन काल में ही समाप्त हो जाएगा। महाशय जी बोले वह कैसे ? मैंने कहा—आप नित्य नियमपूर्वक दोनों समय मन्दिर में जाकर भगवान् का चरणामृत लिया करें। चरणामृत में चन्दन, केसर आदि द्रव्य सम्मिलित रहते हैं, यदि नित्य दो रत्ती भर भी ये द्रव्य आपके देह में गए तो चालीस-पचास वर्ष की अवशिष्ट आयु में भी अवश्य ही कई सेर पेट में समा जाएँगे। आपका यह देह ही चन्दन केसर बन जायगा, फिर इस पर खर्च भी कुछ न होगा और घर वालों का व्यर्थ भरोसा भी न करना पड़ेगा ! महाशय जी बड़े प्रभावित हुए। सो त्रिदोषघ्न तुलसीदल और स्वर्णकरण-संघटित शालिग्राम का जल धार्मिक दृष्टिसे तो उपादेय है ही, परन्तु साथ ही यह आ राजा-रंक सब के लिए स्वर्णघटित मकरध्वज महौषधि की भान्ति नितांत बलवर्द्धक एक टानिक भी तो है, जिसके सेवन से किसी भी रोग के कीटाणु ही शरीर में नहीं पनप सकते।

तुलसी के पौधे से संस्पृष्ट वायु जहाँ तक घूमता है वहाँ तक मलेरिया आदि रोगों के कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं—यह रहस्य शास्त्रीय प्रमाणों में तो सुस्पष्टतया पीछे अंकित किया ही गया है, परन्तु वनस्पति-शास्त्र विशेषज्ञ श्री जगदीशचन्द्र बसु महोदय ने अपने यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष भी यह सब के सामने प्रकट कर दिखाया है।

क्या भगवान् खाते हैं ?

मन्दिरों में मूर्तियों को भोग लगाया जाता है—क्या भगवान् खाते हैं ?

भगवान् ने गीता आदि शास्त्रों में **'तत्कुरुष्व मदर्पणम्'** आदि वचनों में पत्र, पुष्प, फल, जल प्रत्येक वस्तु को अपने को अर्पण करने का आदेश दिया है तदनुसार प्रत्येक भगवद्भक्त भगवान् की आज्ञा पालन करने के लिए भगवान् को भोग लगाते हैं। 'वे उसे खाते हैं या नहीं खाते हैं ?'—ऐसी आशंका भगवद्भक्त नहीं करते। 'भावनावाद' सिद्धान्त के अनुसार शास्त्र-विश्वासी भक्त तो ऐसा ही समझते हैं कि वे अवश्य खाते हैं, क्योंकि धन्ना, नामदेव, चेता आदि ऐसे बहुत से कलियुगीय भक्तों की भी गाथाएँ सुप्रसिद्ध हैं कि इन भक्तों की दृढ भावना के अनुसार भगवान् ने प्रत्यक्ष होकर भी अर्पित वस्तु को खाया है। परन्तु कदाचित् किसी दुराग्रही हठवादी की मान्यता के अनुसार यदि भगवान् न भी खाते हों तो भी इसमें भक्तों की कुछ हानि नहीं। क्योंकि भक्त तो केवल अपने स्वामी की आज्ञा पालनार्थ सब कार्य करते हैं और यह मानते हैं, कि ऐसा करने से भगवान् हम पर प्रसन्न होंगे। सो संसार में भी यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि गुरुजन अपना भी ग्रास स्वयं न खाकर आज्ञाकारी बाल-बच्चों को ही खिलाते-पिलाते हैं इसमें उन्हें परम हर्ष होता है।

कहा जाता है कि 'एक मनुष्य के दो बेटे थे। छोटे का नाम चुन्नू और बड़े का नाम मुन्नू था। कभी किसी पर्व उत्सव के समय दोनों ने बड़ी प्रार्थना के बाद पिता से चार २ पैसे प्राप्त किये। छोटा मेले में उन पैसों की पकौड़ियें खरीदकर अकेला खा गया और बड़े ने रेवड़ी खरीदी तो पिता की शिक्षा का स्मरण आगया कि—पिताजी कहा करते हैं कि 'कोई वस्तु अकेले नहीं

खानी चाहिए, सो दौड़ा २ घर आया और मित्र मंडली में बैठे पिता के सामने रेवड़ियों से भरा पल्ला उघाड़ कर नम्रतापूर्वक बोला—पिताजी ! आप ले लीजिए। बालक की इस चेष्टा पर पिताजी बहुत प्रसन्न हुवे। यद्यपि उन्होंने उनमें से एक भी रेवड़ी को छुआ तक नहीं, परन्तु बालक की आज्ञापालन प्रवृत्ति पर वे फूले नहीं समाये। मित्र-मंडलीने भी बालकको बहुत प्रशंसा की, सबने प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार रूप में और भी पैसे दिए। सायंकाल जब चुन्नू जो तशरीफ लाए तो उसके अकेला खाने की आदत पर सब ने बहुत डांट-डपट की, पुनः उसे कभी पैसा नहीं दिया गया।'

ठीक इसी प्रकार परमात्मा के दो प्रकार के पुत्र हैं—एक आस्तिक दूसरे नास्तिक। दोनों ही पिता के सामने रो रोकर चार पैसे पाते हैं, (कहना न होगा कि दुकान, कचहरी, खेत, कारखाना आदि सब रोदन के स्थान हैं, जहां संसारी पुरुष नित्य नाना भांति से रोते हैं, जिसके उपलक्ष्य में मिलने वाले पुरस्कार का नाम इसीलिए 'रोपय्या' अर्थात्—रोओ तो पाता है—कहा जाता है) नास्तिक छोटे बेटे चुन्नू की तरह ईश्वरप्रदत्त पदार्थों को स्वयं अकेले खा जाते हैं, जिससे सदैव दरिद्र जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु सनातनधर्मी ·न्नू की भांति वेद शास्त्रों की आज्ञा का स्मरण करके प्रथम देव, पितर, अतिथियों को अर्पण करके पश्चात् उनका प्रसाद ग्रहण करते हैं। सो आस्तिकों की इस भगवदाज्ञा-पालनात्मक प्रवृत्ति पर श्रीमन्नारायण प्रसन्न होकर उन्हें अधिकाधिक ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करते हैं। इसलिए यदि भक्त की भावना दृढ़ हो तो भगवान् हजार बार खाते हैं,

उनको तो कोई खिलाने वाला चाहिए। और कदाचित् न भी खायें तब भी—जैसे बड़े २ सम्राटों को अर्पित किया हुआ किसानों की ओर से एक रुपया भेंट=नजराना दिखाने मात्र से राजभक्ति का परिचायक माना जाता है—वैसे ही भगवान् को भोग लगाना भी आस्तिकता का प्रमुख लक्षण है।

खाते हैं तो घटता क्यों नहीं ?

यदि सचमुच भगवान् खाते हैं तो फिर सामने रक्खा पदार्थ घटता क्यों नहीं ? जैसे फूल पर बैठा भ्रमर उसके गन्ध से परितृप्त हो जाता है परन्तु फूल का तोल वजन कम नहीं होता, इसी प्रकार स्थूल मूर्ति में व्याप्त सूक्ष्म भगवान्, भोग में रक्खे तत्तत् स्थूल पदार्थों के तोल वजन के न्यूनाधिक्य को ही परख सकता है सूक्ष्मांश की न्यूनता किंवा अधिकता जान सकने की उसमें योग्यता नहीं। इसीलिए भगवान् को अर्पण किए पदार्थ तोल वजन संख्या परिमाण में घटते नहीं, बल्कि उनका सूक्ष्मांशभूत-रस भगवदास्वादित होने के कारण बढ़ जाता है। इसीलिए घर में भरपेट खाए हुए पदार्थों में भक्तों को उतना रस नहीं मिलता जितना कि टकाभर मन्दिर के साधारण प्रसाद में प्राप्त होता है। घर में दूध, दही, शहद मिलाकर पीने में वह रस नहीं जो छूछी भर सत्यनारायण भगवान् के चरणामृत में मिलता है। भगवान् का भोग लग जाने पर इन वस्तुओं का स्वाद ही अपूर्व हो जाता है जिसे अनुभवी व्यक्ति ही जान सकता है। यह भी उस प्रभु के अनन्त गुणों में से एक गुण है, कि वह भक्त द्वारा अर्पित वस्तु को खा भी लेता है पर वह घटती नहीं, किन्तु बढ़ जाती है।

ज्ञान-काण्ड-विचार

(न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)

कर्म और उपासना मोक्ष के बहिरंग साधन हैं, परन्तु 'ज्ञान' मोक्ष का अन्तरंग साधन माना गया है इसलिए शास्त्र का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष-प्राप्ति हो ही नहीं सकती। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने पदे २ ज्ञान का उत्कर्ष प्रकट किया है। 'ज्ञान के समान अन्य कोई साधन अध्यात्म-मार्ग में पवित्र नहीं है।' 'अनेक जन्म तक साधना करते २ मनुष्य 'ज्ञानवान्' बनता है तब मुझे प्राप्त होता है।' 'यद्यपि सभी साधक भक्त मुझे प्रिय हैं परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है।'—भगवान् के इत्यादिक उद्गार 'ज्ञान' की महिमा समझने के लिए पर्याप्त हैं।

जैसे लोक में भी अमुक वस्तु का परिज्ञान अनेक लौकिक कष्टों को दूर कर देता है, वेद के शब्दों में जैसे यह समझ लेने पर कि 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अर्थात्—अग्नि शीत को दूर करने का अमोघ साधन है—कोई भी शीतार्त व्यक्ति सर्दी के कष्ट से उन्मुक्त हो सकता है; अग्नि के प्रकाश गुण के परिज्ञान से अंधकार से तात्कालिक मुक्ति मिल जाती है। अन्न से भूख की, और जल से प्यास की निवृत्ति हो जाती है। आग्नेय वाष्प की शक्ति के परिज्ञान से ही साम्प्रतिक स्टीम सञ्चालित यन्त्रों का आविष्कार हुआ है जिनसे अनेक भौतिक कष्ट सीमित हो गए हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के इदमित्थं ज्ञान से राग-द्वेषजन्य तत्तत् कल्पित सुखों और दुःखों की अत्यंत

निवृत्ति हो जाती है। प्रकृति संचालित जगच्चक्र अपनी अबाध गति से यथापूर्व चलता रहता है, परन्तु जीवात्मा अपने कर्तृत्व की अहंकारजन्य भावना से रहित हो जाने के कारण भोक्तृत्व के आरोप से छुट्टी पा जाता है। जीव की इसी स्थिति का अपर नाम जीवन-मुक्ति किंवा विदेह-मुक्ति कहा जाता है। ज्ञानी को भी लोक-संग्रह के लिए शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है, भगवदुपासना भी तथैव करणीय है, परन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व की भ्रममूलक आस्था का तिरोभाव हो जाने के कारण न वे कर्म बन्धन हेतु रहते हैं न वह उपासना ही लौकिक फलानुगामिनी मात्र रहती है, किन्तु कर्म लोकोपकार-फलक और उपासना आत्म-निवेदनमूलक बन जाती है।

प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में द्वैतवात, अद्वैतवाद और सर्ववाद-समन्वित विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धांत का प्रतिपादन 'नारायण-तत्त्व-निरूपणाध्याय' में किया जा चुका है। अपनी २ निष्ठा के अनुसार उक्त वादों में से किसी भी वाद का पुजारी अन्ततोगत्वा एकमात्र श्रीमन्नारायण के परमतत्त्व का ही विश्वासी बन जाता है यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। द्वैतवाद में उपास्य-उपासक-भावना का दृढ़ीकरण श्रीमन्नारायण-तत्त्व के सर्वोपरित्व में परिणत हो जाता है। अद्वैतवाद में अनात्म वस्तु की सत्ता का अभाव, अन्वय और व्यतिरेक से एकमात्र श्रीमन्नारायण तत्त्व की सार्विकता में ही पर्यवसित है। एवं चित्-अचित्-विशिष्ट नानानाम-रूपात्मक प्रपञ्च का पंचीकरण तो **'वासुदेवः सर्वमिति'** की दृढ़ धारणा से **'नारायणात्परतरं नहि किञ्चिदस्ति'** का साक्षात् निदर्शन है ही, यही ज्ञान की चरम सीमा है।

क्या ज्ञान सस्ता सौदा है ?
(ज्ञान की बात कृपाण की धारा)

कहने में ज्ञान की बातें बड़ी रोचक और सरस मालूम पड़ती हैं। खासकर अद्वैतवाद की **'अहं ब्रह्मास्मि'** की भावना तो जन्म-जन्मान्तर के रंक को **'चक्रवर्ती'** बन जाने के मीठे स्वप्न के समान अतीव रुचिकर प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में ये सब बातें कथन में जितनी आनन्दोद्रेककारिणी हैं तादृशी निष्ठा के निर्माण में उतनी ही कठिन हैं।

द्वैतवाद का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि जीव की सत्ता को ब्रह्म से सर्वथा और सर्वदा पृथक् मानकर व्यक्ति स्वयं सर्वात्मना ईश्वर कृपा पर अवलम्बित रहे, किन्तु जब द्वैतवादी का समस्त जगत् उपास्य और उपासक दो भागों में विभक्त हो जाता है तब अपने आपको एकमात्र उपासक स्वीकार कर लेने पर शेष समस्त प्रपंच आपाततः भगवत्-विग्रहात्मक होने के नाते उपास्य ही तो बन जाता है। ऐसी स्थिति में जो कथित द्वैतवादी आयु भर शैली दारुमयी आदि अष्टविध मूर्तियों की पूजा करते २ भी विश्वात्मा भगवान् का उपासक नहीं बन पाता वह **'भस्मन्येव जुहोति सः'** के अनुसार राख में ही घी होमता रहा है।

कथित अद्वैतवादी भी यदि **'अहं ब्रह्मास्मि'** की तोता रटन का तात्पर्य केवल यह समझ बैठता है कि जब मैं स्वयं ब्रह्म हूँ तो अब मेरे लिए अन्य कोई उपास्य हो ही नहीं सकता ! **'अहं ब्रह्मास्मि'** का ज्ञान हो जाने पर कर्मानुष्ठान का प्रपञ्च अकिञ्चित्कर है !! जब आत्मा निर्लेप है तो फिर पाप

पुण्य का पचड़ा अज्ञानियों को आतङ्कित करने मात्र के लिये हो सकता है इत्यादि !!!

ऐसी स्थिति में जो 'अद्वैतवाद' सर्वोदय भावना का जनक होना चाहिए था वही अहङ्कृति का जन्मदाता हो जाने पर कथित अद्वैतवादी के पतन का मुख्य कारण बन जाता है। ऐसे ही जोवट जीवों को लक्ष्य करके—'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका यथा।' आप गए अरु औरहिं घालहीं—आदि उक्तियें अनुभवी लोगों ने कही हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद यद्यपि एक सर्वभौम सिद्धान्त है, परन्तु उसको एकमात्र अपनी ही बपौती मानने वाले कुछ कथित विशिष्टाद्वैती 'खड़ियन्—अड़ियन्—तनया और अमनिया'* की सीमा तक ही इसे सीमित रखना चाहते हैं। दक्षिण भारत के कथित विशिष्टाद्वैतवादी और अद्वैतवादी तो वैष्णवता और शैवता के नाम पर गृहयुद्ध करते रहने में ही सिद्धान्तरक्षा के स्वप्न देखते हैं। यदि अन्य मतानुयायी लड़ने को न मिलें तो फिर 'बड़गल' 'तिंगल' के कल्पित भेद को आधार बनाकर आपस में ही जोर आज़मायी करने लग जाते हैं। हम यह कटु सत्य कहे बिना नहीं रह सकते कि 'विशिष्टाद्वैतवाद' जितना ऊँचा

---

* टिप्पणी—निरन्तर घूमने वाले श्रीवैष्णव सामान से भरा टाट का लम्बा थैला कन्धे पर दोनों ओर लटकता हुआ प्रायः रखते हैं जिसे वे 'खडिया' कहते हैं। अभिवादनार्थ परस्पर दाक्षिणात्य भाषा के 'अड़ियन' शब्द का प्रयोग करते हैं। अपनी गुरुपरम्परा का पद्य तत्परता से कण्ठस्थ रखते हैं जिसे 'तनया' कहा जाता है। जो व्यक्ति उक्त तीनों साम्प्रदायिक लक्षणों से युक्त हो, उसे अब प्रत्येक मठाधीश से भोजन सामग्री प्राप्त करने का मानों अधिकार प्राप्त है जिसे 'अमनिया' कहा जाता है।

सिद्धान्त है उसके अनुयायी होने का दम भरने वाले सज्जन आज उतने ऊंचे नहीं। प्रत्येक सम्प्रदाय की श्रेष्ठता का मानदण्ड केवल उसका सिद्धान्त ही नहीं होता अपितु तदनुयायी वर्ग भी होता है। यह ठीक है कि विशिष्टाद्वैतवादियों में अनेक महापुरुष हुए हैं और अब भी हैं, परन्तु एतावता निरन्तर अनुभूत सार्वजनीन संकीर्णता के आधिक्य का अपलाप नहीं किया जा सकता।

जैसे प्रत्यक्ष दम्भ का बातचीत करने पर झटिति पर्दा फास हो जाता है परन्तु **'मौनदम्भो दुरत्ययः'** के अनुसार मौनी बाबा के दम्भ का बहुत दिन तक भेद नहीं खुल पाता, ठीक इसी प्रकार कर्मनिष्ठ और उपासनानिष्ठ साधक की प्रत्यक्ष दृष्ट उपचार सामग्री और उसके उपयोग के बाह्य विधि-विधान से आभ्यन्तरिक श्रद्धा विश्वास का दर्शक को आभास मिल सकता है और उसके पाखण्ड का भी पता चल सकता है, परन्तु ज्ञाननिष्ठ पुरुष की निष्ठा का किन्हीं प्रत्यक्ष उपकरणों से तो अनुमान किया नहीं जा सकता; 'यह वास्तविक ज्ञानी है और यह कथित ज्ञानी है'— ऐसा विश्लेषणात्मक बोध सर्वसाधारण को नहीं हो सकता, इसलिए आज ज्ञान के नाम पर जितना पाखण्ड, अनाचार, दुराचार और अत्याचार का बोलबाला हो रहा है उतना अन्य किसी नाम पर नहीं। एक अधेले कीमत की गेरू की गंठिया साक्षात् राम की भी अर्धाङ्गिनी को विश्वासघातपूर्वक चुरा सकने का अवसर दे सकती है। लाखों अबोध बालक और भोली-भाली विधवाएँ क्या—सधवाएँ भी आज कथित ज्ञानियों के गुरुडम

की प्रचण्ड अग्नि में भस्मसात् हो रही हैं, अनेकों मण्डलेश्वर रण्डलेश्वर बने अपने दोनों लोक नष्ट कर रहे हैं।

क्या चतुर्थाश्रमी स्त्रियों को चेली बना सकता है ?

(पदापि युवतिं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि)

मनुस्मृति आचार प्रकरण में कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड नाम त्रिविध दण्ड-सम्पन्न चतुर्थाश्रमी को ही वास्तविक दण्डी बतलाया है जिसका काय, वाणी और मन: पर नियंत्रण न हो ऐसा व्यक्ति भी यदि वेणुदण्ड का भार उठाए घूमे तो उसे भारवाही ही समझना चाहिए। श्रीमद्भागवत के **'त्रिदण्डी द्वारकामगात्'** आदि अनेक प्रमाणों से भी चतुर्थाश्रमी का दण्डत्रय सम्पन्न होना सिद्ध होता है। जो महापुरुष प्रतिज्ञा-पूर्वक काय, वाग् और मन: तीनों के दमन का व्रत धारण करते थे और तदुपलक्षणभूत बाह्यचिह्न त्रिदण्ड को धारण करते थे, किंवा युगपत् तीनों के दमन को कठिन समझकर किसी एक के दमन का व्रत लेते थे और तदुपलक्षणभूत एक दण्ड को भी धारण करते थे तो वे—**'दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्'** अर्थात्—तादृश दण्ड ग्रहण करने मात्र से नर से नारायण पद के अधिकारी बन जाते थे। परन्तु अब अर्धविदग्ध लोग **'नारि मुई गृह सम्पति नासी। मूंड मुडाइ भए सन्यासी'** के अनुसार बांस के डण्डे हाथ में थाम कर ही अपने आपको मानवेतर प्राणी समझने लग जाते हैं।

कुछ सज्जन तो वर्णाव्यवस्थानुसार जन्मना संन्यासाश्रम के अनधिकारी होने पर बलात् तादृशी वेषभूषा बनाकर जगद्-वञ्चना के साथ २ आत्मवञ्चना भी कर डालते हैं। शास्त्र कहता है कि गुरुकृत अघ का षष्ठांश शिष्य को प्राप्त होता है और शिष्यकृत पाप के षष्ठांश का भागी गुरु बनता है, तथापि एक दूसरे का परीक्षण किये बिना ही आज गुरु शिष्य-परम्परा की बाढ़ सी आगई है। कलियुगी सिद्धों का अनुभव है कि चेलों की अपेक्षा चेलियाँ बनाना अधिक लाभदायक है। उनका सूत्र हैं कि—'चेला दे अधेला, और चेली दे अधेली, साथ में गुड़ की भेली, और एकान्त में आवे अकेली'। बात बहुत सही है। अपने हाथों कमाने वाला परिश्रमी तो मितव्ययितापूर्वक तोल नापकर ही खर्च करेगा परन्तु स्त्री को पुरुष के गाढ़े खून-पसीने की कमाई का अपव्यय करते क्या दर्द ? वह इतनी दिलेर बन जाती है कि अधेले के स्थान से अधेलियों की बखेर करने में भी देर नहीं लगाती। कहाँ उपनिषदों के वे कथानक कि जहाँ ब्रह्मवादी गुरु समागत शिष्य को बार २ बारह वर्ष तक अमुक व्रत धारण करने पर अधिकारी बन सकने का आदेश देते थे। और कहां वर्तमान काल के 'गोरू' जी, जो फूल बताशे और नोट की धज्जी हाथ में थमें देखते हो—'कानाबाती कुर्र, तू चेली मैं गुर्र' बनाने को उतावले रहते हैं।

गुरुदीक्षा का एक अंग 'हृदयालम्भन' भी है अर्थात् गुरु-शिष्य के हृदय प्रदेश पर अपना हाथ रखकर—'**मम व्रते ते हृदयं दधामि**' आदि मन्त्रोच्चारण करता हुआ अपनी उपार्जित आध्यात्मशक्ति को शिष्यके हृदय में प्रविष्ट करता है। यह 'शक्तिपात' का शास्त्रीय सिद्धान्त नितांत विज्ञानपूर्ण है। उपनयन के समय

गुरु उपनीत शिष्य के हृदय पर और विवाह-संस्कार के समय पति पत्नी के हृदय पर हाथ रखकर उक्त विधान का पालन करता है। अब विचारणीय है कि जिस चतुर्थाश्रमी के लिए काठ की पुत्तलिका का पांव से भी स्पर्श करना शास्त्र में वर्जित है वह किसी जीती-जागती स्त्री के वक्षःस्थल पर अपना पुनीत (?) कर-कमल रखने का कैसे दुःसाहस कर सकेगा। यही कारण है कि तत्तत् साम्प्रदायिक दीक्षाओं के विधान में मुद्रा लगाकर किंवा कण्ठी बांधकर उपर्युक्त 'हृदयालम्भन' का उपकल्परूपेण निर्वाह किया जाता है। इसलिए चतुर्थाश्रमी किसी स्त्री को दीक्षित शिष्या नहीं बना सकता।

मनूक्ति **'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्'** के अनुसार एकमात्र पति ही स्त्री का गुरु होता है। मनु महाराज ने उक्त श्लोकमें 'एव' शब्द लगाकर पति के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्त्री का गुरु बन सकने का द्वार सर्वथा बन्द कर दिया है। यदि पति दुराचारी किंवा मूर्ख हो अथवा मर गया हो ऐसी दशा में स्त्री को उचित है कि वह आत्मकल्याण के लिए श्रीमद्भागवत प्रभृति ग्रन्थों में वर्णित नारदादि द्वारा ध्रुव आदि भक्तों को उपदिष्ट 'द्वादशाक्षर' सदृश प्रसिद्ध मन्त्रों को धारण करे, और उन्हीं सनातन दिव्यात्मा महात्माओं को गुरु मानकर आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर हो। अथवा परपुरुष स्पर्श की विप्रतिपत्ति से विरहित, साम्प्रदायिक दीक्षा से सम्पन्न हो कर आत्म कल्याण करे।

दीक्षा प्रदान के समय अपेक्षाकृत परपुरुष-स्पर्श की संभावना प्रायः बनी रहती है। कण्ठी बांधने में भी यथाकथञ्चित् स्पर्श हो ही सकता है, परन्तु तप्त मुद्राधारण के विधान में तो न केवल अस्थि चर्ममय दो कलेवरों के स्पर्श की आशंका को ही सर्वथा

असम्भव बना दिया गया है अपितु **'सति स्पर्शे स्त्रीपुम्भिदा'**-जन्य रोम हर्ष पुलकोद्गम आदि शृङ्गाररस-निष्ठ विभावानुभावादि स्थायी भावों का समूलोन्मूलन करने के लिए उसमें प्रदीप्त अग्नि का ताप भी सम्मिलित कर दिया गया है। जैसे करुणा और शृङ्गार तथा रौद्र और हास्य-रस का कभी मेल नहीं हो सकता, ये दो दोनों एक-दूसरे के विरोधी रस हैं ठीक इसी प्रकार तप्त मुद्रा के स्पर्श से रोम पुलकादि की तो कथमपि सम्भावना हो ही नहीं सकती। अपितु वहां सात्विक कम्प, भय और अपूर्व धृति का ही प्रादुर्भाव होता है। जबकि लौकिक मैत्रियों में अग्नि का साक्ष्य अनिवार्य माना जाता है तब गुरु-शिष्य की अलौकिक सहकारिता में अग्निदेव का सान्निध्य सापेक्ष्य क्यों नहीं होगा ! आज वे दोनों **'सहवीर्यं करवावहै'** के आध्यात्मिक अनुष्ठान में प्रवृत्त हो रहे हैं। अतएव हमारी पञ्च-संस्कार दीक्षा में अग्नि को प्रमुखता प्रदान की गई है।

यद्यपि साधक की निष्ठा के अनुसार सभी सम्प्रदायों की दीक्षाएं आपाततः कल्याणकारिणी हैं परंतु तुलनात्मक विश्लेषण करने पर श्रीमद्भागवत के—**'श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः'** प्रमाण के अनुसार श्री वैष्णवी दीक्षा ही अभ्युदय और निःश्रेयस् की असंदिग्ध साधिका है। खासकर स्त्री-वर्ग के कल्याण के निमित्त तो यही सरल सुगम और निष्कण्टक मार्ग है। सधवा देवियों को अपने पतिदेव के साथ सम्मिलित होकर और विधवा देवियों को अपने पिता, भ्राता, देवर आदि निकट सम्बन्धियों के साथ सम्मिलित होकर वंश-परम्परा-परिचित अपने कुलगुरु द्वारा तादृशी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि

गुरु विशिष्ट विद्वान् न हो, किन्तु सदाचारी और 'गायत्री मन्त्र-सार' भी हो तब भी वह गुरुरूपेण धारणीय है, क्योंकि किसी अपरिचित व्यक्ति की बहिरङ्ग-वेशभूषा, व्याख्यानकला, गोष्ठी-प्रसाद और एजेन्टों द्वारा प्रचारित सिद्धता आदि तात्कालिक प्रदर्शन के प्रभाव से प्रभावित होकर उसे गुरु धारण कर लेने पर समय पाकर **'करतब बायस बेश मराला'** की विप्रतिपत्ति उत्पन्न हो सकने की जितनी सम्भावना हो सकती है उतनी वंशपरम्परा से सुपरिचित व्यक्ति के दीक्षा गुरु बनाने पर नहीं।

फिर साधक को सिद्धि तो गुरूपदिष्ट मन्त्र के विधिवत् अनुष्ठान से ही प्राप्त होती है केवल गुरु के व्यक्तित्व से नहीं। यद्यपि सिद्ध महात्मा अपनी आध्यात्मिक शक्ति अन्य अधिकारी को संकल्पमात्र से प्रदान कर सकते हैं, परन्तु ऐसे महात्मा तो चेला-चेली के झंझट से कोसों दूर भागते हैं। कोई भी समझदार व्यक्ति अपने कठिन परिश्रम से समुपार्जित तपोबल को आत्म-कल्याण के प्रयोग में न लाकर लोकरञ्जन में अपव्ययित करेगा यह आशा ही नहीं करनी चाहिए; क्योंकि सच्चा साधक तो साधना के मार्ग में सिद्धियों को भी अन्यतम विघ्न ही मानते ह और सदा उनसे बचते हैं। इसलिये श्रीमन्नारायण के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति हमारा उद्धार करेगा—ऐसी दुराशा केवल आलसी व्यक्ति ही कर सकते हैं। शास्त्र का अटल सिद्धान्त है कि **'आत्मैव आत्मनो बन्धुः'** अर्थात्—अध्यात्म मार्ग में 'आप' ही एकमात्र अपना सहायक होता है। भगवदनुकम्पा और अपने परिश्रम से ही अपना कल्याण हो सकता है। गुरु द्वारा मन्त्र प्राप्ति का तो केवल यही प्रयोजन है कि वह विवाहित पति द्वारा समुत्पन्न सन्तान की भान्ति वैधकोटि का बन जाए।

गुरु द्वारा मन्त्र प्राप्ति आवश्यक क्यों ?

सभी मन्त्र पुस्तकों में जहां-तहां छपे हैं अथवा कथा-वार्ता संकीर्तन में तत्तद् व्यक्तियों द्वारा उच्चारण किए जाते हैं सो जब पुस्तक में स्वयं पढ़कर या कथावार्ता में सुनकर मन्त्र कण्ठस्थ किया जा सकता है तब फिर गुरु धारण की कौन आवश्यकता ?

हम पिछली पंक्तियों में संकेत कर आए हैं कि यद्यपि अविवाहित जार द्वारा समुत्पन्न बालक भी विवाहित पति द्वारा समुत्पन्न बालक की भांति आंख नाक, कान आदि अङ्गों वाला सर्वाङ्गपूर्ण ही होता है परन्तु शास्त्रदृष्टि से और लौकिक कानून में भी जारज सन्तन को 'अवैध' और विवाहित दम्पति द्वारा समुत्पन्न सन्तान को 'वैध' माना जाता है, उन दोनों के धार्मिक, सामाजिक और दाय में आर्थिक अधिकार भी विभिन्न होते हैं। ठीक इसी प्रकार पुस्तकों में छपे या यत्र-तत्र सुने-सुनाए मन्त्रों की शब्दावलि में और गुरुमुख से प्राप्त मन्त्र की शब्दावलि में तो कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं होता, परन्तु शास्त्रदृष्टि से इन दोनों में अवैधता और वैधता का बड़ा भारी अन्तर है। श्मशान की अग्नि, चूल्हे की अग्नि और हवन की अग्नि में दाहकत्व और प्रकाशकत्व गुण तो समान ही है परन्तु स्थिति भिन्न-भिन्न है। धधकती चिता पर भोजन सुतरां पक सकता है, क्लेद में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, परन्तु वहां उबाला हुआ भात कोई अनुन्मादी व्यक्ति भक्षण करने को प्रस्तुत नहीं हो सकता। न्यायाधीश और विक्षिप्त द्वारा उच्चारण किये गये—'पकड़ो ! छोड़ो !' आदि वाक्य अक्षर वर्ण साम्यात् समान ही हैं, परन्तु दोनों के उच्चारण का फल भिन्न-भिन्न है। विक्षिप्त दिन भर

बके, न कोई पकड़ा जाता है और न कोई छूट पाता है परन्तु न्यायाधीश द्वारा सकृद् उच्चरित इसी वाक्य के फलस्वरूप कोई निगड़-ग्रस्त हो जाएगा तो कोई कारागृह से मुक्त हो जाएगा। उक्त दृष्टान्तों में वैध-अवैध के तारतम्य से समान शब्दावलि की विद्यमानता में भी फल का वैषम्य प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार गुरु द्वारा उपदिष्ट मन्त्र 'वैध' और जैसे-तैसे पढ़ा सुना, सीखा और रटा-रटाया मन्त्र 'अवैध' है। इसलिए साधक को उचित है कि जैसे वह अपने साधना-अनुष्ठान में अवैध रीति से प्राप्त किसी भी सामग्री का उपयोग न करके वैधता का पूरा ध्यान रखता है। ठीक इसी प्रकार साधना के मुख्य अङ्ग मन्त्र की वैधता की भी उपेक्षा न करे, किन्तु गुरु उपदिष्ट मन्त्र द्वारा ही भगवदाराधना करे।

स्त्री-दीक्षा में विशेष विचारणीय

ऊपर चेली-प्रथा के बारे में हमने जो कुछ लिखा है वह उसकी वर्तमानकालीन बुराइयों के कारण ही। हमारे इस लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वेदादि शास्त्रों में इस प्रकार की दीक्षा का विधान नहीं है। अनाचार के भय से उक्त प्रथा को अशास्त्रीय कह डालने का साहस तो दुःसाहस मात्र होगा। साम्प्रदायिक आगम-शास्त्रों में स्त्री-दीक्षा साधक परः सहस्र प्रमाण विद्यमान हैं और अनादि काल से यह अविगीत-परम्परा अद्यावधि अक्षुण्ण चली आ रही है। अतः जहां हम इसे अशास्त्रीय कहकर रोकने वालों को क्षमा नहीं कर सकते वहां शास्त्र की दुहाई देकर पदे-पदे अनुभूत प्रत्यक्ष अनाचार से आंख मूंदने की प्रवृत्ति को भी सहन नहीं कर सकते। इसलिए हमारा

सुस्पष्ट मत है जैसे प्रबन्ध ग्रंथों में अमुक वेदोक्त धर्मानुष्ठान शक्ति-ह्रास के कारण 'कलिवर्ज्य' स्वीकार करके अननुष्ठेय माने गए हैं ठीक इसी प्रकार 'चेली-प्रथा' भी कुछ कड़े प्रतिबन्धों से से जकड़कर अधिकारी सदाचारी पुरुषों के गुरु धारण तक ही सीमित होनी अनिवार्य है। हमने भरसक प्रयत्न किया है कि सिद्धान्त-रक्षा भी हो और अनधिकारियों को उपद्रव करने का अवसर भो न मिल पाए ऐसा कोई शास्त्रीय मार्ग मिल सके। ऐसी स्थिति में हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि—कुल परम्परा से सुपरिचित विज्ञात-कुलशील सदाचारी गुरु से ही दीक्षा ग्रहण की जानी चाहिए और वह भी सधवाओं को अपने पति के सान्निध्य में, तथा विधवाओं को निकट सम्बन्धियों के सान्निध्य में। अङ्ग-स्पर्श तो कथमपि वांछनीय हो ही नहीं सकता। इस-लिए अभ्यङ्ग और पाद संवाहन आदि की तो कथा ही क्या है ? चरण स्पर्शपूर्वक प्रणाम भी नहीं होना चाहिए। इसीलिये हमने स्वयं वैष्णव होने के आग्रह से नहीं, किन्तु 'अंगस्पर्शविरहे-ऽपि दीक्षाधानयोग्यता' के गम्भीर विचार से ही तप्त मुद्राधारण प्रथा को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। शास्त्र में जिस प्रकार शव, चाण्डाल और रजस्वला आदि, पातक के कारण स्पर्शानर्ह माने जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, शूद्र आदि के लिए भगवद्-विग्रह-भूत दिव्यपीठ भी तेजोनिधि होने के कारण स्पर्शानर्ह स्वीकार किए गए हैं। गुरु देह भी सर्वदेवमय दिव्य-पीठ है। अतः स्त्री और शूद्रादि द्वारा वह कथमपि स्पर्शार्ह नहीं हो सकता। इसी प्रकार हंस, परमहंस कोटि के चतुर्थाश्रमी का देह 'जीवित शव' माना गया है फिर वह स्पृष्ट कैसे हो सकता है ?

क्या कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं ?

(जो जस करहि सो तस फल चाखा)

क्या ज्ञानी को भी किये कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं ? अथवा किसी दशा में बिना भोगे भी कर्मों की परिसमाप्ति हो सकती है ? इस जटिल समस्या पर प्रकाश डाले बिना यदि इस प्रघट्ट का उपसंहार कर दिया जाए तो यह 'ज्ञान-काण्ड-विचार' अधूरा ही रह जाता है। एतदर्थ इस विषय का भी प्रतिपादन किया जाता है। कर्म विपाक का सिद्धान्त है कि—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

अर्थात्—चाहे सौ करोड़ कल्प भी क्यों न बीत जायें परन्तु बिना भोगे कभी कर्म नहीं छूटता।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु तज्जन्य फल भोगने में सर्वथा परतन्त्र है। मीमांसक लोग तो कर्म को ही ईश्वर मानते हैं, ऐसी स्थिति में कर्मों के क्षय हो जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। भोक्ता, भोग्य और भोगावधि तीनों वस्तुवें एकमात्र कर्म पर ही अवलम्बित हैं। बिना मूल कारण संसार में कुछ भी नहीं होता। ऐसी स्थिति में नानाविध योनियों में जीवों के नानाविध देह, देहधारणार्थ उनके नानाविध खान-पान, अथच विभिन्न आयुःस्तर—यह सब तारतम्य निर्मूल नहीं हो सकता। मानव समाज में ही कोई जन्मजात अन्ध कुष्टी तो कोई सर्वाङ्ग-सुन्दर हृष्ट-पुष्ट। कोई हीन दीन दरिद्र तो कोई राजा बाबू नगरसेठ। कोई स्वल्पायु तो दूसरा

संवत् चौदह के गदर की आंखों देखी घटनाओं का वर्णन करे। आखिर यह सब भेद क्यों ?

पुनर्जन्म और कर्म-विपाक सिद्धान्त में विश्वास न रखने के कारण अहिन्दु सम्प्रदायों के पास इन जन्मजात वैषम्यों के मूल कारण का कोई उत्तर नहीं, परन्तु वेदादि शास्त्रों के कर्मवाद सिद्धान्त को दर्शनकार महर्षियों ने केवल एक सूत्र में उपनिबद्ध कर दिया है जिससे जीव-सृष्टि के नानाविध तारतम्य का मूल हेतु विदित हो जाता है। यह जन्मजात तारतम्य निर्मूल नहीं किन्तु—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ।

(योगदर्शन २ । १३)

अर्थात्—जैसे बीज की विद्यमानता में ही अनुकूल अवसर आने पर उसमें अंकुर फूट पड़ता है, इसी प्रकार जोवों के प्राक्कृत शुभाशुभ कर्म ही विपक्व होकर उसे जन्मरूप में अंकुरित करते हैं जिनके तारतम्य से ही जाति आयुः और भोगों का वैविध्य दृष्टिगोचर होता है।

कहना न होगा कि भोक्ता, भोग्य, और भोगावधि तीनों वस्तुओं का जन्मजात विभेद कर्म-विपाक का ही विपरिणाम है।

भर्तृहरि कवि ने—'**ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरे**' आदि श्लोक में बड़े ही व्यंग्यपूर्ण रोचक ढंग से कर्म का प्राधान्य प्रकट करते हुए लिखा है कि कर्म के ही नियोग से ब्रह्माजी कुम्हार की भान्ति निरन्तर ब्रह्माण्ड रूप मटके घड़ने में व्यस्त रहते हैं, कर्म के ही नियोग से श्रीविष्णु भगवान् संरक्षा के गुरुतर भारोद्वहन में सदैव जागरूक बने रहने के लिए विषधर सर्प के आसन पर विराजते ह, जहां सहस्र मुखों से

निस्सृत फूत्कारों के कोलाहलपूर्ण वातावरण में निद्रा, तन्द्रा हराम हो जातीं है। कर्म के ही कटाक्ष कोण से प्रभावित शिवशङ्कर हिमालय की ठिठुरती सर्दी में दिगम्बर बने विष पी-पीकर अपनी ड्यूटी को सरअन्जाम देते हैं। कर्म के चक्कर में पड़े ही सूर्यचन्द्रादिक ग्रहोपग्रह अहर्निश परिभ्रमण करते हैं। सो ऐसे सर्वातिशायी खुदा के बड़े भाई कर्म महाराज को हमारी सौ-सौ बार जुहार !

यद्यपि उपर्युक्त वर्णन केवल चमत्कारमय कवित्व हैतथापि इसमें तथ्य अंश का अभाव नहीं। वस्तुतः श्रीमन्नारायण भगवान् जब 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' में प्रवृत्त होते हैं तब उन्हें स्वयं 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाम्.........'—के अनुसार प्रकृति के सत्त्व, रज और तमः इन तीन गुणों के तारतम्य से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और संहार के लिए ब्रह्मा विष्णु और रुद्र रूप में अवतीर्ण होना पड़ता है। यह ठीक है कि वे सर्वतंत्र स्वतन्त्र हैं, किसी दूसरे का नियोगांकुश उन्हें ऐसा करने को बाध्य नहीं कर सकता, तथापि वे 'कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथा कर्तुम्' प्रभु होते हुए भी स्वेच्छा से अपने लीला नियमों में तो स्वयं आबद्ध हैं।

भूर्भुवः स्वः तीनों लोक का प्रलय हो जाने पर यहां के अभुक्तकर्म उच्चात्मा प्राणी महर्लोक में निवास करते हैं। जब उन प्राणियों के अवशिष्ट कर्म भोगोन्मुख होते हैं तब भगवान् पुनः सृष्टि का उपक्रम करके उन्हें कर्मोपभोग का अवसर देते हैं। यह स्थिति निस्सन्देह श्रीमन्नारायण को भी जीवों के कर्मोपभोगार्थ पुनः सृष्टि-स्थिति-संहार-लीलाभिनय करने को प्रेरित करती है। प्रकारान्तर से भक्तों के कर्मोपभोग का प्राबल्य ही भगवान्

की तादृशी लीलाओं का हेतु हुआ। इस कर्म-प्राधान्य को इससे भी अधिक समझना हो तो सीधा-सीधा यूँ कह लीजिये कि—मनु-शतरूपा ने तपः कर्म से भगवान् को सन्तुष्ट किया और तादृश पुत्रप्राप्ति का वर माँगने पर **'नृप तव तनय होव मैं आई'** के अनुसार उन्हें स्वयं अवतरित होना पड़ा। प्रह्लाद ने स्तंभमें भगवत्सत्ता की व्यापकता का उद्घोष किया। भगवान् को—*'सत्यं विधातुँ निजभृत्यभाषितम्......मध्ये सभायां न मृगं न मानुषम्'* के अनुसार भक्त की वाणी को सत्य सिद्ध करने के लिये नृसिंह रूप से अवतरित होना पड़ा। अन्यान्य भक्तों के कर्म-कलाप के प्राबल्य से किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति, तो किसी का जँवाई बनने को बाध्य होना पड़ा। अत्याचार-पीड़ित अबला के संरक्षणार्थं लड़ते २ अपने प्रिय प्राणों को भी न्यौछावर कर देने वाले जटायु के लोकोत्तर सत्कर्म से पसीज कर श्री राम भगवान् को उसके पंखों में लगी धूल अपनी जटाओं से झाड़नी पड़ी, और सूर्य्यचन्द्र के उद्गम केन्द्र अपने विशाल नेत्रों से गंगा यमुना की भाँति झरती हुई गर्म और ठण्डी दोनों धाराओं को समशीतोष्ण कर के उसे अन्तिम स्नान कराना पड़ा।

सो कर्म का इतना बड़ा महत्त्व है कि न केवल यह जड़चेतनात्मक जंगम जगत् ही कर्मसम्भूत है, किन्तु जगन्नायक जनार्दन के तत्तत्-अवतार भी कर्म-सम्भूत ही हैं, फिर चाहे वे कर्म भक्तों द्वारा उपार्जित ही क्यों न हों। जब सर्वशक्तिमान् भी कर्मफल दाता के रूप में कर्मों से असंयुक्त नहीं, फिर यह अल्पशक्ति जीव बिना भोगे कर्मफल के पचड़े से कैसे छूट सकता है ? न्यायालय में न्यायाधीश और अभियुक्त दोनों समान हैं। यह

ठीक है कि न्यायाधीश निर्णायक है और अभियुक्त बन्धन-मुक्ति=सजा रिहाई का भोक्ता है, परन्तु आखिर हैं दोनों कोर्ट सम्बद्ध व्यक्ति। ठीक इसी प्रकार कर्म-फलदाता ईश्वर और कर्म-फल भोक्ता जीव दोनों ही कर्मसंपृक्त-कोटि में हैं। कर्म बिना भोगे क्षीण नहीं होता, प्रकृति का सर्व साधारण नियम यही है।

क्या कर्म बिना भोगे भी छूट सकते हैं ?

(क्षीयन्ते चास्य कर्माणि)

'शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं'—यदि यह अटल सिद्धान्त है और बिना भोगे अन्य कुछ चारा ही नहीं है, तब तो यज्ञ यागादि कर्म, तत्तद्देवों की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, नाक दबाकर धारणाध्यान-समाधि आदि योगानुष्ठान एवं बाल की खाल उतार कर जड़-चेतनात्मक जगत् का विश्लेषणात्मक परिज्ञान—यह सब का सब व्यर्थ ! जलताड़नवत् निरर्थक ! पीछे जो किया वह अब तक भोग रहे हैं अब जो बुरा-भला करेंगे भविष्य में भोगेंगे। जब हमारे कर्मोपभोग में ईश्वर को हस्तक्षेप करने का कोई अवसर ही नहीं, हम स्वयमेव अपने भाग्य-विधाता आप हैं तब हम अपने कर्मों से स्वयं निबटते रहेंगे। ईश्वर को हमारे और कर्मों के बीच में 'दही भात में मूसलचन्द' बनने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। उसकी यह 'मदाखलत बेजा' कथमपि हमें गवारा नहीं। हमारे सत्कर्मों की विद्यमानता में जो ईश्वर कुपित होकर हमारा बाल बांका कर सकने की ताकत नहीं रखता और हमारे दुष्कर्मों की विद्यमानता में जो प्रसन्न होकर हमारी दुर्दशा पर समवेदनापूर्ण दो आँसू भी नहीं गिरा सकता, ऐसे कूटस्थ

भगवान् की हम दुनियादारों को क्या आवश्यकता ? स्वयंवरा को नपुंसक पति के संवरण से कौन लाभ ?

उपर्युक्त प्रश्नों में बहुत तथ्य है। अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ भगवान् का आश्रय इसीलिये लेता है कि भगवान् पूर्ण है अतः वह हम अपूर्णों का पूरक बने। निर्बल आत्मत्राण की आशा से बलवान् की शरण में जाता है और निर्धन अपनी आर्थिक आवश्यकता-पूर्ति के उद्देश्य से धनी का द्वार झांकता है। जहाँ जाने पर किसी को कुछ प्राप्त होने की आशा नहीं होती वहाँ कभी कोई बुद्धिमान् पाँव नहीं रखता।

अपनी भूलों के कुपरिणामों से ही—**'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशी।'**—के अनुसार श्रीमन्नारायण का सहज सखा यह जीव 'जीवभाव' को प्राप्त हुआ अनन्तकाल से जीवन-मरण के वक्र-चक्र में परिभ्रमण कर रहा है। न चाहता हुआ भी **'बलादिव नियोजितः'** यह पामर अगणित पाप किये बैठा है और अब भी बराबर कर रहा है। वेद-शास्त्रों और महात्माओं के मुख से सुना हुआ भगवान् का एकमात्र यह आश्वासन कि—**'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'** अर्थात्—चिन्ता मत कर, मैं तुझे सब पापों से उन्मुक्त कर दूँगा—इस हीन दीन प्राणी के लिये आशा की किरण है। यदि अन्धे की इस लकड़ी को भी कोई छीनता है तो वह उक्त अपाहिज की समस्त आशाओं पर पानी फेर कर उसे गहरे गर्त में ढकेलता है, बेचारे की दूखती रग को बार २ चकोटता है।

इसके उत्तर में हम कहना चाहते हैं कि 'बिना भोगे कर्म कभी क्षीण नहीं हो सकता'—प्रकृतिका यदि यह साधारण नियम है तो इसका अपवाद भी भगवान् कृष्ण के शब्दों में ही है कि—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

(गीता ४ । ३७)

अर्थात्—जिस प्रकार हिमालय के समान ऊँचे तूलिका-संघात को अग्नि की एक चिनगारी फूँक डालती है, इसी प्रकार मेरे भक्त के हृदय में समुत्पन्न ज्ञानाग्नि जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर और कल्प-कल्पान्तर के सञ्चित-कर्मों को पलक झमक में भस्मसात् कर डालता है।

कर्मोपभोग और कर्मक्षय का समन्वय

शास्त्रानभिज्ञ सज्जनों को—'विना भोगे कर्म नहीं छूटते और भस्मसात् हो जाते हैं'—इन दोनों उक्तियों में परस्पर विरोध दीख पड़ेगा। परन्तु शास्त्र में उभयविध प्रमाण उपलब्ध हैं, अतः इस द्वैविध्य का किसी एकार्थ में समन्वय करना आवश्यक है।

यहाँ यह जान लेना चाहिये कि सत्त्व रजः और तमः, प्रकृति के इन तीन गुणों में से जीव के अन्तःकरण में जब सत्त्व का उदय होता है तब वह मनः-प्रसाद आदि सुखों का अनुभव करता है। जब रजोगुण का उद्रेक होता है तब जीव नानाविध कर्मों में संलग्न हो जाता है। जब तमोगुण की दुर्वृद्धि होती है तब हिंसा दम्भ आदि दुर्गुणों में प्रवृत्ति होती है। ऐसो स्थिति में स्पष्ट है कि अन्तःकरण के चार पहलुओं में से संकल्प विकल्प का केन्द्र 'मन' है, निश्चयात्मक अन्तिम निर्णय का केन्द्र 'बुद्धि' है, चेतना–संवित्ति का केन्द्र चित्त है और कर्म-सम्पत्ति का केन्द्र 'अहंकार' है।

सीधे शब्दों में कर्म का मुख्य कारण 'अहंकार' है। 'मैंने ऐसा किया;—मैं ऐसा करता हूँ—और मैं ऐसा करूँगा' यह

अभिमान अन्तःकरण के अहंकारात्मक अंश में रहता है। यद्यपि किसी कर्म के अनुष्ठान में प्रकृति के तत्तत् संघात ही सामूहिक रूप से कार्य साधक हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश 'अहंकार' के वशीभूत हुवा जीव—

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।

(गीता ३ । २७)

—के अनुसार कर्म सम्पादन का सब श्रेय: एकला लूटना चाहता है। सो कर्मकर्तृत्व की भावना साहंकार जीव में रहती है। अतः कर्मफल का भोक्तृत्व भी साहंकार जीव में ही आरोपित रहेगा। जब तक कर्तृत्व भोक्तृत्व की भावना का केन्द्र—'अहंकार' विद्यमान रहेगा तब तक सौ करोड़ कल्प पर्यन्त भी बिना भोगे कर्म-नहीं छूटेंगे—यह निश्चित सिद्धान्त है। परन्तु यदि तत्तद् अभ्यास से अथवा भगवत्-कृपा से किसी साधक की अहं-बुद्धि विनष्ट हो जाए, वह शास्त्रविहित कर्मकलाप का अनुष्ठान करता हुआ अपनी प्रवृत्तियों को केवल भगवत्प्रेरणामात्र समझे, अपने कर्तृत्व का अभिमान भूल जाए—ऐसी स्थिति में जब कर्मकर्तृत्वाभिमान अहंकार ही विनष्ट हो गया तो फिर अवशिष्ट संचित कर्मों का उपभोग कौन करे।

यह बात एक लौकिक दृष्टांत से समझी जा सकती है, कल्पना कीजिये एक मनुष्य ने साधारण चोरी से लगाकर डाकाजनी तक सैकड़ों अपराध किये, परन्तु भाग्यवश वह गरिफ्त में न आया, अन्त में कभी पकड़ा गया तो पुराने सब अपराध न्यायाधीश के सामने प्रकाशमें आगए। उसे फांसी की सजा हुई और वह सूली पर चढ़ा दिया गया। सरकारी वकीलने न्यायाधीश से कहा कि फांसी का दण्ड तो केवल एक हत्या के अपराध में ही हो सकता है

इसने तो जीवन भर अनेक अपराध किये हैं उन सब की सजा भी इसे मिलनी चाहिये। न्यायाधीश ने कहा कि कानून में सर्वोपरि दण्ड फांसी है वह इसे दे दिया गया। अब इस मृत लाश को बेंत कोड़े जुर्माना कैद की सजा कैसे दी जा सकती है ? और मृत शरीर पर उक्त दण्ड लादने पर भी दण्ड का दुःख अनुभव करने वाला चेतन तो अब इस देह में विद्यमान नहीं, फिर दण्ड देने का क्या अर्थ ?

बस ! ठीक इसी भान्ति कर्म-कर्तृत्वाभिमानी अहंकार के फांसी चढ़ जाने पर अवशिष्ट कर्मों का उपभोग कौन करे ? जब कर्ता ही न रहा तो फिर ठोक पीट कर बलात् किसे भोक्ता बनाया जाए ?

एक महात्मा की चर्चा करने पर भगवान् ने बतलाया कि वह सात जन्म तक भजन करने पर मेरे दर्शन पा सकेगा। जब यह वृत्तान्त नारद जी द्वारा महात्मा को विदित हुआ तो वह इस आशाप्रद समाचार से इतने गद्गद् हुए कि देहाध्यास छूट गया और उन्मत्त की भांति **'विलज्ज उद्गायति नृत्यते च'** के अनुसार तन्मय होकर नृत्य गान करते २ ज्यों ही धमाके से पथरीली जमीन में गिरे त्यों ही भगवान् ने प्रकट होकर उन्हें अपने अंक में संभाल लिया। महात्मा भगवद्दर्शन से कृतकृत्य हो गए, परन्तु नारद जी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने भगवान् को सम्बोधन करके कहा कि आप तो सात जन्म में दर्शन देने की बात कहते थे अब आते हुए सात मिनट भी न लगाई ! भगवान् ने समझाया कि देवर्षे ! जिन कर्मों के प्रतिबन्ध से यह सात जन्म तक दर्शन का अधिकारी न था, वे सब

कर्म इसकी तीव्र ज्ञानाग्नि में भस्मसात् हो गए। फिर मेरे प्रकट होने में क्या विलम्ब !

आर्यसमाज में कर्म, उपासना, ज्ञान की छीछालेदड़

आर्यसमाज ईश्वरवादी सम्प्रदायों में कथित वैदिक होने के कारण हमारा सर्वाधिक निकटवर्ती मत है, परन्तु आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वा० दयानन्द सरस्वती प्रथम ब्रह्मसमाज प्रवर्तक राम मोहनराय के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे और फिर थियासोफिकल सोसायटी के प्रवर्तक मिस्टर अलकाट के सहगामी रहे। इसलिये उनका 'ईश्वरवाद' विशुद्ध वैदिक न रहकर ईसाइयत के रंग में रंगा हुआ आधा वैदिक और आधा क्रिश्चियन अर्थात् खराखासा अपटूडेट 'ऐङ्गलोइण्डियन' बन गया है।

आर्यसमाज—ईश्वर, प्रकृति और जीव तीनों को निर्विशेष अनादि और अनन्त मानता है, और ईश्वर को संसार का निमित्त कारण स्वीकार करता है। यह त्रैतवाद निःसन्देह ईसाइयों की थ्यूरी—'गाड' उसका 'इकलौता बेटा' और 'दुनियां'—का प्रत्यक्ष अनुकरण है। आर्यसमाज के मन्तव्य में ईश्वर प्रकृति और जीव को 'अनादि' मानना जहां भारतीय दर्शनों की छाया का परिणाम है वहां प्रकृति और जीव को 'अनन्त' स्वीकार करना अभारतीय दर्शनों का अपसिद्धान्त है। इन दोनों का विमिश्रण आर्यसमाज है, इसलिए उसे 'ऐङ्गलो-इण्डियन' कहना सर्वथा उचित ही है।

आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार ईश्वर, जीव और

प्रकृति तीनों तत्त्व निर्विशेष अनादि और अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में जहां आर्यसमाज के अभिमत ईश्वर का 'सर्वोपरित्व' व्याहत हो जाता है वहां प्रकृति के सहयोग के बिना दयानन्दियों का परमात्मा सृष्टिरचना में भी सर्वथा असमर्थ=अपाहिज अकिञ्चित्कर सिद्ध हो जाता है। जैसे कुलाल को घट का निर्माण करने के लिए सदैव मिट्टी का आश्रय लेना पड़ता है और वह घट का निमित्त कारण होने के कारण जैसे स्वनिर्मित घट में 'व्यापक' नहीं हो सकता, ठीक इसी प्रकार आर्यसमाज का ईश्वर भो सृष्टि रचना के लिए प्रकृति में 'अव्याप्त' सिद्ध होगा।

एक बार शास्त्रार्थ में हमारी ओर से जब यह बात कही गई तो दयानन्दी उपदेशक ने उत्तर में फर्माया कि—'जनाब ! हमारा ईश्वर तो एक राजा के समान है। वह कभी अकेला नहीं रहता, बल्कि उसके साथ फौज लश्कर की भान्ति प्रकृति और जीव सदैव साथ रहते हैं, परन्तु आपका ईश्वर तो निरा अकिञ्चन एक बाबा जैसा है, कहिए फिर हमारा ईश्वर बड़ा हुआ या सनातनधर्मियों का ?

इस उत्तर पर आर्यसमाजी श्रोताओं ने बड़ी हर्षध्वनि प्रकट की और उत्तरदाता महाशय की बलैय्यां लेने लगे।

अपनी पारी में हमने पूछा कि राजा जब अपने हृदय में यह समझ लेता है कि मैं अकेला अमुक संग्राम जीतने में असमर्थ हूँ, तभी वह सेना और अन्यान्य उपकरणों का आश्रय लेता है। जब तक हम स्वयं अपने हाथ से उठाकर ग्रास अपने मुख में डाल सकने की सामर्थ्य रखते हैं तब तक सहस्रों नौकरों की विद्यमानता में भी यह काम उन से नहीं लेते, परन्तु जब कोई

मुमूर्षु मरणासन्न और अशक्त हो जाता है तभी अन्य लोग उसके मुख में औषधिया जल आदि डालते हैं। सो हमारा ईश्वर तो स्वयं इतना सामर्थ्यवान् है कि विना किसी अन्य उपकरण के उसके संकल्प मात्र से अनन्तकोटि ब्रह्मांड पलक-झमक में बनते और बिगड़ते हैं। अतएव वह 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुम्' प्रभु कहा जाता है. परन्तु आपका ईश्वर दोनों पांवों से लंगड़ा है जो प्रकृति और जीवरूपी दो लड़कियों के सहारे बिना एक कदम चल सकने में भी असमर्थ है। यह सुनकर सर्वसाधारण जनता ने अट्टहास किया। वक्ता महाशय और दयानन्दी श्रोताओं के चेहरे फक्क हो गए।

इस प्रसंगमें पाठक विशिष्टाद्वैत में स्वीकृत ईश्वर, चित् और अचित् नामक तीनों पदार्थों को आर्यसमाज के त्रैतवाद का आधार मानने के भ्रम में न पड़ जाएँ एतदर्थ यहां यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि विशिष्टाद्वैतवाद में उक्त तीनों पदार्थ कहने को तीन हैं, परन्तु वास्तवमें—अग्नि, दाहकत्व और प्रकाश की भांति इन तीनों को कभी एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः चिदचिद्-विशिष्ट ईश्वर की अद्वैतता इस वाद का आधार है इसीलिए इस मत में ईश्वर को जगत् का 'उपादान कारण'—स्वीकार किया गया है। अतः विशिष्टाद्वैत को कथमपि त्रैतवाद नहीं कहा जा सकता। परन्तु आर्यसमाज स्वाभिमत तीनों पदार्थों की सर्वथा और सर्वदा पृथक् सत्ता मानता है तथा ईश्वर को जगत् का 'निमित्त कारण' स्वीकार करता है, अतः वह सुस्पष्ट 'त्रैतवादी' है। इस तरह तात्त्विक विश्लेषण के अनुसार विशिष्टाद्वैतवाद में और आर्यसमाज के त्रैतवाद में ई भी समता नहीं है।

कहने को तो आर्यसमाज अपने को एकेश्वरवादी, निर्गुण और निराकारवादी बतलाता है, परन्तु उसको मान्यता ऐसी विचित्र है कि जिससे उसका अभिमत ईश्वर अनेक परस्पर विरुद्ध कल्पनाओं का पात्र बन गया है। हम उदाहरणार्थ कतिपय बातें यहाँ प्रकट करते हैं, यथा—

निराकार के बीबी बच्चे:—

स्वामी दयानन्द **'यथेमां वाचं कल्याणीम्'** (यजु: २६।२) आदि मन्त्र द्वारा वेद पढ़ने का सब को अधिकार प्रदान करने की धुन में ऐसे उन्मत्त हुए कि वे अपने किए उक्त मन्त्र के अर्थ में निराकार बाबा के बीबी बच्चे ही निकाल बैठे। आप लिखते हैं कि—

"परमेश्वर स्वयं कहता है कि, हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है।"

निराकार गर्भाधान करता है—

अहं जनीभ्यो अपरोषु पुत्रान् (ऋग्वेद १०।१८३।३)
—ईश्वर कहता है .... सब लोकों में मैंने ही गर्भ स्थापन किया है ..तथा प्रजनन क्रिया द्वारा स्वकीय स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करता हूँ' [वेदामृत पृ० २७१ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कृत अर्थ]

निराकार गिलोय का काढा पीता है—

वायवाहि दर्शते मे सोमा अरङ्कृताः तेषां। पाहि श्रुधि हवम्। (ऋग्वेद १।१।३।१)

आर्याभिविनय (पृष्ठ ३३) में दयानन्द कृत अर्थ—

हे अनन्तबल ! परेश ! वायो ! दर्शनीय ! आपकी कृपा से हम सब लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्यादि) औषधियों का उत्तमरस सम्पादन किया है···सर्वात्मा से पान करो ।'

निराकार भगवान् चोरी करता और करवाता भी है—

"मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः । (ऋग्वेद १।१०४ ८)

'आर्याभिविनय' (पृष्ठ ७४) दयानन्दकृत अर्थ—हे परमात्मन् ! हमारे प्यारे भोगों को मत चोर और मत चुरवा ।"

स्वा० दयानन्द का दार्शनिक ज्ञान

सत्यार्थ प्रकाश का सप्तम, अष्टम और नवम समुल्लास पढ़ने पर स्वामी दयानन्द जी के दार्शनिक ज्ञान का खूब परिचय मिलता है । आपने ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानने पर तर्क दिया है कि यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाय तो कारण के चेतन, आनन्द आदि गुण भी जड़ जगत् में दृष्ट होने चाहियें । परन्तु उक्त पंक्तियें लिखते हुए उन्हें यह भी स्मरण नहीं रहा कि मृत्तिका-समुद्भूत दर्पण=कांच में अपने कारण का प्रकाशावरोध गुण नहीं रहता, बल्कि ऐनक का कांच तो नेत्र ज्योतिः को और भी तीव्र कर देता है और दूर-वीक्षण आदि यन्त्रों के कांच का तो दूरदर्शित्व अतीव प्रसिद्ध है । अग्नि से समुद्भूत धूम को और दीपक से समुद्भूत काजल को अपने कारणभूत प्रकाशमय अर्चि से सर्वथा विपरीत प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । यवान्न, गुड़, और बबूर के बक्कल से समुद्भूत मद्य में अपने कारणों के गुणों के सर्वथा विपरीत मादकता भी प्रत्यक्ष देखी जा सकती है ।

मुक्ति से जीवों के पुन: लौट आने की कल्पना के समर्थन में स्वा० दयानंदजी ने कहा है कि यदि पुनरागमन न माना जाए तो मोक्ष के स्थान में भीड़ भड़क्का हो जायगा । स्वामी जी की क्या सुन्दर युक्ति है । जब वे ब्रह्म को असीम मानते हैं और मुक्त जीवों का अमुक समय तक असीम ब्रह्म में निवास स्वीकार करते हैं फिर असीम में भी भीड़ भड़क्के की सम्भावना हो सकती है। यह सूझ किसी उर्वरा खोपड़ी की ही उपज कही जा सकती है । यदि मुक्त जीवों के वहां निरन्तर रहने के कारण मुक्ति स्थान में भीड़ भड़क्के का खतरा हो सकता है तो फिर मुक्त स्थान से लौटने वाले जीवों के कारण मनुष्य लोक में भी वही खतरा ज्यों-का-त्यों हो सकता है । क्योंकि विभिन्न गतियों से भी एक गोल घेरे की मंजिल को तय करने वाले व्यक्ति किसी एक ही समय एक ही स्थान पर इकट्ठे हो जाते हैं यह गणित से सिद्ध है । जैसे सैकिण्ड, मिनट और घण्टे की सुइयें घड़ी में प्रत्येक घण्टे में एक बार तीनों इकट्ठो देखी जाती हैं इसी प्रकार आगे पीछे कभी भी कोई मोक्ष स्थान से मनुष्यलोक में पहुँचे परन्तु समय पाकर एक बार सभी जीव यहाँ इकट्ठे अवश्य हो जायेंगे । ऐसी स्थिति में स्वामीजी को असीम ब्रह्म में तो भीड़-भड़क्के की चिन्ता है, परन्तु इस ससीम मनुष्य लोक में भीड़-भड़क्का होकर ऐक्सीडैन्ट में आर्यसमाजी कुचले जायेंगे इसकी चिन्ता नहीं ।

'एक-एक मुक्त होते-होते यदि एक दिन सभी जीव मुक्त हो गए तो एक समय समस्त संसार ही उजड़ जायगा' यह आशंका भी वैसी ही व्यर्थ है जैसे कि कोई कहे कि—'एक २ दिन नित्य व्यतीत होते २ एक दिन काल=(दिनों का स्टाक) ही समाप्त हो जाएगा' तो फिर महीनों और वर्षों को गणना ही

नहीं हो सकेगी।' स्वामी दयानन्द का ईश्वर और सृष्टि विषयक कुतर्क अबोध बच्चों की उक्ति प्रत्युक्तियों का संग्रह-सा मालूम पड़ता है।

दयानन्दी मत में कर्म उपासना और ज्ञान तीनों व्यर्थ !

आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार यदि जीव शुभ कर्मानुष्ठान द्वारा पूर्वकृत कुकर्मों का प्रायश्चित्त कर सकने में असमर्थ है तो ऐसी दशा में समस्त कर्मकाण्ड निष्फल सिद्ध हो जाता है। और यदि उपासना का चरम लक्ष्य भगवद्दर्शन कथमपि सम्भव ही नहीं है, तब आयु भर आंखें बन्द किये घोर काले अन्धकार में ठोकरें खाना निरी मूर्खता ही है। अथ च यदि किसी भी दशा में दुःखों की सदा के लिये अत्यन्त निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति हो ही नहीं सकती और 'चार दिन की चांदनी के बाद आखीर फिर अन्धेरी रात' ही अवश्यम्भावी है अर्थात्–मुक्ति से पुनरपि लौटना ही है तब मोक्ष का साधक ज्ञान भी अकिञ्चित्कर ही है। इस तरह स्वा० दयानन्द जी की कर्म-उपासना और ज्ञान सम्बन्धी विचित्र मान्यता से अन्ततोगत्वा वेदों का वैय्यर्थ्य ही सिद्ध होता है।

कर्म उपासना और ज्ञान का उपबृंहण

कर्म, उपासना और ज्ञान की सामान्यतया संक्षिप्त रूपरेखा पिछली पंक्तियों में प्रकट की जा चुकी है। समस्त वेदराशि उक्त तीनों काण्डों में ही पर्यवसित है। अतः हमारे श्रद्धा-समुद्भूत

समस्त धार्मिक क्रिया-कलाप, पूज्य-पूजक-भाव-प्रसूत सब यौगिक अनुष्ठान एवं निष्ठा पर आधारित समग्र आध्यात्मिक विचार उन तीनों काण्डों में से अन्यतम के अन्तर्गत ही आते हैं। इसलिए अब उक्त तीनों काण्डों का क्रमशः विशिष्ट निरूपण किया काता है। पीछे कहा जा चुका है कि अन्तःकरण के मल को दूर करने के लिए वेद की कर्मकाण्डात्मक अस्सी हजार श्रुतियें नानाविध कर्मों के अनुष्ठान का प्रतिपादन करती हैं। अनुष्ठान दृष्टि से मुख्यतया कर्म तीन प्रकार के होते हैं। (१) नित्य कर्म, (२) नैमित्तिक कर्म और (३) काम्य कर्म।

नित्य कर्म—जिसके न करने पर मनुष्य पाप का भागी होता हो परन्तु करने पर कोई विशिष्ट फल प्राप्त न होता हो वह नित्य कर्म कहा जाता है। जैसे सन्ध्योपासना आदि, नित्यकर्म कोटि के कर्म हैं। उनके न करने से द्विजाति मनुष्य प्रत्यवाय का भागी होकर अपने द्विजत्व से ही भ्रष्ट हो जाता है परन्तु सन्ध्योपासना के करने पर किसी अभिनव फल की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि द्विजत्व प्राप्ति रूप फल तो उसे पहिले से ही जन्मना प्राप्त है। इसे लौकिक दृष्टान्त से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे कोई पुरुष किसी कम्पनी से किश्तों में रुपया चुकता कर देने की शर्त पर अमुक वस्तु खरीदता है तो उस कम्पनी द्वारा अमुक वस्तु प्रदान कर दी जाती है। यदि वह नियमानुसार ठीक समय पर निश्चित किश्त जमा करता रहता है तो इसका उसे नया फल अन्य कुछ प्राप्त नहीं होता, किन्तु उसका पूर्वप्राप्त वस्तु पर अधिकार पुष्ट रहता है। परन्तु यदि वह देय किश्त प्रदान न करे तो उससे वह प्रदत्त वस्तु छीन ली जाती है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर की ओर से जो द्विजत्व

प्रदान किया गया है, उसका मूल्य नित्यकर्म के रूप में द्विजाति-प्रसूत मनुष्य की ओर से अनिवार्य रूपेण चूकता रहना चाहिए। यदि इसमें ननु नच होगी तो वह द्विजाति **'स शूद्रवद्-बहिष्कार्यः'** के अनुसार द्विजत्व से परिभ्रष्ट कर दिया जायेगा। इसलिए अपने २ वर्ण और आश्रम के अनुरूप जो २ शास्त्र-विहित नित्यकर्म हैं, उनका अनुष्ठान अनिवार्य रूपेण करणीय है—यह भगवत्प्राप्ति की प्रथम श्रेणी है। सन्ध्या, प्राणायाम आदि मुख्य २ नित्य कर्मों का प्रतिपादन उक्त ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में किया जा चुका है। इसलिए पाठक इसका विशेष मनन उसी स्थल पर कर सकते हैं।

नैमित्तिक-कर्म—तिथि, वार, योग, करण, मास, ऋतु और अयन के योगायोग से उपस्थित होने वाले पर्वों पर और त्याहारों पर तन्निमित्तक जो धर्मानुष्ठान शास्त्र में विहित है, उन्हें नैमित्तिक-कर्म की कोटि में गिना जाता है। नैमित्तिक-कर्मों के यथाविधि करने से कर्ता को पुण्य प्राप्त होता है परन्तु परि-स्थितिवशात् न किये जा सकने पर कोई प्रत्यवाय नहीं होता।

लोक व्यवहार में स्नान, व्रत, दान, उपवास और परिचर्या प्रधान ऐसे सात्विक अवसरों को 'पर्व' नाम से स्मरण करते हैं जैसे संक्रान्ति, ग्रहण और सोमवती अमावस्या आदि आदि। और जिन अवसरों पर अमुक २ धर्मानुष्ठानों के साथ साथ 'दीयताम्', भुज्यताम्' खान-पान, सार्वजनिक समारोह और मनोविनोद के भी कोई आयोजन सम्मिलित रहते हों, उन्हें लौकिकी भाषा में 'त्यौहार' नाम से स्मरण किया जाता है, जैसे श्रावणी, विजयादशमी, दीपमालिका और होली आदि २।

त्यौहार पर्व विज्ञान

त्यौहार शब्द, 'तिथि वार' शब्द का ही विकृत अपभ्रंश है क्योंकि सभी त्योहार अमुक तिथि और अमुक वार के योगा-योग पर ही आधारित होते हैं।

अमुक पर्व अमुक दिन क्यों पड़ता है?—और उस दिन अमुक स्थान में अमुक धर्मानुष्ठान क्यों किया जाता है?—इसका वैज्ञानिक त्रिवेचन तो आगे अनुपद किया जाएगा, परन्तु अदृष्टफलाधायक उक्त पर्वों का एक प्रत्यक्ष लाभ तो सर्वविदित ही है जिसका अपलाप बड़े से बड़ा धर्मनिरपेक्ष नास्तिक भी नहीं कर सकता कि अमुक पर्व पर अमुक स्थान में समस्त भारत के नागरिक इकट्ठे होकर भारत की अखण्डता पर अमिट छाप लगा देते हैं।

सूर्यग्रहण पड़ा कि भारत के कोने-कोने से लाखों व्यक्ति कुरुक्षेत्र में एकत्रित हो गए। चन्द्रग्रहण पड़ा तो चन्द्रचूड़ भगवान् की जटाओं से प्रवाहित गङ्गा में गोता लगाने के लिए काशी में समस्त भारत के प्रतिनिधि आ पहुँचे। इस तरह गंगोत्तरी से लेकर सुदूर रामेश्वर और कन्याकुमारी तक, जगन्नाथपुरी से लेकर द्वारकापुरी तक—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर भारत के चारों कोनों से चारों कोनों तक—खान-पान, वेष-भूषा और भाषा के प्रान्तीय भेदों को भुलाकर अमुक स्थान को निर्विशेष अपनी पैतृक सम्पत्ति मान कर आस्तिक भारतीय भारतवर्ष की अखण्डता को प्रमाणित कर देते हैं।

पर्वों से जहाँ भारत की अखण्डता बद्धमूल होती है, त्योहारों से वहाँ पुरातन हिन्दू जाति की धमनियों में फिर से नये रक्त का सञ्चार हो जाता है और इस तरह वह पुनः २ ताजा दम होकर—'**नवो नवो भवति जायमानः**' के अनुसार नवीन रूपेण कार्यक्षेत्र में अग्रसर होती है।

अहिन्दु जातियों में भी त्योहारों के नाम पर वर्ष भर में दो चार दिन नियत होते हैं; जैसे मुसलमानों में ईद, बकरीद, चूरी रोजा और बारावफात ये साढ़े तीन दिन त्योहारों के रूप में मनाए जाते हैं। ईसाइयों में भी न्यू ईयर्स-डे, ईस्टर-डे, गुडफ्राइडे और क्रिसमस डे, ये चन्द दिन त्योहार रूपेण परि-गृहीत हैं। परन्तु उक्त जातियों ने त्योहारों का वास्तविक उद्देश्य न समझ कर उनमें रोने धोने का पुरोगम भी तत्परता से सम्मिलित कर लिया है जैसे मुहर्रम के दिनों में शीया सम्प्रदाय के मुसलमान रोने और छाती पीटने का वीभत्स अभिनय करते हैं। ईसाई पादरी साधारणतया सदैव और पर्व दिनों में खास तौर पर कमर में रस्सी बांधकर और सर्व साधारण लोग गले में नकटाई का फन्दा बांधकर अपने मत प्रवर्तक ईसा-मसीह की फांसी का अभिनय करते हैं। इस प्रकार अतीत कालीन गड़े मुर्दे उखाड़ कर अपने पूर्वजों की लाचारी और विवशता पर आँसू बहाने से निराशा और मायूसी के अतिरिक्त, अन्य कुछ लाभ नहीं हो सकता।

हिन्दु जाति सदैव आशावादी जाति रही है। इसलिये हमारे त्योहारों में विजय-दिवस और महापुरुषों के जयन्ती-दिवसों को तो स्थान मिला है परन्तु पराजय और निर्वाण दिवसों का त्योहारों में कथमपि सम्मिलित नहीं किया गया है। राम,

कृष्ण, शंकर, रामानुज, प्रताप और शिवाजी के जन्म दिन तो सर्वविदित हैं परन्तु उन महापुरुषों के प्रयाण दिवस ऐतिहासिक पुस्तकों में भी अनुसन्धान की समस्या बने हुए हैं।

दुर्भाग्यवश अभारतीय लोगों से प्रभावित बौद्ध और आर्य समाज जैसे कतिपय हिन्दु सम्प्रदायों में भी मृत्यु दिवस मनाने की कुप्रथा अब आ गई है जैसे बौद्धों में बुद्ध का निर्वाण दिवस और दयानन्दियों में, दयानन्द मृत्यु डे, लेखराम-मृत्यु डे, श्रद्धानन्द-मृत्यु डे आदि ; परन्तु यह परिपाटी नगण्य और क्षीणप्राय सी होती जा रही है। स्वयं उक्त सम्प्रदायों के विशिष्ट व्यक्ति भी अब इसे कुप्रथा मानने लगे हैं।

अन्य सम्प्रदायों में जहां दो, चार, दश पर्व त्यौहार नियत हैं वहां सनातन धर्म में वर्ष के प्रत्येक दिन में कई २ त्यौहार नियत हो गये हैं। अमुक दिन, अमुक युग में अमुक कार्य हुआ जिससे यह पर्व या त्यौहार बन गया परन्तु युगान्तर में और कालान्तर में उसी दिन अन्यान्य विचित्र घटना घटी, जिससे वह त्यौहार दुहरा तिहरा त्यौहार बन गया और उसमें तत्तत् घटनाओं के सूचक कई कृत्य सम्मिलित हो गए। जैसे विजया दशमी आरम्भ में दशविध पापों को हरण करने वाली जगदम्बिका की उपासना का ही प्रधान त्यौहार था, परन्तु इसी दिन त्रेतायुग में भगवान् राम ने रावण की विजय के निमित्त ऐतिहासिक प्रस्थान किया था। इसलिए भावि क्षत्रिय लोगों ने दशहरा पूजन के साथ २ इस दिन विजय प्रस्थान का पुरोगम भी सम्मिलित कर लिया, जिससे सीमोल्लंघन और शमी पूजन भी इसी दिन के कृत्य-विशेष हो गए। इस तरह हिन्दु जाति के पर्व और त्यौहारों की इयत्ता नहीं।

कुछ त्योहार सार्वदेशिक हैं जो प्राय: सब प्रान्तों में समान रीति से मनाए जाते हैं और कुछ एकदेशीय हैं जो अमुक प्रान्त में ही प्रधान रूप से मनाए जाते हैं। श्रावणी, विजय दशमी, दिवाली और होली जैसे त्यौहार सार्वदेशिक हैं, परन्तु धनु: संक्रान्ति का मासान्त 'लोहडी' नामक त्यौहार पंजाब में, नाग-पंचमी बंगाल में, गणेश चतुर्थी महाराष्ट्र में अधिक धूमधाम से मनाई जाती है। इसी तरह 'वट सावित्री' व्रत आदि अन्यान्य कई त्योहार भी इसी कोटि के हैं।

प्रतिपदा को नव वर्षारम्भ, मत्स्य-जयन्ती, गोवर्द्धन पूजन, अन्नकूट आदि, द्वितीया को रथयात्रा, भ्रातृ द्वितीया, फुलेरा दूज आदि, तृतीया को गनगौर, अक्षय तृतीया, सतवा तीज, हरियाली तीज, कजरी तीज आदि, चतुर्थी को प्रतिमास गणेश चतुर्थी, करवा चौथ, संकट चतुर्थी आदि, पंचमी को नाग पंचमी ऋषि पंचमी, वसंत पंचमी, श्री पञ्चमी आदि, षष्ठी को सूर्य षष्ठी, चन्द्रषष्ठी आदि, सप्तमी को रथ सप्तमी, अचला सप्तमी आदि, अष्टमी को कृष्ण जन्माष्टमी, राधाष्टमी, गोपाष्टमी कालभैरवाष्टमी, भीमाष्टमी, जानकी जयन्ती आदि, नवमी को राम नवमी, अक्षय नवमी, आदि, दशमी को गंगा दशहरा, विजय दशमी आदि, एकादशी सामान्यतया प्रतिपक्ष में और विशेषतया निर्जला, देवशयनी, देवोत्थापिनी, षट्तिला, आमलकी आदि, द्वादशी को, वामन द्वादशी, गोवत्स द्वादशी आदि, त्रयोदशी को धन तेरस, यम त्रयोदशी, प्रदोष व्रत आदि, चतुर्दशी को नृसिंह जयन्ती, शिवरात्री, नरक चतुर्दशी, वैकुण्ठ-चतुर्दशी, अनन्त चतुर्दशी आदि, अमा और पौर्णिमा को सभी

पर्व होते हैं। इस प्रकार सभी तिथियों को हमारे पर्व और त्यौहार पड़ते हैं।

रविवार स्वास्थ्य के लिए सूर्योपासना का व्रतोपवास दिन, सोम कल्याणार्थ शिव उपासना का प्रधान दिवस, मंगलवार सर्वकार्य सिद्धयर्थ हनुमान सम्बन्धी व्रतोपवास का और ऋण मोचनार्थ भौमोपासना का मुख्य दिन है। बुध, चित्रकला व्यवहारोपयोगी साधन का दिवस, बृहस्पति ज्ञान-सम्पादक अनुष्ठानों का व्रत दिवस, शुक्र धर्मनीति, राजनीति और कुटिलनीति संबंधी सन्धि विग्रह आदि की इतिकर्तव्यता को निर्धारण करने का सर्वोपरि दिवस, एवं शनिवार आधि व्याधि संकट पार करने के लिए तादृश धर्मानुष्ठानों का व्रतोपवास दिवस।

इस प्रकार सातों बार भी हिन्दुओं के विभिन्न पर्व और त्योहार ही हैं, ऐसी स्थिति में इतने विस्तृत विषय का सर्वांगपूर्ण विवेचन करना न इस ग्रन्थ का उद्देश्य है और नांही यह सम्भव है, किन्तु जो पर्व या त्यौहार विशेषरूपेण सर्वत्र मनाए जाते हैं और उनमें भी जो अमुक २ विशेष कृत्य किये जाते हैं उनका कुछ दिग्दर्शन संक्षेप से किया जाता है जिससे आस्तिक जनता तत्तत् पर्वों की इतिकतव्यता के अदृष्ट फलाधायक अनुष्ठानों में प्रत्यक्ष लौकिक लाभों का भी वैज्ञानिक रीति से अनुसंधान कर सके।

नव संवत्सर

हमारे नये वर्ष का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है। नये वर्ष का प्रथम दिन होने के नाते यह दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि अंग्रेजी दासता से मुक्त होने पर भी मानसिक गुलामी से संत्रस्त भारत अभी इस दिन का सच्चा महत्त्व नहीं समझता

और यूरोप के 'न्यू इयर्स डे' की भांति इसे धूमधाम से नहीं मनाता किन्तु वह समय दूर नहीं जब सांस्कृतिक-चेतना के उद्बुद्ध होने पर हम इस शुभ दिन के वास्तविक महत्त्व को समझ पायेंगे और यह दिन पुन: भारत का महान राष्ट्रीय पर्व बनेगा। यह त्योहार अति प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है और वेदादि शास्त्रों में इसका महत्त्व वर्णन किया गया है, यथा—

शास्त्रीय स्वरूप

(क) संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां राञ्युपास्महे।
सा न आयुष्मती प्रजा रायस्पोषेण संसृज ॥

(अथर्व ३। ६। १०)

(ख) चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।

(ब्रह्म पुराण)

(ग) कृते च प्रभवे चैत्रे प्रतिपच्छुक्लपक्षगा।
मत्स्यरूपः कुमार्यांञ्च अवतीर्णो हरिः स्वयम् ॥

(स्मृति कौस्तुभ)

अर्थ—(क) संवत्सर की प्रतिमा स्वरूप हम जिस प्रभु की उपासना करते हैं वह हमें दीर्घायु वाली प्रजा और धन से युक्त करे। (ख) चैत्र मास के प्रथम दिन ब्रह्मा ने सृष्टि रचना की। (ग) सत्य युग में चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को स्वयं भगवान् विष्णु ने मत्स्य के रूप में अवतार धारण किया।

उपरोक्त शास्त्रीय वर्णन से स्पष्ट है कि हमारी अनेक धार्मिक व ऐतिहासिक परम्पराएँ इससे जुड़ी हुई हैं। सृष्टि-निर्माण जैसे

विशाल कार्य का प्रारम्भिक दिन होने के नाते तो इसका महत्त्व है ही, किन्तु सृष्टि संरक्षक प्रभु द्वारा संसार के परित्राण के लिये मत्स्य के रूप में प्रथमावतार धारण करने के कारण यह दिन सम्पूर्ण विश्व के इतिहास से सम्बद्ध है। मत्स्यावतार की इस कथा का बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है और वह थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रायः सभी देशों के साहित्य में पाई जाती है जिस से विदित होता है कि पुरातन काल में यह सभी जातियें हिंदू ही थीं जो दूसरे देशों में बस जाने पर 'वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्'—के अनुसार म्लेच्छत्व को प्राप्त हो गईं। पुराणेतिहास का जो कुछ स्वल्प सा ज्ञान इन जातियों के पूर्वपुरुष अपने साथ ले गए थे वही उनके पास सुरक्षित रहा। जो भी हो, मत्स्य अवतार एक ऐतिहासिक घटना है और इस घटना की पुण्य स्मृति यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदा है।

वैज्ञानिक-विवेचन

हमारा यह संवत्सर जो सौर और चान्द्र दोनों संवत्सरों के माध्यम पर सुस्थिर है सावन-संवत्सर है। संसार में इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी संवत्सर हैं वे सब लगभग अधूरे ही हैं। उदाहरणतया सौर संवत्सर को लीजिए। इसमें सूर्य की गति के अनुसार 'प्रविष्टे' आदि के रूप में आप मास की तारीखों की गणना तो कर सकते हैं परन्तु सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, ज्वार-भाटा आदि के विषय में इन सौर तिथियों का कोई उपयोग नहीं। अर्थात् कितने प्रविष्टे को नियमतः सूर्य चन्द्र ग्रहण पड़ता है या सौर मास की कितनी तारीख को समुद्र में ज्वार भाटा उठता है—यह बात इदमित्थं रूप से नहीं कही जा सकती। इस दृष्टि से

जनवरी फरवरी आदि अर्ध सौर मास भी अपूर्ण ही ठहरते हैं।

चान्द्र गणना में यद्यपि यह दोष नहीं है, उससे ग्रहणादि पर नियन्त्रण किया जा सकता है जैसे—आप कह सकते हैं कि सूर्य ग्रहण सदा अमावस्या को ही होगा, चन्द्र ग्रहण सदा पूर्णिमा को ही, लघु दीर्घ ज्वार सर्वदा क्रमशः अष्टमी चतुर्दशी को ही उठेंगे आदि-आदि ; परन्तु ऋतुओं के नियन्त्रण में चान्द्र गणना भी विफल रही है। जिस प्रकार सौर गणना में हम निश्चित रूप से कह सकते थे कि वृष और मिथुन के सूर्य में सदा ग्रीष्म ऋतु रहेगी, धन और मकर के सूर्य में सदा हेमन्त, इस प्रकार चन्द्र के बारे में हम कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं कर सकते। क्योंकि चन्द्र गणना के अनुसार ऋतुओं में पर्याप्त अन्तर देखा जाता है।

हिज्री सन् की गणना—पीछे हटो !

मुसलमानों की वर्ष गणना प्रायः चन्द्रमा पर आश्रित है। मौलाना साहिब से पूछिये कि आज कौन तारीख है ? तो वे आकाश की ओर ताकने लग जाएंगे और कहेंगे कि यदि आज चाँद दीख गया तो कल पहली हो जाएगी, बस ! रोज़े ख़त्म और ईद की शक्कर सेवियां खूब उड़ेंगी। हमने पूछा यदि बादल छा जाने के कारण चन्द्रोदय का निश्चय न हो पाया तब ?— तब किसी बड़े नगर को तार देकर पूछेंगे, सभी जगह बादल थोड़े ही होगा। हमने फिर पूछा–यदि तुम्हारा कोई इस्लामपरस्त व्यक्ति ध्रुवप्रदेश में रहता हो जहां कि छः-छः मास तक चन्द्र-सूर्य के दर्शन ही नहीं हो पाते वहां क्या 'ईद' ही न हो पाएगी, आधा वर्ष तक रोजों का उपवास ही चलेगा ? मौलाना चुप हो गए. हमने पुनः दूसरा प्रश्न कर डाला— जनाबेमन ! आपके ये

रोज़े कौन मौसम में आते हैं जरा यह यह तो फरमाइये ? मौलाना ने कहा कोई एक मौसम में थोड़े ही आते हैं, हिरवें फिरवें हर एक मौसम में आ सकते हैं। मौलाना का यह जवाब भी एक ही रहा !

वास्तव में हिज्री सन् तीन सौ छप्पन दिन का होता है, जो सौर गणना से प्रायः दश दिन कम रहता है। ऐसी स्थिति में प्रति वर्ष दश दिन और हर चौथे वर्ष एक महीने की न्यूनता पड़ जाती है जिससे हिज्री सन् के रज्जव, शाबान, और रमजान आदि महीने ऋतुवों से कुछ सम्बन्ध नहीं रख पाते। मौलाना साहिब यह बतलाने में असमर्थ हैं कि मौसमे बहार (बसन्त) और मौसिमे खिज़ां (शिशिर) उनके किस महीने में पड़ती हैं। तथा गर्म्मी, सर्दी और चौमासा किन महीनों में आते हैं !

अब पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि हर चौथे वर्ष एक महीना पीछे हटता-हटता यह हिज्री सन् १३७६ वर्ष में अन्यून अड़तीस वर्ष पीछे हट गया है। यदि इस्लामी विचारधारा के अनुसार उनकी यह चौहदवीं शती प्रलयकारिणी सिद्ध हो गई तब तो यह सन् भी केवल पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसन्धान मात्र की सामग्री अवशिष्ट रह जाएगा, और कदाचित् बराबर सदियों प्रचलित रहा तो इसी अनुपात से घटते-घटते 'तीन बीसी के सौ' वाली कहावत का ज्वलन्त उदाहरण बन जाएगा।

ईसवी सन् गणना—कभी आगे-कभी पीछे

एक विश्रान्ति गृह में अपने साथ ही ठहरे हुए एक पादरी साहिब से लगभग आधी रात अचानक नींद खुलने पर हमने पूछा कि आज कौन तारीख है—तो वे झट घड़ी देखने दौड़े—

और कहने लगे—टाइम देखता हूँ यदि रात के बारह बज गए होंगे तो तारीख बदल जाएगी। काफी देर देखते रहे तो हमने पूछा—हां जी, बताया नहीं आपने ? कहने लगे—क्या बताऊं पं० जी, घड़ी बन्द है जरा वक्त पता चलायें तो तारीख पता चल सकती है। हमने पूछा, क्या मिस्टर ! रात के बारह पृथ्वी के प्रत्येक प्रदेश में एक ही समान समय पर बजते हैं ?-कलकत्ते में जब दिन के बारह बजते हैं तो जापान के 'टोकियो' में सायंकाल के तीन बजते हैं, लण्डन में प्रातः के ६ बजते हैं, और अमेरिका के न्यूयार्क में आधी रात के पश्चात् सवा बजता है। भारत के ही हैदराबाद सिन्ध में उस समय अन्यून साढ़े दश (पूर्वाह्न) बजते हैं। ऐसी स्थिति में रात के बारह बजे बदलने वाली तारीख भी जहां-तहां विभिन्न समयों में बदलेगी, वह रबड़ की भान्ति खिचती चली जाएगी।

हमने पुनः पूछा—अच्छा चलिये, यही बतला दीजिये कि चाँद सूर्य ग्रहण और ज्वार-भाटा किस अंग्रेजी तारीख को पड़ता है ?—पादरी साहिब बगलें झांकने लगे।

वास्तव में पादरी साहिब का क्या दोष है। ईसवी सन् गणना ही कभी आगे और कभी पीछे कवायद परेड करती है। जैसे मौलाना साहिब का हिज्री सन् कभी दुरुस्त हो ही नहीं पाएगा सदैव पीछे को हटता रहेगा इसी प्रकार पादरी साहिब का ईसवी सन् भी घड़ी के लटकन की भान्ति आगे-पीछे डोलता रहेगा। क्योंकि ईस्वी सन् वास्तव में तीन सौ पैंसठ दिन, पांच घण्टे, बावन मिनिट और पंतालीस सैकेण्ड का होता है। सो तीन वर्ष तक तो प्रतिवर्ष केवल तीन सौ पैंसठ दिन का फर्ज किया जाएगा परन्तु चार पर पूरा विभक्त हो सकने वाला चौथा वर्ष

फरवरी महीने की २९वीं तारीख अधिक बढ़ाकर तीन सौ छियासठ दिन का फर्ज कर लिया जाएगा। अब पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि क्या ५ घन्टे ५ मिनिट और ६५ सैकेण्ड को चार पर गुणित करने से २४ घण्टे का एक दिन बन जाएगा ? प्रत्यक्ष है कि सवा सात मिनिट की कमी रहेगी, ऐसी स्थिति में हर चौथे वर्ष बढ़ाया जाने वाला फरवरी का यह उनत्तीसवां दिन सवा सात मिनट की कमी से घटता-घटता एक लंबे समय के बाद ऐसी कक्षा में पहुँच जाएगा जबकि लिपि का वर्ष होते हुए भी वह सन् तीन सौ पैंसठ दिन का ही फर्ज किया जाएगा। फिर भी वह वस्तुतः न्यूय या अधिक हो रहेगा पूरा खाता चूकता नहीं हो पाएगा।

दयानन्दी-आर्यवत्सर—मेंडकी को जुकाम ?

दयानन्दी 'भूमि परे चहँ गहन अकाशा' के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब मेंडकी को भी जुकाम होने लगा तो उन्होंने भी अपना स्वतन्त्र संवत्सर होने की दुराशा पूरी करनी चाही। सनातनधर्मियों के जिन पुराणों को वे कोसते-कोसते नहीं अघाते उन्हीं पुराणों की वर्ष युग गणना पर आधारित 'ओं तत्सद् अद्य ब्रह्मणोह्नि द्वितीयपरार्द्धे···अष्टाविंशतितमे कलियुगे—' आदि-आदि हमारे सनातनी 'संकल्प' को संहिता भाग के वेद मन्त्र की भान्ति बिना सींग पूंछ हिलाए स्वतः प्रमाण मानकर 'सृष्टितो गताब्दाः' को 'आर्यवत्सर' नाम देने का दुःसाहस किया, परन्तु 'गंजी को नालों के भाव का क्या पता' ! घास और मांस पार्टियों द्वारा बनाए ग्रन्थों पर एक के प्रतिकूल कुछ का कुछ छाप डाला। जैसे घास पार्टी के 'वैदिक-यन्त्रालय' में छपे ग्रन्थों पर आर्यवत्सर

'एक अर्ब सत्तानवें करोड़' आदि-आदि छपता है तो मांस पार्टी के द्वारा छपवाए 'वैदिक-कोश' आदि पुस्तकों पर वह 'एक अर्बं छियानवें करोड़' आदि-आदि छपा है, जिन दोनों में १,२०, ९६,००० वर्षों का अन्तर है।

जब कि वे सनातनियों की सावन गणना के सामने शिर झुका कर तदनुसारी अमा, पौर्णिमा आदि तिथियों और चंत्रादि साधिक मास तथैव मानते हैं फिर यह आर्य्य-वत्सर का नया पुछल्ला लगा कर अनादि वेदों को मानने वाली अनादि आर्यं जाति को स्वयं परिगणित वर्षों से समुद्भूत हुई प्रकट करें यह कितनी मूर्खतापूर्ण चेष्टा है इसे कोई भी समझदार झटिति समझ सकता है।

हमारी वर्ष गणना—'इदमित्थम्'

अन्यान्य विद्याओंकी भान्ति गणित विद्या के भी हिन्दु ही आदिम आविष्कर्ता हैं। यजुर्वेद में—एक से लेकर सौ तक की सामान्य गिनती, फिर दूनी, तीया, चौका आदि पहाड़े और इकाई से लेकर उन्नीस पद तक विभिन्न संख्याओं के नाम सुस्पष्ट लिखे हैं। **एकश्च मे द्वौ च मे'** इत्यादि पूरा अनुवाक् द्रष्टव्य है। इसीलिए आज भी इराक, फारस, सुदूर टर्की तक गणित विद्या को **'इल्मे हिन्दिया'**, अर्थात्—हिंदुओं की विद्या के नाम से स्मरण किया जाता है। वर्तमान विदेशी अहिन्दुओं की सर्वोन्नत कही जाने वाली रोमन जाति भी एक-दो आदि संख्याओं के लिये क्रमशः एक-दो-तीन-चार रेखाएं खींचकर ही देहातियों की भान्ति अपना काम चलाती थी। आज भी घड़ियों के डायलों पर तथा प्रश्नपत्रों पर तादृश रेखाड्क ही प्रायः छपते हैं। उन्नीस पदों

के नाम तो अन्य किसी भाषा में उपलब्ध ही नहीं। दश हजार, दश लाख आदि संख्याओं के लिए 'टैन थाउजैंड' और 'टैन लैक' आदि का ही प्रयोग किया जाता है; अर्ब को—'सौ करोड़' कहा जाता है, यह परिपाटी निःसन्देह उन अपठित गंवारों की सी है जो कि केवल बीस तक गिनती जानने के कारण 'सौ' को अगत्या 'पांच बीसी' कहने के लिए विवश हैं। दुर्भाग्यवश उर्दू फारसी का अनुगमन करने वाली 'हिन्दुस्तानी' में और अंग्रेजीके उच्छिष्ट-भोजी अधिकांश, कथित हिन्दी के पत्रों में उपर्युक्त गँवारू परिपाटी का ही अन्धानुकरण करते हुवे 'अयुत, प्रयुत' आदि शब्दों को छोड़ कर 'दश हजार' और 'दश लाख' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। अब संख्या को भी "सौ करोड़' लिखने में ही सम्पादक महोदय अपने 'अपटूडेट' होने और पत्र के 'प्रगतिशील' होने के दुःस्वप्न देखते हैं। इन लोगों को इतना भी बोध नहीं कि भारत की एक नारी के नाम पर लिखा गया 'लीलावती' नामक गणित-ग्रन्थ आज भी पाश्चात्य गणितज्ञों का खोपड़ी खाली कर डालता है। सो भारतीय वैदिक गणित में फर्ज करने को कोई स्थान नहीं यहां तो सब कुछ 'इदमित्थम्' सिद्धान्त पर ही आधारित है, तदनुसार (१) ब्राह्म (२) दिव्य (३) पित्र्य (४) प्राजापत्य (५) बार्हस्पत्य (६) नाक्षत्र (७) सौर (८) चान्द्र और (९) सावन ये नौ वर्ष-गणनाएं भारतीय वाङ्मय पें प्रसिद्ध हैं। ब्राह्म, दिव्य और पित्र्य ये तीन गणनाएं युग-गणना के समय उपयोग में आती हैं प्राजापत्य गणना वर्ष के शुभाशुभ परीक्षण में अत्यधिक उपयोगी है। बार्हस्पत्य गणना 'कुंभ' आदि महापर्व और 'सिंहगत' अविवाह-काल के अतिरिक्त महासंहारक क्षय वर्ष तथा अधिक वर्ष के निर्णय में भी उपयुक्त है। 'श्रौत-

यज्ञ' नक्षत्र गणना पर आधारित हैं। सूर्य सम्बन्धित अयन-गति और ऋतु-सम्पात आदि सब कृत्य सौर-गणना पर आश्रित हैं। सूर्य्य-चन्द्रोपराग सामुद्रिक ज्वार और भाटा तथा स्त्रियों के मासिक धर्म्म की प्रवृत्ति इत्यादि सब कृत्य चान्द्र-गणना-मूलक हैं।

उक्त आठों गणनाओं का ऐक्य स्थिर करने के लिये सूर्य और चन्द्र दोनों पर आधारित विभिन्न गणनाओं का माध्यम निकाल कर 'सावन' गणना का प्रादुर्भाव हुवा है, जो उक्त ग्रहों की गति विगति के तारतम्यसे गणित द्वारा सुस्पष्ट तिथि-वृद्धि और तिथि-क्षय होने तथा दो अमावस्याओं के अन्तर्गत सूर्य-संक्रान्ति न होने पर—'संक्रान्ति-हीन-मास' के आधिक्य से नित्य 'इदमित्थम्' (अपटूडेट) बनी रहती है।

तिथि घटे चाहे बढ़े परन्तु हिन्दुवों की तादृशी अमावस्या को ही सूर्य ग्रहण होगा, हमारी तादृशी पौर्णिमा को ही चन्द्र ग्रहण होगा आगे पीछे नहीं। क्योंकि हमारी तिथियें वैदिक विज्ञान भित्ति पर स्थिर हैं और स्वयं परमात्मा द्वारा निर्मित हैं। तीसरे बर्ष के बाद भले ही अधिक मास के कारण एक महीना बढ़ जाए, परन्तु वसन्त ऋतु हमारे चैत्र और वैशाख में ही वृक्षों में नव पल्ववों को अंकुरित करेगा, ज्येष्ठ और आषाढ़ में ही सूर्य तपेगा, श्रावण और भादों में ही वर्षाप्रद मानसून वायु बहेगा। आश्विन और कार्तिक में ही शुभ्र ज्योत्स्नामय चन्द्रमा वनौषधियों में रस भरेगा। मार्गशीर्ष और पौष में ही कड़कड़ाती सरदी पड़ेगी, माघ और फाल्गुण में ही पतझड़ आरम्भ होगी। यदि हमारी तिथि-वृद्धि और तिथिक्षय अप्रामाणिक होते और अधिक मास केवल ढकोसला होता तो फिर प्रकृति हमारा कभी साथ न

देती। मौलाना साहिबकी भान्ति हमारे महीने भी ऋतुमें आते जाते, और पादरी साहिब की भान्ति हमारी तिथियें भी ग्रहण ज्वार और भाटा आदि के निर्णय में असम्बद्ध रहतीं। इसलिये हिन्दु को गर्व है कि उनके तिथि वार (त्योहार) और ग्रहण आदि (पर्व) विज्ञान भित्ति पर स्थिर हैं इसीलिये वे इस जाति को अजर और अमर बनाने में रसायन हैं।

इस दृष्टि से हमारा यह सावन संवत्सर संसार के सभी संवत्सरों की अपेक्षा वैज्ञानिक, प्राकृतिक तथा पूर्ण है। शकारि महाराजा विक्रमादित्य द्वारा भारत भू को विदेशियों के पंजे से मुक्त करने पर प्रचलित विक्रम संवत्सर का आरम्भ हुआ था। अतः उस आदर्श हिन्दू सम्राट् की परम पावन ऐतिहासिक स्मृति से संवलित होने के नाते से भी इस दिन का हम भारतीयों के लिये बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार यह दिन हमारा धार्मिक और ऐतिहासिक उभयविध पर्व निश्चित होता है। अतः प्रत्येक भारतीय को इसे उत्साह से मनाना चाहिये।

नवरात्र

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक के ९ दिन 'नवरात्र' कहे जाते हैं। ये वर्ष में दो बार होते हैं—एक चैत्र में वासन्तिक नवरात्र और दूसरे आश्विन में शारदीय नवरात्र। प्रत्येक सद्गृहस्थ को दोनों ही नवरात्रों को विधि पूर्वक मनाना चाहिए।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) बहुशोभनामुमां हैमवतीं तां होवाच।

(केनोपनिषद् खण्ड ३)

(ख) शरत्काले महा पूजा क्रियते या च वार्षिकी ।
तस्यां ममैतन्माहात्म्यं श्रुत्वा भक्तिसमन्वितः ॥
(दुर्गासप्त. १२।३०)

अर्थात्—(क) [देवराज इन्द्र ने आकाश में प्रकट हुई] अतीव शोभायमान हिमाचल की पुत्री उमा=जगदम्बा को (देखा) और उससे प्रार्थना पूर्वक कहने लगे ।

(ख) शरद् ऋतु में की जानेवाली महा पूजा के अवसर पर और वार्षिक पूजा (चैत्र में वर्ष के आरम्भ में और वर्ष के अनन्तर पड़ने वाली) के अवसर पर श्रद्धा भक्ति से युक्त होकर मेरे इस माहात्म्य का श्रवण करना चाहिए ।

नवरात्र भारतीय गृहस्थ के लिए शक्ति-पूजन, शक्ति-संवर्द्धन और शक्ति-संचय के दिन हैं। नवरात्र में शक्ति की आराधना तथा शास्त्र विहित व्रतादि के आचरण द्वारा हम त्रिविध शक्ति का संचय कर भावी जीवन-यात्रा के मार्ग पर अग्रेसर होते हैं। यह त्रिविध शक्ति-संचय कैसे होता है यही समझने लायक बात है।

चैत्र और आश्विन में ही नवरात्र क्यों ?

नवरात्र चैत्र और आश्विन में ही क्यों होते हैं? इसका वैज्ञानिक हेतु है कि ऋतु-विज्ञानके अनुसार ये दोनों ही मास सर्दी गर्मी की सन्धि के महत्त्वपूर्ण मास हैं। वैसे तो ऋतुएँ कहने को ६ मानी जाती हैं परन्तु वस्तुत हैं वे दो ही—शीत और उष्ण अथवा सर्दी और गर्मी। शीत का पदार्पण आश्विन से आरम्भ हो जाता है और ग्रीष्म का चैत्र से। ज्यों ही एक ऋतु का

पदार्पण हुआ कि सम्पूर्ण भौतिक जगत् में एक हलचल प्रारम्भ हो गई। क्या वृक्ष, लता, गुल्मादि वनस्पति, क्या जल, क्या आकाश और वायु-मण्डल सभी में परिवर्तन होने लगता है। यह दोनों मास दोनों ऋतुओं के पूर्वापर सन्धि-काल ह, अतः हमारे स्वास्थ्य पर इनका विशेष प्रभाव होता है चैत्र में गर्मी के प्रारम्भ हो जाने से पिछले कई मास से जमा हुआ हमारे शरीर का रक्त उबलना शुरू हो जाता है। केवल खून की ही बात नहीं यह नियम शरीर के वात, पित्त, कफ इन तीनों पर भी लागू होता है। यही कारण है कि संसार के अधिकांश रोगी इन दोनों मासों में या तो शीघ्र अच्छे हो जाते हैं या मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसीलिए वेदों में—**'जीवेम शरदः शतम्'**—प्रार्थना करते हुए सौ शरत् काल पर्यन्त (वर्षाकाल पर्यन्त नहीं) जीने की प्रार्थना की गई है। उसमें वसन्त की अपेक्षा शरद् ऋतु का प्रकोप अधिक भयावह होता है। यदि शरद् कुशलता से बीत जाए तो वर्ष भर जीने की आशा बन्ध जाती है, इसो कारण से वर्ष का अपर नाम ही 'शरत्' पड़ गया।

शास्त्रकारों ने सन्धि काल के इन्हीं मासों में शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए नौ दिन तक विशेष व्रत का विधान किया है। घर में भगवती की आराधना के लिये जौं बोये जाते हैं इनको गर्मी पहुँचाने के लिए आक धतूरा आदि के पत्ते चाहिएं, पूजन के लिए फूल भी आवश्यक हैं अतः वैसे आप चाहे भ्रमण के लिए न जाते हों, पर इनको लाने के लिए तो आपको प्रातः उठ कर वन की ओर जाना ही होगा। लीजिए इस धार्मिक कृत्य को सम्पादन करते हुए आपने ९ दिन तक अनायास ही प्रातः

कालीन स्वच्छ प्राणप्रद वीरवायु का सेवन कर लिया, जो स्वास्थ्य के लिए अमित गुणकारी है। फूल और पत्तों के संग्रह के बहाने से आचरित आपका यह भ्रमण—'वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्'—के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगा। दस दिन तक निरन्तर जाने से अब भ्रमण में कुछ आनन्द-सा आने लगा, अब आप विना किसी के उठाए स्वयं प्रबुद्ध होकर भ्रमणार्थ जा सकते हैं। गृहकोण-स्थित भगवती के मण्डप के सामने अहर्निश जलते हुए घृत और तैल के दीपों का सुस्निग्ध धूम और पूजन समय जलाए जाने वाले धूप, अगर कर्पूरादि सुगन्धित पदार्थों का धूम इस सन्धिकाल में उत्पन्न होने वाले सभी कीटाणुओं का विनाश कर स्वयं आपके और आपके पारिवारिक-जनों के लिए शारीरिक-शक्ति को बढ़ाने वाला होगा ही, क्या इसमें भी कोई सन्देह है ? इस प्रकार जहां नवरात्रों का विधिवत् अनुष्ठान शारीरिक-शक्ति-का संवर्द्धक हैं, वहां मानसिक-शक्ति-संचय के लिए भी नवरात्र अत्युपयोगी हैं। भगवती जगदम्बिका के सामने सप्तशती, देवी-भागवत, वाल्मीकि-रामायण, रामचरित-मानस या इसी प्रकार के—सुप्त आत्माओं में प्राण फूंक देने वाले उदात्त-चरित्रों के पारायण करने से आपकी मानसिक-शक्ति का विकसित होना निश्चित ही है।

नव रक्त-सञ्चारी वसन्त के इन मादक दिनों में मन में विषय-वासना की नई तरंगें भी उठेंगीं, पर सावधान ! यह व्रत के दिन हैं।

ते हविष्यान्नमश्नन्तो मन्त्रार्थगतमानसाः।
भूमौ शयानाः प्रत्येकं जपेयुश्चण्डिकास्तवम्॥

—के अनुसार १० दिन तक आपने एक वक्त फलाहार करते हुए

भूमिशाया बनकर ब्रह्मचर्य का पालन करना है। 'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'—के अनुसार विश्व की सम्पूर्ण स्त्रियों को जगदम्बा का ही रूप समझते हुए वीर वीरांगनाओं के चरित्र-पारायण द्वारा वह मानसिक बल सम्पादन करना है कि काम क्रोधादि तुच्छ शत्रु आपके मन पर विजय न पा सकें।

इसी प्रकार इस अनुष्ठान का आध्यात्मिक शक्तिवर्द्धक होना भी स्वभावसिद्ध ही है, क्योंकि शास्त्रविहित नियमों का पालन करते हुए श्रद्धापूतहृदय से किसी भी अनुष्ठान का आरम्भ कर अमुक-अमुक मन्त्र के निरन्तर जाप से आपकी आत्मा को वह दिव्य-शक्ति प्राप्त होगी कि जिसका अनुभव आप इस व्रत का आचरण करके ही कर सकते हैं 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'—इस शास्त्रीय आदेशानुसार किसी भी ग्रन्थ का या मन्त्र का पारायण करते हुए उसके अर्थ को हृदयंगम कीजिए, उसमें प्रोक्त गुणों को आत्मा में उतारिए, फिर देखिए कि आपकी आत्मिक शक्ति, मां के सच्चे पुजारी रामकृष्ण परमहंस की भांति सर्वात्मना विकसित होती है या नहीं ?

नवान्न यज्ञ-हवन क्यों ?

'चैत्र' और 'आश्विन' का कृषिप्रधान भारतीयों के जीवन में प्रमुख स्थान है। चैत्र में आषाढ़ी फसल अर्थात् गेहूँ जौं आदि और आश्विन में श्रावणी फसल—धान आदि तय्यार होकर घरों में आने लग जाते हैं। इन दोनों अवसरों पर अगर नौ दिन तक घर में किसी कारण से अनुष्ठान न चल सके तो कम-से-कम १०वें दिन यज्ञ तो प्रत्येक व्यक्ति को करना ही चाहिए। इस नवागत अन्न से पहिले-पहल उस विश्वम्भर और विश्वात्मा

की आराधना का उपक्रम हमारे मन में सात्विक भावों का उदय तो करेगा ही, किन्तु साथ ही उपकारी के प्रति कृतज्ञता के इस प्रदर्शन से हम सच्चे अर्थों में मानव कहलाने के अधिकारी भी तो हो सकेंगे।

वैज्ञानिक-विवेचन

ऋतुमूलक वासन्ती संवत्सर, चैत्र शुक्ला प्रतिपत् से और नक्षत्रमूलक शारदी वर्ष, आश्विन शुक्ला प्रतिपद् से आरम्भ होता है। उक्त दोनों संवत्सरों के आदिम नौ दिन 'नवरात्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'नव' शब्द नवीनार्थक और नौ संख्या का भी वाचक है। अतः नूतन संवत्सर के आदिम दिन होने के कारण उक्त दिनों को 'नव' कहना जहां सुसंगत है वहां दुर्गाओं की संख्या नौ होने के कारण भी तादृश नाम अन्वितार्थ है। 'रात्र' शब्द तो उभयत्रापि रम्यतायुक्त किंवा (तत्तत् सिद्धियों का) दायक होने के कारण तादृश काल का सूचक है ही ! इस प्रकार उक्त नौ दिन हिन्दू-जाति में नव स्फूर्तिप्रद और साधक-सिद्धिप्रद होने के कारण अतीव रमणीय माने जाते हैं। यही नवरात्रों की शाब्दिक पृष्ठभूमि है।

पञ्च महाभूत और अन्तःकरण-चतुष्टय कुल मिलाकर ये नौ तत्त्व प्रकृति-विकार के मुख्य परिणाम हैं, जिनसे यह सब विश्व-प्रपञ्च ताने-बाने की भांति ओत-प्रोत है। साधकों की भाषा में यही दुर्गा के नौ स्वरूप हैं—जिनसे वह शक्ति समस्त विश्वमें व्याप्त है। वह आद्याशक्ति महामाया, त्रिवेदकी भान्ति महाकाली महालक्ष्मी और महा-सरस्वती रूपत्रय-सम्पन्न है। वसन्त आदि छहों ऋतुओं में दुर्गा के उक्त तीनों रूपों को पूजने के लिए

अठारह दिन अपेक्षित हैं। सो नौ दिन वासन्ती नवरात्रों में और नौ दिन शारदी नवरात्रों में एतदर्थ नियत हैं, यही नवरात्रों की नौ संख्या का मूल कारण है।

ऋग्वेद (१।२५।६) का 'वागाम्भृणीय' नामक पूरा का पूरा सूक्त महाशक्ति-तत्त्व का प्रतिपादक है जिसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत और तत्तद् तन्त्र-ग्रन्थों में अंकित है।

नवरात्र में कन्या पूजन क्यों ?

देखा जाता है कि नवरात्र के दिनों में खासकर अष्टमी और नवमी के दिन सनातनधर्मी छोटी-छोटी दुधमुंही कन्याओं का प्रायः सर्वत्र पूजन करते हैं। कन्या को विशिष्ट आसन पर बिठला कर गन्ध अक्षत आदि उपचारों से इष्टदेव की भान्ति मन्त्रोच्चारणपूर्वक बड़े भक्तिभाव से पूजते हैं—यह सब क्यों ?

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो जैसे समस्त पुरुष, पुराण-पुरुष के प्रतिनिधि हैं, ठीक इसी प्रकार **'स्त्रियः समस्तास्तव देवि ! भेदाः'** सिद्धान्त के अनुसार समस्त नारी भी महामाया की प्रतिकृति हैं और उनमें भी 'नग्निका' [अर्थात्—जिनको स्त्री-पुंभिदा का परिज्ञान न होने के कारण वस्त्रों से अपने अंग ढांपने का भी अभी तक बोध न हो पाया हो ऐसी कन्याएं] निर्विकार होने के कारण दुर्गा रूप में पूजने योग्य हैं—ऐसा मानना सहैतुक है।

हमने इन पंक्तियों में कुमारिका पूजन के केवल धार्मिक स्वरूप पर प्रकाश डाला है परन्तु हमारे त्यौहारों की प्रवृत्ति न केवल धर्ममात्र को लक्ष्य करके ही हुई है, अपितु धार्मिकता के साथ-साथ उनकी इतिकर्तव्यता में सामाजिक समस्याओं के

समाधान का भी बहुत कुछ उपयुक्त पुरोगम निहित है। जैसे कुमारिका-पूजन का पहिला नियम यह है कि पूजक को ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्राह्मण कन्या का, बलप्राप्ति के निमित्त क्षत्रिय कन्या का, धन-प्राप्ति के लिए वैश्य कन्या का और शत्रु-विजय, मारण, मोहन, उच्चाटनादि अभिचार-प्रधान कार्यों की सिद्धि के लिये चाण्डाल कन्या का पूजन करना चाहिए। उक्त नियम चारों वर्णों और असवर्णों में परस्पर आदान और प्रत्यादान का द्वार सदैव खुला रखने के लिए सामाजिक संघटन की दृढ़ आधारभित्ति का सहैतुक अनुष्ठान है। इससे हिन्दुमात्र अपने आपको एक ही जगदम्बा भवानी का समान पुत्र मानकर परस्पर पूज्य पूजक भावना की शिक्षा ग्रहण करता है।

दुधमुंही कन्या को माता क्यों कहें ?

कुमारिका के पूजन समय में आस्तिक पूजक उक्त कन्या को—'जगद्धात्री जगदम्बा किंवा माता' कह कर स्तुति करता है, इतनी छोटी अवस्था की कन्याओं को बेटी' कहना ही संगत हो सकता है, उन्हें माता क्यों कहा जाता है—यह शङ्का भी प्रायः की जाया करती है।

जब घर का नेता बूढ़ा दादा अपने मोहल्ले टोले की पौत्री-समान छोटी-छोटी कन्याओं को प्रतिवर्ष दुर्गा समझकर पूजेगा और उन्हें **'जगद्धात्री ! स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते'** आदि स्तोत्र पढ़ता हुवा 'हे जगज्जननि ! जगदम्बिके मातेश्वरि ! तुम्हें भूयो भूयो नमस्कार हो,' इत्यादि वाक्य बोलकर साष्टाङ्ग प्रणाम करेगा तो दादा जी की इस क्रिया का अनुकरण करते हुए उसके पुत्र और अल्पवयस्क पौत्र भी तथैव नतमस्तक होंगे। उक्त कुमारिका-

पूजन का परिणाम यह होगा कि उन छोटी २ कन्याओं के युवती हो जाने पर भी इस कुटुम्ब का कोई युवक अपने मुहल्ले टोलेकी किसी कन्या को कुदृष्टिसे देख सकने की हिम्मत न कर पाएगा। यदि कभी मानवसुलभ तादृश विकार उत्पन्न भी होने लगेगा तो उस युवक का अन्तरात्मा ही उसे धिक्कार करने उठेगा कि 'अरे नीच ! जिस कन्या को तेरे पिता और पितामह ने भी 'माता' कह कर वर्षों पूजा है और तूने स्वयमपि नतमस्तक हो कर जिसे दादा जी का अनुकरण करते हुए 'माता माता' कहा है, आज उसके प्रति तेरी यह दुर्भावना ! चुल्लू भर पानी में डूब मर निर्लज्ज'। बस ! यह विचार मन में आते ही यौवनजन्य मदान्धता काफूर हो जाएगी। यह भाव पूज्य कुमारिका को 'बेटी किंवा 'बहिन' कह कर पूजने से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि विवाह से पूर्व समवयस्क सभी युवक युवतियें भाई बहिन के सम्बन्ध से आबद्ध होते हैं और अपने से कम आयु की कन्याएँ पुत्री-स्थानीया होती हैं, परन्तु वाग्दान-संस्कार आदि धर्मानुष्ठानों द्वारा बहिन किंवा पुत्री-स्थानीया कोई कन्या ही पत्नीरूप में परिणत हो जाती है। इसीलिए शास्त्र में इस परिवर्तन का मुख्य कारण केवल 'धर्म' होनेसे पत्नीको 'धर्मपत्नी' नामसे स्मरण किया जाता है। इस तरह भगिनी-स्थानीया किंवा पुत्री-स्थानीया कन्या-वर्ग तो वेद शास्त्र के आदेश से समयान्तर में पत्नी-रूप में परिणत हो सकता है परन्तु 'मातृ-वर्ग' कथमपि पत्नी कोटि में आ ही नहीं सकता। इसलिए बूढ़े दादा जी भावि सामाजिक विप्रतिपत्ति की रोकथाम के लिए अपने मुहल्ले की टोले की दूधमुंही अल्पवयस्क कन्याओं को 'पुत्री' न कह कर कुमारिका पूजन के समय में 'माता' कहने में ही तादृश स्वारस्य का अनुभव

करते हैं। इस प्रकार नवरात्रों में कन्या पूजन का वैदिक विधान जहां एक प्राकृतिक धर्मानुष्ठान है, वहां मानव संघटन और चारित्र्य-संरक्षण का भी एक अनुपम अभियान है।

राम नवमी

'राम नवमी'—यह शब्द ही अपने समूचे चिरन्तन इतिहास को व्यक्त कर रहा है। अन्यून ९ लाख वर्ष पूर्व आज के ही पवित्र दिन मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम ने भारत-भू पर अवतीर्ण हो कर अपनी आदर्श लीलाओं द्वारा संसार के भूले भटके मानवों के समक्ष सच्ची मानवता के आदर्शों की स्थापना की थी। लोक प्रसिद्ध 'रामराज्य' के संस्थापक उस प्रभु ने आज के दिन अवतरित होकर इस रिक्ता तिथि को अपने दिव्य आलोक से भर दिया था। भगवान् राम और उनका पुण्य-चरित्र चिरकाल से कितने लोक-प्रिय और स्मरणीय रहे हैं—यह कहने की बात नहीं है। वास्तविक बात यह है कि भगवान् राम का चरित्र उस मानव-जीवन की कहानी है जो स्वभावतः संसार के सम्पूर्ण व्यक्ति व्यतीत कर रहे हैं। न केवल विरक्त साधु संन्यासियों के लिए ही, अपितु गृहस्थों के लिये भी वह संजीवनामृत है। गृहस्थ मनुष्य को जिन-जिन सम्बन्धों से वास्ता पड़ता है रामायण में वे सब अंकित हैं। दशरथ हमारे पिता हैं, कौशल्या हमारी माता। राम लक्ष्मणादि भाई, तथा सीता उर्मिलादि भाभियें। इस प्रकार गुरु, माता-पिता, भाई, पति-पत्नी शत्रु-मित्र, स्वामी-सेवक इत्यादि सम्पूर्ण व्यक्ति रामायण की भांति भारत के प्रत्येक गृहस्थ में मौजूद हैं। रामायण की घटनायें आदर्श होते हुए भी संसार की सच्ची घटनायें हैं। ऐसी दशा में राम-

चरित्र, जो कि भारतीय गृहस्थ की सच्ची तथा आदर्श कहानी है यदि भारत के बच्चे २ के हृदय में घर कर जाता है, यदि भारत के धनिक समाज से लेकर गरीब तक इस अमृत-सागर में एक ही तरह गोते लगाते हों—तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? सच तो यह है कि संसार सागर में बहती हुई जीवन-नैय्या के लिये भगवान् का यह पुण्य-चरित्र दीपस्तम्भ (Light House) का काम देता रहा है और भविष्य में भी देता रहेगा।*

राम नवमी हमारा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पर्व है। हिन्दु संस्कृति के उदात्त आदर्शों का स्मरण दिलाता हुआ यह पर्व आज भी पथभ्रष्ट मानव समाज के सामने सुख एवं शान्ति के सच्चे मार्ग को प्रस्तुत करने में समर्थ है। आज जब कि संसार में सर्वत्र स्वार्थ और लोलुपता का बोलबाला है, सभी प्राणी अपना कर्त्तव्य भूल कर अपने हित को ही सर्वोपरि मान जाति, समाज, धर्म और संस्कृति को स्वार्थ की बलिवेदी पर उत्सर्ग करने में नहीं हिचकते ; भाई-भाई, पिता-पुत्र, सास-वधू, मित्र-मित्र की रात-दिन की कलह ने जब भारतीय परिवारों को नरक कुण्ड से भी घृणिततर बना दिया है तब राम नवमी जैसे त्योहारों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

हमें इस पर्व को केवल मन्दिर या घरों में ही मनाया जाने वाला वैयक्तिक पर्व न बना कर इसे सामूहिक रूप देना चाहिये। विशाल जलूस निकाले जाएं, महती सभाएँ हों और

*टिप्पणी—राम चरित्र विषयक अधिक जानकारी के लिए हमारे यहां से प्रकाशित 'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' नाम स्वतन्त्र पुस्तक अवलोकन करें। इसमें राम-चरित्र सम्बन्धी २६ क्योंओं का समाधान देखकर आपको रामायण के अनेक अतिगूढ़ रहस्य ज्ञात होंगे।

जनता को राम के आदर्श समझाए जाएं। कर्तव्य पर भावना का बलिदान करना सिखाने से ही वास्तव में मानवता का विकास हो सकेगा—यही वह तथ्य है जो कि आज का यह त्योहार भारतवासियों को देता है।

हनुमान् जयन्ती

चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को परम रामभक्त श्री हनुमान् जी का जन्म दिन मनाया जाता है। यद्यपि उनकी जन्म-तिथि के बारे में विद्वानों मे मतभेद है; कुछ लोग कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को–अर्थात् दीपावली से एक दिन पूर्व–उनकी जन्म-तिथि मानते हैं और कुछ लोग चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को, तथापि कल्प भेद से शास्त्रीय-व्यवस्था का सामञ्जस्य कर लेने पर दोनों ही तिथियों में जयन्ती उत्सव मनाया जा सकता है।

अत्यन्त बलशाली, परम पराक्रमी, जितेन्द्रिय, ज्ञानियों में अग्रगण्य तथा भगवान् राम के अनन्य-भक्त श्रीहनुमान् जी का जीवन भारतीय जनता के लिए सदा से प्रेरणादायक रहा है। वे वीरता की साक्षात् प्रतिमा है एवं शक्ति तथा बल-पराक्रम की जीवन्त मूर्ति। देश-देशान्तर-विजयिनी भारतीय मल्ल-विद्या के यही आराध्य हैं, इष्ट हैं। आप कभी अखाड़ों में जाएं तो वहां आपको किसी दीवार के आले में या छोटे-मोटे मन्दिर में प्रतिष्ठित महावीर की प्रतिमा अवश्य मिलेगी। उनके चरणों का स्पर्श और नाम स्मरण करके ही पहलवान अपना कार्य शुरु करते हैं। जब भारत-भू पर मुस्लिम-साम्राज्य की काली घटाएं छा गईं थीं, चारों ओर 'अल्लाहो अकबर' का हो गर्जन सुनाई देता था, उस समय प्रातः-स्मरणीय श्री गो० तुलसीदास जी

महाराज ने हनुमान्-चालीसा, हनुमान्-बाहुक, संकटमोचनादि रचनाओं द्वारा निष्प्राण हिन्दु-जाति की नसों में प्राण फूंकते हुए स्वयं भी काशीपुरी में 'संकट-मोचन' हनुमान् की स्थापना की और अपने भक्तों द्वारा भी स्थान-स्थान पर हनुमत्पूजा का प्रचार कराया। औरङ्गजेब-काल में उन्हीं के आदर्श पर छत्रपति शिवाजी ने दश-दश कोश की दूरी पर हनुमान् मन्दिर की स्थापना कर उन्हीं मारुती-नन्दन के नेतृत्व में वहां अखाड़े और दुर्गों की स्थापना की थी। यही अखाड़े आगे चलकर हिन्दु-धर्म-संरक्षा के गढ़ बने और इन्हीं की सहायता से भारत से यवन-साम्राज्य का कलङ्क धोया जा सका। आज भी आप दक्षिण में जाइये तो ग्राम-ग्राम में आपको ग्राम-रक्षक के रूप में हनुमान् जी की मूर्ति स्थापित हुई मिलेगी, जिसे 'ग्राम-मारुति' कहा जाता है। युद्धप्रिय महाराष्ट्र जाति के हनुमान् जी परम आराध्य हैं, आज भी वहां हनुमत्पूजा का बड़ा प्रचार है।

वीरता में हनुमान् जी का कोई सानी नहीं। यही कारण है कि भारत-सरकार भी सर्वोत्कृष्ट वीरता-पूर्ण कार्य के लिये 'महावीर चक्र' नामक स्वर्ण-पदक ही प्रदान करती है। भारत इतिहास के सर्वोत्कृष्ट योद्धा अर्जुन ने अतुल पराक्रम के नाते इन्हें ही अपने रथ की ध्वजा पर स्थान दिया था।

हनुमान् जी केवल धीर-वीर ही नहीं हैं। भगवान् श्रीराम के चरणों को स्पर्श करता हुआ उनका दिव्य रूप, उनकी उत्कट स्वामि-भक्ति, अनन्य-निष्ठा और प्रशंसनोय विनय का जीता-जागता चित्र है। उन जैसी अनन्य-भक्ति संसार में विरले जनों को ही प्राप्त होती है। यदि मनुष्य पूर्ण श्रद्धा और विश्वास से

इनका आश्रय ग्रहण कर ले तो फिर तुलसीदास जी की भांति उसे राम-दर्शन होने में देर नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने—

जो यह पढ़े हनुमान चालीसा। होई सिद्धि साखी गौरीशा।।

—जैसी प्रबल उक्ति अपने अनुभव के आधार पर ही कही है, केवल तुक मिलाने मात्र के लिए नहीं।

क्या हनुमान् बन्दर थे ?

हनुमान् जी के सम्बन्ध में यह प्रश्न प्रायः सर्वत्र उठता है कि 'क्या हनुमान् जी बन्दर थे ?' कुछ लोग रामायणादि ग्रंथों में लिखे हनुमान् जी और उनके सहयोगी तथा सजातीय बान्धव सुग्रीव अंगदादि के नाम के साथ '**वानर, कपि, शाखामृग, प्लवंगम** आदि विशेषण पढ़कर और उनकी पुच्छ, लांगूल, बाल्धी और लाम की करामात से लङ्का-दहन का प्रत्यक्ष चमत्कार अनुभव करके एवं यत्र-तत्र सर्वत्र सपुच्छ प्रतिमाएं देखकर उनको वर्तमान पशु प्रायः बन्दरों जैसा मानने में ही सनातनधर्म का गौरव मानते हैं। दूसरा दल, जो कि अपने को बुद्धिवादी समझता है, वह रामायण के कपित्व-द्योतक अंश को विधर्मी-प्रक्षिप्त बताकर अपनी कल्पना से उन्हें पुच्छरहित अपटूडेट मानव कहने में ही बुद्धि का सदुपयोग अनुभव करता है।

हम इन दोनों ही दलों से पूछना चाहते हैं कि आखीर हनुमान् जी के अस्तित्व में ही तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ? कहना न होगा कि दोनों का यही उत्तर हो सकता है कि 'रामायण'। जब 'रामायण' के आधार पर ही हनुमान् जी का होना सिद्ध मानते हो तब, तुम दोनों ही '**अर्ध कुक्कुटी**' न्याय से रामायण

की ग्राधी बात को क्यों मानते हो और ग्राधी को क्यों छोड़ते हो ? पशुप्राय: मानने वाले दल को श्री वाल्मीकीय रामायण के उन प्रमाणों को भी तो समझने का प्रयत्न करना चाहिये जिनसे कि हनुमान् जी का व्याकरण-वेत्तृत्व, शुद्ध-भाषण-कला-कुशलत्व, बुद्धिमतां-वरिष्ठत्व एवं ज्ञानिनामग्रगण्यत्व सिद्ध होता है। जैसे—जब भगवान् राम को पहिले पहिल हनुमान् मिले तो उनकी बातचीत से प्रभावित होकर भगवान् ने एकान्त में लक्ष्मण से कहा कि—

कृत्स्नं व्याकरणं शास्त्रमनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् ।।

ग्रर्थात्—[हे लक्ष्मण !] मालूम पड़ता है कि इस व्यक्ति (हनुमान्) ने समस्त व्याकरण शास्त्र का खूब स्वाध्याय किया है तभी तो इस लम्बी चौड़ी बातचीत के दौरान में इसने एक भी ग्रपशब्द नहीं बोला।

क्या रामायण के इस सुस्पष्ट वर्णन की विद्यमानता में रामायण में ग्रास्था रखने वाला कोई हनुमद्-भक्त उन्हें—'कीकी कीकी' करके मकानों की इंट फाड़ने वाले ग्रौर कपड़ा लत्ता उठा भागने वाले पशुप्राय: लालमुँहे बन्दरों का किंवा कलमुँहे लंगूरों का सजातीय मानने को उद्यत हो सकता है ? फिर ग्राप रामायण के लेख के सर्वथा विपरीत उन्हें पशु मानने का ही दुराग्रह क्यों करते हैं ?

इसी प्रकार कथित बुद्धिवादी-दल से भी प्रष्टव्य है कि यदि तुम लोग रामायण को कोरा कल्पित उपन्यास ही मानते हो तो फिर हनुमान् को रामायण के लेख के विरुद्ध कुछ का कुछ

बना डालने में अपना बुद्धि-वैभव क्यों खर्च करते हो ? कल्पित उपन्यास को बुद्धिग्राह्य बनाने से क्या लाभ होगा ? उसे लकीर के फकीर आस्तिकों के लिये ज्यों का त्यों रहने दीजिये। और यदि हनुमान् जी के अस्तित्व को एक ऐतिहासिक-तथ्य स्वीकार करते हो तो फिर उनके होने में जो रामायण प्रमाण है, वही रामायण उनके स्वरूप और चरित्र के चित्रण में भी एक मात्र साक्षी है, ऐसी दशा में मिथ्या-कल्पना क्यों करते हो ? वाल्मीकि जी ने जहाँ उन्हें विशिष्ट पण्डित, राजनीति में धुरन्धर और वीर-शिरोमणि प्रकट किया है, वहाँ उनको लोमश और पुच्छधारी भी शतशः प्रमाणों में व्यक्त किया है। इसलिये ईमानदारी का तकाजा है कि उक्त दोनों वर्णनों का समन्वय करके हनुमान् जी का स्वरूप स्थिर कीजिये, यही न्याय्य होगा।

नौ लाख वर्ष पूर्व विलक्षण जाति

हनुमान् विषयक रामायण के समस्त वर्णन को मनन करने पर यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि आज से अन्यून नौ लाख वर्ष पूर्व एक ऐसी विलक्षण वानर जाति भी भारतवर्ष में विद्यमान थी, जो कि आज के हाथ पांव दोनों से चलने वाले वन्दरों की भांति पशुप्राय: नहीं थी किन्तु जहाँ वह अर्ध-सभ्य, पढ़ी लिखी, राज्यसत्ता-सम्पन्न और एक वीर जाति थी, वहाँ उसके शरीर पर साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रोम होते थे तथा पूंछ भी होती थी। अब वह जाति भारत में तो दुर्भाग्यवश विनष्ट हो गई परन्तु बाली द्वीप में अब भी पुच्छधारी जंगली मनुष्यों का अस्तित्व विद्यमान है, जिनकी पूंछ प्रायः छः इंच के लगभग अवशिष्ट रह गई है।

यह प्रायः सभी पुरातत्त्ववेत्ता अनुसन्धायक एक मत से स्वीकार करते हैं कि पुराकालीन बहुत से प्राणियों की नस्ल अब सर्वथा समाप्त हो चुकी है। अमेरिका की प्रसिद्ध 'रैड इण्डियन' नामक जाति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है, यदि यही क्रम एक सहस्राब्दी पर्य्यन्त चलता रहा तो वह भी अनेक जातियों की भांति केवल पुस्तकों के वर्णन में अवशिष्ट रह जाएगी। इसलिये वहाँ की सरकार अब उसकी विशेष संरक्षा के लिये प्रयत्नशील होने लगी है।

'विधर्मियों ने हिन्दु जाति के अपमान के लिये पूँछ वाली बात रामायण में घुसेड़ दी' यह कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक पुरातन हस्तलिखित और ताड़पत्रों पर खुदी सभी प्रतियों में प्रक्षेप कर सकने की बात कथमपि विश्वास योग्य नहीं है। फिर यदि किसी को हिंदु जाति के अपमानार्थ ऐसा कुकृत्य करना ही था तब उसे राम जी के एक साधारण सेवक के पूंछ लगाने के बजाय हिन्दु जाति के सर्वस्व भगवान् राम को ही लगानी चाहिये थी।

इसलिये यह सब कल्पनाएँ व्यर्थ हैं, श्री हनुमान् जी महाराज जहाँ बुद्धिमान् विद्वान् परमज्ञानी और वीर शिरोमणि थे ; वहाँ वे पुच्छधारी लोमश वानर भी थे यही रामायणों का समन्वित मथितार्थ है।

हनुमज्जयन्ती के दिन हनुमान् जी के पूजन नाम-संकीर्तन आदि के अतिरिक्त, शारीरिक शक्ति-प्रदर्शन के खेलों का आयोजन होना चाहिये। नगर के बालकों, युवकों की कुश्तियें, दौड़, लाठी, तलवार, गदका इत्यादि खेलों का सामूहिक आयो-

जन हो और भारतीय इतिहास के अद्वितीय वीर की उज्जीवनी जीवन-गाथा जनसाधारण को समझाई जानी चाहिए। राष्ट्र की अकर्मण्यता और भीरुता को मिटाकर जनता को शक्तिशाली बनाने के लिये देश में हनुमज्जयन्ती जैसे उत्सवों की परम आवश्यकता है। उन जैसा सदाचार, उन जैसा पराक्रम, अनुशासन और ब्रह्मचर्य किसी भी जाति व राष्ट्र के लिये स्थायी गौरव का कारण हो सकता है।

क्या 'बाल समय रवि भक्षि लियो'—ठीक है ?

हनुमान् जी के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न भी किया जाता है कि क्या गो॰ तुलसीदास जी के बनाये 'संकट मोचन' स्तोत्र के अनुसार श्री हनुमान् जी सूर्य को निगल गए थे ? पृथ्वी से लाखों गुणा बड़ा सूर्य किसी प्राणी के मुख में समा गया था—यह चण्डू खाने की गप्प ही हो सकती है।

उपर्युक्त प्रश्नकर्ता यह बात भूल जाता है कि 'रामायण' के शब्दों में श्री हनुमान् जी उन प्रलयङ्कर शंकर के अवतार थे जिनके कि भ्रूभङ्ग मात्र से यह सारा ब्रह्माण्ड पलक झमक में भस्मसात् हो जाता है,

जब कि 'योग-दर्शन' के लेखानुसार मनुष्य-कोटि का योगी भी लोकान्तर-गमन, सूर्य-मण्डल-प्रवेश, परकाय-प्रवेश, और अपने देह को यथेष्ट छोटा बड़ा तथा हलका भारी बनाने में समर्थ हो जाता है तथा सामान्य देव जाति तो जन्म से ही उपर्युक्त समस्त सिद्धियों से सम्पन्न होती है, फिर प्रलय के अधिष्ठाता शंकर भगवान् की शक्ति की इयत्ता का नाप तोल लगाना अपनी अज्ञता प्रकट करना ही हो सकता है ? इसलिये रामायण

के लेखानुसार उनको रुद्रावतार स्वीकार कर लेने पर तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

वास्तव में वाल्मीकीय रामायण के अनुसार यह घटना उस समय घटी जब कि ग्रहण के कारण राहु सूर्य को ग्रसने के लिये उद्यत था और सूर्य मण्डल के निस्तेज हो जाने के कारण भूमण्डल अन्धकार से परिव्याप्त था।

हनुमान् के मुख के छोटा होने की और सूर्य-मण्डल के बड़ा होने की आशंका केवल वही लोग उठा सकते हैं जिन्हें कि नक्षत्र विज्ञान का इतना भी ज्ञान नहीं कि हमारी पृथ्वी की अपेक्षा बहुत छोटे हमारे चांद की छाया पृथ्वी से अन्यून तेरह लाख गुणा बड़े सूर्य को ग्रहण के समय ग्रस लेती है और उस समय मध्याह्न में भी घोर अन्धकार छा जाने से तारे चमक उठते हैं।

जब हम सूर्य-चन्द्र किंवा हिमाचल सरीखे पहाड़ को देखते हैं तो हमारे नेत्र के नगण्य छोटे से काले तिल में समा कर ही वे सब दृश्य दृष्टिगत होते हैं और आंख के काले तिल पर तिल के समान सफेदी छा जाने पर दीखने बन्द हो जाते हैं। क्या रात्रि में सूर्य पृथ्वी की ओट में छुप जाता है ? यदि हाँ, तो फिर छोटी-सी पृथ्वी अपने से लाखों गुणा बड़े सूर्य को कैसे ढांप पाती है ? वास्तव में पृथ्वी की छाया पृथ्वीस्थ मनुष्यों की दृष्टि का ही निरोध करती है। इसीलिए आधे गोल पर रात और आधे पर दिन बना रहता है।

ग्रहण विषयक—जड़चेतनवाद

भौतिकवादी वर्तमान वैज्ञानिक सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पिण्डों को केवल जड़ मानते हैं और सूर्य पर पड़ने वाली चन्द्र

छाया को तथा चन्द्र पर पड़ने वाली भू-छाया को भी तथैव जड़ ही मानते हैं परन्तु आध्यात्मवादी वैदिक-वाङ्मय में उक्त पिण्डों के अभिमानी चेतन स्वीकार किए गए हैं जैसा कि हम पीछे देवतावाद में सिद्ध कर चुके हैं, तदनुसार सिद्धान्त-शिरोमणि ग्रन्थ में लिखा है कि—

(क) दिग्देशकालावरणादिभेदान्न-
च्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति ।
यन्मानिनः केवलगोलविद्यां
तत्संहितावेदपुराणबाह्यम् ॥

(ख) राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कम्,
शशाङ्कगः छादयतीनविम्बम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रसादात्,
सर्वागमानामविरुद्धमेतत् ॥

अर्थात्—(क) 'दिशा, देश, काल और आवरण के तारतम्य से ही ग्रहण होता है, राहु केतु नामक असुरों द्वारा ग्रसने वाली बात मिथ्या है'—जो भूगोल-वेत्ता होने का दम भरने वाले यह बात कहते हैं उनकी यह मान्यता ज्योतिः-शास्त्र, वेद और पुराणों के सर्वथा विरुद्ध है। (ख) वास्तविकता यह है कि राहु नामक चेतन असुर पृथ्वी की जड़ छाया में प्रवेश करके चान्द को ग्रसता है और चान्द की छाया में प्रवेश करके सूर्य को ग्रसता है वह स्वयं तमोरूप है। उसको यह सामर्थ्य शंकर भगवान् के वर की कृपा से प्राप्त है, यही सिद्धांत सर्व शास्त्रों द्वारा सुसिद्ध है।

उपर्युक्त प्रमाण में '**शम्भुवरप्रसादात्**' यह पंक्ति विशेष महत्त्व की है जिसका तात्पर्य है कि जैसे तत्तद् जड़ पिण्डों का एक-एक अभिमानी चेतन देवता है उसी प्रकार देवताओं का भी

मुख्य अधिष्ठाता अन्तर्यामी भगवान् है इसीलिये उसमें 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' और 'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' आदि वाक्य चरितार्थ होते हैं। सो जिस शम्भु के वर प्रसाद मात्र से राहु, सूर्य को ग्रसने में सशक्त हो जाता है उसी शम्भु के अवतार श्री हनुमान् जी स्वयं सूर्य को कैसे लील गये—यह पूछना शास्त्रज्ञान-विहीनता का ही परिचायक है। जैसे श्रीकृष्णावतार में भगवान् ने इन्द्रादि सभी देवताओं का मिथ्या स्वातन्त्र्याभिमान नष्ट करने के लिए गोवर्द्धन पूजनादि की लीलाएँ की थीं, ठीक इसी प्रकार रुद्रावतार श्रीहनुमान् महाराज ने राहु को बलात् हटा कर स्वयं सूर्य ग्रसने की लीला की। इससे सूर्य और राहु दोनों को ही यह विदित हो गया कि हम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु हम पर भी श्रीमन्नारायण भगवान् का अंकुश है। वही एकमात्र 'कर्तुम-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम्' प्रभु है। अन्य सब उनके दास हैं।

इसी काण्ड के समय इन्द्र का वज्र-प्रहार और श्रीहनुमान् जी की हनु=ठोडी का विकृत होना, पश्चात् वायु के प्रकोप से समस्त देवगण के प्राणों का निरोध हो जाने पर सभी का नतमस्तक होना रामायण में आता है। इस तरह इस एक ही लीला में रुद्रावतार श्री हनुमान् जी का सर्वदेवातिशायित्व व्यक्त हो जाता है।

हनुमान् जी के पूज्य पिता कौन ?

कहीं कहीं यह भी पूछा जाया करता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'हनुमान् चालीसा' स्तोत्र में हनुमान् जी के तीन पिता लिखे हैं यथा—

(क) 'पवनतनय' संकट हरण मंगल मूरति रूप ।
(ख) 'शंकरसुवन' 'केसरीनन्दन' तेज प्रताप महा···
वास्तव में उनके पिता कौन थे ?

वाल्मीकीय रामायण और पुराणों में कल्पभेद से लिखी हनुमज्जन्म-सम्बन्धी सब कथाओं का समन्वय करने पर, यही तथ्य सिद्ध होता है कि श्री वायु देवता की उपासना के प्रभाव से केसरी नामक वानर-राज के द्वारा उनकी धर्मपत्नी पूज्या अंजनी के गर्भ से शंकर अपर नामक प्रलयंकर भगवान् रुद्र अवतरित हुए थे। इसलिए वायु देवता की उपासना से समुद्भूत होने के कारण इनको 'पवनतनय' अथवा 'वायुपुत्र' कहते हैं जैसे—गंगा की आराधना से प्राप्त बालक 'गंगादत्त' और हनुमान् की कृपा से प्राप्त 'हनुमान दत्त' आज भी बोले जाते हैं। रुद्रावतार होने के कारण 'शंकरसुवन' हैं और केशरी द्वारा उत्पन्न होने के कारण 'केसरी-नन्दन' हैं। उक्त प्रत्येक नाम के साथ एक लम्बा इतिहास बंधा है। तदनुसार इन तीनों दिव्यात्माओं से श्री हनुमान् जी महाराज की उत्पत्ति का सम्बन्ध है परन्तु वास्तव में इनके लौकिक पिता तो केशरी वानर ही हैं।

अक्षय तृतीया, परशुराम जयन्ती

(क) वैशाख शुक्ला तृतीया 'अक्षय तृतीया' का पर्व है। पुराणों में 'त्रेतायुग' का आरम्भ इसी दिन से होना लिखा है। इस दिन अन्न जल दान की बड़ी महिमा बतलाई गई है यथा—

यत्किञ्चिद्दीयते दानं स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
तत्सर्वमक्षयं यस्मात्तेनेयमक्षया स्मृता ।।

(भविष्य पुराण)

अर्थ—क्योंकि इस दिन किए हुए थोड़े या अधिक दान का फल सदा के लिए अक्षय हो जाता है इसलिए यह तिथि 'अक्षय तृतीया' के नाम से स्मरण की गई है। जब यह दान निःस्वार्थ भाव से हो तो उसका अक्षय होना अनिवार्य ही है।

इस धार्मिक पर्व में हमें प्राचीन भारत की उस सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की झलक मिलती है जिसके अनुसार जनता बिना किसी दबाव या कानून के, केवल धार्मिक-प्रवृत्ति से प्रोत्साहित होकर अन्न या जल की कमी जैसी राष्ट्रीय समस्याओं का मुकाबला किया करती थी।

(ख) शास्त्रादेशानुसार आज के दिन प्रत्येक व्यक्ति भुने हुए जौं का बूरा आदि मीठे से मिश्रित आटा (सत्तू—जो कि अपने आपमें सुपाच्य पूर्ण भोजन है) दान करता है। आधा वैशाख बीत चुका है, गरमी अपनी चरम सीमा पर है दिन भर झुलसाने वाली लूएं चलती हैं। आज से लोगों की पिपासा शान्ति के लिये प्याउओं की स्थापना होगी और मार्ग चलते पथिक रास्ते में स्थापित प्रपा-शालाओं की सुखद छाया में घड़ी भर विश्राम पाने में समर्थ हो सकेंगे। यह प्याऊ आदि की व्यवस्था भारत की ही अपनी विशेषता है। विदेशों की तरह यहां पानी बिकता नहीं, कि राह चलते प्यास लगे तो जेब से चार पैसे खर्च करके ही पानी का गिलास मिले। यहां तो सारी गरमी भर पीने के ठंडे पानी का प्रबन्ध होता है जिससे इधर-उधर आने-जाने वाले यात्रियों और कार्यव्यस्त लोगों को प्यास लगने पर अनायास ही जल मिल सके। यह पुण्यकार्य अक्षय तृतीया से ही आरम्भ होता है। जौं का आटा जिसे हम सत्तू नाम से पुकारते हैं गर्मी के लिए तो साक्षात् अमृत ही है। जौं (Barley) गर्मी को शान्त

करने वाला, सुपाच्य तथा हल्का भोजन है। शास्त्रों ने इसे देवान्न में परिगणित किया है। जौं का उबला हुआ पानी बीमारों के लिये प्रायः ही डाक्टर लोग बताया करते हैं, यह पानी लूओं की भी परम औषध है। इसीलिए शास्त्रकारों ने इस ऋतु में यव-भक्षण और यव-दान का विशेष महत्त्व वर्णित किया है। संक्षेप में यह त्यौहार हमें यथा ऋतु त्याग और परोपकार का पाठ पढ़ाता है।

(ग) उद्दण्ड शासकों को दण्ड देकर धर्म संस्थापन करने वाले ब्राह्मण-वंशावतंश भगवान् परशुराम जी का जन्म दिन होने के कारण आज के दिनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। परशुराम जी की पितृ-भक्ति इतिहास में सुप्रसिद्ध है। उनका पराक्रम और रण-कौशल भी आजकी निर्बल और दीन-हीन ब्राह्मण जाति के लिए प्रेरणा-वाहक हो सकता है, अतः उस महापुरुष की ऐतिहासिक स्मृति को उज्ज्वल रखते हुए हमें उनके पद-चिह्नों पर चलना चाहिये।

नृसिंह चतुर्दशी

वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को भगवान् ने नृ-सिंह के रूप में अवतार धारण करके भारत भूमि को हिरण्यकश्यप दानव के पंजे से छुड़ाया था। परम भक्त प्रह्लाद की कथा से भारत की आबाल वृद्ध सभी जनता परिचित है अतः हम उसकी पुनरावृत्ति करके ग्रन्थ विस्तार करना अनावश्यक समझते हैं।

यह त्यौहार हमें बतलाता है कि दुष्ट मनुष्य मृत्यु से बचने के लिए कैसा ही उपाय क्यों न कर ले, किन्तु उस प्रभु के यहां देर हो सकती है अन्धेर नहीं। वह भक्तवत्सल प्रभु भक्तों की रक्षा के लिये निराले से निराले उपाय रचकर, सर्वथा अतर्कित और

अविचार्य मार्ग निकाल कर भी अपने 'भक्तभयहारित्व' विरुद की रक्षा करते ही हैं। कहां नर और कहां सिंह ? पर भगवान् ने भक्त-रक्षार्थ इस अद्भुत रूप में–खम्भे से प्रकट होकर दिखा दिया कि ईश्वर सर्वव्यापक है। भक्त अपनी उत्कट भावना से उसे कहीं से भी प्रकट कर सकता है। हनुमान् जी की भाँति नृसिंह भगवान् भी पराक्रम और शक्ति के प्रत्यक्ष प्रतीक हैं। प्राचीन हिन्दु राज्यों में से अनेक ने नृसिंह भगवान् की मूर्ति को अपने सिक्कों तथा ध्वज आदि पर राज्य-चिह्न के रूप में स्थान दिया था। दक्षिण के विजयनगर राज्य के नृसिंहांकित ये सिक्के सम्प्रति भी पुरातत्त्व-संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। इन नरेशों द्वारा स्थापित विशाल नृसिंह मन्दिर दक्षिण के 'हम्पी' नामक जिले में आज भी विद्यमान हैं। ऐसे भक्तवत्सल, परम पराक्रमी, सर्व शक्तिमान् नृसिंह भगवान् की जयन्ती मनाना हमारा परम कर्तव्य है।

गंगा दशहरा

ज्येष्ठ शुल्का दशमी को सम्पूर्ण भारत में 'गंगा दशहरा' नामक महान् धार्मिक पर्व मनाया जाता है। इस पवित्र दिन कलिमलहारिणी भगवती गंगा ने अपने पदार्पण से भारत भूमि को कृतार्थ किया था। आज ही के दिन भगीरथ का पीढ़ियों का श्रम और तप सफल हुआ था और तापत्रय-दग्ध जगत् के संताप को मिटाती, शुष्क एवं उजाड़ प्रदेश को उर्वर तथा शस्य-श्यामल बनाती, गंगा की पवित्र धारा स्वर्ग से उतर कर भूतल पर प्रवाहित हुई थी। तभी से प्रतिवर्ष भारतवासियों को यह दशमी उस मंगलमय सफलता की पुण्यस्मृति करा जाती है। गंगा के

अविर्भाव की यह कथा वाल्मीकिरामायरा तथा महाभारतादि ग्रन्थों में बड़े विस्तार से दी गई है और लिखा है कि—

दशम्यां शुक्लपक्षे तु ज्येष्ठे मासे बुधेऽहनि ।
अवतीर्णा यतः स्वर्गाद्धस्तर्क्षे च सरिद्वरा ।।
हरते दश पापानि तस्माद्दशहरा स्मृता ।

अर्थ—ज्येष्ठ मास के शुल्क पक्ष की दशमी बुधवार को हस्त नक्षत्र में गंगा, स्वर्ग से भूमि पर आविर्भूत हुई थी। इस दिन स्नानादि शुभ कर्म का आचरण करने से चूंकि मनुष्य के दशविध पापों का विनाश हो जाता है अतः यह तिथि 'दश-हरा' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दुओं के अनेक-विध पर्वों में 'गंगा दशहरा' मुख्यतः स्नान पर्व है। इस दिन प्रत्येक हिन्दु यथा-सम्भव गंगा में, और यदि गंगा तक जाना सम्भव न हो तो समीपस्थ किसी भी नदी या सरोवर में, स्नान करके पुण्यभागी बनता है।

गंगा सेवन का प्रत्यक्ष चमत्कार

स्नान तो घरों में रोज किया ही जाता है और विशेषकर गर्मी की ऋतु में लोग कई-कई बार भी नहाते हैं परन्तु स्वास्थ्य-विज्ञान के अनुसार यदा कदा नदी स्नान मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। गंगा आदि नदियों का जल पर्वतों से अनेक प्रकार की वनस्पतियों, धातु-सत्त्वों तथा विविध गुण पूरित बालु-कणिकाओं को अपने साथ बहाता है। इसमें स्नान करने से शरीर के उन अनेक रोगों का विनाश हो जाता है जिन

की चिकित्सा में बड़े-बड़े डाक्टर और वैद्य असफल हो जाते हैं। अभी पिछले दिनों की बात है कि हमारे एक मित्र नासूर के विषम रोग से पीड़ित थे। शौचमार्ग के समीप ही उनको नासूर था। बेचारे मन में बड़े परेशान रहते थे कि किसे बतायें किसे दिखायें। संकोच के कारण किसी से कुछ कहते भी न बनता था। एक बार ऐसे ही पर्व पर गंगा-स्नानार्थ हरिद्वार जा निकले। स्नान करते हुए गंगा की सिकता लेकर उस नासूर पर खूब मली और खूब गोते लगाये। प्रथम वार तो जरा दुःख सा हुआ परन्तु फिर शीतलता अनुभव हुई। १० दिन तक हरिद्वार ठहरे, रोज यही क्रिया करते। लौटने पर एक दिन मिले तो बोले—'शास्त्री जी, अब के गंगा पर मैं अपनी बीमारी विदा कर आया।' 'क्या कोई अच्छा वैद्य मिल गया था'—मैंने आश्चर्यपूर्वक पूछा 'अजी, गंगा माई की शरण जाकर भी वैद्य ढूंढा तो भला काम चला। मुझे तो गंगाजल रूपी दिव्य औषधि ने ही भला चंगा कर दिया महाराज'—यह कहकर उन्होंने सारी कथा सुनाई। सारांश यह है कि औषधि तथा वनस्पति रस मिश्रित नदियों का जल अतीव गुणकारी होता है। महर्षियों ने इस तत्त्व को बखूबी अनुभव करके ही, अमावस्या पौर्णिमा, एकादशी आदि अनेक ऐसे दिन निश्चित किये हैं कि जिससे जनता अधिक नहीं तो मास में दो चार बार ही सही, नदी स्नान से लाभ उठा सके।

समाजिक उत्थान के ये आयोजन

गाँवों में बसने वाली भारत की ७५ प्रतिशत जनता के कर्मठ जीवन मे गंगा दशहरा जैसे पर्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान

हैं। ऐसे पर्वों पर ही इस निरन्तरश्रमलीन जनता को कुछ क्षण के लिए काम से छुट्टी मिलती है। रंग-बिरंगे वस्त्र पहने देहाती स्त्रियां टोलियां बना-बनाकर गीत और भजन गाती हुई तीर्थं पहुँचती हैं। यह पर्व एक प्रकार से इस श्रमक्लान्त जनता के लिये मनोविनोद और नव-स्फूर्ति के कारण तो होते ही हैं साथ ही मिलन-पर्व का भी काम देते हैं। इसी बहाने गंगादि नदियों के तट पर इकट्ठे होने वाले प्रियजन, परिजन, मित्र तथा इष्ट-सम्बन्धी आपस में मिल पाते हैं। एक दूसरे के दुःख-सुख की खबर लेते हैं, अपनी कहते और दूसरे की सुनते हैं।

मिट्टी के खिलौने, चूड़ियां, हार, माथे की बिन्दी, कंघी, बटन आदि छोटे-छोटे उद्योगों के विकास में भी इन पर्वों का बड़ा भाग है। इन पर्वों पर लाखों की संख्या में एकत्रित होने वाली जनता छोटे छोटे शिल्पियों द्वारा बनाई हुई इन वस्तुओं को खरीद कर देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थिर रखने में योग देती है। अब तो इन उद्योगों को राष्ट्र की ओर से संरक्षण भी मिलने लगा है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि पिछली शताब्दियों और सहस्राब्दियों से इन धार्मिक पर्वों ने ही इन उद्योगों को इस देश में जीवित रखा है।

गंगावतरण, भारत की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं में से एक है। इसके आविर्भाव ने भारत के मान-चित्र को ही बदल दिया है। इसी की स्मृति में होने वाला दशहरा का महापर्व युग युग तक भारतीय जनता को उन भगीरथ आदि महापुरुषों की याद दिलाता रहेगा जिनके नाम ही आज कठिन परिश्रम के प्रतीक बन गये हैं। गंगा की महिमा का वर्णन वेदों से लेकर सम्पूर्ण

अवान्तर साहित्य में भरा पड़ा है। हमारी संस्कृति व सभ्यता का विकास इसी के तट पर हुआ, हमारे पूर्वज ऋषि महर्षियों ने इसी के पावन तट पर समाधिस्थ हो वेदों का साक्षात्कार किया, दर्शन शास्त्रों के अज्ञेय रहस्यों को खोला और उपनिषदों की निगूढ़ अनुभूति की अभिव्यञ्जना की। वर्षों रखने पर भी विकृत न होना—कीड़े आदि उत्पन्न न होना - गंगाजल की वह विलक्षण विशेषता है जो आपको संसार की किसी अन्य नदी के जल में नहीं मिलेगी। पाश्चात्य एवं पौरस्त्य सभी डाक्टर गंगाजल के इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसे आन्त्रिक रोगों की दिव्यौषधि मानते हैं। भारत की सहस्रों वर्ग मील भूमि को उर्वर तथा हरा-भरा बनाने वाली इस विशाल नदी को यदि भारतवासी 'गंगा-माता' कहकर पुकारते हैं तो यह कुछ श्रद्धातिरेक नहीं किन्तु सत्य का निदर्शनमात्र ही है। इसीलिए हिन्दू धर्म एवं तीर्थादि में आस्था न रखते हुए भी भारत के प्रधान मन्त्री स्व० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी अंतिम वसीयत में अपनी भस्म गंगा में प्रवाहित करने की इच्छा व्यक्त करते हुए गंगा के प्रति अपनी भाव भरी श्रद्धांजलि निम्न शब्दों में अर्पित की थी—

मेरी अस्थियों में से मुट्ठीभर गंगामें डाल दी जायें। गंगा में अस्थियाँ डलवाने के पीछे मेरी एक इच्छा है······मुझे बचपन में गंगा और यमुना से लगाव रहा है। और जैसे २ मैं बड़ा हुआ ये लगाव बढ़ता रहा। मैंने मौसमों के बदलने के साथ इसके बदलते हुए रंग और रूप को देखा है। और कई बार मुझे याद आई है उस इतिहास की, उन परम्पराओं की, पौराणिक गाथाओं की, या उन गीतों और कहानियों की, जो कि युगों से उसके साथ जुड़ी हैं।

गंगा भारत की खास नदी है, जनता की प्रिय है। उस से लिपटी

हुई हैं भारत की जातीय-स्मृतियें, उसकी आशाएँ और उसके भय, उसके विजयगान उसकी विजय और पराजय। गंगा तो भारत की प्राचीन सभ्यता की प्रतीक रही है, निशान रही है, सदा बदलती, सदा बहती, फिर वही गंगा की गंगा। वह मुझे याद दिलाती है हिमालय की बर्फ से ढकी चोटियों की और गहरी घाटियों की, जिनसे मुझे मोहब्बत है।

मैंने सुबह की रोशनी में गंगा को मुस्कराते उछलते कूदते देखा है, और देखा है शाम के साये में काली सी चादर ओढ़े हुए, भेदभरी, जाड़ों में सिमटी सी आहिस्ता-आहिस्ता बहती सुन्दर धारा और बरसात में दहाड़ती गरजती हुई समन्दर का तरह चौड़ा सीना लिए।

यही गंगा मेरे लिए निशानी है, भारत की प्राचीनता की, यादगार की जो बहती आई है वर्तमान तक, और बहती चली जा रही है भविष्य के महासागर की ओर। मैंने भले ही पुरानी परम्पराओं और रीति-रिवाजों को छोड़ दिया हो, फिर भी मैं यह नहीं चाहता कि मैं अपने को इन पुरानी बातों से बिल्कुल अलग कर लूँ।

मुझे फक्र है इस शानदार उत्तराधिकार पर, इस विरासत पर जो हमारी रही है और हमारी है। मुझे मालूम है मैं भी सब की तरह इस जंजीर की कड़ी हूँ जो कभी और कहीं नहीं टूटती, जिसका सिलसिला हिन्दुस्तान के-इतिहास के आरम्भ से चला आ रहा है। यह सिलसिला मैं कभी नहीं तोड़ सकता, क्योंकि मैं इसकी बेहद कद्र करता हूँ, और इससे मुझे प्रेरणा, हिम्मत और हौंसला मिलता है। अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए और भारत की संस्कृति को श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए मैं यह दरख्वास्त करता हूँ कि मेरी भस्म की एक मुट्ठी इलाहाबाद के पास गंगा में डाल दी जाए जिससे वह उस महासागर में पहुँचे जो हिन्दुस्तान को घेरे हुए है।"

अतः गंगा दशहरा जैसे पर्वों पर स्नान, दान जलपानादि कर आत्म कल्याण करना हमारा परम कर्तव्य है।

निर्जला एकादशी

ज्येष्ठ शुक्लपक्ष की एकादशी 'निर्जला एकादशी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह विशुद्ध धार्मिक पर्व प्रायः सम्पूर्ण भारत में बड़ी श्रद्धा से मनाया जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है शास्त्रकारों ने सशक्तों के लिए इस व्रत को निर्जल रहकर मनाने का विधान किया है। यूं तो हिन्दू घरों में प्रायः प्रत्येक मास की एकादशी को उपवास रखने का नियम पुरातन काल से चला आता है परन्तु जो लोग वर्ष भर की अन्य एकादशी तिथियों में व्रती नहीं रह सकते थे केवल इस एकादशी का व्रत करके शास्त्र-दृष्टि से तत्फल-भागी हो सकते हैं, यथा—

वृषस्थे मिथुनस्थेऽर्के शुक्ले ह्येकादशी भवेत् ।
ज्येष्ठे मासि प्रयत्नेन सोपोष्या जलवर्जिता ॥
संवत्सरस्य या मध्ये एकादश्यो भवन्त्युतः ।
तासां फलमवाप्नोति अत्र मे नास्ति संशयः ॥

(महाभारत अनुपर्व)

पुराणों में वर्णन किया गया है कि भगवान् व्यास से इस एकादशी के महत्त्व का श्रवण कर वृकोदर भीम ने भी इस एकादशी को निर्जल उपवास करने का कष्टपूर्ण साहस किया था। तब से इसका अवान्तर नाम 'भीमसेनी एकादशी' भी पड़ गया।

निर्जल उपवास इस व्रत की प्रमुख विशेषता है। जब कि गरमी अपनी चरम सीमा पर होती है, हाथ से पानी का गिलास छोड़े नहीं छूटता, लोग तरह-तरह के शीतल पेय पीकर अपनी प्यास को शान्त करने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसे समय में बिना जल पिये दिन भर उपवास करना तप और सहिष्णुता

को पराकाष्ठा है। भारतीय संस्कृति तपोवन की संस्कृति है, उसका उद्भव तप से ही हुआ है, अतः उसके घरेलू जीवन में भी इस प्रकार की तपोमय साधना का सन्निवेश होना अनिवार्य ही हैं। ये भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, हर्ष-क्षोभ, मान-अपमान रूपी द्वन्द्व ही तो वे विघ्न हैं जो मनुष्य के भगवत्प्राप्ति के मार्ग में रुकावट डालते हैं। एक दिन भोजन न मिले तो मनुष्य तड़फड़ा उठता है। भगवान् और उनका भजन सभी कुछ विरस मालूम पड़ने लगता है। परन्तु हिन्दु जीवन-पद्धति से जीवन यापन करने वाले व्यक्ति के लिये इस प्रकार की दशाएं कुछ नवीन नहीं रहतीं। ज्येष्ठ मास के ऐसे प्रचण्ड तप्त दिन में जिस व्यक्ति ने निर्जल उपवास कर लिया उसके लिए जीवन में क्षुधा, तृषा को भी सहकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रेसर रहना कुछ कठिन नहीं रहता।

संयमप्रधान हिन्दुसंस्कृति का प्रत्यक्ष लाभ

पिछले महायुद्ध में अफ्रीका के रेगिस्तान में सप्लाई कट जाने के कारण भागती हुई मित्रराष्ट्र-सेनाओं को ३ दिन तक अन्न जल कुछ प्राप्त न हो सका। चारों ओर सुनसान मैदान ही मैदान था, जिसमें सिवाय धूल और कंकड़ों के कुछ भी दिखाई न पड़ता था। कहा जाता है कि अपने लक्ष्य तक पहुँचते-पहुँचते सात सौ सैनिकों की उस दुर्भाग्य ग्रस्त टुकड़ी में से २१० व्यक्ति ही वहां पहुँच पाये, शेष भूख प्यास-जन्य निर्बलता तथा अन्य व्याधियों से रास्ते में ही समाप्त हो गए। इन २१० व्यक्तियों में, आपको आश्चर्य होगा ८० प्रतिशत व्यक्ति हिन्दु थे जो आज के नास्तिक युग में निर्जला एकादशी व्रत करते हों या न करते हों, परन्तु निश्चय ही वे जिनकी सन्तान थे उन पूर्वजों के रक्त में, तप: सहिष्णुता और तितिक्षा के बीज रहे होंगे और

वे अवश्य ही श्रद्धापूर्वक इस कठिन व्रत का आचरण करते थे।

इस विषय में उदाहरणतया महात्मा गांधी को ले सकते हैं। गांधीजी ने अपने जीवनमें अनेक बार कई-कई सप्ताह तक उपवास एवं अनशन रखकर संसार को चकित कर डाला था परंतु शायद सब लोग यह नहीं जानते कि गांधी जी को यह शक्ति विरासत में मिली थी। अपनी आत्मकथा में उन्होंने अपनी माता के विषय में लिखा है—

"वे पूजा पाठ किये विना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मन्दिर जाया करतीं······कठिन से कठिन व्रत वह लिया करतीं निर्विघ्न पूरा करतीं। एक समय मुझे याद है जब उन्होंने चान्द्रायण व्रत लिया था। एक बार चतुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया एक साथ दो तीन उपवास तो उनके लिये मामूली बात थी। एक चतुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। सब लोग जानते हैं चौमासे में सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते हैं; मुझे ऐसे दिन याद हैं जबकि हमने सूर्य को निकला देख कर पुकारा—मां मां, वह सूरज निकला और जब तक मां जल्दी-जल्दी दौड़कर आतीं सूरज छिप जाता था। मां यह कहती हुई वापिस जाती कि 'खैर कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज खाना मिले' और अपने कामों में मशगूल हो जाती। (आत्मकथा पृ० ५)

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अपनी माता में विद्यमान श्रद्धा तथा सहिष्णुता की भावना ही गांधी जी को गांधी बना सकी थी। अस्तु,

आत्मविश्वास की प्राप्ति इस व्रत की सबसे बड़ी विशेषता है। दिन भर उपवास को निभाने पर हमारे हृदय में यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि यदि इतने समय तक हमें अन्न या जल की प्राप्ति न हो तो भी हम जीवित रह सकेंगे। जीवन म अनेक बार ऐसी कठिनाइयों के अवसर आने पर मनुष्य

घबरा उठता है परन्तु एक आस्तिक पुरुष के लिए उस समय यह उपवास-जन्य आत्मविश्वास ही—वह महान् बल सिद्ध होता है जो इसे कठिनाइयों से उबार पाता है। उपवास, विषय-निवृत्ति का तो अमोघ उपाय है ही। तभी तो आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में घोषणा की है कि—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

अर्थात्—निराहार उपवास व्रत धारण करने से मनुष्य के सब विषय सुगमता से निवृत्त हो जाते हैं।

हरिशयनी एकादशी

आषाढ़ शुक्ल पक्ष की एकादशी को हरिशयनी या देवशयनी एकादशी कहा जाता है। इस दिन चातुर्मास्य अर्थात् चौमासा आरम्भ हो जाता है जिसकी समाप्ति कार्तिक में होती है। पौराणिक आख्यायिकाओं के अनुसार इस दिन भगवान् विष्णु क्षीर सागर में शयन करने चले जाते हैं और चार मास पर्यन्त शयन करते हैं। इसी कारण हिन्दुओं में इन चार मासों में विवाह, प्रतिष्ठा, नव भवन निर्माण आदि शुभ कृत्य प्रायः बन्द रहते हैं।

वैज्ञानिक-विवेचन

हरि शयन क्या है ? क्या वास्तव में हरि इस समय में शयन करते हैं ? तब उनके अभाव में सृष्टि की व्यवस्था क्योंकर होती होगी, आदि प्रश्न हैं जो इन कथाओं को पढ़कर आज के तर्क-प्रिय मस्तिष्क में अनायास आ खड़े होते हैं।

संस्कृत साहित्य में हरि शब्द—सूर्य, चन्द्र, वायु, विष्णु आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यदि हम इन सब अर्थों को लें

तो कोई भी व्यक्ति इस समयमें परमात्मा की इन प्रमुख शक्तियों के शयन=मन्द पड़ जाने से इन्कार नहीं कर सकता। इन चार मासों में जब कि आकाश-सिन्धु, अभितः व्याप्त जलधरों के कारण पार्थिव सिन्धु से होड़ करता मालूम होता है तब क्या सचमुच ही श्री हरि (सूर्य और चन्द्र) इस विस्तृत सागर में विलीन हुए दृष्टिगोचर नहीं होते। वर्षा ऋतु की उमास, जो हरि (वायु) के शयनार्थ चले जाने के कारण उनके अभाव में उत्पन्न होती है क्या अन्य किसी ऋतु में भी अनुभव की जा सकती है ?

सर्वव्यापी हरि हमारे शरीर में भी अनेक रूपों में निवास करते हैं। शरीरस्थ गुणों में सत्त्व गुण हरि का प्रतिनिधि है शरीरस्थ सप्त धातुओं में पित्त को हरि का प्रतिनिधि माना गया है। इस दिन के बाद चौमासा आरम्भ हो जाने से प्राकृतिक वायु-मण्डल के ही बदल जाने के कारण स्वभावतया पित्त की गति मन्द पड़ जाती है, दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जन-जन की शरीर-समष्टि में विद्यमान हरि सो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त इस ऋतु में सत्त्व गुणरूपी हरि का शयन=मन्दता तो प्रत्यक्ष ही है। यही कारण है कि रजोगुण और तमो गुण की वृद्धि होने से इस ऋतु में प्राणियों में भोग-विलास-प्रवृत्ति, निद्रा, आलस्य अत्यधिक मात्रा में प्रस्फुटित होते हैं। हरि के शरीरस्थ उपर्युक्त प्रतिनिधियों के सो जाने के कारण (मन्द पड़ जाने से) अनेक प्रकार की शारीरिक व मानसिक बाधाएं मानव-समाज के सम्मुख उपस्थित होती हैं जिनके निराकरण के लिये आयुर्वेद शास्त्र में इस ऋतु के लिये विशेष प्रकार के आहार-विहार की व्यवस्था की गई है।

सत्त्व गुरण की मन्दता से उत्पन्न होने वाली दुष्प्रवृत्तियों के उपशमनार्थ ही चतुर्मास में विविध प्रकार के व्रतानुष्ठान, कथा-प्रवचन, यज्ञ यागादि का आयोजन होता है जिससे सत्त्व विरहित मन भी उत्पथगामी न बन सके। इस दृष्टि से हरि-शयनी एकादशी हमारे लिए एक चेतावनी बनकर आती है जो सन्देश देती है कि हमें अविलम्ब अपनी ऋतुचर्या और दैनिकचर्या में उचित परिवर्तन कर लेना चाहिए अन्यथा हमारा शरीर और मन स्वस्थ न रह सकेगा। भारतीय ऋषियों ने ऋतु परिवर्तन-जनित इस सूक्ष्म प्रभाव को अनुभव करके हमारे सामने उसके निराकरण का कितना सुन्दर मार्ग प्रस्तुत किया है।

गुरु पूर्णिमा

भारतीय संस्कृति में गुरु का बड़ा ऊंचा स्थान है। यद्यपि आज के समय में गुरु शिष्य प्रणाली लुप्त हो चुकी है और फल स्वरूप स्कूल कालेजों में फीस देकर पढ़ने वाले छात्रों के हृदयों में अपने गुरुओं के प्रति एक साधारण नौकर से अधिक कोई सम्मान का भाव नहीं होता किन्तु प्राचीन भारत मे गुरु-वर्ग के प्रति जो दृढ़ तथा अपार श्रद्धा शिष्य के हृदय में होती थी वह आज भी हमारे लिये गौरव की वस्तु है। प्रस्तुत पर्व हमारी आंखों के सामने भारत की उस तपोवनकालीन सभ्यता का चित्र प्रस्तुत कर देता है जिसमें आज की भांति विद्या-विक्रय नहीं होता था, जिसमें निर्धनता के कारण कोई विद्यार्थी शिक्षा से वञ्चित न रह पाता था और जिसमें राजा-रङ्क के भेदभाव को भुलाकर बालक एक ही वृक्ष की छाया के नीचे कुशासनों पर बैठकर साथ-साथ विद्याध्ययन किया करते थे। 'सादा जीवन उच्च-विचार' उस गुरु-कुल का मूल मन्त्र था, तप और त्याग पवित्र ध्येय था और लोकहित पर जीवन उत्सर्ग की शिक्षा उनका आदर्श। इन गुरुओं की छत्रछाया में से निकलने वाले

कपिल, कणाद, गौतम, पाणिनि, शङ्कर आदि अपने विद्यावैभव के लिए आज भी विश्व में अपना सानी नहीं रखते।

कबीर, तुलसी, मीरा आदि सन्त भक्त कवियों ने भी गुरु माहात्म्य के विषय में पर्याप्त लिखा है। कबीर ने तो—

गुरु गोबिन्द दोनों खड़े काके लागूँ पांय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिन्द दियो बताय॥

—लिख कर भगवान् से भी अधिक गुरु का महत्त्व स्वीकार किया है। यह वह पुण्य पर्व है जब हम अमूल्य ज्ञानोपदेष्टा गुरु के प्रति अपने कृतज्ञतापूर्ण हृदय को पत्र-पुष्पों के रूप में अर्पण करने का अवसर पाते हैं। यह पर्व पूर्णिमा को होता है, क्योंकि गुरु पूर्ण हैं न ?

गुरु पूर्णिमा का दूसरा नाम 'व्यास पूर्णिमा' भी है। महर्षि व्यास ने हिन्दू समाज को स्वाध्याय के लिये विपुल ग्रन्थ राशि सुलभ की है। शिष्ट जनों का—'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वं'—अर्थात् व्यास के अनन्तर लिखा गया संसार का सम्पूर्ण साहित्य व्यास की जूठन ही है—यह वचन सर्वांश में सत्य ही है। उन्होंने वेदों के विभागों का विश्लेषण कर मन्त्र, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों के रूप में सबको पृथक् किया; मन्त्रभाग के भी ऋग्, यजु, साम और अथर्व रूप में चार भाग किये। पुराणों को भी अठारह ग्रन्थों के रूप में संकलित कर उनके द्वारा साधारण लोंगों को वेद तत्त्व समझाया। उन्हीं परम कारुणिक महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास की यह पवित्र जयन्ती है। अतः इस पर्व पर हमें उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी चाहिए।

आषाढ़ी पूर्णिमा को सायंकाल वायु परीक्षा करने का भी प्रचलन है जिसके आधार पर विद्वान् लोग भावि तेजी मन्दी आदि का निर्धारण करने में समर्थ होते हैं। यह दिन मन्वन्तर का आदि दिन भी कहा जाता है। संन्यासी जनों का चातुर्मास्य

व्रत का आरम्भ भी इसी दिन से होता है जबकि वे चार मास तक किसी एक ही स्थान पर रुक कर तपोनुष्ठान करते हैं।

इस पर्व की ओर से आज हिन्दु जाति उदासीन-सी होती जा रही है—यह दुःख का विषय है। प्रत्येक आस्तिक जन को ऐसे उपयोगी और महत्वपूर्ण पर्व की पुनः स्थापना कर भारत में सत्शिक्षा के प्रसार में अधिकाधिक सहयोग देना चाहिये।

नाग-पंचमी

Tit for Tat (जैसे को तैसा) सिद्धान्त आज के लोगों को भले ही मान्य हो किन्तु हमारे पूर्वजों की तो सदा यही विशेषता रही है कि उन्होंने 'साँपों को भी दूध पिलाया है।' 'नाग पंचमी' का त्योहार इसका प्रत्यक्ष निदर्शन है। यह त्योहार श्रावण शुक्ल पंचमी को मनाया जाता है। इस दिन शास्त्रकारों ने नागों के पूजन और उनकी प्रसन्नता के लिए वन में कुछ दुग्धादि पदार्थ विसर्जन करने का विधान किया है।

सर्प पूजन की यह परम्परा कब प्रचलित हुई इसके विषय में इदमित्थं कुछ कहना तो साहसमात्र ही होगा। हां, जब से सृष्टि का इतिहास हमारे सामने आता है तब से ही नाग-राज की गौरव-गरिमा दिग्दिगन्त में व्याप्त दिखाई देती है। वाराह पुराण में इस उत्सव के आरम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुये बतलाया गया है कि आज के ही शुभ दिन सृजन शक्ति के अधिष्ठाता ब्रह्मा जी ने अपने प्रसाद से शेषनाग को विभूषित किया था और उनकी पृथ्वी धारण रूप अमूल्य सेवा के लिए जनता ने उनका अभिनन्दन किया था उसी समय से यह त्योहार नाग जति के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन का प्रतीक बन गया।

भारतीय संस्कृति में नागों को प्रारम्भ से ही एक महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। इस समस्त पृथ्वी का गुरुतर भार जिसने अपने ऊपर धारण किया हुआ है वह अन्य कोई नहीं केवल

एक नाग ही है जिसे शेषनाग कहा जाता है ; लोकरक्षक भगवान् विष्णु इन्हें ही शय्या बना कर विश्वभरण का महान् कार्य सम्पादन करते हैं। अमृतलाभ के लिये किये जाने वाले समुद्र-मंथन जैसे महान् कार्य में नेवती (रस्सी) का काम चलाने के लिये नागराज वासुकी द्वारा अपना शरीर समर्पित करना पुराण-प्रसिद्ध ही है। देवमाता अदिति की सगी बहिन कद्रु के पुत्र होने के नाते नाग देवताओं के छोटे भाई हैं। भगवान् शंकर तो कहलाते ही 'नागेन्द्रहार' हैं और अनेक विषधर नाग सदा उनके शरोर की शोभा बढ़ाया करते हैं। वेदों में—

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथ्वीमनु येऽन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः । (यजु:)

—आदि अनेक ऋचाओं द्वारा नागों की स्तुति एवं पूजा का विधान पाया जाता है। इस सब से यह भी सूचित होता है कि हिन्दुओं में यह नागपूजा की प्रथा द्रविड़ या अन्य किसी अनार्य जाति के सम्पर्क से नहीं आई, किन्तु अनादि काल से ही नागों का अस्तित्व देवताओं के साथ ही वर्णित है।

वैदिक साहित्य के अनन्तर सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य में हमें नागों की महिमा के वर्णन प्राप्त होते हैं पुराणों में नागों के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है। अग्नि पुराण में लगभग ८० प्रकार के विभिन्न नागकुलों का वर्णन किया गया है जिनमें—अनन्त, वासुकी, पद्म, महापद्म, तक्षक, कुलीर, कर्कोटक और शंख—ये प्रमुख माने गये हैं। नागों के पृथक् लोक 'नागलोक' का वर्णन भी हमें पुराणों में मिलता है। कथासरित्सागर में नागों के सम्बन्ध की किंवदन्तियों और जन-मान्यताओं का अच्छा संग्रह प्राप्त होता है।

नागपूजा की व्यापकता

नागपूजा का प्रचार भारत में प्रागैतिहासिक काल से है—

यह हम पीछे कह आये हैं। दक्षिण भारत के कनाडा जिले में विद्यमान विशाल नागमूर्ति—जिसका निर्माण ईस्वी सन् से भी पूर्व हुआ था और जिसका वर्णन ४थी शताब्दी में भारत भ्रमणार्थ आने वाले अनेक चीनी पर्यटकों ने भी किया है—नागों के प्रति जन-मानस में विद्यमान असीम श्रद्धा का निदर्शन है ! अजन्ता गुफा में चित्रित नागपूजा के चित्र भी नाग पूजा की प्राचीनता के पुष्ट प्रमाण हैं। अबुल फजल के लेखानुसार अकबरकालीन भारत में अकेले काश्मीर के सात सौ से अधिक स्थानों पर सर्प-मूर्तियों की पूजा होती थी। आज भी भारत में यत्र-तत्र अनेक नाग-मन्दिर स्थापित हैं जिनमें नियमित रूप से नाग पूजन प्रचलित है। विशेषतया दक्षिण में मोहल्ले-मोहल्ले में नाग मन्दिर देखे जा सकते हैं। बंगाल में मनसा देवी को नागमाता के रूप में पूजा जाता है। नागपूजा जहां सर्वत्र भगवान् को समान रूप से व्यापक होने के नाते–वसुधैव कुटुम्बकम्' के उच्च आदर्श को क्रियात्मक रूप देने वाले सभ्य विद्वानों में सदा से प्रचलित रही है वहां ठेठ जंगलों में बसने वाली कथित अर्धसभ्य कही जाने वाली जातियों में भी आज तक प्रचलित देखी जा सकती है। असम प्रान्त की 'नागा' जाति में नाग देवता-समुद्भूत होने का आज भी गर्व पाया जाता है। उड़ीसा और महाराष्ट्र का यह प्रमुख त्योहार है और वहां जनता जिस समारोह और उल्लास से इसे मनाती है वह दर्शनीय है। पंजाब में यह पूजा 'गूगे पीर की पूजा' के नाम से प्रचलित है, और उस पीर को नाग का ही अवतार समझा जाता है। सर्वत्र उसकी ध्वजा घुमाई जाती है और लोग उसकी पूजा करते हैं। मध्य भारत में सर्प की बांबियों के समीप बने हुए चबूतरे पर उनकी पूजा की सामग्री चढ़ाना धार्मिक परम्परा है। मालाबार में नागों के प्रीत्यर्थ कुछ वनभूमि छोड़ी गई है जिन्हें

'नागवन' नाम से पुकारा जाता है। कहने का भाव यह है कि भारत का कोई प्रान्त, कोई कोना और कोई सम्प्रदाय ऐसा नहीं है जहाँ नाग पूजा का प्रचार न हो। सनातनियों की बात छोड़िए, जैन और बौद्ध देवताओं के शिर पर छत्र की भान्ति प्रसृत सर्पफरण उनकी नागों के प्रति अटूट श्रद्धा का प्रतीक है।

विदेशों में नागपूजा

यह तो हुई भारत की बात; नागपूजा का प्रचार विदेशों में भी कम नहीं है। वहां के साहित्य में भी भारतीय साहित्य की भांति नागों का महत्त्व वरिणत है! पृथ्वी के सम्बन्ध में भारतीयों के सदृश ही विदेशियों में यह धारणा बद्धमूल है कि यह एक बड़े सर्प से परिवेष्टित है जिसके हिलने-जुलने से भूकम्प हुआ करता है। एबीसीनिया और जापान के राजवंश अपने को आज भी नागवंशी ही मानते हैं और वहाँ नागों को देवता का ही रूप समझा जाता है, उनकी धारणा है देवताओं ने सर्वप्रथम इसी रूप में अपने को प्रकट किया था। वैदेशिक-सभ्यता के आदिस्रोत यूनान और मिश्र में नाग-जाति के प्रति ऐसी श्रद्धा है कि आज भी वहां के मन्दिरों में सर्प पाले जाते हैं। सिकन्दर महान् के विषय में तो अनु धारणा और जनश्रुति है कि यूनानी देवता श्रय्यन ने सर्प का रूप धारण करके ओलम्पिया की कोख से सिकन्दर को जन्म दिया था। एलियन के अनुसार शायद इसीलिए जिस समय सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया तो सर्वप्रथम सर्पवध निषेध का आदेश जारी किया था। चीन की राजधानी पीकिंग के मध्य में स्थित विशाल नागमन्दिर चीनी जनता की नागपूजा सम्बन्धी श्रद्धा का ज्वलन्त प्रमाण है। आस्ट्रेलिया, लिथुवानिया, स्वीडन, नार्वे, अफ्रीका आदि प्रदेशों में कल तक सर्प पूजन प्रचलित था अमे-

रिका के आदि निवासी तो आज भी इसे बड़े चाव से करते हैं।

नागपूजा क्यों ?

नाग पूजा क्यों की जाती है इसे जानने से पहले हमें नाग जाति के सम्बन्ध में फैले हुए कुछ भ्रमों का निराकरण कर लेना चाहिए। नाग या सर्प के सम्बन्ध में आम धारणा यह है कि यह एक बड़ा भयंकर जीव है, मिलते ही मनुष्य को काट खाता है और उसे सदा के लिए मौत की नींद सुला देता है, परन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। जीवविज्ञान (Zoology) के अनुसार संसार के भिन्न २ भागों में पाई जाने वाली जिन १२१ जातियों का अभी तक पता चला है उनमें से निकृष्टतम जाति के सर्पों को छोड़कर शेष सभी सर्प ऐसे नहीं होते जैसा कि उन्हें समझा जाता है। प्रायः सर्प तभी काटते हैं जबकि उन्हें छेड़ा जाता है या दबाया जाता है। जंगलादि में यदि मनुष्य भली प्रकार मार्ग देखकर चले तो कोई कारण नहीं कि सर्प उसे काटे ही। इन भ्रान्त धारणाओं का हमारे हृदय पर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा है कि हमने उसे मनुष्य का जन्मजात शत्रु समझ लिया है और ज्योंही हम कभी उसे देखते हैं तो मन में भय का संचार हो जाता है, मुंह से भयमिश्रित चीख निकल जाती है और तुरन्त ही ध्यान हाथपर जाता है कि इसे मारने के लिए कोई डंडा वगैरह है या नहीं। ज्यों ही हमारे मन में उसके विनाश की भावना उठी कि हमारे श्वास-प्रतिश्वास के रास्ते यही भावना उसके हृदय में भी उत्पन्न हो जाती है। फलतः हमारी दुर्भावना ही उसे हिंसक बना देती है।

नागपूजा द्वारा हमारे हृदय में सर्प जाति के प्रति इस बद्ध-मूल दुर्भावना और भ्रान्ति का निराकरण किया जाता है। इस

पवित्र दिन नागों की पूजा का आयोजन होता है, परिवार के सब लोग उसमें एकत्रित होते हैं। श्रद्धा भक्ति सहित देवता के रूप में नाग का पूजन करके स्तुति रूप में उसके गुणों का वर्णन सुन कर हमारे हृदय में उसके प्रति विद्यमान दुर्भावना क्रमशः क्षीण हो जाती है और कुछ समय बाद हम इसे शत्रु नहीं किन्तु ईश्वरीय सृष्टि का अपने जैसा ही प्राणी समझने लगते हैं तब हमारे मन की वह अधीरता और घबराहट जो उसे देखने के साथ ही पैदा होती थी सर्वथा शान्त हो जाएगी। देहातों में बसने वाले ७५ प्रतिशत लोग, जिन्हें रात दिन खेतों में, वनों में काम करना पड़ता है प्रायः रात-दिन सर्पों के सम्पर्क में ही रहने को बाध्य होते हैं अतः उन लोगों के मन से उस भय-भावना का निराकरण ही नाग-पञ्चमी का महान् उद्देश्य है।

अक्सर समाचार पत्रों में आये दिन हम ऐसी घटनाओं के विवरण पढ़ते रहते हैं, जिनमें अज्ञानवश बालकों ने सर्प को पकड़ लिया, उनके साथ क्रीड़ा की परन्तु सर्प ने उन्हें डसा नहीं। कहना न होगा इस प्रकार की घटनाओं के मूल में बालकों का निश्छल प्रेम और विशुद्ध भावना ही रक्षा का हेतु हैं। यदि हमारे मन में भी ऐसी ही प्रेममयी भावना—जिसको उत्पन्न करना इस त्योहार का उद्देश्य है—उत्पन्न हो जाये और अवसर पड़ने पर हम उसका प्रयोग करें तो सचमुच नाग जैसा प्राणान्त-कारी जीव भी हमारे लिए 'देव' बन सकेगा।

श्रावणी

श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को मनाया जाने वाला महान् पर्व श्रावणी वैदिक काल से ही द्विजाति के लिए आत्मशोधन का पुण्य पर्व माना जाता है। इसे उपाकर्म भी कहा जाता है और

प्रत्येक द्विज के लिए इसका मनाना आत्म-कल्याणसाधक तथा आवश्यक माना है।

सावधानीपूर्वक शास्त्रप्रोक्त मार्ग पर चलते हुए मनुष्य से प्रमादाज्ञानवश कुछ-न-कुछ भूल हो ही जाती है। मनुष्य ही जो ठहरा—भूलों का पुतला! इन अज्ञानजन्य दोषों तथा भूलों के प्रायश्चित्तार्थ तथा भविष्य में सोच-समझकर सन्मार्ग ग्रहण करने के ऊँचे उद्देश्य से द्विजाति जनता इस दिन किसी पवित्र नदी या तीर्थ के तट पर एकत्रित होती है और वैदिक विधि के अनुसार तत्तद् स्नान सूर्याराधन, प्राणायाम, अग्निहोत्र, ऋषि पूजनादि द्वारा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि का सम्पादन करती है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) सम्प्राप्ते श्रावणस्यान्ते पौर्णिमास्यां दिनोदये।
स्नानं कुर्वीत मतिमान् श्रुतिस्मृतिविधानतः॥

(आह्निक-परिशिष्ट)

(ख) प्रत्यब्दं यदुपाकर्म सोत्सर्पं विधिवद् द्विजैः।
क्रियते छंदसां तेन पुनराप्यायनं भवेत्॥

(कात्यायन स्मृति)

(ग) उपाकर्मोत्सर्जनञ्च वनस्थानामपीष्यते॥

(प्रयोगपारीजात)

अर्थ (क) बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि श्रावण की पूर्णिमा को प्रातः ही श्रुतिस्मृतिविधानानुसार स्नानादि कृत्य

करे। (ख) प्रतिवर्ष द्विज विधि विधानपूर्वक जो श्रावणी कर्म करते हैं उससे वेदों का पुनराध्यायन होता है। (ग) उपाकर्म और उत्सर्ग अर्थात् श्रावणी-कर्म न केवल गृहस्थों को किन्तु वनस्थों—ब्रह्मचारी वानप्रस्थी आदि को भी करना चाहिए।

वैज्ञानिक-विवेचन

श्रावणी उपाकर्म के मुख्यतया ३ अंग होते हैं—१. स्नान, तर्पण २.सूर्योपस्थान, ३.ऋषिपूजन यज्ञोपवीत धारणादि। यह तीनों कार्य शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि के साथ विशेष सम्बन्ध रखते हैं। श्रावणी का स्नान साधारण स्नान नहीं अपितु यह एक प्रकार से कल्याणाभिलाषी पुरुष का अभिषेक है, जो उसके शरीर को सर्वथा शुद्ध बना देता है।

आदि में उपाध्याय जी ने हेमाद्रि संकल्प द्वारा ज्ञाताज्ञात-अवस्था में किये हुए सभी पापों की एक लम्बी सूची पढ़ कर सुनाई। स्नान समारोह में उपस्थित सभी जन इसे सुनते एवं मन में स्मरण करते हुए भविष्य में उनसे बचने के लिए कृत-प्रतिज्ञ होते हैं। सर्वप्रथम मृत्तिका लेपन करके स्नान किया गया। मिट्टी में शारीरिक रोगों के उपचार करने की कितनी क्षमता है इसका निरूपण हम अन्यत्र कर चुके हैं। विदेशों में तो मृत्तिका से चिकित्सा विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और उससे भयंकर से भयंकर रोगों की चिकित्सा की जाती है।

'ॐ जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म' आदि मन्त्र की ध्वनि कानों में पड़ी कि किनारे पर रखे हुए भस्म के ढेर में से एक-एक मुट्ठी भस्म लेकर लोगों ने शरीर पर मलनी शुरु कर दी। यह भस्म साधारण राख नहीं है, साधारण राख तो

अग्नि का मल है अतः वह धारणीय नहीं होती, किन्तु स्नानाँग-भूत यह राख तो—यज्ञभस्म है। यह अग्नि में हुत घृत, चरु, सर्वौषधि आदि पवित्र पदार्थों का विकार है। इसकी महत्ता वही है जो विविध रोगों में दी जाने वाली स्वर्णभस्म; मुक्ताभस्म एवं लोहभस्म आदि अमूल्य भस्मों की। इन स्वर्ण मोती आदि पदार्थों को वैसे आप खायें तो शायद तत्काल नहीं तो कुछ समय के अनन्तर ही मृत्यु का ग्रास बन जायें पर भस्मरूप में आने पर यही वस्तुएँ अनन्तगुणा जीवनशक्ति प्रदान करने वाली हो जाती हैं। अतः इस भस्म लेपन से त्वचा सम्बन्धी कोई भी कैसी से कैसी बीमारी हो निःशेष हो जाती है।

इसके अनन्तर गोमय-स्नान का क्रम आया। वर्षा ऋतु में नाना भांति की औषधियें उत्पन्न होती हैं। गाय भैंस आदि पशु इन्हें चर कर आते हैं तो इनका असर गोमय में भी होना आवश्यक है। गोमय की विशेषता है कि वह सब प्रकार के विष तथा कीटाणुओं का नाशक है, कैसी भी दुर्गन्धि हो उसको हरण कर लेता है। अक्सर पाठकों ने देखा होगा मिट्टी के तेल की उग्र गन्ध, जो साबुन से भी कठिनता से जाती है गोबर से अनायास ही दूर हो जाती है। लोगों के शरीर में से अनेक प्रकार की दूषित गन्ध आने लग जाया करती है यदि ऐसे लोग नियमतः गोबर का प्रयोग करें तो वह कुछ ही समय में दूर हो जाती है।

इन वस्तुओं से स्नान के बाद क्रमशः कुशा, दूर्वा तथा अपा-मार्ग नामक औषधियों से शिरका मार्जन होता है। यह तीनों ही वनस्पतियें अपने विचित्र गुणों के लिए जगद्विख्यात हैं। इन

औषधियों से मिश्रित जलकरण मूर्धा पर पड़कर मस्तिष्क को अपूर्व शीतलता प्रदान करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रावणी-स्नान काल में होने वाली यह सारी प्रक्रिया मनुष्य को सर्वविध शारीरिक शुद्धि के लिए महान् लाभकारी सिद्ध होती है।

इस प्रकार शारीरिक बाह्यशुद्धि सम्पन्न हुई फिर आभ्यन्तर शुद्धि का आरम्भ पञ्च-गव्य पान से होता है। पञ्च-गव्य गाय के दूध, दधि, घृत, मूत्र, गोमय और मधुसे मिश्रित वह विचित्र रसपूर्ण पेय है जो पीने के साथ हो अस्थि तक पहुँचे हुए शीरोरिक दोषों को दूर करने की क्षमता रखता है। पदार्थ विज्ञान के अनुसार पञ्च-गव्य वात-पित-कफजनित दोषों का उपशमन करने वाला, विषनाशक, बुद्धिवर्धक तथा मूत्र-कृच्छ, बवासीर, खुजली, अपस्मार, मृगी आदि रोगों का समूल विनाश करने वाला महौषध है। इसीलिए किसी भी धार्मिक कृत्य के आरम्भ में सर्वप्रथम पञ्च-गव्य पान कराया जाता है।

मानसिक शुद्धि के लिए सूर्योपस्थान का अनुष्ठान आरम्भ होता है। सूर्य भगवान् हमारे मन व बुद्धि के प्रेरक हैं। सूर्योदय होते ही लोगों के मन में नई चेतना, नया जीवन और नई स्फूर्ति आ जाती है यह प्रत्यक्ष ही है। ऊर्ध्वबाहु होकर वेदमंत्रों से प्रार्थना करते हुए हम भगवान् सविता से निर्मल बुद्धि और शिवसंकल्प मन की याचना करते हैं। भावनावाद के अनुसार यह सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना जन-जन के अन्तःकरण को निर्मल बनाकर संसार में एक दिव्य वातावरण की सृष्टि करने में क्षम हो सकती है इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं।

इसके अनन्तर सम्पन्न होने वाले ऋषिपूजन, स्वाध्याय

प्रवचन, यज्ञोपवीत धारणादि क्रियाओं का सम्बन्ध सीधा हमारी आत्मा से है अतः यह आत्मिक शुद्धि का अनुष्ठान कहा जा सकता है। ऋषिपूजन में वंश श्रवण होता है जिसको सुन कर हृदय में अपने महान् पूर्वजों के प्रति गौरव के भाव जागृत होते हैं। ख्याल आता है कि हम किन की सन्तान हैं, किन महान् पुरुषों के वंश वृक्ष की हम लघु शाखा हैं। परन्तु उनसे कितने भिन्न ! कहां वे कहाँ हम ? इस भावना का यदि निरन्तर स्मरण रहे तो मनुष्य जीवन में हम अनेक अवसरों पर पथभ्रष्ट होने से बच जायें। यज्ञोपवीत का हमारी आत्मिक उन्नति के साथ कितना घनिष्ट सम्बन्ध है यह अन्यत्र विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं। चतुर्वेद-पारायण के स्थान पर आज प्रत्येक वेद के प्रथम मन्त्र का पारायण करके हम उस पुरातन परिपाटी का निर्वाह करते हैं जब कि आज के दिन उपनीत द्विजबालक गुरुओं से वेदाध्ययन प्रारम्भ किया करते थे।

क्या सचमुच पाप दूर हो जाते हैं ?

लोग अक्सर पूछते हैं कि 'मैं समस्त पापों की निवृत्ति के लिए श्रावणी स्नान करता हूँ' इस संकल्प से या भस्म, मृत्तिका आदि के लेपन पूर्वक स्नान करने से सत्य ही पाप दूर हो जाते हैं ? तब तो यह बड़ा सस्ता नुस्खा है, साल भर खूब पाप करो और एक दिन श्रावणी का स्नान कर लो बस हो गए शुद्ध ?

जहाँ तक शास्त्रविश्वासी जनों की बात है तो हमें उनके प्रति यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मन्त्रों की दिव्य-शक्ति से पाप क्षय हो जाना नितान्त तुच्छ सी बात है, परन्तु बुद्धि-वादी जनों के समक्ष पाप जैसी अदृश्य वस्तु का प्रत्यक्ष नष्ट होता हुआ दिखा सकने में असमर्थ होते हुए भी हम निश्चय

पूर्वक कह सकते हैं कि इस प्रकार के आयोजनों से वस्तुतः हा पाप निवृत्ति सम्भव है, असम्भव नहीं। हमने पीछे कहा है कि यह पर्व प्रमाद या अज्ञानवश किए हुए दुष्कृतों की निवृत्ति के लिये किया जाता है। भूल से या आवेश में जब हम कोई अनुचित कार्य कर बैठते हैं तो होश में आने पर मनोविज्ञान (Psychology) के अनुसार हमारे मन में उसकी दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती हैं-(१) पश्चात्ताप और ग्लानि। (२) उस अकार्य के प्रति पुनराकर्षण। पश्चात्ताप की दशा में मनुष्य पाप से निवृत्त हो जाता है अर्थात् उस अनुचित कार्य को करने से बाज तो आ जाता है परन्तु पापजन्य ग्लानि का उसके अन्तःकरण पर बड़ा बुरा असर होता है जो स्वास्थ्य के लिए घातक है। श्रावणी के वैदिक अनुष्ठान से मनुष्य के हृदय में पापनिवृत्ति की यह भावना डालकर तदन्तरवर्ती समस्त ग्लानि का अपहरण किया जाता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति से यह विश्वास हो जाने पर कि अब मैं शुद्ध हो गया हूँ मनुष्य को आत्मसंतोष तो होता ही है साथ ही भविष्य के लिए सन्मार्ग की ओर अग्रेसर होने का बल भी मिलता है।

दूसरी प्रतिक्रिया अर्थात् अकार्य के प्रति पुनराकर्षण इसलिए होती है कि मनुष्य समझ लेता है कि एक बार पाप करके भ्रष्ट तो मैं हो ही गया अब इस विषय का अच्छी तरह उपभोग ही क्यों न कर लूँ। अक्सर एक बार चोरी के मामले में सजा पाने के बाद चोर फिर पक्का बन जाया करता है, परन्तु यदि कोई शक्ति उसे यह समझा सके कि नहीं वह पूर्ववत् शुद्ध है, तो फिर वह अकार्यकारी व्यक्ति पहले की भान्ति कल्याण-मार्ग पर चलने लगता है। श्रावणी की यह वैदिक विधि नाना प्रक्रियाओं द्वारा

मनुष्य के हृदय में इसी भावना को जन्म देती है। और इस प्रकार किसी व्यक्ति का पिछला दुष्कृत चाहे निवृत्त हो या न हो, किन्तु वह भविष्य के लिये सुकृतकारी बनने में उत्साहित हो जाता है—इसमें भी क्या सन्देह किया जा सकता है।

इस बात को आप एक दृष्टान्त से भली भांति समझ सकते हैं। आप संयोगवश किसी नये शहर में गये और वहां की किसी सड़क पर—जिस पर एक ओर का ही रास्ता (one way traffic) चालू था—साइकिल सवार हो उल्टा मार्ग चलने की भूल कर बैठे। चौक के सिपाही के टोकने पर उससे कहा-सुनी हो गई और आपका चालान हो गया। आप घर आते हैं परन्तु आपके मन पर इस घटना का गहरा असर है। बार-बार सोचते हैं—'न जाने क्या होगा ?' मैं क्यों व्यर्थ उससे उलझा, जरा नर्मी से बोलता तो क्या हर्ज था ?' परन्तु अब क्या हो ?

पेशी से पूर्व तक आपके मन की यही दशा रहती है। कचहरी में पेशी हुई। कांपते हुए दिल से आप पहुँचे। ३ बजे पुकार हुई। मजिस्ट्रेट द्वारा पूछने पर आपने अपराध को स्वीकार करते हुए अपने व्यवहार पर खेद प्रकट किया। मजिस्ट्रेट आपकी भावना की कद्र करता है और अदालत उठने तक वहीं बैठने की सजा देता है। आप १ घण्टे के लिये वहीं बैंच पर आराम में बैठकर इस सजा को पूरा कर लेते हैं।

जरा विचार करें—क्या इसे आप सजा कहेंगे ? क्या इससे आपको कोई कष्ट उठाना पड़ा ? एक घंटा वहां बैठकर आप आनन्द से अखबार ही तो पढ़ते रहे। पर कुछ कष्ट न उठाने पर भी आप एक ऐसे अपराध से मुक्त हो गये जिसका आपको रात-दिन फिक्र लगा रहता था। अब आपके मन से बोझ उतर गया न ? यही बात प्रायश्चित्त से पाप निवृत्ति के

सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। इस कर्म के अनुष्ठान से पापों से मुक्ति का जो आश्वासन आपको प्राप्त होगा उसका कम महत्त्व नहीं है और निर्मल जीवन-प्रगति के लिये ऐसा विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं श्रावणी वैदिक-कालीन पर्वों में से अन्यतम है जिसका उद्देश्य है अतीत में अज्ञान या प्रमादवश किये हुये दुष्कर्मों को यथाविधि प्रायश्चित्त द्वारा दूर करके भविष्य में शुभ कर्म करने की प्रेरणा देना। इस अवसर पर की जाने वाली सभी क्रियाओं के मूल में यही पवित्र भावना है और यही ऊँचा आदर्श! इस दृष्टि से इस पर्व का कितना महत्त्व है यह वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रत्येक हिन्दु को इसमें उत्साह तथा श्रद्धा से भाग लेना चाहिये।

रक्षा-बन्धन

भारतीय त्योहारों में रक्षा-बन्धन एक महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक त्योहार माना जाता है। इसका प्रारंभ पिछले सौ दो सौ या हजार दो हजार वर्ष से नहीं, किन्तु लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व देव-दानव के युद्ध के समय में हुआ था। भविष्य पुराण के एक उपाख्यान में बतलाया गया है कि उस समय आज के दिन इन्द्र-पत्नी महारानी शची ने वैदिक-मन्त्रों से अभिषिक्त एक रक्षा-सूत्र अपने पति इन्द्र के हाथ में बांधकर उसे शत्रुओं से अभय बना दिया था और इसी रक्षा-सूत्र के बल पर इन्द्र ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। तब से प्रतिवर्ष श्रावण की पौर्णिमा को यह महान् पर्व आता है और उस काल की धुंधली होती हुई स्मृति को पुनः ताजा कर चला जाता है। लाखों और करोड़ों वर्षों से हिंदु-जाति इस पर्व से नव-स्फूर्ति, नव-विश्वास

और नया बल ग्रहण कर जीवन पथ पर बढ़ती चली आ रही है और बढ़ती चली जाएगी।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) सर्वरोगोपशमनं सर्वाशुभविनाशनम्।
सकृत्कृतेनाब्दमेकं येन रक्षा कृता भवेत्॥

(भविष्यपुराण)

(ख) येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः।
तेन त्वा प्रतिबध्नामि रक्षे! मा चल! मा चल॥

अर्थात्—(क) इस पर्व पर धारण किया हुआ रक्षासूत्र सम्पूर्ण रोगों तथा अशुभ कार्यों का विनाशक है। इसे वर्ष में एक बार धारण करने से वर्ष भर मनुष्य रक्षित हो जाता है।

(ख) जिस प्रयोजन से उक्त रक्षासूत्र से दानवों का सम्राट् महाबली बली राजा बाँधा गया था (अर्थात्—वामन भगवान् को दान देते समय इस रक्षाबन्धन से आबद्ध होने पर वह सर्वस्व जाता देखकर भी पुनः विचलित न हुवा था) उसी प्रयोजन से हे रक्षासूत्र! आज मैं तुझे बाँधता हूँ अतः तू भी अपने निश्चित उद्देश्य से विचलित न हो! दृढ़ बना रह!!

वैज्ञानिक-विवेचन

रक्षा-बन्धन पर किसी वेदज्ञ ब्राह्मण से स्वर्ण, अक्षत, सर्षप दूर्वा, सर्वौषधि आदि से युक्त वेदमन्त्राभिश्रित रक्षाकंकरण बंधवाने का शास्त्रीय विधान है। यह रक्षासूत्र जहां गत वर्ष में न चाहते हुवे भी काय वाङ् मन समुद्भूत पापों की उपाकर्म द्वारा निवृत्ति हो जाने पर उनके पुनः न होने देने की धारणा का प्रतीकभूत है और दृढ़प्रतिज्ञ बने रहने का मनोवैज्ञानिक

बन्धन है वहां इस मास में इसे इसलिए भी धारण किया जाता है कि इन दिनों अर्थात् वर्षा ऋतु में सूर्य-प्रकाशाभाव से प्राणिसमुदाय में भांति-भांति के रोग हो जाने स्वाभाविक हैं अतः इनकी निवृत्ति के लिए भी शास्त्रों ने इस रक्षासूत्र का विधान किया था। इस सूत्र में ऊपर लिखी अनेक कीटाणु-नाशक तथा रोग-निरोधक (Antiseptic) औषधियों का समावेश तो होता ही था किन्तु सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव तो उन वेद-मन्त्रों का होता था जिनके द्वारा उसके हृदय में इस भावना को दृढ़ किया जाता था कि—"इस सूत्र को धारण करने के बाद वह वर्ष भर के लिये सर्वथा रक्षित हो गया है और उसे अब किसी से भय नहीं रहा।" इस दृढ़ विश्वास और भावना के प्रभाव से बीमारी आदि की दशा में भी मनुष्य में साहस बना रहता है अतः वह शीघ्र ही अच्छा हो जाता है।

भाई-बहिनों का पवित्र पर्व

समय बीतता गया, संसार में अनेकानेक परिवर्तन हुए जिनका प्रभाव इस त्योहार पर भी पड़ा। भारतवर्ष की पराधीनता के दिनों में जब कि हिन्दु जाति एवं हिन्दु-धर्म संकट की अवस्था में से गुजर रहे थे, जब कि मुगलों की दुधारी तलवार हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का समूलोच्छेद करने के लिये, हमारी मां-बहिनों की लाज एवं मर्यादा को लूटने के लिये अहर्निश चल रही थी, 'रक्षा-बन्धन' ने ही हिन्दु जाति को एक नई प्रेरणा दी, एक नये मार्ग का संकेत दिया। वह राखी जो विगत काल में पति एवं पत्नी के प्रेम का, स्त्री की सौभाग्य-रक्षा का प्रतीक थी, वही भाई एवं बहिन के पवित्र

प्रेम-बन्धन के रूप में बदल गई। ऐतिहासिक पर्यालोचन बतलाता है कि उस काल में राजपूत रमणी अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिये आवश्यकता पड़ने पर राजपूतों के पास इसी राखी को भेजकर सहायता की याचना किया करती थीं, वे वीर भी अपनी धर्मबहिनों की रक्षा में हँसते-हँसते अपने प्राणों पर खेल जाया करते थे। राखी का यह निखरा हुआ रूप कितना निर्मल था, कितना पवित्र और कितना उज्ज्वल कि जिसने देखा वही मुग्ध हो गया। सूत के इन दो कच्चे धागों में वह प्रेरणा और शक्ति सन्निविष्ट हुई कि हाथों में बँधते ही एक बार निर्जीव में भी प्राण स्पंदित हो उठते। इतिहास में हमें ऐसे एक भी कायर राजपूत का नाम नहीं मिलता जिसने इन धागों की लज्जा की रक्षा में मर मिटने में जरा भी हिचकिचाहट अनुभव की हो। हिन्दु तो खैर हिन्दु थे; जन्म से ऐसे ही संस्कारों में पालित एवं पोषित! पर मुस्लिम-बन्धु भी इन धागों की पुकार को अनसुनी न कर सके। महारानी करुणावती की गाथा इतिहास-विख्यात है। कर्नल टाड सरीखे विदेशी इतिहास लेखकों ने भी इसकी प्रामाणिकता पर अपनी मुहर लगाते हुवे लिखा है—कि जब गुजरात के शासक बहादुरशाह ने उसके राज्य पर आक्रमण किया तो इस राजपूत रमणी ने तत्कालीन शासक हुमायूं को राखी भेजकर अपनी सहायता के लिये पुकारा था। हालांकि हुमायूँ के किये यह एक कठिन परीक्षा थी, उसकी सेनायें अफगानों को विजय करने की ओर लगी हुई थीं और करुणावती की सहायता करने पर उसे लड़ना भी अपने ही भाई मुस्लिम शासक से था परन्तु हुमायूँ का मानव-हृदय, उसके अन्तर् में बैठा हुआ वह भाईपन जो इस राखी को प्राप्त

कर सजग हो गया था, इन सब बातों की कोई चिन्ता न कर एक हिन्दु बहिन द्वारा भेजी गई उस राखी की रक्षा करने के लिये सेना सजाकर आखिर मारवाड़ पहुँच कर ही रहा। स्वदेशी आन्दोलन काल में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसी त्योहार की बदौलत बंगाल में अपूर्व एकता और नव-चेतना को जन्म दिया था।

आज की राखी

आज की राखी बड़ी सुन्दर है, बड़ी कोमल है, रेशम के रंग-बिरंगे डोरों से बनी है, गोटे और सलमे से गुंथी है पर है वह सर्वथा प्रेरणा शून्य ! आज वह कलाई की शोभामात्र बनकर रह गई है, उसका अतीत गौरव लगभग निःशेष सा होता जा रहा है। यदि ऐसा न होता तो रक्षा-बन्धन पर झट से कलाई आगे बढ़ा कर राखी बन्धवा लेने वाला हिन्दु नौजवान शरीर में रक्त की एक बूँद रहते भी हजारों बहनों को पाकिस्तान में मुसलमानों को गुलाम बीवी बनने के लिये न छोड़ देता। या तो वीर राजपूतों का वंशधर वह हिन्दु आज निःसत्व हो गया है अथवा यह राखी ही रेशम के डोरों के रूप में आकर फिसलने वाली बन गई है जो अनायास ही हाथ से गिर पड़ती है।

फिर भी हम नहीं भूल सकते कि रक्षा-बन्धन हमारा महान् राष्ट्रीय पर्व है। दानवता के पंजे में फंसे देवत्व और मनुष्यत्व को उबारने के लिये इसका जन्म हुआ और सुदीर्घ काल से इसने हिन्दु जाति में शक्ति, साहस और विजय-भावना का सञ्चार किया है। देश जाति की मान-मर्यादा के

संरक्षणार्थं युद्ध में जाने वाले व्यक्ति के हृदय में 'मैं सर्वथा रक्षित और अजेय हूँ' ऐसी दृढ़ भावना को जन्म देकर इस राखी ने उसे सदा ही युद्ध में सफलता प्रदान की है। यह एकता का महामन्त्र है, संगठन का सिंहनाद है और जीवन की प्रगति का जीता-जागता प्रतीक है। प्रत्येक हिन्दु को इसे बड़े उत्साह से मनाना चाहिये।

जन्माष्टमी

जन्माष्टमी भारत का प्रमुख पर्व है। भारत के सभी प्रान्तों में जिस समारोह और श्रद्धामिश्रित उत्साह से लोग भगवान् श्रीकृष्ण का जयन्ती उत्सव मनाते हैं वह सचमुच दर्शनीय है। मन्दिरों में दिव्य झांकियें, भगवत्प्रतिमाओं का मनोमोहक शृंगार, भक्तिभाव-विभोर नर-नारियों द्वारा अखण्ड संकीर्तन भगवत्-कथा-प्रवचन, विशाल-शोभा-यात्रा (जलूस) तथा कृष्ण-जन्म सम्बन्धी विविध नाटकों का आयोजन—यह सब इस प्रकार के कार्य हैं जिन्होंने इस पर्व को धार्मिक-क्षेत्र से निकालकर जन-साधारण तक पहुँचा दिया है।

पुराणेतिहासानुसार आज के दिन अवतार धारण करके करुणा-वरुणालय भगवान् कृष्ण ने भारत भू को कृतार्थ किया था। असुरों के उत्पीडन से संत्रस्त प्रजा की रक्षा के लिये, दानवता के पंजे में फँसकर कराहती हुई मानवता के उद्धार के लिये वह जगन्नियन्ता आज के ही शुभ दिन वैकुण्ठ का मोह छोड़ कर कंस के कारागार का बन्दी बन कर अवतीर्ण हुआ था।

भाद्र कृष्ण अष्टमी बुधवार का दिन, रोहिणी नक्षत्र, घोर

अन्धकारमयी अर्धरात्रि, चारों ओर भयानक सन्नाटा ! आकाश में घनघोर घटाओं का साम्राज्य ! प्रकृति-मण्डल की इस दशा में उस काल के समाज का भी सच्चा चित्र देखा जा सकता है। कृष्ण-पक्ष के अन्धकार की भान्ति अत्याचारी कंस के कुशासन की कालिमा से उस समय की प्रजा सर्वात्मना लिप्त थी। जनता के हृदयों में निराशा की घटाएँ चारों ओर घिरी हुई थीं। लोग सर्वथा प्रतिकार में अक्षम थे, अतः उनके जीवन में सन्नाटे के सिवाए कुछ था ही नहीं।

अष्टमी की ऐसी ही घोर निशा में, रात्रि के दुर्भेद्य अन्धकार को दूर कर, अपने दिव्य आलोक से काली घटाओं के वक्ष को भी चीरते हुए जनमन-आह्लादक, ब्रजचन्द्र आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र उदित हुए। उस चन्द्र के उदय के साथ ही समस्त भुवनों में आशा का प्रकाश भर गया, भक्तों के हृदयकुमुद खिल उठे, सन्त-महात्माओं के नयन-चकोरों को मानों प्राणपद सम्बल मिला। आज इन बातों को यद्यपि पाँच हजार से अधिक वर्ष हो गए हैं किन्तु काल का यह लम्बा विक्षेप, समय की यह विस्तृत परिधि जनता के हृदय में छाई हुई इस शुभ दिन के हर्ष एवं उल्लास की स्मृति को फीका न बना सकी। आज भी हम उसी उत्साह से भगवान् के जन्मोत्सव को मनाते हैं जैसे कि सुदीर्घ काल पूर्व ब्रजमण्डल की जनता ने मनाया होगा।

जन्माष्टमी जयन्ती उत्सव है। इस प्रकार के जयन्ती उत्सवों का हिन्दु-संस्कृति की समृद्धि और संरक्षा में कितना प्रमुख भाग है—यह कहने की आवश्यकता नहीं है। ये

जयन्तियां भगवान् की सत्ता के प्रति अनन्त आशा और विश्वास को स्थिर कर जनता में शक्ति, साहस और उत्साह को भर देती हैं। ये वे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनके अवलम्बन से तत्तत्कालीन समाज के कर्णधार अपने समाज की नाव को भीषण तूफानों और भयावह ज्वार-भाटों में से भी सर्वथा सुरक्षित रूप में अपने उद्देश्य तक खींच ले जाने में समर्थ हो सके हैं। अगर सच पूछा जाय तो आज हिन्दु जाति यदि जीवित है—और शान के साथ जीवित है, तो महापुरुषों की इन्हीं जयन्तियों की बदौलत ही। इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके, इन्हीं के जीवन से शिक्षा ग्रहण करके हम अपने एक निश्चित ध्येय की ओर बढ़ने में समर्थ हो सके हैं। अतः आज के दिन हमें विशेषतया भगवान् कृष्ण के चरित्र का पारायण कर उससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

शरीर और तदन्तरवर्ती आत्मा इन दोनों के अस्तित्व का दूसरा नाम ही जीवन है। इस जीवन को चरम विकास तक पहुँचाने तथा पूर्ण समुन्नत करने के लिए भगवान् कृष्ण ने संसार को दो अमूच्य रत्न दिए हैं—(१) गौ और (२) गीता। प्रथम को यदि शारीरिक-स्वास्थ्य और बुद्धि का मूल कहें तो दूसरी को आत्मिक-विकास के लिये संजीवनामृत कहना अनुपयुक्त न होगा। अतः सब कुछ छोड़कर भी यदि हिन्दु जाति इन्हीं दो (गौ, गीता) वस्तुओं की आराधना करे तो संसार की कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उसे अतिक्रमण कर सके। गीता के इस अमर सन्देश के कारण न केवल सम्पूर्ण भारत किन्तु असंख्य वैदेशिक जन भी इस दिन भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं। नास्तिकों के शब्दों में भी

वे योगीराज, नीतिज्ञ-शिरोमणि तथा एक उच्च दार्शनिक महा-पुरुष कहे जाते हैं। मुसलमानों में रसखान, मीर, पीरजादा, ताजबेगम आदि के ऊपर तो कृष्ण-भक्ति का वह रंग चढ़ा कि जीवन भर न उतरा। ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न लीला-पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की जयन्ती को परम उत्साह से मनाना हमारा पवित्र कर्त्तव्य है।

गणेश-चतुर्थी

गणों के अध्यक्ष, विघ्नेश्वर विघ्न-विनायक आदि शतशः नामों से संसार में विख्यात भगवान् गणपति के नाम और प्रभाव से संसार का कौन व्यक्ति अपरिचित है? गणेश चतुर्थी इन्हीं विश्व-विश्रुत भगवान् गणेश की आराधना का दिन है। 'गणेश तत्त्व' के विषय में हम इसी ग्रन्थ में अन्यत्र तथा 'श्री गणेश' नामक पुस्तक में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं जिसकी पुनरावृत्ति करना यहाँ व्यर्थ ही है, किन्तु संक्षेप में इतना ही कहना चाहेंगे कि किसी भी कार्य का श्री गणेश करने से पहिले यदि आप गणेश जो की मूर्ति को हृदयंगम कर लें, यदि उसके रहस्य को समझकर निरन्तर ध्यान में बनायें रखें तो निश्चय ही संसार क्षेत्र में आपको कभी असफलता का मुँह न देखना पड़ेगा।

चतुर्थी को ही गणेश व्रत क्यों?

ज्योतिष-शास्त्र में जैसे सूर्य आदि वारों का सूर्य आदि ग्रहों के पिण्डों के साथ विशेष सम्बन्ध स्थिर किया गया है और इसी आशय से उक्त वारों के नाम ही वैसे रख छोड़े हैं, इसी प्रकार प्रतिपदा आदि पन्द्रहों तिथियों का भी

भगवान् की अंगभूत किसी-न-किसी दैवी शक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध है, यह तथ्य तिथियों के अधिष्ठाता के रूप में प्रकट किया गया है। यथा—

तिथीशा वह्निकौ गौरी गणेशोऽहिर्गुहो रविः।
वसुदुर्गान्तको विश्वे हरिः कामः शिवः शशी।।

अर्थात्—प्रतिपत् आदि तिथियों के अधिष्ठाता क्रमशः ये हैं—(१) अग्नि, (२) ब्रह्मा, (३) गौरी, (४) गणेश, (५) सर्प, (६) कार्तिकेय, (७) सूर्य, (८) वसु, (९) दुर्गा, (१०) काल, (११) विश्वेदेवा, (१२) विष्णु, (१३) कामदेव, (१४) शिव और (१५) चन्द्रमा (तथा अमावस्या के पितर)

उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध है कि चतुर्थी तिथि का अधिष्ठाता भगवान् का सर्वविघ्न हरण करने वाला 'गणेश' नामक सगुण विग्रह है। जिसका सीधा तात्पर्य यह है कि चतुर्थी तिथि को चन्द्र और सूर्य का अन्तर उस कक्षा पर अवस्थित होता है, जिस दिन कि मानव स्वभावतः कुछ ऐसे कृत्य कर सकता है जो कि आगे चलकर उसके जीवन उद्देश्य में बाधक-रूपेण आगे आवें। ऐसी स्थिति में इस सम्भावित उपप्लव की रोकथाम के लिए चतुर्थी के दिन व्रत, पूजन आदि धर्मकृत्यों के द्वारा विघ्न-विनाशक भगवान् गणेश की उपासना करनी चाहिए, जिससे इस दिन अन्तःकरण अधिक संयत रहे और वैसा अवसर न आए।

सर्वं कालकृतं मन्ये

यहां यह समझ लेना चाहिये कि सूर्य ब्रह्माण्ड की प्राण-शक्ति का केन्द्र है और चन्द्रमा, ब्रह्माण्ड की मनःशक्ति का

सर्वस्व है। उक्त दोनों भौतिक पिण्डों की विभिन्न कक्षाओं की अवस्थिति ही तिथि शब्द वाच्य है, जैसे अमावस्या को चन्द्रपिण्ड सूर्य कक्षा में विलीन रहता है और पौर्णिमा को ये दोनों पिण्ड क्षितिज पर ठीक आमने-सामने उदित दीखते हुवे समान रेखा पर अवस्थित रहते हैं। दोनों पक्षों की अष्टमी तिथियों को अर्ध-सम रेखा पर अवस्थित रहते हैं। इस तरह सूर्य चन्द्र का आन्तरिक तारतम्य ही तिथि है और स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् पर तिथिजन्य प्रभाव का सन्निपात ही तत्तत् तिथियों के अधिष्ठाताओं का उन पर आधिपत्य है। जबकि स्थूल जगत् पर भी उक्त पिण्डों की अवस्थिति का प्रभाव तत्तत् ऋतुओं के रूप में, वर्षा, अन्धड़, भूकम्प, ज्वार-भाटा और दिग्दाह के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है फिर सूक्ष्म जगत् पर उनकी अवस्थिति के प्रभाव को सशंक दृष्टि से देखना पदार्थ-विद्या से सर्वथा शून्य जन्तुओं का ही काम है।

हिन्दुशास्त्रों में सृष्टि-प्रलय जैसे महान् कार्यों से लेकर तुच्छातितुच्छ कार्य समूह के प्रति भी जहां अन्यान्य द्रव्यों को कारण स्वीकार किया गया है वहाँ 'काल' भी प्रधान कारण माना गया है। मूर्ख भले ही 'काल' को अपदार्थ और निष्क्रिय समझकर उसकी कारणता में सन्देह करें परन्तु वास्तव में काल ही—'अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते और विनश्यति—इन षड्विध विकारों का प्रधान कारण है।

काल का मुख्य उद्भावक सूर्य पिण्ड है और उसके सहकारी उद्भावक अन्यान्य ग्रह पिण्ड हैं, जिनमें पृथ्वी के अति

निकटवर्ती होने के कारण चन्द्रपिण्ड का पार्थिव काल निर्माण में सर्वोपरि सहयोग है। इसलिए हिन्दुवों के सभी सकाम व्रत चान्द्र तिथियों से सम्बद्ध है।

चतुर्थी को चन्द्रदर्शन निषिद्ध क्यों ?

प्रायः सभी शुक्ल चतुर्थियों को और खासकर भाद्रपद महीने की शुक्ला चतुर्थी को चन्द्रदर्शन निषिद्ध माना जाता है। शास्त्रों में और लोक में भी यह प्रबल प्रवाद प्रचलित है कि इस दिन चन्द्रदर्शन करने वाले व्यक्ति को मिथ्या-कलंक लगता है, एतदर्थ इतिहास ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध है कि चतुर्थी के चन्द्र-दर्शन से श्रीकृष्ण भगवान् पर सत्राजित् द्वारा स्यमन्तक मणि को हथियाने का मिथ्या-कलंक लगा दिया गया था—यह सब क्यों ?

अनुभव-सिद्ध लोकोक्ति है कि 'न निर्मूला जनश्रुतिः' अर्थात् अनेक व्यक्ति एक स्वर से जो हल्ला मचाते हैं वह सर्वथा और सर्वदा निर्मूल नहीं होता, किन्तु उसकी तह में कोई न कोई ऐसा हेतु अवश्य होता है कि जिससे भ्रान्त होकर सर्व-साधारण को तिल का ताड़ बना देने का अवसर मिलता है। भगवान् कृष्ण की मिथ्या-कलंक वाली घटना को ही ले लीजिए। वह यों है कि–द्वारिकावासी सत्राजित् को सूर्य से एक लोकोत्तर मणि मिली। जब उसे पहिन कर वह द्वारिका में प्रविष्ट हुवा तो उसकी चमक दमक से सूर्य सा देदीप्यमान दीख पड़ा। भगवान् ने भी उस मणि को अन्यान्य द्वारिकावासियों की भांति बड़ी तन्मयता से देखा और उसकी अद्वितीयता की केवल दाद ही नहीं दी बल्कि विनोद में यहां तक कह डाला कि—

"भई ! यह मरिण तो मुझे बहुत ही पसन्द है।" बात समाप्त हुई। समय पाकर जब सत्राजित् का भाई प्रसेन उसे पहिन कर ग्रामान्तर गया तो सिंह ने उसे मार डाला, उसके वापिस न लौटने पर सत्राजित् ने जब अन्वेषण किया तो प्रसेन का कुछ भी पता न चल सका। बस ! सत्राजित् ने भगवान् के उस दिन के विनोदात्मक—'भई ! यह मरिण तो मुझे बहुत ही पसन्द है'—इस वाक्य को इस अनर्थ का मूल कारण निश्चित कर लिया। यदि भगवान् उस दिन इस प्रकार का व्यंग्यात्मक विनोद न करते तो शायद सत्राजित् को संदेहोत्पादन का अवसर न मिलता। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की कोई छोटी सी भूल भी मिथ्या कलंक कल्पना का आधार बन जाती है। मनुष्य ऐसी भूल क्यों कर बैठता है ? इसका कारण एकमात्र काल है। दर्शन शास्त्रों में कोई कार्य अकारण उत्पन्न नहीं होता। जब अन्य कोई प्रत्यक्ष कारण न दीख पड़े तो लोक में आज भी यही कहा जाता है कि—'भई ! वक्त की बात है, न चाहते हुए भी ऐसा हो गया।' सो यह काल कब कैसा होता है। हमारे पूर्वजों ने इस तथ्य का भी पता लगाया और उस की आधार भूमिका में ग्रह पिण्डों की गति विगति से होने वाले वातावरण को हेतु पाया, मुसलमान लोग इसे 'शायत' कहते हैं और पाश्चात्य शिक्षा दीक्षित लोग 'Mood' नाम से स्मरण करते हैं। जब जैसी 'शायत' हो या जब कोई जैसे 'मूड' में हो तब वैसी ही बात बन जाती है और वह व्यक्ति वैसा ही कर डालता है। अहिन्दु लोग 'शायत' और 'मूड' के तादृश होने का कोई हेतु नहीं जानते वे इसे अहैतुक ही समझते हैं, परन्तु भार-

तीय ऋषियों ने इसका वैज्ञानिक हेतु भी ढूंढ निकाला है। कौन वार, कौन तिथि और कौन नक्षत्र, कैसी 'शायत' होगी और कैसा 'मूड' बन जाने की सम्भावना हो सकती है—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को हिन्दु ग्रन्थों में 'योग' और 'करण' का नाम दिया है। यदि आप पञ्चांग खोलकर देखेंगे तो उसमें प्रतिदिन तिथि, वार और नक्षत्र इन तीनों के उल्लेख के बाद 'योग' और 'करण' नामक दो अन्य तत्त्वों का भी उल्लेख मिलेगा। वस्तुतः उक्त पांच तत्त्वों का निरूपक होने के कारण ही तो तिथिपत्र का अन्वितार्थ नाम 'पञ्चांग' पड़ गया है।

ये 'योग' और 'करण' क्या हैं ? यद्यपि यह एक लम्बी कथा है जो कि एक स्वतन्त्र पुस्तक निर्माण की अपेक्षा रखती है तथापि पाठक यहाँ इतना ही समझ कर सन्तोष करलें कि किस दिन, किस समय तक, कौन कृत्य करना दुष्कर या सुकर हो सकता है। तादृश काल का अपर नाम ही योग है, कौन योग कैसा है यह तत्त्व उन योगों के नाम से ही अनुमित हो सकता है। जैसे 'विष्कम्भ' रोकथाम के लिए उपयुक्तकाल, 'प्रीति' मेजजाल के लिए उपयुक्त, 'आयुष्मान्' स्वास्थ्य-बर्द्धक उपचार के लिए उपयुक्त, इसी प्रकार सौभाग्य, शोभन आदि-आदि अन्यान्य योग समझ लेने चाहियें।

'करण' शब्द का अक्षरार्थ ही 'अतीव उपयुक्त सिद्ध करने वाला अवसर' है। इसीलिए व्याकरण शास्त्र में इसे केवल साधक मात्र न कहकर '**साधकतमं करणम्**' के अनुसार 'साधक-तम' कहा है। 'तमप्' प्रत्यय अत्यन्त प्राशस्त्य द्योतन के लिए ही प्रयुक्त होता है, योग प्रक्रिया के ग्रन्थों में 'करण' शब्द

सर्वाधिक कार्य साधक होनेके कारण इन्द्रियोंका अपरपर्याय माना जाता है, सो अमुक कार्य की सिद्धि में कौन काल साधक या बाधक है यह तत्त्व प्रकट करना ही 'करण' का तात्पर्य है। करणों के नाम बड़े विचित्र हैं। बड़े से बड़े ज्योतिषी भी यह जानने में अकृतकार्य हैं कि–'बव, बालव, कौलव' आदि शब्दों के अक्षरार्थ क्या हैं ?—वास्तव में ये संग्राहक नाम हैं जो बड़े-बड़े शब्दों के केवल आदिम अक्षर लेकर निर्माण किए गए हैं जैसे —'बव' का तात्पर्य है 'बल-वर्द्धक'। 'बालव' का तात्पर्य है 'वार्द्धक्य-लघुता-वर्धक'। 'कौलव' का तात्पर्य है 'कौशल्य-लघुता-वर्द्धक इस प्रकार उक्त करणों के मूल शब्दोंके अक्षरानुसारी अर्थ समझ कर कौन काल किस प्रकार के कार्य में साधक किंवा बाधक है यह निर्णय करना चाहिए। जैसे 'बव' करण के काल में स्वास्थ्य वर्धक उपचार अत्यधिक फलदायक सिद्ध हो सकते हैं। 'बालव' करण में बुद्धि-प्रधान हलके-फुलके कार्य सुतरां सिद्ध हो सकते हैं, 'कौलव' करण में चातुर्यप्रधान छोटे काम कम परिश्रम से सिद्ध किये जा सकते हैं इत्यादि २।

बात बहुत बढ़ गई, परन्तु उपयुक्त होने के कारण हमने लेखनी को रोकना उचित नहीं समझा। अब पुनः प्रकृत विषय पर आ जाइये ! हाँ ! तो चतुर्थी को चन्द्रदर्शन के निषेध का वैज्ञानिक कारण यह है कि सूर्य चन्द्र गणना के अनुसार उक्त पिण्ड इस दिन ऐसी त्रिभुज कक्षा में अवस्थित रहते हैं कि जिस से प्राणशक्ति का वैषम्य रहता है। हिन्दु ज्योतिष गणना तो सूर्य-भ्रमण पर आधारित है ही, परन्तु पाश्चात्य ज्योतिर्विद भी अब सूर्यका अपने ही अक्ष पर अथवा अनिश्चित दिशा में अनवरत भ्रमण मानने लगे हैं, और यह तथ्य भी स्वीकार करते हैं कि सूर्य पिण्ड चारों ओर से केवल प्राण शक्ति वर्षाने वाला ही

नहीं हैं अपितु जहाँ तहाँ उसमें मारक किरणों की भी सत्ता है। वर्तमान वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि सूर्य में जो काले धब्बे दीख पड़ते हैं ये वस्तुतः कार्बन-गैस पुञ्ज से ही वैसे दीख पड़ते हैं। इसी आधार पर परमाणु बम और उद्जन-बम बन जाने पर अब ये कालदूत सूर्य की मृत्यु किरण के अनुसन्धान में व्यापृत हैं। जो हो, हमें पाठकों को केवल यह बतलाना है कि हमारी पृथ्वी की ओर सूर्य का एक पार्श्व ही सदैव नहीं रहता, भ्रमण के कारण वह प्रतिक्षण बदलता रहता है यही दशा चन्द्र पिण्ड की है। सो ऋषियों ने समाधि में देखा कि चन्द्रमा की चौथी कला का विकास प्रायः सब चतुर्थियों को और खासकर भाद्रपद मास की शुक्ल चतुर्थी को सूर्य की मृत्यु किरण वाले भाग से प्रकाशित होता है। जिससे पार्थिव जगत् में चन्द्र से अनुप्राणित मन वाले सभी प्राणी केन्द्रसत्ता के अनुरूप ही प्रभावित होते हैं। अतः इस दिन सूर्य की मृत्युकिरण में प्रकाशित चन्द्रमा की चौथी कला को न देखना चाहिए क्योंकि इसके देखने से चन्द्र-सम्भूत मनः भी विकृत विचार-तरंगों से तरंगित हो जाएगा, और चन्द्रदर्शन करने वाला मनस्वी उक्त विकृत तरंग से प्रभावित हुआ ऐसा हास्य विनोद व्यंग्य कर बैठेगा जो कि दूसरों के लिए अन्यथा अर्थ लगाकर भ्रमोत्पादन कर सकने का आधार बन जाएगा और वे उस आधार पर तिल का ताड़ बनाकर उस व्यक्ति को मिथ्या-लांछित कर सकने का अवसर पा जाएँगे।

चतुर्थी चन्द्रदर्शन निषेध पर पुराणों की वैज्ञानिक कथाओं का सार

पुराणों में उक्त विज्ञानमय गम्भीर रहस्यों को सार्वजनीन

बनाने के लिये चतुर्थी को चन्द्रदर्शन निषेध के सम्बन्ध में बड़ी ही सरस, सरल तथा रोचक कथाएं लिखी गई हैं जिनको सुनकर अबोध बालक और अपठित वर्ग भी चन्द्र दर्शन को अकरणीय समझकर तज्जन्य दुष्प्रभाव से बच जाता है यथा—

जब श्री पार्वती माता ने शिव के परोक्ष में अपनी मैल से गणपति को बना डाला तो वर्द्धापन देने के निमित्त आए हुए सब देवता गणेश के सौन्दर्य को देखकर चकित रह गये। देवगण में शनि महाराज भी थे परन्तु वे नीचे की ओर मुख किए बैठे रहे। पार्वती जी को शनि की यह चेष्टा अच्छी नहीं लगी। सोचा—'सभी देवगण मेरे पुत्र को देखकर बलैयां ले रहे हैं परन्तु यह मनहूस एक बार भी इधर नहीं ताकता, नीचे को मुँह लटकाए अनमना-सा बैठा है। अवश्य ही यह अपने काले विकराल भौंडे रूप के कारण मेरे सुन्दर पुत्र से ईर्ष्या करता है।' जब पार्वती जी ने फटकार बतलाई तो शनिने कहा—मातः! मैं तो तुम्हारे नवजातशिशु की कल्याण कामना से नीचे आंखें किए बैठा हूँ, यदि मैं ताकूंगा तो मेरी दृष्टि के प्रभाव से महा अनर्थ हो जाएगा, यदि आपको मेरी यह चेष्टा पसन्द नहीं तो मैं अभी गणेश जी को अन्य देवों की भांति देख लेता हूँ। बस ! ज्योंही शनि की दृष्टि पड़ी कि देव-गण के विदा होते ही शंकर भगवान् आ पहुँचे। स्नानरत पार्वती की आज्ञा से पुरुष प्रवेश की रोकथाम के लिये द्वार पर खड़े गणेश ने शिव को अन्दर आने से रोका। शिव ने इस अभद्रता पर क्रुद्ध हो अपने त्रिशूलसे गणेश का मस्तक ही काट डाला। अन्दर आने पर जब सब वृत्त विदित हुवा तो पार्वती के शोक को दूर करने के लिये दक्षिण दिशा को पांव करके संयोगवश सोए हुए उपलब्ध प्रथम प्राणी

गज के मस्तक को ही गणेश जी से संयुक्त किया गया। इस तरह श्री गणेश जी 'गजवदन' हो गये। वाल्यकालीन प्रथम सौंदर्य जाता रहा।

जब नारद जी के उपदेश से श्रीमन्नारायण के परिक्रमण में श्री गणेश जी को प्राथम्य प्राप्त हुवा तो परिणाम-स्वरूप वे सब देवताओं में अग्रपूज्य-पद पर अभिषिक्त किये गए। तब सभी देवों ने नतमस्तक होकर उनकी स्तुति की। स्तुति पाठकों में परम सुन्दर चन्द्रमा भी थे परन्तु वे गणेश जी के 'गजवदनत्व' पर मन ही मन मुस्कराते थे। अन्तर्यामी गणेश जी उनके स्वसौन्दर्याभिमान को और अपने उपहास को ताड़ गए। रुष्ट होकर शाप दिया 'आज से तुम काले कलौटे हो जाओ।' चन्द्रमा तत्काल वैसा ही हो गया, परन्तु उसने अपने अपराध की क्षमा मांगी और शापानुग्रह के लिये प्रार्थना की। 'प्रणिपातप्रतिकारः संरम्भो हि महात्मनाम्'! गणेश जी ने सन्तुष्ट होकर कहा कि आज से तुम सूर्य से क्रमशः प्रकाश पाकर महीने में एक दिन पूर्ण हुवा करोगे, परन्तु स्मरण रहे भविष्य में तुम्हारी भान्ति कोई प्राणी अपने सौंदर्य के अभिमान से दूसरों का उपहास करने का प्रमाद न करे एतदर्थं हम आजका दिन तुम्हारे दण्ड का स्मारक दिन नियत करते हैं, तदनुसार आज भाद्र शुक्ल चतुर्थी है अतः सभी महीनों की चतुर्थी को और खास करके इस चतुर्थी को कोई मनुष्य तुम्हारा दर्शन न करेगा। भूल से भी तुम इस दिन जिसे दोख पड़ोगे, वह दर्शक भी तुम्हारी ही भांति मिथ्या कलंक का पात्र होगा। इस कथा का आमूल-चूल वैज्ञानिक विश्लेषण इस

ग्रन्थ का विषय नहीं है वह तो हमारे 'पुराण दिग्दर्शन' ग्रन्थ के परिवर्द्धित संस्करण में अविलम्ब मुद्रित होगा, परन्तु यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक होगा कि जैसे सूर्य प्राणशक्ति=आक्सि-जन तत्त्व का केन्द्र है इसी प्रकार सूर्य से समुद्भूत 'शनि-पिण्ड' मारक-तत्त्व कारबन ऐक्साईड (Carbon Exide) का भंडार है। इसीलिये उज्ज्वल अग्नि से, काले धूम की भांति वह भास्वर भास्कर का 'नीलाञ्जनसमप्रभः' पुत्र कहा जाता है। अब भी जिस अक्ष से तीसरे और दशवें कक्ष में वह अवस्थित होता है उसके दृष्टि प्रभाव से वह क्षेत्र अनेक भौतिक उत्पातों का पात्र बन जाता है। चन्द्र सूर्य से प्रकाश पाता है—यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। सब विघ्न मन के उद्रेक से ही उत्पन्न होते हैं और वही इनका शमन कर सकने वाला भी स्वयं है। इसीलिये मनोमय गणेश के 'विघ्नेश्वर' और 'विघ्न विनाशक' दोनों ही रूप है। मन जड़ प्रकृति से समुद्भूत है परन्तु उस का प्रमुख भाग चेतन पुरुष से भी अनुप्राणित है। इसलिये प्रकृति जहाँ जड़ है और पुरुष चेतन है वहाँ मनः 'उभयात्मक' है, यही इसके मल समुद्भूत और गज वदनत्व का वैज्ञानिक अर्थ है।

ईश्वर के अंशभूत सब प्राणी अंशी को भूल कर जब उस को ही उपहासास्पद समझने लगें तो इसका परिणाम पतन की पराकाष्ठा है। चन्द्र विराट् का मन है, और मनोमय गणेश विराट् के ही अग्रपूज्य प्रतिनिधि हैं। अंश की सत्ता अंशी पर निर्भर करती है। सो चन्द्रपिण्ड सब पिण्डों से विलक्षण काला-कलौटा और सूर्य द्वारा प्रकाश पाकर क्रमशः पूर्ण होने

वाला क्यों बना ? इस प्रश्न का उत्तर केवल 'नियति-नियोग' या 'प्रकृति का अभिशाप' ही कहा जा सकता है।

आदि सृष्टि में जिस दिन चन्द्रपिण्ड के तादृश होने की घटना घटी थी, उस दिन भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी का ही दिन होना अनुमित है। क्योंकि भाद्रपद में ही सूर्य अपने स्व-गृह सिंह राशि पर अवस्थित होता है। इसीलिये भादों की धूप गम्भीर मानी जाती है। और भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को ही चित्रा या स्वाति नक्षत्र का प्रायः योग पड़ता है, तदनुसार इस दिन गई वस्तु का पुनः लौटना सर्वथा असम्भव है। ज्योतिष शास्त्र का सिद्धान्त है कि—

चित्रास्वातिगता मेघाश्चित्रास्वातिगता नराः ।
अद्यापि न निवर्तन्ते दक्षिणायामिनीरिव ॥

अर्थात्—चित्रा और स्वाति नक्षत्र में विगत मेघ तथा क्त नक्षत्रों में प्रस्थान करने वाले व्यक्ति पुनः लौट कर नहीं आते, जैसे दक्षिण दिशा में गई हुई रात वापिस नहीं लौटती। इसलिये स्वगृहस्थ बलवान् सूर्य के आकर्षण विकर्षण के तारतम्य से चित्रा स्वाति नक्षत्रगत चन्द्र (जो कि भाद्र शुक्ल चतुर्थी को पड़ता है) नियति-नियोग से अभिशप्त हुवा है। इस प्रधान हेतु से भी इस दिन विपन्न चन्द्र के दर्शन का निषेध अभिमत है।

विजया-दशमी

विजया-दशमी विजयिनी हिन्दु जाति का महान् राष्ट्रीय पर्व है। आज से नौ लाख वर्ष पूर्व आज के ही दिन मर्यादा

पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी ने नौ दिन भगवती की आराधना से शक्तिसंचय करके अत्याचारी रावण के विरुद्ध अभियान किया था। संसार जानता है कि इस युद्ध में राम की विजय हुई और रावण का सर्वनाश हो गया। राम की यह विजय सत्य की असत्य पर, धर्म एवं न्याय की अधर्म तथा अन्याय पर विजय थी, जिसे इतने सुदीर्घ काल के अनन्तर भी हिन्दु जाति रामलीला के रूप में सर्वदा दोहराती है और रावणादि के पुतले जलाकर संसार को सिखाती है कि अन्यायी—फिर चाहे वह कितना ही प्रबल क्यों न हो—एक दिन इसी प्रकार नष्ट हो जाता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां तारकोदये।
स कालो विजयो ज्ञेयः सर्वकार्यार्थसिद्धये ॥

(ज्योतिर्निबन्ध)

(ख) श्रवणर्क्षे तु पूर्णायां काकुत्स्थः प्रस्थितो यतः।
उल्लंघयेयुः सीमान्तं तद्दिनर्क्षे ततो नराः ॥

अर्थात् (क)—आश्विन शुक्ला दशमी को तारकोदय के समय 'विजय' नामक मुहूर्त होता है जो कि सम्पूर्ण कार्यों में सिद्धिप्रद होता है। (ख) क्योंकि भगवान् रामचन्द्र जी ने श्रवण नक्षत्र से युक्त पूर्णातिथि अर्थात् दशमी को (रावण विजय के लिये) प्रस्थान किया था अतः उस दिन सब मनुष्यों को प्रगति के लिए सीमा का उल्लंघन करना चाहिए।

वैज्ञानिक-विवेचन

विजयादशमी के पर्व पर जीवन के सभी पक्षों को पर्याप्त पोषण मिलता है। उसमें धार्मिकता भी है सामाजिकता भी, कुछ बुद्धिगम्य करने लायक तात्त्विक मर्म भी और मनोविनोद के अनुकूल साधन भी। धर्म और राजनीति, कला एवं संस्कृति का जैसा अद्भुत संमिश्रण इस पर्व में पाया जाता है वैसा अन्यत्र नहीं। प्रातःकाल उठते ही अपने समीपस्थ किसी नदी, तीर्थ या पवित्र जलाशय में स्नान कर भगवती दश-हरा (दश विध पापों का हरण करने वाली) अथवा अपराजिता का श्रद्धापूर्वक पूजन करने का शास्त्रीय नियम हमारे जीवन के मुख्य अंग 'धर्म' अथवा आत्मा से सम्बन्ध रखता है। इस अवसर पर सभी पारिवारिक-जन एकत्र होते हैं। अतः दशहरा पारिवारिक सम्मेलन का रूप-सा ही बन जाता है। पूजन के अनन्तर भगवत्प्रसादभूत विविध प्रकार के सुस्वादु व्यंजन मिष्टान्नादि मनुष्य के शारीरिक पक्ष को उल्लसित करते हैं। साधारण दैनिक आहारसे ऊबा हुआ हृदय इनसे आप्यायित हो पुनः ताजगी को धारण कर लेता है। सायंकाल रामलीला या रावण-दहन का पुरोगम हमारी मानसिक खुराक है। इसे तमाशे के रूप में देखकर बालक जहां मनोविनोद प्राप्त करते हैं वहां हम अपने मन को—रामादिवत्प्रवर्तयितव्यम् न रावणादिवत्—जैसे ऊँचे पाठ की ओर ले जा सकते हैं। नौ लाख वर्ष पूर्व मरे हुए रावण को प्रतिवर्ष जलते देखकर हमारे मन में यह बात दृढ़ हो जाती है कि अन्यायी और दुराचारी शासकों का न केवल अन्त ही दुःखद होता है किन्तु आगे आने वाली पीढ़ियां भी उनके कुकृत्य को क्षमा नहीं करतीं।

सीमोल्लंघन का शास्त्रीय आदेश प्रगति का प्रतीक है। यह मानव-मात्र को प्रेरणा देता है कि उसे एक सीमित परिधि में ही सन्तुष्ट न रहकर सर्वदा आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। और तब तक बढ़ते ही रहना चाहिए जब तक जीवन में 'दशहरा' आता रहे। इस पर्व के दिन जिस वृक्ष का पूजन शास्त्रकारों ने बताया है, वह 'शमी वृक्ष' दृढ़ता और तेजस्विता का प्रतीक है। शमी में अन्य वृक्षों की अपेक्षा अग्नि प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहती है तभी तो यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के मंथन दण्ड तथा अरणी आदि उपकरण इस वृक्ष की लकड़ी से तैयार किये जाते हैं। 'हम भी शमी का भांति दृढ़ और तेजोमय हों' इसी भावना से इस दिन शमी का पूजन किया जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विजया दशमी विजयिनी हिन्दु जाति का वह विजय पर्व है जिसके सम्बल से वह पिछले हजारों और लाखों वर्षों से अपनी संस्कृति एवं अस्तित्व को कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अक्षुण्ण रख सकी है।

धन्वन्तरि-त्रयोदशी

पीयूषपाणि भगवान् धन्वन्तरि के नाम से कौन साक्षर अपरिचित होगा ? संसार के रोगार्त प्राणियों के लिए अमृत-कलश लिए हुए समुद्र-मन्थन से उत्पन्न होने वाले धन्वन्तरि ने संसार में आयुर्वेद-विद्या का प्रसार कर जो महान् उपकार किया है वह किसी से छिपा नहीं है। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी उन्हीं भगवान् का जयन्ती दिन है, जिसे साधारण जनता 'धनतेरस' के नाम से खूब जानती है। अपनी कठिन तपश्चर्या, अविरत साधना और गम्भीर अन्वेषणपूर्ण अनुभूति से भरा आयुर्वेद-

सदृश महान् ज्ञान प्रदान करने वाले इस आचार्य के प्रति हिन्दु जाति कितनी ऋणी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस दिन जहाँ हमें उस महान् आत्मा के गुणानुवाद गाकर उसके ऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए वहाँ साथ-ही साथ धन्वन्तरि द्वारा प्रोक्त यह रहस्य भी गांठ बांध लेना चाहिए कि—

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ।

अर्थात्—जो पुरुष जिस देश में उत्पन्न हुआ है उस देश की भूमि में उत्पन्न जड़ी बूटियों से निर्मित औषध ही उसके लिए वस्तुतः लाभकारी हो सकती है।

अभी तक धन्वन्तरि त्रयोदशी का प्रचार मुख्यतया वैद्य-समुदाय में ही है, किन्तु आज जब कि रोग को समूल नाश करने वाले आयुर्वेद के उपचार की उपेक्षा कर लोग स्वल्प-कालिक लाभप्रद किन्तु परिणामे-दुःखद पाश्चात्य-चिकित्सा (Alopathy) की तरफ बुरी तरह आकर्षित होते जा रहे हैं तब आवश्यकता इस बात की है कि भगवान् धन्वन्तरि की यह जयन्ती आम जनता में खूब धूमधाम से मनाई जाए और जनता को देशी औषधियों के प्रति प्रेम उत्पन्न करने की प्रेरणा की जाए।

एक समय था जब पराधीनता के दिनों में विलायती माल के बहिष्कार की हवा चल रही थी और यह समझा गया था कि विलायती वस्तु को प्रोत्साहन देना देशद्रोह है और देश के धन को विदेश भेजना है। किन्तु आज उसके विपरीत न केवल जनता, किन्तु राष्ट्रीय सरकार भी स्वदेशीय आयुर्वेद प्रणाली

को प्रोत्साहन न देकर पाश्चात्य-चिकित्सा को ही देश के लिये श्रेयस्कर समझे यह क्या कम शोक की बात है ? अतः धन्वन्तरि जयन्ती पर सभी को प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हम आयु-र्वैदिक-चिकित्सा पद्धति की उन्नति में अधिक-से-अधिक सहयोग देंगे ।

इस दिन प्रदोष काल में यम के लिए दीपदान एवं नैवेद्य समर्पित करने से अकाल मृत्यु से रक्षा होती है। शास्त्रों का ऐसा वचन सर्वांश में सत्य ही है। मानव-जीवन को अकाल मृत्यु से बचाने के लिये दो ही वस्तु तो आवश्यक हैं। प्रकाश=ज्ञान और नैवेद्य=समुचित खुराक । यदि यह दोनों ही वस्तु आप खुले हाथों दान दें तो न केवल आपकी किन्तु सभी देशवासियों की अकाल मृत्यु से निःसन्देह रक्षा होगी ही ।

नरक-चतुर्दशी

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को नरक चतुर्दशी या छोटी दिवाली के नाम से पुकारा जाता है। आज के दिन भगवान् कृष्ण ने नरकासुर नामक अत्याचारी शासक का वध करके संसार को भीतिमुक्त किया था, इस विजय की स्मृति में यह पर्व मनाया जाता है, ऐसा पुराणों में उल्लेख मिलता है।

इस दिन प्रातःकाल समीपस्थ किसी भी नदी सरोवर के तट पर तैलाभ्यङ्गपूर्वक अपामार्गादि से अभिमन्त्रित जल में स्नान करना चाहिए। तैलाभ्यङ्ग का यह शास्त्रीय आदेश सर्वथा सहैतुक है। दीपावली के अवसर पर घरों को स्वच्छ किया जाता है; उन्हें सफेदी से पोता जाता है, झाड़ा-संवारा जाता है

इससे शरीर का मैला हो जाना, उस पर कलो आदि के छींटे पड़कर फट जाना तथा थकावट आ जाना स्वाभाविक ही है। इन सब उपद्रवों के उपशमनार्थं तथा शरीर में पुनः नवीन स्फूर्ति भरने के लिए तैलाभ्यंग कितना आवश्यक है इसे प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह समझ सकता है।

दीपावली

भारत के सम्पूर्ण त्यौहारों में दीपावली का अपना विशेष स्थान है। इस पुनीत पर्व के साथ हमारा युग-युग का वह इतिहास ओतप्रोत है जिसकी कि आज के स्वतन्त्र वातावरण में हमें भारी आवश्यकता है। यही कारण है कि जिस उल्लास और उत्साह के साथ समस्त भारत में यह त्योहार मनाया जाता है वह अन्य पर्वों पर कम ही दिखलाई पड़ता है। आप किसी भी प्रान्त में चले जाइए इस अवसर पर सर्वत्र ही आपको नव उत्साह और एक नई उमंग के दर्शन होंगे। घरों में सप्ताहों पूर्व इस समारोह की तैयारी होती है और अमा की वह अन्धकारमयी रजनी असंख्य दीपों की उज्ज्वल ज्योति से जगमगा उठती है। स्त्री, बालक, वृद्ध, युवा, सभी आनन्द-विभोर हो वरदायिनी माँ लक्ष्मी की उपासना करते हैं और उससे अपने प्रदीपालोकित गृह में पधारने की अभ्यर्थना करते हैं। नये-नये वस्त्र तथा बर्तन खरीदे जाते हैं। भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में दीपावली का यही सामान्य रूप उपलब्ध होता है। पञ्जाबादि प्रदेशों में इस अवसर पर अपने-अपने भवनों पर पताकायें लहराने की प्रथा भी है।

इन सब की पृष्ठभूमि क्या है, इन प्रथाओं का मूल कहाँ

से आरम्भ होता है और दीपावली का वर्तमान रूप कब से प्रारम्भ हुआ इस विषय में इदमित्थम् कुछ भी कहना असम्भव है। ऐतिहासिक पर्यालोचन बताता है कि कृषि-प्रधान भारत में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व इस उत्सव का प्रचलन ऋतुपर्व के रूप में हुआ था। चूँकि इस समय तक शारदी फसल पककर लोगों के घरों में आ जाती थी, अन्न-भण्डार धन-धान्य से भर जाते थे, रूई कपास के आ जाने से लोगों को वर्ष भर के लिए वस्त्रों की चिन्ता से छुटकारा मिल जाता था ; अतः जनता के हृदय का उल्लास दीपमालिका जैसे पर्व त्योहार के रूप में फूट पड़ना स्वाभाविक ही था, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनायें दीपावली से जुड़ती गईं ; फलतः पुराणेतिहास ग्रन्थों में हमें दीपावली के सम्बन्ध में अनेक आख्यान मिलते हैं।

स्कन्द, पद्म और भविष्यपुराण में इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मान्यतायें हैं। कहीं महाराज पृथु द्वारा दीन-हीन भारत को पृथ्वी दोहन करके—अन्न धनादि प्राप्ति के साधनों के नवीकरण द्वारा उत्पादन शक्ति में विशेष वृद्धि करके—समृद्ध तथा सुखी बना देने पर उनकी इस अपूर्व सफलता के उपलक्ष्य में दीपावली का प्रादुर्भूत होना लिखा है तो कहीं आज के दिन समुद्र मन्थन से भगवती लक्ष्मी के जन्म होने और इस की प्रसन्नता के उपलक्ष्य में लोगों द्वारा इस उत्सव को मनाये जाने का उल्लेख है। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को क्रूर अत्याचारी शासक नरकासुर का वध करके उसके बन्दीगृह से अनेक राजाओं और १६००० राज-कन्याओं का उद्धार करने पर भगवान् कृष्ण का अभिनन्दन करने के लिए आर्तिमुक्त

जनता ने चतुर्दशी से अगले दिन अमावस्या को दीपमालिका मनाई थी—ऐसी भी एक पौराणिक गाथा है। महाभारत के आदि पर्व में पांडवों के वनसे लौटने पर प्रजाजनों द्वारा उनके स्वागत में नगरों को सजाने तथा उत्सव मनाने का जो उल्लेख है, कुछ लोग इसका सम्बन्ध भी दीपावली से जोड़ते हैं जबकि कुछ जनश्रुतियों के अनुसार सम्राट् विक्रमादित्य के विजयोपलक्ष्य में लोगों द्वारा दोपमालायें प्रकाशित करने का प्रवाद भी प्रचलित है। भगवान् राम के लंका विजयोपरान्त अयोध्या में अभिषिक्त हो जाने पर जब दीपावली पर्व आया होगा तो निश्चय ही सर्व-सुखी जनता ने उसे अधिक उल्लास और उत्साह से मनाया होगा और उस उल्लासजन्य अभूतपूर्व समारोह ने ही शायद इस जनश्रुति को जन्म दिया हो कि दीपावली का प्रारम्भ राम विजयोपलक्ष में हुआ।

इन समस्त घटनाओं में दीपावली का मूल कहां है, हम इस विवाद में नहीं पड़ते। समन्वयात्मक दृष्टि से हम तो यही कह सकेंगे कि सुदूर अतीत में धनधान्य समृद्धि से हर्ष-निमग्न जनों द्वारा जगपालक लक्ष्मी-नारायण की कृतज्ञतापूर्ण उल्लास-मिश्रित वन्दना के रूप में प्रारम्भ हुए इस ऋतुपर्व में समय-समय पर अनेक महत्त्वशाली ऐतिहासिक घटनाओं का मिश्रण होता गया और वर्तमान दीपावली उन सब को अपने अन्तर में संजोए भारतीयों के एक जीवित जागृत महान् राष्ट्रीय-पर्व के रूप में प्रति वर्ष हमारे सामने आती है।

दीपावली पर्व में लक्ष्मीपूजन समावेश का इतिहास बहुत मनोरंजक एवं महत्त्वपूर्ण है। सनत्कुमार-संहिता में लिखा है—'एक बार दैत्यराज बलि ने समस्त भूमण्डल पर अधिकार

कर लक्ष्मी सहित सम्पूर्ण देवताओं को अपने कारागार में डाल दिया और भूमण्डल पर एक छत्र शासन करने लगा। लक्ष्मी के अभाव से समस्त संसार क्षुब्ध हो उठा। यज्ञ यागादि सब बन्द हो गए। उस समय देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने 'वामन' रूप धारण करके बड़े कौशल से उस पराक्रमी दैत्य की आसुरी शक्ति पर विजय प्राप्त की और लक्ष्मी को उसके बन्धन से मुक्त किया। इससे समस्त संसार में हर्ष की एक अपूर्व लहर छा गई। आसुरी शासन से मुक्त प्रजा के हृदयों में प्रकाशमान वह हर्ष-ज्योति दीपकों का साकार रूप धारण कर अखिल विश्व में जगमगा उठी। इस अवसरपर भगवती लक्ष्मी का विशेष रूप से पूजन सन्मान हुआ क्योंकि वे बलि के कारागार की कठोर यन्त्रणाओं को सहकर चिरकाल के अनन्तर मुक्त हुई थीं। इस कथानक के काव्यांश को छोड़ देने पर इससे सीधा अर्थ यही ध्वनित होता है कि दैत्यराज बलि ने प्रजा के ऊपर भारी कर आदि लगाकर उसकी समस्त लक्ष्मी=धन को अपने राजकोष में संचित कर डाला, यहाँ तक कि धनाभाव से समस्त संसार क्षुब्ध हो गया। तब भगवान् विष्णु ने वामन रूप द्वारा अपने कौशल से उस दैत्य को परास्तकर राजकोष में संचित समस्त धन को संसार में विभक्त कर दिया, फलतः 'आर्थिक क्रान्ति' का महान् पर्व होने के कारण यह समस्त भारत का स्मरणीय पर्व बन गया।

अविच्छिन्न-परम्परा

जैसा कि हम पीछे कह आये हैं दीवाली हमारा अति प्राचीन पर्व तो है ही, किन्तु इसकी सब से बड़ी विशेषता है

कि यह किसी जाति, वर्ग या प्रान्त-विशेष का उत्सव न होकर सार्वदेशीय और सार्वजातीय उत्सव है। इसकी अविच्छिन्न ऐतिहासिक परम्परा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतीय जन इसे सुख में, दुःख में, शान्ति काल में, युद्ध में, अर्थात् सभी तरह की परिस्थितियों में मनाते ही आ रहे हैं। यद्यपि इस सुदीर्घ काल में भारत में अनेक परिवर्तन हुए, अनेक विदेशी राज्य और संस्कृतियाँ यहां आईं, प्रभुत्व-शाली बनीं और नष्ट हो गईं, किन्तु दीपावली जैसे पर्वों पर कोई प्रभाव न पड़ा। इन सब तूफानों में भी ये दिये जलते ही रहे।

वैदिक साहित्य के अनन्तर हमें सम्पूर्ण अवांतर भारतीय साहित्य में दीपावली का वर्णन प्राप्त होता है। 'कल्पसूत्र' नामक जैन ग्रन्थानुसार आज से अढाई हजार वर्ष पूर्व आज ही के दिन जैन सम्प्रदाय प्रवर्तक श्री महावीर स्वामी ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की थी। उस समय देश देशांतर से आए हुए उनके शिष्यों ने निश्चय किया कि 'ज्ञान सूर्य तो अस्त हो गया अब दीपों का प्रकाश कर यह दिन मनाना चाहिए।' तदनुसार स्वामी जी की स्मृति में उस समय विशेष दीपोत्सव होने का वर्णन जैन ग्रंथों में प्राप्त होता है। महर्षि वात्सायन अपने काम सूत्र में इसे 'यक्षरात्रि' के नाम से स्मरण करते हैं। उनके समय में यह सामान्य उत्सव न होकर 'माहिमान्य' उत्सव के रूप में मनाया जाने वाला विशेष पर्व था। सप्तम शती में हर्षवर्धन इसका उल्लेख अपने नाटक 'नागानंद' में 'दीप प्रतिपदुत्सव' के नाम से करता है जिससे ज्ञात होता है कि अब की भांति उस काल में भी दीपावली कई दिन तक चलती थी। उसके

समकालीन 'नील-मत-पुराण' नामक ग्रन्थ में तो 'कार्तिक-अमायां दीपमाला-वर्णनम्' नाम से एक स्वतंत्र अध्याय ही इस त्योहार के वर्णन में लिखा गया है, जिसमें दीपावली की रोशनी, नए वस्त्राभरण धारण, गाना बजाना तथा जूए की प्रथा का भी निर्देश प्राप्त होता है।

१०वीं शताब्दी में सोमदेव सूर्य अपने 'यशस्तिलक-चम्पू' में इस अवसर पर लोगों द्वारा मकानों की सफाई, विविध मनोरंजक क्रीड़ा और प्रज्वलित दीपों से वृक्षादि बनाकर उससे भवन को सजाने का वर्णन करता है। ११वीं शती में भारत भ्रमणार्थ आने वाले मुसलमान पर्यटक अल्बेरूनी ने लिखा है—'हिंदुस्तान के घर-घर में इस दिन विष्णुपत्नी लक्ष्मी का पूजन किया जाता है। लोग बढ़िया २ कपड़े पहनकर एक-दूसरे से मिलते और पान सुपारी भेंट करते हैं, देव दर्शनों के लिए मंदिरों में जाते खूब दान देते और रात में चिरागों की रोशनी करते हैं।' इसी प्रकार १५वीं शताब्दी में भारत भ्रमण करते हुए इटली के पर्यटक निकोलाई काण्टी ने दीपावली की रात को मंदिरों और भवनों की छतों पर दीपमाला के प्रकाश का वर्णन किया है। हिंदी-साहित्य के मूर्धन्य कवि सूर, तुलसी आदि की कविता में दीपावली का जो मनोरम वर्णन प्राप्त होता है वह अपना सानी नहीं रखता। अकबर के समय की 'दीपाली' आज की दीपावली ही थी जिसकी तुलना मुस्लिम इतिहासकार अबुल फजल ने 'आइने अकबरी' में मुसलमानों के शबरात त्यौहार से की है और शाही दरबार की तरफ से इस उत्सव के मनाने का उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं हमारा यह राष्ट्रीय पर्व बहुत पुराने काल से इसी रूप में अविच्छिन्न चला आ रहा है।

वैज्ञानिक-विवेचन

दीपावली पर होने वाले स्वच्छता-सम्पादन, भवन-सज्जा, लक्ष्मी-पूजन, नये बही-वसनों का प्रचलन, दीपमाला—आदि सभी कार्य रहस्यपूर्ण तो हैं ही किंतु अनेक दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण भी। पुराणों में इस रात्रि को 'महारात्रि' शब्द से स्मरण किया है और साधकों के लिए प्रमुख पर्व माना है। तांत्रिक लोग इसकी अपने महापर्वों में गणना करते हैं। आज भी मन्त्र-साधक व्यक्ति इस महारात्रि में जागरण करते हुए अपने जाप्य मंत्र को सिद्ध किया करते हैं।

इस पर्व पर किया जाने वाला प्रकाश मानव-हृदय की जिस चिरन्तन भावना का प्रतिरूप है वह है—अन्धकार से भटकते मानव समाज को प्रकाश दान कर सन्मार्ग पर लाने की भावना! प्रकाश ज्ञान का दूसरा रूप है। दीपावली के दिन सहस्रों दीपों को प्रज्वलित कर मानो हम अपनी इसी भावना को प्रतिफलित हुआ पाते हैं। इससे हमारे हृदय में असीम सन्तोष का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए शास्त्रोंमें यूं तो सम्पूर्ण कार्तिक मास भर ही, किंतु विशेषतया इन दिनों में दीपदान का बड़ा माहात्म्य वर्णन किया है। हम अपने घरों को आलोकित करने के साथ-साथ कुंआ, मंदिर, तालाब, धर्मशाला, चौराहा आदि उन सार्वजनिक स्थानों को भी प्रकाशमय करना नहीं भूलते, जिनसे हजारों प्राणि लाभान्वित होते हैं। कार्तिक में दीपदान के विशेष शास्त्रीय विधान का अर्थ स्पष्ट है कि अभी २ समाप्त हुई वर्षा ऋतु से उत्पन्न अनेक विषैले जंतु इन लावारिस सार्वजनिक स्थानों में व्याप्त हो जाया करते हैं। दिन में तो वे

सूर्य प्रकाश से दीख सकते हैं परन्तु रात में वहाँ प्रकाश कौन करे ? अतः समशीतोष्ण मासभर प्रकाश रखने के लिए शास्त्रों ने ऐसा विधान किया है। कार्तिक के बाद फिर तो जाड़े की ऋतु आरम्भ हो ही जायगी अतः ऐसे जंतु स्वयं ही भूमिगत हो जाएँगे।

आज के दिन लक्ष्मी-पूजन के अतिरिक्त वही बसने, आय-व्यय पंचिका, रजिस्टर आदि के पूजन की भी प्रथा है। भारतीय अर्थ प्रणाली के अनुसार यह हमारे आर्थिक वर्ष का प्रथम दिन है। इस दिन हम अपने पिछले वर्ष के समस्त आय-व्यय तथा हानि लाभ आदि का गम्भीरता-पूर्वक निरीक्षण करते हैं और भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय भी। दूसरे शब्दों में इस दिन देश का प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक प्रगति का निरीक्षण करता है। इस प्रकार यह दिन समस्त देश की आर्थिक उन्नति की जांच का दिन सिद्ध होता है।

इस पर्व का एक उद्देश्य देश के स्वास्थ्य को समुन्नत करना भी है। वर्षा ऋतु में धूप की कमी तथा विशुद्ध जलाभाव के कारण वायु-मण्डल में रोग-कीटाणु व्याप्त हो जाते हैं। मच्छरों के बाहुल्य से ऋतुज्वर (मलेरिया) आदि रोग विशेष रूप से फैलते हैं और नागरिक-स्वास्थ्य अपने स्वाभाविक स्तर से निम्न हो जाता है। कार्तिक में शरद् ऋतु अपने पूर्ण विकास पर होती है। बाह्य वातावरण में फैले हुए अस्वास्थ्यकर कारणों को दूर करने में प्रकृति अपना तन मन लगा देती है अभ्यन्तर वातावरण में फैले हुए स्वास्थ्य-दूषक कारणों को दूर करने में इस पर्व से बड़ा सहयोग प्राप्त होता है। अब तक लोग प्रायः घरों से बाहिर खुले में सोते थे परन्तु अब घरों में

सोने की ऋतु आरम्भ होगई है अतः यह परमावश्यक है कि उन घरों को साफ स्वच्छ किया जाए ! इस अवसर पर लोग अपने घरों को स्वच्छ करते हैं, नीला थोथा, सफेदी द्वारा पुतवा कर सील दुर्गन्धी आदि हानिकारक तत्त्वों को दूर किया जाता है। निवास स्थान के प्रत्येक भाग को प्रदीपों द्वारा आलोकित किया जाता है। दीप पुञ्ज से प्राप्त होने वाला प्रकाश तथा उष्णता वर्षाजन्य रोग कीटाणुओं के विनाश में सर्वथा समर्थ होते हैं। तेल का सुस्निग्ध धूम सम्पूर्ण देश के कोने २ में व्याप्त होकर नस्य-प्रणाली के द्वारा न केवल लोगों के मस्तिष्क को आप्यायित करता है किन्तु सम्पूर्ण संक्रामक कृमियों का व्यापक संहार करने में भी समर्थ होता है।

दीपावली जीवन में सौंदर्य पक्ष का उत्थान कर मानव जीवन-स्तर को उन्नत बनाने में भी सदा से योग देती रही है। इस अवसर पर घरों की सज्जा के लिए विविध प्रकार के चित्रों, प्रस्तर तथा मिटटी की मूर्तियों (Clay Models) आदि को खरीदकर हम चित्रकला, मूर्तिकला आदि कलाओं को प्रोत्साहन ही नहीं देते, किंतु अपने को भी समुन्नत करते हैं। दीपावली पर होने वाले क्रय-विक्रय का यदि लेखा-जोखा लगाया जाय तो उसकी संख्या अरबों रुपयों में गिनी जाने लायक बनेगी। क्या दीपावली की एक ही रात में होने वाले अरबों रुपये के इस विनिमय का राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ? अवश्य पड़ता है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह लक्ष्मी का वास्तविक पूजन है कि हम इस बहाने से राष्ट्र की अमित संपत्ति का वितरण राष्ट्र में ही कर देते हैं। इस प्रकार दीपावली राष्ट्र

की लक्ष्मी को राष्ट्र में ही रखकर इस देश को समृद्ध बनाने में महान् सहयोग देती है।

दीपमालिका और द्यूत-क्रीड़ा

दीपमालिका के अवसर पर द्यूतक्रीड़ा को लेकर आस्तिक और कथित सुधारक लोगों में यत्र तत्र खासी चख-चख चलती है। एक इसे शास्त्रविहित और दूसरे सर्वथा अनाचरणीय, बताकर अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग गाया करते हैं। वास्तव में आज ये दोनों ही दल भ्रान्ति में हैं। शास्त्रविधान की दुहाई देकर आज जैसा द्यूत धार्मिक अनुष्ठान मानकर खेला जाता है न तो शास्त्र में वैसे द्यूत का विधान ही है और द्यूत शब्द-मात्र से चिढ़कर कथित सुधारक शास्त्र-विधान की खिल्ली उड़ाने का दुःसाहस किया करते हैं, न वह विधान ऐसा निन्द्य ही है; किन्तु शास्त्र में जिस द्यूत का विधान है, वह द्यूत न केवल मनोरंजन मात्र का ही साधन है, अपितु वह तो राष्ट्रोत्थान का एक पुनीत अनुष्ठेय सामाजिक संविधान है; जो आज भी सभी स्वतन्त्र देशों में तत्परतापूर्वक आचरित होता है।

भारत भी अन्यून सहस्राब्दी के अनन्तर अब स्वतन्त्र हुआ है, यद्यपि आज दुर्भाग्यवश भारत के कर्णधार मानसिक दासता के कारण अन्यान्य देशों के भले-बुरे सभी अनुष्ठित कृत्यों का अनुकरण करने में ही भारत की उन्नति के स्वप्न देखते हैं, परन्तु वह समय दूर नहीं, जबकि अन्धेरे में चाँद-मारी करते-करते ये लोग थककर भारत की प्राचीन परम्पराओं का भी अनुकरण करने के लिए अन्त में बाध्य होंगे ही। तब

विदेशों की जूठन 'ओलम्पिक' खेलों को भूलकर भारत को दीपावली को राष्ट्रीय त्यौहार के रूप में मनाने को उद्यूत होना पड़ेगा।

प्राचीन काल में द्यूत का स्वरूप

भविष्यत्पुराण के उत्तरपर्व, अध्याय चार में और पद्मपुराण के उत्तर-खण्ड, अध्याय १२२ में वर्णन आता है कि—

कुर्यान्महोत्सवं राजा दिनानि नव सप्त वा।
वैश्यांगनानरैर्हृष्टैर्द्यूतक्रीडामहोत्सवैः ॥
प्रातर्गोवर्द्धनः पूज्यो द्यूतं रात्रौ समाचरेत् ॥

अर्थात्—चक्रवर्ती राजा का कर्त्तव्य है, कि वह अपनी राजधानी में नौ दिन या सात दिन का एक राष्ट्रीय महोत्सव मनाए, जिसमें राज्य भर के वैश्य=व्यापारी वर्ग सम्मिलित हों, अंगना=महिला-सम्मेलन हों, हृष्ट-पुष्ट नर—मल्ल, घूंसेवाज, लठैत, शस्त्रास्त्र विद्या-दक्ष और स्वस्थ सुन्दर प्रजा जनों की प्रदर्शनियाँ होनी चाहियें तथाद्यूत=वस्तुओं के भावी भावों के आनुमानिक सौदे, घुड़-दौड़ और अनेक प्रकार की लाटरी आदि-आदि कल्पना-शक्तिवर्द्धक मनोरञ्जनकारी समारोह होने चाहियें। प्रातःकाल गोवर्द्धन=गोवंश की अभिवृद्धि के प्रतीकभूत देवता की पूजा, गव्य पदार्थों के अधिक मात्रा में सुलभ होने के उपायों पर तथा गौओं की नस्ल सुधारने के साधनों पर विचार, वादानुवाद और ठहराव होने चाहियें एवं रात के अधिवेशन में उपर्युक्त द्यूत का पुरोगम सम्पन्न होना चाहिए।

वस्तुतः द्यूत दो प्रकार का होता है। एक पासे, कौड़ियों, सलाई,आदि वस्तुओं की संख्या पर दाव लगाना;दूसरा अन्नादि वस्तुओं के भावी भावों की कल्पना करना तथा मल्लों की शारीरिक गठन के आधार पर हार जीत का अनुमान करना और घुड़दौड़ में घोड़े की चपलता द्वारा तेज दौड़ का अन्दाजा लगाना इत्यादि। 'मनुस्मृति' अध्याय ६, श्लोक २२३ में तथा 'नारदस्मृति' में द्यूत के पहिले प्रकार को 'जिह्म-कारित'' (ठगी) नाम से और दूसरे भेद को 'समाह्वय' (चुनौती) के नाम से स्मरण किया है।

इन दोनों में से वेदादि शास्त्रों ने पहिले प्रकार के द्यूत को निन्दित कहा है; क्योंकि पासे, कौड़ियाँ, सलाइयां आदि जड़ वस्तुओं की परतन्त्रता में, पड़कर खेलने वाला अपने बुद्धि-चातुर्य या पौरुष का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता, यदृच्छा से नक्की-पूर, दूवा या तीन आदि चाहे कुछ भी दाव पड़ जाये ! जुस्त या टांक कुछ भी अपने हाथ में आ जाए ! और शून्य या भरे किसी में भी सलाई पड़ जाये। खिलाड़ी पराधीन है, विवश है और लाचार है। अतः इसमें सर्वनाश का खतरा है। किसी मानसिक शक्ति के विकास को कोई अवकाश नहीं है। इसलिए वेद (१० । ३४ । १३) में सुस्पष्ट शब्दों में—**'अक्षैर्मा दीव्य'** अर्थात् 'पाशे मत खेल' ऐसी ही आज्ञा दी है।

परन्तु दूसरे प्रकार का द्यूत शास्त्रों में पाप नहीं समझा गया : क्योंकि उससे कल्पना-शक्ति और साहस बढ़ता है। अतएव 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' (व्यवहाराध्याय-द्यूत प्रकरण

श्लोक २०२) में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है, कि जो द्यूतनिषेधक वचन हैं, वे सब कूटाक्ष-देवन (धोखे से पाशों द्वारा ठगना) विषयक हैं।

प्रत्यक्ष में भी संसार भर की समस्त सभ्य सरकारों के कानूनों में 'जिह्मकारित'=पहिले प्रकार के द्यूत को ही अपराध समझा जाता है; परन्तु दूसरे प्रकार का द्यूत 'समाह्वय= वदनी के सौदे, घुड़दौड़ या बरसात के सट्टे तथा लाटरी प्रत्येक शहर में बड़े से बड़े सेठ साहूकार यहाँ तक कि राजा और सम्राट् भी आये दिन लगाते हैं। यद्यपि यह भी एक प्रकार का द्यूत ही है और खतरे से भी खाली नहीं हैं, तथापि प्रवृत्ति मार्ग वाले लोगों के लिए यह एक अंश तक मनोरंजन के साथ कल्पना शक्ति का अभिवर्द्धक होने के कारण लाभप्रद भी है; इसीलिए शासन और लोक-व्यवहार कानून में भी इसे अपराध नहीं समझा जाता; बल्कि सरकारें खुले परमिट प्रदान करके ऐसे समारोहों का स्वयं प्रबन्ध करती हैं। क्या हम आशा करें, कि भारत सरकार भी शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक द्यूत-प्रवृत्ति के उपर्युक्त समन्वय का मनन करके गुप्त रूप में खेले जाने वाले विनाशकारी अवैध द्यूत की रोकथाम के लिए दीप-मालिका को राष्ट्रीय त्यौहार का रूप देकर ऐसे व्यापक समारोह से मनाने का प्रयत्न करेगी?

गोवर्धन-पूजा

कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को गोवर्धन-पूजन का पर्व है। इसका प्रारम्भ ५ हजार वर्ष पूर्व भगवान् कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत की तलहटी के उद्धार और कृषि साधनों के नवीकरण के अवसर पर हुआ था। इस पर्व के प्रारम्भ होने से पूर्व व्रज

मण्डल की जनता 'देव-मातृक' थी, अन्न के लिए वर्षा पर निर्भर रहती थी। यद्यपि उसके समीप गोवर्धन पर्वत सदृश जलस्रोत से पूर्ण पर्वत था जिसका समुचित आराधन करने पर बहुत अच्छी खेती हो सकती थी किन्तु लोगों का ध्यान इस ओर न था। वे वर्षा की प्रतीक्षा करते, वर्षा के देव इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करते और उसी की कृपा पर निर्भर रहते थे। बालक कृष्ण ने—जिनका जन्म ही लोकाभ्युदय के लिये हुआ था—इसके विरोध में लोगों को संगठित किया। गोवर्धनोद्धार के लिए सामूहिक प्रयाण हुआ। स्रोतों का जो जल अभी तक व्यर्थ ही चला जाता था, गोवर्धन के आंचल में फैली हुई जो वनस्पति या शस्य-समृद्धि लोगों की उपेक्षा से प्रतिवर्ष नष्ट हो जाती थी, जो सैकड़ों बीघा भूमि बञ्जर पड़ी थी उस सब की ओर उन्होंने समुचित ध्यान दिया और व्यवस्था की। इससे सम्पूर्ण ब्रज-मण्डल शीघ्र ही धनधान्य से परिपूर्ण हो गया।

देवमातृक ब्रज-मण्डल एक ओर जहां सूखे से अकाल-पीड़ित-सा बना रहता था वहाँ समय-समय पर अतिवृष्टि के कारण अति निकट बहने वाली यमुना की बाढ़ से भी आप्लावित हो जाता था। इस प्रकार यह प्रदेश उभयविध आपत्तियों से चिर काल से कष्ट पा रहा था। वर्षा का सम्बन्ध इन्द्रदेव से है, यह वेद का अटल सिद्धान्त है। तत्रत्य गोप ग्वाले आलस्य और मोहवश परम्परा से स्वयं किसी भौतिक उपाय का अवलम्बन न करके केवल दैवी उपाय मात्र के अनुष्ठान से ही उक्त आपत्तियों के दूर हो जाने की निष्ठा रखते थे अतः केवल इन्द्र-पूजा मात्र पर निर्भर रहते थे।

शास्त्र में तत्तत् आपत्तियों को दूर करने के लिये दैवी शक्ति की आराधना के अनेक अनुष्ठानों का उल्लेख विद्यमान है परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि दैव के भरोसे पर पुरुषार्थ को तिलाञ्जलि दे दी जावे। आराधित देवता आराधक को केवल तादृशी बुद्धि ही प्रदान करते हैं कि जिस के उपयोग से यदि चाहे तो साधक भौतिक साधनों को अपने अनुकूल बना सके तथा प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों का भी अपने पुरुषार्थ बल से सुतरां प्रतिकार कर सके।

जो आलसी प्राप्त-साधनों का सदुपयोग न करके केवल दैव को ही नौकर की भान्ति अपने सब कार्य कर डालने को पुकारता है वह दैवबल का अपमान ही करता है। रोग-निवृत्ति के लिये जैसे विधिवत् औषधिसेवन और पथ्य दोनों आवश्यक हैं, इसी प्रकार कार्य सिद्धि के लिए दैवीबल का आश्रय और अपना शिरतोड़ पुरुषार्थ, दोनों ही साथ २ परमावश्यक हैं। सो गोप ग्वाले केवल इन्द्रपूजा रूप दैवी साधन पर ही सदैव निर्भर रहते थे, स्वयं कुछ पुरुषार्थ नहीं करते थे। अतएव वे अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि की समस्या का सफल समाधान न कर पाते थे। भगवान् ने गोवर्धन से वर्षा काल में बहने वाले जल-स्रोतों को बृहत्तडाग रूप में बांध कर जहाँ अनावृष्टि के समय सिंचाई का प्रबन्ध किया वहां इन्द्र के कोप से होने वाली अतिवृष्टि की दुःखद बाढ़ में डूबते हुए ब्रज-मण्डल को भी गोवर्धन उठाकर बचा लिया अर्थात्—उसे जल-रोधक सुरक्षा बान्ध के रूप में परिणत करके तथा पर्वतीय ऊँचे स्थानों में आवास की व्यवस्था करके महा प्रलयकारी संवर्तक मेघों की आप्लावन शक्ति को भी कुण्ठित कर दिया। इस प्रकार

जब पशुओं को सदैव भर पेट चारा और विशुद्ध पानी मिलने लगा तो उक्त पर्वत का 'गोवर्धन' नाम अन्वितार्थ हो गया।

गोवर्धनोद्धार की वह सुखद स्मृति आज भी हमारे हृदय-पटल में सदैव सुरक्षित है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में गोवर्धन पूजा जैसे प्रेरणाप्रद पर्वों की अत्यन्त आवश्यकता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है हमें इस दिन अपनी राष्ट्र की गो =पृथ्वी और गाय दोनों की उन्नति तथा विकास की ओर ध्यान देना चाहिए और इनके संवर्धन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये यही इस 'गोवर्द्धन' पर्व का महान् सन्देश है;

भ्रातृ-द्वितीया

कार्तिक शुक्ल द्वितीया को सम्पन्न होने वाला पर्व—भ्रातृ-द्वितीया या भैयादूज हिन्दु समाज का आदर्श पारिवारिक पर्व है। पौराणिक आख्यान के अनुसार इस दिन भगवान् यम अपनी बहिन यमुना के यहाँ मिलने जाया करते हैं और उन्हीं के अनुकरण पर इस दिन जो लोग अपनी बहिनों से मिलते, उनका यथेष्ट सन्मान पूजनादि करके उनसे आशीर्वाद-रूप तिलक प्राप्त करते हैं उन्हें इस दिन मृत्यु भय नहीं रहता। इस कथा के अनेक भावों में एक भाव यह है कि यद्यपि धर्मशास्त्र विधानानुसार कन्या पितृ-सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं है तथापि उसे पितृकुल की ओर से अनधिकृत रूप में दाय भागांश अवश्य प्राप्त हो इसके लिए ऐसे अनेक पर्व उत्सवादि का विधान, शास्त्रों में किया है जिन पर लड़कियों को पितृकुल की ओर से यथेष्ट सम्मान एवं धनदाय मिले। भय्यादूज भी एक ऐसा ही पर्व है। इस अवसर पर भाई अपनी बहिनों के

यहां उनकी पारिवारिक स्थिति का परिचय प्राप्त करते हैं, उनके सुख-दुःख की पूछते और अपनी कहते हैं । अपनी सामर्थ्यानुसार वे उसे भेंट देकर अपने भ्रातृ-स्नेह को दृढ़ करते हैं। यह दृढ़ पारिवारिक संगठन ही भारतीय-कुटुम्ब प्रणाली की जान है।

विदेशों में इस प्रकार का कोई पारिवारिक पर्व न होने के कारण वहाँ के समाज में माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि सीधे सम्बन्धों को छोड़कर अन्य सम्बन्ध प्रायः नगण्य से ही हैं और उनको द्योतन करने के लिए इंगलिश जैसा सर्वसमृद्ध भाषा तक में समुचित शब्द भी नहीं मिलते। उदाहरण के लिए यूरोपियन द्वारा किसी स्त्री का—'She is my Sister-in-law' कह कर परिचय दिए जाने पर आप यह निर्णय कर ही नहीं सकते कि वह स्त्री उसकी भाभी है या साली, या सलहज या छोटे भाई की स्त्री, क्योंकि इंगलिश में देवरानी, जठानी, भाभी, साली, सलहज, भागिनी, ननद आदि के लिए केवल यही एक शब्द है। स्पष्ट है कि इन देशों में पारिवारिक सम्बन्ध इतने शिथिल हैं कि इनको प्रकट करने के लिए शब्दों की आवश्यकता हो नहीं होती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भ्रातृ-द्वितीया हिन्दु परिवार संगठन की एक सुदृढ़ कड़ी है, जिसने कि पृथक् हो जाने पर भी भाई-बहिन के दो परिवारों को चिरकाल से संयुक्त करके रखा है। यद्यपि लड़की का अधिक सम्बन्ध माता-पिता के साथ ही होता है उनके स्नेह से ही वह संवर्धित एवं लालित पालित होती है, अपने जीवन काल तक वे ही सर्वदा उसका ध्यान रखते हैं, परन्तु पितृद्वितीया न बनाकर हमारे पूर्वजों ने इस

पर्व को भ्रातृ-द्वितीया इसलिए बनाया कि पितृ-सम्पत्ति के भावि-उत्तराधिकारी भाई के ऊपर उस कन्या के संरक्षण का भार सौंपा जाए। माता-पिता तो बूढ़े हुए, अब तो भाई ने ही गृहस्वामी बनना है। फलतः वह बहिन की ओर से कभी उदासीन न हो, सर्वदा उससे स्नेह रक्खे—इसके लिए बाल्यावस्था से ही प्रतिवर्ष आने वाली भय्यादूज उसे बहिन के निकट संपर्क में लाती है। बचपन में एक घर में रहते हुए, अनेकबार आपस में लड़ते झगड़ते हुए भी ज्यों ही भय्यादूज आई कि—भाई साहब तिलक करवाने बहिन के सामने खड़े हो गए, वर्षभर का वैमनस्य लड़ाई झगड़ा सब समाप्त। माता पिता के जीवन काल में-लड़की के उद्वाहिता हो जाने से पूर्व, जब वर्षों यह क्रम स्वाभाविक गति से चलता रहता है तो गृहस्वामी बन जाने पर भी भाई उसे उपेक्षित नहीं कर पाता और सर्वदा बहिन के संरक्षण के लिए समुद्यत रहता है।

गोपाष्टमी

भारत गोप्राण देश है। कृषि पर आश्रित होने के कारण इस देश में तदाधारभूत गोजाति को जो अपूर्व सम्मान और गौरव प्रदान किया गया है वह अन्य किसी को नहीं। विदेशों में जैसे लोग अच्छे कुत्तों पर गर्व करते हैं उन्हें पालते और प्रेम करते हैं, उसी भांति हिन्दु-समाज चिरन्तन काल से गो-पालन, गोरक्षण तथा संवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहा है। क्यों न हो—

गावो विश्वस्य मातरः (वेद)

इस श्रुति के अनुसार गाय है भी तो विश्व की माता हो। गो-महिमा के संबन्ध में हम अन्यत्र प्रकाश डाल चुके हैं।

उसकी पुररावृत्ति करके हम ग्रन्थ का कलेवर नहीं वढ़ायेंगे । अस्तु,

गोपाष्टमी—कार्तिक शुक्लाष्टमी उसी गोमाता के पूजन अर्चन मोटे शब्दों में कहें तो उसकी उन्नति के उपायों पर विचार और प्रयोग का महान पर्व है । वस्तुतः यह पर्व जाति-विशेष का पर्व न होकर जन-साधारण का सामान्य पर्व है । क्या हिन्दु, क्या मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी या अन्य कोई, गो-दुग्ध तो सभी के लिए समान रूप से अमृत गुणकारी है, सभी के जीवन व सन्तति का विकाश गो-रक्षा पर निर्भर है ।

विदेशियों ने भारत की अतुल गो-समृद्धि को देख इसे गो-मांस या गोचर्म की विशाल मंडी बनाए रखने के उद्देश्य से गोरक्षा को यद्यपि विचित्र साम्प्रदायिक रूप दिया है और ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि भारत में गोवध-वन्दी असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गई है, परन्तु यह स्मरण रहे कि यदि इसी प्रकार गोवंश का ह्रास होता रहा और हमने गोपाष्टमी सदृश पर्वों की ओर से जान बूझकर आँखें मीचीं तो निश्चय ही हमारा अधःपतन हो जाएगा । डिब्बों के दूध और डिब्बों के ही घी पर पली हुई सन्तति मानवोचित गुणों से सर्वथा हीन हो जाएगी और क्रमशः ह्रास को प्राप्त हो समाप्त हो जाएगी । इसलिए इस महान् पर्व पर प्रत्येक भारतीय को चाहे वह किसी जाति का हो गोधन के रक्षण व संवर्धन के लिए प्राणपण से प्रतिज्ञा लेनी चाहिए । गोपाष्टमी प्रति-वर्ष आकर हमें यही संदेश देती है ।

कार्तिक-पौर्णिमा

कार्तिक समाप्त हो गया, पूर्णिमा आ गई। इस पूर्णिमा के साथ ही कार्तिक स्नान का पर्व समाप्त हो जायगा। जो लोग मास भर तक तारों की छाया में किसी नदी तीर्थ जलाशय में स्नान, भगवन्नाम-संकीर्तनादि पुण्य कार्य करते रहे हैं उनका यह व्रत आज पूर्ण होगा। इसके करने से उन धार्मिक जनों को जो पुण्य लगेगा वह तो अदृष्ट है किन्तु प्रारम्भ होने वाली जाड़े की ऋतु के सद्यःपूर्व में उन्होंने इस व्रत के वहाने से प्रातःजागरण, भ्रमण और दैनिक स्नान का जो अभ्यास डाल लिया है वह उनके स्वास्थ्य के लिए कितना उपकारक होगा—यह बात तो प्रत्येक व्यक्ति सहज ही जान सकता है।

स्वास्थ्य के लिये स्नान की महत्ता सर्वविदित है किन्तु अक्सर लोग जाड़ों में महीने-महीने भर नहीं नहाते, जाड़े का ऐसा भय सताता है कि पानी का स्पर्श भी करना नहीं चाहते। हालांकि इसका बुरा परिणाम उन्हें अन्त में भोगना अवश्य पड़ता है जबकि त्वचा तथा रक्त में विविध प्रकार के रोग उठ खड़े होते हैं। ब्राह्म मुहूर्त काल में जल में शैत्य के स्थान पर उष्णता होती है, उस समय यदि स्नान किया जाय तो सरदी बिलकुल नहीं लगती और फिर सम्पूर्ण दिन शरीर में चेतनता व्याप्त रहती है। इस दृष्टि से कार्तिक के इस प्रातःस्नान व्रत का लौकिक फल कोई भी व्यक्ति स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

कार्तिक पौर्णिमा पर हरिद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, पुष्कर, रामह्रद आदि अनेक तीर्थों पर लाखों की संख्या में धार्मिक जनता

एकत्र होकर स्नान दानादि द्वारा पुण्य लाभ करती है। भारत के विभिन्न भागों में होने पर भी सभी स्थान सनातनधर्मी के लिये एक ही भारतमाता के शरीर के पवित्र अवयव हैं और समान रूप से वन्दनीय हैं अतः वे दूर-दूर से भी इन स्थानों पर पहुँचकर अपनी जातीय व सांस्कृतिक एकता का परिचय देते हैं। इसका दूसरा नाम 'त्रिपुरारि-पूर्णिमा' भी है और पौराणिक आख्यायिका के अनुसार भगवान् शङ्कर ने आज के ही दिन लोकपीड़क त्रिपुरासुर का वध करके संसार को भयमुक्त किया था। यह उसका स्मृतिदिवस है।

कार्तिक पौर्णिमा को ही अधिक तीर्थमेले क्यों ?

यह एक नग्न सत्य है कि कार्तिक की पौर्णिमा को यत्र-तत्र सर्वत्र अगणित मेले होते हैं। यदि उस दिन जनगणना सम्भव हो तो अन्यून एक चौथाई भारतवासी नदी और सरोवर पर स्नान, दान और पूजन करते पाए जाएँगे। भारत में शायद ही कोई ऐसा मनहूस व्यक्ति होगा जो कि उक्त पौर्णिमा को कहीं-न-कहीं कभी स्नान करने न गया हो। मेला देखने के बहाने से ही सही—बड़े-से-बड़े नास्तिक व्यक्ति भी मित्र-मण्डली के साथ तफरी के लिये वहां पहुँच जाते हैं और अकस्मात् ही स्नान का पुण्य पा जाते हैं। लाखों अहिंदु लोग भी छोटी-बड़ी दुकानदारियों के सिलसिले में मेलों पर पहुँचते हैं और वे आर्थिक लाभ के साथ साथ स्वास्थ्य-पूर्ण स्वच्छ जल-वायु सेवन का अलभ्य लाभ भी प्राप्त करते हैं! यह अन्तिम सप्ताह अन्यून एक चौथाई भारतवासियों को जहां नदी, नद और तड़ागों के किनारे विस्तृत मैदानों में स्वच्छ जलवायु

सम्पन्न प्रदेशों में रहने का और तीर्थयात्रा के नियमों के अनुसार देवान्न द्वारा सम्पादित सद्यः सुपाच्य लघु भोजन—वह भी एक बार, खाकर संयत जीवन बिताने का अवसर प्रदान करता है वहाँ दान-पुण्य, सत्संग आदि आध्यात्मिक लाभों से मालामाल होने का भी अलभ्य अवसर देता है। कार्तिकी पौर्णिमा के दिनों में ही ऐसा रहन-सहन क्यों आवश्यक है ?—यह बात आयुर्वेद के एक वैज्ञानिक आधार पर सुस्पष्ट है जिसे प्रकट कर देना यहां परमावश्यक है। आयुर्वेद के ग्रन्थों का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि—

कार्तिकस्य दिनान्यष्टावष्टावग्रहणस्य च ।
यमदंष्ट्रा समाख्याता अल्पाहारः स जीवति ॥

अर्थात्—कार्तिक महीने के अन्तिम आठ और मार्गशीर्ष महीने के पहले आठ दिन सब मिलकर पन्द्रह दिन 'यमदंष्ट्रा' =मृत्यु का जबड़ा—नाम से विख्यात हैं इनमें जो अल्पाहार खाकर संयत जीवन बिताएगा वही दीर्घायु होगा।

यहाँ यह बताने की अधिक आवश्यकता नहीं कि तुला राशि का सूर्य नीच का होता है और दश अंश पर तो वह परम नीच का हो जाता है। उक्त परम नीच का अवसर इन 'यमदंष्ट्रा' कहलाने वाले दिनों में ही आता है। यमदंष्ट्रा रूपेण परिगणित उक्त दिनों में जाठराग्नि के मान्द्य का अनुभव तो प्रायः सभी भुक्तभोगी प्रतिवर्ष कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में भारतीय ऋषियों ने समाधि में 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा जब इस प्राकृतिक तथ्य का अनुभव किया तो उन्होंने स्वास्थ्य संरक्षा के इस आवश्यक ध्येय की पूर्ति के लिए यमदंष्ट्रा के आरम्भिक

दिनों में धार्मिक तीर्थयात्रा के व्याज से स्वच्छ वातावरण में संयत जीवन बिताने के लिये यत्र-तत्र सर्वत्र कार्तिक मेलों का आयोजन किया।

गीता-जयन्ती

मार्गशिर शुक्ला एकादशी ही वह रमणीय पवित्र दिवस है जिस दिन संसार को गीता जैसा महान् व अनुपम ग्रन्थरत्न प्राप्त हो सका। संसार की विविध भाषाओं में और अधिक-से-अधिक संख्या में छपने का गौरव केवल इसी पुस्तक को मिल सका—यह बात भारतीय-संस्कृति के पुजारियों के लिये कम महत्त्व की नहीं है। क्या स्वदेशी और क्या विदेशी सभी विद्वान् इस अनुपम ग्रन्थ पर मुग्ध हैं और आनन्द की बात तो यह है कि यह सबके लिये समान रूप से प्रिय सिद्ध हुई है। ब्रह्मवादियों ने इसमें ब्रह्म की महत्ता के दर्शन किये तो ज्ञानियों ने ज्ञान के महत्त्व को ही गीता में ओतप्रोत पाया। कर्मयोगियों के अनुसार गीता का प्रारम्भ और समाप्ति कर्मयोग पर ही है जबकि भक्ति-पक्ष वालों के दृष्टिकोण से देखने पर गीता में सिवाय भक्ति के अन्य कुछ मिलता ही नहीं। अधिक क्या विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में गीता ही वह दिव्यौषधि (Panacea) है जिससे भव रोगों के सभी रोगी एक रूप से लाभान्वित होते देखे गये। गीता ही उपनिषद् रूपी गौओं से दुहा हुआ वह अमृत-कल्प दुग्ध है जो सभी के लिये समान रूप से मधुर और पुष्टिकारक है और जिसे पी लेने के बाद फिर अन्य किसी माता का दुग्ध पीने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि हम सब कुछ खो बैठें तो भी जिस समय तक गीता जैसा अमूल्य ग्रन्थ

हमारे पास है उस समय तक अपने सर्वैश्वर्यंत्व और अभ्युदय के लिये हम निश्चिन्त हैं। गीता के विषय में प्रो० एडवर्ड जे. थामस् एम० ए० डी. लिट्-लण्डन के उद्गार सचमुच ही सर्वांश में सत्य हैं कि—

The Bhagvadgita, the 'Song Of the Lord' has been called the New Testament of India. But for the history of religion it is more than that. It tells us wherein generations of Hindus have found and still find their ethics, their spiritual consolation and their beliefs about God and human destiny, but it also offers answer to many of the ethical and religious questions that are risen in the west.

(The Song of the Lord P.9)

अर्थात्—'श्रीभगवद्गीता को भारत का 'न्यू टैस्टामैंट' (धर्मशास्त्र) कहा जाता है, परन्तु धार्मिक इतिहास की खोज के लिए यह इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुजन वंश-परम्परा से नैतिक, धार्मिक एवं ईश्वरीय ज्ञान और आत्मिक शान्ति कहाँ से प्राप्त करते रहे हैं—इसका ज्ञान हमें गीता ही देती है। यही नहीं, किन्तु पश्चिमी देशों में नैतिकता और धार्मिकता के विषय में आज जो बहुत से प्रश्न प्रचलित हैं उन सबका उत्तर भी इसी से प्राप्त होता है।'

ऐसे दिव्य ज्ञानमय ग्रन्थ का जयन्ती पर्व किस भारतीय के लिए प्रसन्नताकारक न होगा। फलतः इस दिन गीता-प्रचार गीता पारायणादि में अधिकाधिक सहयोग देना चाहिए।

वसन्त-पंचमी

माघ शुक्ला पंचमी 'वसन्त पंचमी' के नाम से विख्यात है। यह वैदिक कालीन पर्व है। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनेयत्' इस श्रुति के अनुसार इस पर्वपर ब्राह्मण बालकों का उपनयनकर उन्हें महर्षि

अपने विद्यापीठों में शिक्षण के लिए प्रविष्ट किया करते थे। सम्प्रति यह उल्लासमय ऋतु सम्बन्धी पर्व समाज के विविध वर्गों में विविध रूपों में मनाया जाता है। विद्यार्थी तथा शिक्षा-प्रेमी जनों के लिए यह सरस्वती पूजा का महान् पर्व है। इस अवसर पर भगवती शारदा की पूजा के साथ-साथ संगीत नाटक आदि के कलामय उपहार द्वारा भी भगवती की आराधना की प्रथा प्राचीनकाल से चली आती है।

इतिहास बताता है कि इस अवसर पर प्राचीन काल में बड़ी-बड़ी विद्वद्-गोष्ठियों का आयोजन राजाओं की ओर से हुआ करता था जिसमें ग्रन्थकार, कवि, नाटक-प्रणेता तथा लेखक आदि अपनी-अपनी कृतियों को जनता तथा मर्मज्ञ मनीषियों के समक्ष उपस्थित किया करते थे और आलोचन, परीक्षण के बाद वे पुरस्कृत होती थीं। कालीदास, भवभूति आदि नाटक-कारों के नाटक ऐसे वसन्तोत्सव पर्व पर ही जनता के समक्ष उपस्थित किये गये थे—यह बात उन नाटकों की प्रस्तावना से बिल्कुल स्पष्ट है।

गृहस्थी-वर्ग के लिये यह आमोद-प्रमोद और उल्लास का पर्व है, इस अवसर पर जबकि स्वयं प्रकृति भी नव-विकसित पुष्पों का रंगीन आंचल और खिली हुई पीली सरसों की वासन्ती साड़ी धारण किये आनन्द-विभोर हो झूम उठती है तब प्राणि-समुदाय का तो कहना क्या ? प्रकृति के ही इस अनु-करण पर लोग भी पीले-पीले वस्त्र धारण करके परस्पर गले मिलते और एक-दूसरे का अभिनन्दन करते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक, युवा और वृद्ध सभी के चेहरों पर इस समय प्रसन्नता की एक अपूर्व झलक देखी जाती है।

वसन्त ऋतुराज है। इसके आगमन के साथ ही सर्वत्र सुख शान्ति छा जाती है। अन्य ऋतुएँ तो सदा अपने प्रभाव से प्राणियों को सताती हुई ही आती हैं। गर्मी की झुलसाने वाली लूएँ, जाड़े का हड़कम्प, शीत और वर्षा की उत्पातकारिणी झड़िये प्रसिद्ध ही हैं परन्तु वसन्त इन सबसे मुक्त है। इसमें न अधिक गर्मी है न सर्दी। साम्यावस्था को प्राप्त हुआ प्रकृति का यह रमणीय रूप संसार को कितना प्रिय लगता है। तभी तो भगवान् कृष्ण ने इसे—'ऋतूनां कुसुमाकरः' कहकर अपनी विभूतियों में परिगणित किया है।

वैज्ञानिक-विवेचन

वसन्त-पञ्चमी भावि वसन्त ऋतु के आगमन की सूचना देकर हमें आहार-विहार में उचित परिवर्तन का सन्देश देती है। ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ आवश्यक है कि हम अपनी ऋतुचर्या में परिवर्तन कर लें अन्यथा प्रकृति-प्रतिकूलाचरण के के कारण बीमार पड़ जाएँगे। वसन्त आगमन के साथ शरीर के रक्त में हल्का-हल्का द्रव प्रारम्भ हो जाता है उसमें नई स्फूर्ति और चेतना का उन्मेष होने लगता है। आयुर्वेद शास्त्र ने इस ऋतु को कामोद्दीपक के रूप में वर्णन किया है, इसलिए वसन्त-पञ्चमी के बाद गर्म और उत्तेजक पदार्थों का सेवन क्रमशः घटाते जाना चाहिए। ऐसा न करने पर निश्चय ही स्वास्थ्य खराब हो जाएगा।

शास्त्रकारों ने आज के दिन आम्रमञ्जरी के मर्दन तथा प्राशन का बड़ा महत्त्व वर्णन किया है, जो सर्वथा स्वास्थ्यविज्ञान पर ही आश्रित है और इस ऋतु में आवश्यक भी। यह मञ्जरी—

आम्रपुष्पमतीसारकफपित्तप्रमेहनुत् ।
असृग्दुष्टिहरं शीतं रुचिकृद् ग्राहि वातलम् ।।

(भाव प्र. १)

—के अनुसार शीतल, कफ-पित्तादि की उपशामक, वातल तथा रुचिवर्धक है और इसके सेवन से अतिसार, प्रमेह, एवं रक्त रोगों का भय नहीं रहता । पाश्चात्य-वनस्पति विज्ञान (Botany) के अनुसार इस मञ्जरी में से निकलने वाले स्नेह मिश्रित द्रव में Gallic तथा Malic acids नामक अम्ल अधिक मात्रा में होते हैं जिनका उपयोग डाक्टर लोग सब प्रकार के विष प्रभाव को दूर करने के लिए किया करते हैं। इसको हाथों में मलने एवं प्राशन करने से वह अम्ल शरीर में समाविष्ट हो शरीरस्थ जहरीले पदार्थों का उपशामक बन जाता है ।

वीर हकीकतराय ने हिन्दुधर्म की रक्षा के लिए अपनी बलि देकर इस दिन को और भी समुज्ज्वल बना दिया है । इस बालक की अविस्मरणीय स्मृति युग-युग तक हिन्दु-जाति को अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए मर मिटने की प्रेरणा देकर निःसत्व और मृतप्राय: हृदयों में भी तड़फन पैदा करती रहेगी ।

शिवरात्रि

फाल्गुन कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी भारतीयों में 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध है और वह भगवान् शंकर की आराधना का प्रमुख दिन है । विश्व की तीन सर्वोच्च शक्तियों में अन्यतम

शिव हैं और वेदों से लेकर भाषा-ग्रन्थों तक में शिव की महत्ता और गरिमा के सम्बन्ध में इतना वर्णन किया गया है कि यदि उसका एकत्र संग्रह हो तो महाभारत जैसी सहस्रों नहीं तो सैंकड़ों पुस्तकें अवश्य ही तैयार हो सकती हैं। प्रस्तुत पर्व उन्हीं देवाधिदेव भगवान् शंकर का प्रिय पर्व है।

रात्रि ही क्यों ?

अन्य देवों का पूजन-यजन जबकि दिन में ही होता है तब भगवान् शंकर को रात्रि ही क्यों प्रिय हुई और वह भी फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी तिथि की ही क्यों ? यह बात सुविदित है कि भगवान् शंकर संहार-शक्ति और तमोगुण के अधिष्ठाता हैं अतः तमोमयी रात्रि से उनका स्नेह स्वाभाविक ही है। रात्रि संहार-काल की प्रतिनिधि है, उसका आगमन होते ही सर्वप्रथम प्रकाश का संहार, जीवों की दैनिक कर्म चेष्टाओं का संहार, इन्द्रियों की सामर्थ्य का संहार और अन्त में निद्रा द्वारा चेतनता का ही संहार होकर सम्पूर्ण विश्व संहारिणी रात्रि की गोद में अचेतन होकर गिर जाता है। ऐसी दशा में प्राकृतिक दृष्टि से शिव का रात्रिप्रिय होना सहज ही हृदयंगम हो जाता है। यही कारण है कि भगवान् शंकर की आराधना न केवल इस रात्रि में ही किन्तु सदैव प्रदोष (रात्रि प्रारम्भ होने पर) समय में की जाती है।

शिवरात्री का कृष्ण-पक्ष में ही आना भी साभिप्राय ही है। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा पूर्ण होता है और कृष्ण-पक्ष में क्षीण। उसकी वृद्धि के साथ-साथ संसार के सम्पूर्ण रसवान् पदार्थों में वृद्धि और क्षय के साथ-साथ उनमें क्षीणता स्वाभाविक एवं

प्रत्यक्ष है। क्रमशः घटते-घटते वह चन्द्र अमावस्या को बिलकुल क्षीण हो जाता है। चराचर के यावन्मात्र मनों के अधिष्ठाता उस चन्द्र के क्षीण हो जाने से उसका प्रभाव 'अण्डपिण्डवाद' के अनुसार सम्पूर्ण भूमण्डल के प्राणियों पर भी पड़ता है और उन्मना जीवों के अन्तःकरण में तामसी शक्तियां प्रबुद्ध होकर अनेक प्रकार के नैतिक व सामाजिक अपराधों का कारण बनती हैं। इन्हीं शक्तियों का अपर नाम आध्यात्मिक भाषा में भूत-प्रेतादि है और शिव को इनका नियामक माना जाता है। दिन में यद्यपि जगदात्मा सूर्य की स्थिति से आत्मतत्त्व की जागरूकता के कारण ये अपना विशेष प्रभाव नहीं दिखा पातीं किन्तु चन्द्रविहीन अन्धकारमयी रात्रि के आगमन के साथ ही वे अपना प्रभाव दिखाने लग जाती हैं।

इसलिए जैसे पानी आने से पहले पुल बांधा जाता है, आग लगने से पूर्व उसके बुझाने का प्रबन्ध करना आवश्यक होता है, इसी प्रकार इस क्षय तिथि के आने से सद्यःपूर्व ही उन सम्पूर्ण तामसी वृत्तियों के उपशमनार्थ इन वृत्तियों के एकमात्र अधिष्ठाता भगवान् आशुतोष की आराधना करने का विधान शास्त्रकारों ने किया है यही विशेषतया कृष्ण चतुर्दशी की ही रात्रि में शिव आराधना का रहस्य है।

परन्तु यह कृष्ण चतुर्दशी तो प्रत्येक मास में आती है, वे 'शिवरात्रि' क्यों नहीं कहलातीं, फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी में ही क्या विशेषता है—जरा यह रहस्य भी लगे हाथों समझ लेना चाहिए। जहां तक प्रत्येक मास की चतुर्दशी के शिवरात्रि कहलाने का प्रश्न है, तो निश्चय ही वे सभी शिवरात्रि ही हैं

और पञ्चांगों में उन्हें इसी नाम से स्मरण भी किया ही जाता है। जबकि फाल्गुन की यह शिवरात्रि 'महा शिवरात्रि' के नाम से पुकारी जाती है। हमारी पूर्वोल्लिखित स्थापना के अनुसार जिस प्रकार क्षयपूर्ण तिथि (अमावस्या) के दुष्प्रभाव से बचने के लिये उससे ठीक एक दिन पूर्व चतुर्दशी को यह उपासना की जाती है उसी प्रकार क्षय होते हुए वर्ष के अन्तिम मास से ठीक एक मास पूर्व ही इसका विधान शास्त्रों में मिलता है जो कि सर्वथा युक्तिसंगत है। सीधे शब्दों में हम कहें तो कह सकते हैं कि यह पर्व वर्ष के उपान्त्य मास और उस मास की भी उपान्त्य रात्रि में मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त हेमन्त-वात्या रूपी प्रखर हंसिया सम्भाले, वनों पर्वतों को शुष्क और उजाड़ बनाने वाला प्रकृति का संहारकारी रूप इसी मास में प्रकट होता दिखलाई पड़ता है जिसका सामञ्जस्य शिव के रौद्र रूप से सर्वथा स्पष्ट ही है। अथच रुद्रों के एकादश संख्यात्मक होने के कारण भी यह पर्व ११वें मास ही सम्पन्न होता है।

संहार के अधिष्ठाता होते हुए भी भगवान् शंकर कहलाते शिव = कल्याण कारक ही है। इसका कारण यह है कि सर्वदा लय में ही उत्पत्ति के बीज छिपे रहते हैं, बिना एक वस्तु के विनाश हुए संसार में दूसरी कभी उत्पन्न नहीं होती। किसी उर्दू कवि ने ठीक ही तो कहा है—"कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।" अतः जबकि उत्पत्ति के लिए संहार अनिवार्य है तो संहार कार्य करके शिव संसार का कल्याण ही तो करते हैं, इसीलिए वे शिव हैं।

सह-अस्तित्व के आद्यस्रष्टा

भगवान् शंकर पुराणों में सम्पूर्ण विरोधी भावों का अनुपम सामञ्जस्य स्थापन करने वाले के रूप में चित्रित किये गये हैं। ऐसा अद्भुत समन्वय, जिसके जोवन में हो सचमुच वही व्यक्ति निन्दा-स्तुतिमय हालाहल को पचाकर अमरत्व लाभ कर सकता है। शिव नारीश्वर हैं परन्तु उनसा काम-विजेता अभी तक कोई उत्पन्न नहीं हुआ। वे गृहस्थी होते हुए भी गृह–स्थ नहीं, श्रीकण्ठ होते हुए भी श्री से बहुत दूर हैं, ऋद्धि सिद्धियों के स्वामी होते हुए भी उनसे पराङ्मुख, उग्र होते हुए भी सौम्य और अकिंचन होते हुए भी सर्वेश्वर हैं, भयंकर विषधर और सौम्य सुधाकर दोनों ही उनके शरीर की शोभा बढ़ाया करते हैं। मस्तक में प्रलयकालीन वह्नि और शिर पर हिम-शोतल जाह्नवीधारा उनका अनुपम शृङ्गार है। उनके गृहाङ्गण में नन्दी वृषभ और दुर्गा-वाहन सिंह साथ-साथ बैठ कर जलपान करते हैं, पारिवारिक सदस्य मयूर और सांप सहज बैर को भुलाकर साथ-साथ क्रीड़ा करते हैं। न्याय एवं प्रेम के शासन का कितना आदर्श चित्र है यह जो भगवान् शंकर ने विविध विषमताओं से त्रस्त एवं विकल विश्व के समक्ष सृष्टि के प्रारम्भ में ही उपस्थित किया है। विभिन्न विचार धारा वाले देशों के मध्य प्रतिदिन चलने वाले शीत एवं गर्म युद्धों से ऊबा हुआ संसार जिस 'सह-अस्तित्व' को अपनाने के लिए आज उद्यत हो रहा है उसके संस्थापक और प्रेरक शिव हो तो हैं। उनका जीवन और परिवार 'अह-अस्तित्व' का कितना सुन्दर निदर्शन है।

शिवरात्रि इन्हीं महान् देवाधिदेव भगवान् शंकर की आराधना का प्रमुख पर्व है। ऐसे अनुपम गुणशाली देव की आराधना करते हुए, उनके आदर्श चरित्र का कीर्तन और पारायण करते हुए हम यदि उनके गुणलव को भी ग्रहण कर लें तो न केवल हमारा किन्तु हमारे सम्पर्क में आने वाले सभी जनों का कल्याण हो जाय। तब जो स्वार्थ-परता, अहंमन्यता और विलासिता हमारे जीवन को खोखला बनाये जा रही है उससे उन्मुक्त हो हम भी त्याग तपोमय जीवन का सच्चा आनन्द उठा सकें।

उपवास, रात्रि-जागरण क्यों ?

(यो जजागार तमृचः कामयन्ते)

शराब, भांग, अफीम आदि पदार्थों की मादकता तो विश्व-विदित है परन्तु शायद सब लोग इस बात पर सहसा विश्वास करने को तैयार न हों कि 'अन्न' में भी मादकता होती है। इस बात को पुष्ट करने के लिए हमें विशेष प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है, भोजन करने के बाद शरीर में आलस्य और तन्द्रा के रूप में अन्न के इस नशे को प्रायः लोग अनुभव करते ही हैं और हिन्दी में 'रोटियें लगना' जैसी कहावतें अन्न की इस मादकता का भली-भांति समर्थन करती है। अन्न में एक प्रकार को ऐसी पार्थिव शक्ति निहित होती है जो पार्थिव शरीर का संयोग पाकर दुगनी हो जाती है। इस शक्ति को शास्त्रकारों ने 'आधिभौतिक शक्ति' कहा है। इस शक्ति की प्रबलता में उस आध्यात्मिक शक्ति को—जिसे कि हम उपासना द्वारा एकत्र करना चाहते हैं—अवकाश कहाँ ? इस तथ्य को अनुभव

करके महर्षियों ने सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुष्ठानों में उपवास का प्रथम स्थान रखा है। **'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः'** के अनुसार उपवास, विषय-निवृत्ति का अचूक साधन है, क्योंकि पेट में रोटियें पड़ जाने के बाद ही तो सिनेमा देखना, गाना सुनना, ताश खेलना, घूमना-फिरना आदि इन्द्रियव्यापार सूझते हैं। भूखे को इन विषयों में क्या रुचि ? अतः अध्यात्मशक्ति को आश्रय देने के लिए आवश्यक है कि आप पहिले उसके लिए स्थान खाली करें और वह उपवास से ही सम्भव है।

रात्रि-जागरण इस व्रत की महत्ता का परिचायक अंग है। गीता के **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'**—का आध्यात्मिक अर्थ भले ही कुछ हो परन्तु सीधा अर्थ तो यही है कि जब सम्पूर्ण प्राणी अचेतन होकर नींद की गोद में जा पड़ते हैं तो संयमी—जिसने उपवास द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है जागकर अपने कार्य को पूर्ण करता है। फलतः जब संयमी पुरुष सदैव रात्री में जाग कर ही अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए प्रयत्न किया करता है तब शिवोपासना के लिए इससे उपयुक्त समय और हो भी कोन सकता है ? इसके अतिरिक्त रात्रिप्रिय शिव से भेंट करने का अवसर और होगा भी कौन ? क्या आप किसी व्यक्ति से 'इन्टरव्यू' करने जाते हुए उसके द्वारा दिए गए समय के पाबन्द नहीं रहते ? जब तमोमय वृत्तियों के नियामक शिव इस तमिस्रा में ही विचरण करने के लिए निकलते हों और आप उनसे मिलने के इच्छुक हों तो फिर क्या जागकर आपको उनकी प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी।

वास्तविक बात तो यह है कि इस अवसर पर यदि आप सच्चे हृदय से 'शिवव्रत'= अपने द्वारा प्राणिमात्र का हित करने

का व्रत ग्रहण करना चाहते हैं तो यह उपवास और जागरण स्वतः ही हो जायेंगे। अक्सर जब कभी आप किसी महान् कार्य में संलग्न होते हैं तब भूख और नींद स्वयं ही हराम हो जाती है ? जब तक वह कार्य पूरा नहीं हो लेता तब तक न आप सुख से भोजन कर पाते हैं न चैन से सो सकते हैं। किसी बात पर गम्भीरता से विचार या महत्त्वपूर्ण निर्णय के लिए सब से उपयुक्त समय क्या रात्री ही नहीं है ? उसमें जागकर ही तो आप एकान्त निर्णय कर पाते हैं। जज लोग महत्वपूर्ण अभियोगों को, प्रोफेसर कठिन एवं अगम्य बीज अथवा रेखा गणित के फार्मूलों को, वैज्ञानिक उलझे हुए साइन्स के मर्मों को कब सुलझा पाते हैं ? बिस्तर पर पड़े-पड़े रात भर जागकर ही तो ! क्या आपको ज्ञात है मार्कोनी—जिसने 'टेलीफोन' जैसी स्मरणीय देन देकर संसार का महान् हित किया है अपने कार्य की सफलता के समय पिछली चार रातों से सोया न था और रात के १ बजे अपने प्रयोग में सफलता प्राप्त कर उसने उल्लास में इतना हल्ला मचाया कि पड़ौसियों की नींद हराम हो गई। व्यापक अर्थों में परम शिवव्रती उसी के उपवास एवं जागरण की बदौलत आज टेलीफोन तथा वायरलैस के आविष्कारों से संसार लाभान्वित हो रहा है। सारांश यह है कि जीवन में शिव का व्रत ग्रहण करने के लिए रात्री-जागरण से अच्छा उपक्रम और क्या हो सकता है ? इसी वक्त तो आपको यह एकान्त और शान्त समय प्राप्त होगा जब कि आप आत्म-निरीक्षण करते हुए शिव चरित्र पर ध्यान दे उससे कुछ ठोस शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे।

भ्रमों का निराकरण

शिव और शिवलिंग पूजन के सम्बन्ध में अधकचरे समालोचकों ने जन सामान्य में बड़ा भ्रम फैलाया है। किसी ने शिव को अनार्य देवता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तो कोई 'लिंग' शब्द से इतने व्यामोह में पड़ा कि अश्लील कल्पना के सहारे शिवलिंग-पूजन को आदि-कालीन असभ्य एवं वनैली जातियों का कृत्य सिद्ध करने में ही अपनी सम्पूर्ण बुद्धि का दिवाला निकाल बैठा। संक्षेप में इन भ्रमों के निराकरण के साथ हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

शिव और शिवलिंग-पूजन भारत में क्या, विश्व में अनादिकाल से प्रचलित है। विश्व वाङ्मय के आदिग्रंथ वेदों में न केवल शिव किन्तु उनके सम्पूर्ण जीवन-चरित्र का विशद वर्णन विद्यमान है। पिछले दिनों मोहेञ्जोदारो में जो खुदाइयें हुई और जिन्हें विदेशी लोग वैदिक सभ्यता से भी प्राचीन काल की स्वीकार करते हैं, उनमें प्राप्त शिवलिंग प्रतिमायें विश्व में शिवोपासना की प्राचीनता की ज्वलन्त प्रमाण हैं। शास्त्रीय विवेचनानुसार शिवलिंग ब्रह्माण्ड का एवं निराकार ब्रह्म का प्रतीक है। जिस प्रकार निराकार ब्रह्म, रूप-रंग आकार—हाथ, पांवादि अवयव विशिष्टता से समुद्भूत होने वाले आकार विशेष से रहित है ऐसे ही शिवलिंग भी। संसार में 'कुछ नहीं'—या 'अभाव' को जतलाने के लिए सर्वत्र आज भी इसी शिव-लिंग-सन्निभ अण्डे-शून्य 0 का ही प्रयोग तो होता है। यह शून्य कुछ नहीं होते हुए भी जैसे सब कुछ होता है किसी भी अंक के दाहिने होकर जैसे उसे सदा दसगुणा अधिक महत्त्व

प्रदान कर देता है वैसे ही शिव भी दाहिने=अनुकूल हो जाने पर मनुष्य को अनन्त समृद्धि प्रदान कर देते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भगवान् शंकर के पूजन, चरित्र-मनन एवं गुणानुवाद द्वारा इस पर्वपर आत्मशुद्धि करके कल्याण पथ की ओर अग्रसर हो।

महाशय मूषक बनाम ऋषिबोध (?)

आर्यसमाज ने शिवरात्रि का अपर नाम 'ऋषि-बोध' उत्सव रख छोड़ा है और कहा जाता है कि इस दिन शिवपिंडी पर चढ़कर चावल चुगते महाशय मूषक को देखकर स्वामी जी को मूर्तिपूजा की व्यर्थता का तथा निराकार निरञ्जन शिव-तत्त्व का बोध हुआ था। समाजी उपदेशक उक्त घटना को अतिरंजित शब्दों में उपनिबद्ध करके ऐसे औपन्यासिक ढंग से कहा करते हैं कि मानो यही घटना आर्य-समाज के खुदाई इलहाम होने की एकमात्र आधार-भित्ति है और यही मूर्तिपूजा के खण्डन का सर्वोपरि अमोघ अस्त्र है। यदि हिन्दु जाति के इस गलित अंग की चिकित्सा किए बिना ही 'शिवरात्री' का यह प्रघट्ट समाप्त कर दिया जाए तो यह अवश्य ही अधूरा रहेगा एतदर्थ दयानन्दी भाइयों का व्यामोह दूर करने के लिए हम उक्त घटना पर मनोवैज्ञानिक विचार करना चाहते हैं। आर्यसमाजी सज्जनों को बड़े ही धैर्य के साथ हमारे इस विवेचन का अध्ययन और मनन करना चाहिए।

हाँ, तो आधी रात के समय जब अन्य सब शिवभक्त तो दिन भरके भूखे प्यासे व्रती होने के कारण निन्द्रा तन्द्रा में ऊँघने लगे, केवल चौदह वर्ष का बालक मूलशंकर (भावी स्वामी

दयानन्द सरस्वती) जाग रहा था। उसने देखा कि एक चुहिया शिवपिंडी पर चढ़ कर भक्तों द्वारा पूजा में अर्पित चावलों को बेरोक टोक चट कर रही है। बस ! फिर क्या था—बालक मूलशंकर के मन में तर्क वितर्कों का समुद्र उमड़ पड़ा, उसने सोचा—'यदि यह पाषाणमय पिण्डी शिव है तो—शास्त्रवर्णित श्रुत कथाओं के आधार पर—शिव तो हाथ में भयंकर त्रिशूल रखता है, और उनके तो तीसरे नेत्र के उन्मेषमात्र से समस्त ब्रह्माण्ड भस्मसात् होकर प्रलय की गाढ़ी निद्रा में निलीन हो जाता है फिर कथित शिव=पाषाणमय पिण्डी तो एक छोटी सी चुहिया को भी अपने ऊपर से हटाने में असमर्थ है। जब यह स्वयं अपनी रक्षामें असमर्थ है तब भक्तों का क्या भला-बुरा कर सकती है—आपाततः अवश्य ही यह पाषाण पिण्डी शिव नहीं है ! इसका पूजना व्यर्थ है, बस ! मैं उस असली शिव का पता लगाने के लिए अपना यह जीवन अर्पण करता हूँ' इत्यादि २। दयानन्दी महाशयों का दृढ़ विश्वास है कि स्वामी जी के मनमें जो यह तर्क तूफान उभड़ा और उसका अन्तिम परिणाम जो प्रतिमा-पूजन का वैय्यर्थ्य निकला, बस ! यह स्वामी दयानन्द को ईश्वरप्रदत्त बोध हुआ और स्वामी जी का यह 'बोध' ही आर्यसमाज की संस्थापना की पृष्ठ-भूमिका है।

इस घड़न्त कहानी में कितनी अति-रञ्जना से काम लिया गया है इस बातको कोई भी समझदार व्यक्ति इसकी शब्दावली से ही झटिति अनुमान कर सकता है। 'दयानन्द चरित्र दर्पण*के

---

*टिप्पणी—यह प्रामाणिक जीवन चरित्र फर्रुखनगर जिला-गुड़गांवा (पंजाब) निवासी चौधरी जियालाल का लिखा हुआ है। दयानन्दियों ने इस की कई बातों पर चिड़कर कोर्ट के दर्वाजे खटखटाए थे परन्तु न्यायाधीश ने इसे प्रामाणिक मानकर दावा खारिज कर दिया था।

लेखानुसार भावी दयानन्द=शिवभजन नामक बालक अपने पिता 'हरिभजन' सहित अपनी कुल परम्परागत कापड़ी जाति की आजोविका के लिए उक्त शिवालय में सदा की भांति नृत्य कीर्तन करने के लिए ही गए थे जैसा कि पर्वोत्सवों के समय रासधारी आदि गायकों की मण्डलियें 'रतजगा' करने के लिए अब भी प्राय: यत्र-तत्र जाती हैं। ऐसी स्थिति में अन्य सब भारी भरखम भक्त समाज का सो जाना और अकेले मूलशंकर बालक का ही जागते रहना जहाँ यह चण्डूखाने की अतिशयोक्तिपूर्ण अविश्वसनीय कोरी महागप्प है वहाँ अज्ञानमूलक कुतर्क और तत्समुद्भूत भ्रामिक परिणाम को भी 'बोध' कहना तथ्य की अक्षम्य विडम्बना ही है।

यदि क्षणमात्र के लिए इस मिथ्या कथानक का यह अंश स्वीकार कर लिया जाए कि वस्तुत: बालक मूलशंकर के मनमें पिण्डो पर चढ़ी चुहिया को देखकर कथित तर्क वितर्कों का समुद्र उमड़ा हो था तब भी उसका अन्तिम परिणाम मूर्तिपूजा की व्यर्थता कदापि नहीं निकल सकता, क्योंकि यदि अपने ऊपर से चुहिया न हटा सकने के कारण ही मूर्ति परमात्मा नहीं है और एतावता यह भी सिद्ध हो सकता है कि ईश्वर सगुण और साकार नहीं हो सकता तो इसी तर्क के आधार पर नास्तिकों द्वारा निर्गुण निराकार परमात्मा का अस्तित्व भी सुतरां उड़ाया जा सकता है।

पिछले दिनों लाहौर से अनीश्वरवादी समुदाय देव समाजियों का 'जीवन तत्त्व' नामक एक उर्दू साप्ताहिक निकलता था। उसके सम्पादक ने आर्यसमाज को चैलेञ्ज किया कि जैसे मूर्ति पर चढ़ी चुहिया को न हटा सकने की दलील से तुम

सगुण साकार परमात्मा का न होना मानते हो तुम्हारी इसी दलील के आधार पर देवसमाज तुम्हें और तुम्हारे माने हुए निर्गुण निराकार परमात्मा को चैलेञ्ज करता है कि मैं अपने इस समाचार-पत्र में उसकी शान में सौ गालियें लिखता हूँ, वह मेरी कलम को रोक दिखाए और मुझे मार डाले। चुनांचे अगले अङ्क में सौ गाली छाप डाली और लिखा कि 'यदि चुहिया न हटा सकने के कारण वह साकार नहीं' तुम्हारी यह दलील दुरुस्त है तो मेरी कलम न रोक सकने के कारण वह निराकार भी नहीं अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं। दयानन्दी सज्जनों को इस विवाद में अपनी लचर दलील के कारण मुँह की खानी पड़ी। उनसे नास्तिक देवसमाजियों के कुतर्क का कुछ भी उत्तर न बन पड़ा।

वास्तव में यह धारणा ही गलत है कि परमात्मा अपराधी को तत्काल ही वहीं फांसी पर लटका दे तो हम उसे मानें। यह धारणा वैसी ही लचर है जैसा कि चप्पल चुराने वाले किसी चोर को तत्काल यदि उस देश का राष्ट्रपति या सम्राट् स्वयं अपने हाथों दण्ड न दे तो वह राष्ट्र राष्ट्रपति या सम्राट् के अस्तित्व से विहीन मान लिया जाए ! जैसे चप्पलों के चोर के लिए पंचायत के सरपञ्च का एक तमाचा ही पर्याप्त है, इस छोटे-से काण्ड के लिए राष्ट्रपति की दौड़-भाग आवश्यक नहीं। इसी प्रकार शिवलिङ्ग पर चढ़ी महाशयों की चुहिया के लिये फील्ड मार्शल मिस्टर बिलाव ही काफी है। जिस शिव के नेत्रकोण के उन्मेष मात्र से समस्त ब्रह्माण्ड भस्म हो जाता है उस प्रलयंकर शंकर का अमोघ 'त्रिशूल', वह भी नगण्य चुहिया पर, उठना आवश्यक नहीं। आर्यसमाज के पास क्या प्रमाण है कि वह चुहिया ज्यों

ही भर पेट चावल चुगकर मन्दिर से बाहर निकली कि ताक में बैठे बिलाव ने उसका एक ग्रास में ही कलेवा न कर डाला हो और इस तरह आर्यसमाज प्रवर्तक स्वा० दयानन्द की बोध-दात्री पूज्य गुरु जी को शिव प्रतिमा के कथित अपमान का उग्रदण्ड मिला हो। हम तो आज भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि मिस्टर बिलाव उस चुहिया के अपराध का बदला चुकाने के लिये उसके वंशधरों को भी क्षमा नहीं करते ! जिस बम्बई में स्वामी दयानन्द ने सन् १९७५ में सर्वप्रथम 'आर्यसमाज' की स्थापना की थी, उसी बम्बई में उसी वर्ष पहिले-पहल ताऊन (प्लेग) की सामूहिक बीमारी का प्रादुर्भाव हुआ। आर्यसमाज का प्रादुर्भाव जैसे चुहिया की करतूत से हुआ, ठीक उसी प्रकार प्लेग की उत्पत्ति भी चुहिया के वंशधरों की करतूत का ही कुपरिणाम कहा जाता है। भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग ने जब चुहिया के ये काले कारनामे अनुभव किये तो तब से सरकार ने एक 'चूहा मार' स्वतन्त्र विभाग ही स्थापित कर डाला जो आज भी न केवल भारत में ही अपितु अन्यान्य देशों में भी सदैव अपने कर्त्तव्य-पालन में सक्रिय और तत्परतापूर्वक सचेष्ट रहता है।

अब महाशयों से पूछो कि जब शिवपिण्डी पर चढ़कर चार चावल चुगने के कथित अपराध के कारण न केवल उसी एकमात्र चुहिया को अपितु उसके समस्त वंशधरों को भी देश-देशान्तरों की सरकारों का कोप-भाजन बनकर दण्ड भुगतना पड़ रहा है फिर भी तुम्हारा यह कहना कि 'यदि शिव-प्रतिमा में ईश्वर होता तो वह चुहिया को दण्ड देता' कहां तक ठीक है।

वास्तव में शिवरात्रि ईश्वर की **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'**

इस भावना की उत्पत्ति का स्मारक दिवस है। इसी दिन उक्त भावना से अकेला ईश्वर प्रकृति-सम्पन्न होकर सृष्टि-रचना में समर्थ हो पाया था। इस विज्ञान को पौराणिक भाषा में पुरुष रूप शिव और प्रकृतिरूपा पार्वती का, सृष्टि-क्रियारूप वैवाहिक बन्धन में बँधने का दिवस कहा जाता है। सो शिव-पार्वती के विवाहोत्सव में जब निमन्त्रित सभी देवगण सपरिकर नानाविध भक्ष्य भोज्य उपहारों से परितृप्त हो रहे थे तब अपने ही माता* पिता के विवाहोत्सव में अग्रपूजा के लिए निमन्त्रित गणेश मूषक वाहन सहित पधार कर परितृप्त न हों यह कैसे हो सकता है। सो सब देवताओं ने और उनके वाहनों ने यथारुचि पदार्थ खाए और परितृप्त हुवे। गणेश जी, गो० तुलसीदास जी के शब्दों में 'मोदक प्रिय मुद मंगल दाता' हैं, अतः मूषक महोदय भी कई दिन तक भरपेट मोदक ही मोदक खाता रहा। यह स्वाभाविक बात है कि पक्का गरिष्ट मिष्टान्न खाते जब जी ऊब जाता है तब अभ्यागत अतिथि दाल भात आदि कच्चे भोजन की इच्छा करने लग जाते हैं और अपने आतिथेय को तादृश भोजन खिलाने का तकाजा करते हैं, सो यदि मूषक महाशय भी कदाचित् मोदकों से ऊबकर चावल खाने की निःसंकोच प्रवृत्ति से शिरचढ़े अबोध बालक की भान्ति पेश आया हो तो उसकी इस बेतकल्लुफी पर आशुतोष भगवान्

---

* **टिप्पणी**—माता पिता के विवाह में पुत्र की उपस्थिति की शंका का निराकरण करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'राम चरित मानस' में शिव पार्वती के विवाह में गणेश पूजा पर लिखा है कि—जनि कोउ शंका करहि अस, सुर अनादि जिय जानि'।

अप्रसन्न होकर त्रिशूल उठायें या वात्सल्य-वारिधि में विभोर होकर आनन्दोद्रेक का परिचय दें ?

उस दिन हमारे बूढ़े घरेलू सेवक बुद्धु ने—मेरे उस पुत्र के विवाहोत्सवमें, जो कि उक्त सेवक की गोदमें खेलता २ ही इतना बड़ा हुआ था—कई दिन से इनाम में दुशाला मांगते २ मेरे कन्धे पर से ओढ़ा हुवा जरीदोज दुशाला बेतकल्लुफी से छीन कर स्वयं ओढ़ लिया [मैं ननु नच किन्तु परन्तु करता ही रह गया] और बड़े चाव से प्रेमावरुद्ध कण्ठ से उसने कहा 'बस ! अन्नदाता, मैं बड़ी मुद्दत से इस शुभ दिन की प्रतीक्षा में था आज भगवान् ने मेरा मनोरथ पूरा किया ।' अब कहिए महाशय जी, मैं अपने इस वफादार आजीवन सेवा करने वाले नौकर की इस हरकत पर गद्गद् होऊँ अथवा हृदयहीन बनकरी इसे पुलिस में डाकू बतलाकर जेलखाने भिजवा दूँ ? आपकी जो राय शरीफ हो सो करूँ ।'

बस ! जो वर्ताव आप उक्त नौकर से करने की सम्मति देंगे वही न्याय शिवपिण्डो के चावल चट करने वाली चुहिया से किया जाएगा । यह भी शिवपार्वती के विवाह में कीमती दुशाला नहीं बल्कि सिर्फ चार चावल मात्र चुगने की अपराधिनी है ।

अच्छा चलो ! हमारे साकार भगवान् की निर्बलता की चर्चा छोड़ो । हम आपके तीस मारखां निराकार बाबा की बहादुरी देखना चाहते हैं । जिस चुहिया ने शिवपिण्डी पर चढ़ने की गुस्ताखी की थी वही चुहिया हमारे शिवालय से निकल कर दयानन्दियोंके आर्यसमाज मन्दिर में प्रविष्ट हो गई और वहांसे सीधी पुस्तकों की आलमारी में घुस गई । निराकार भगवान् की

पवित्र वाणी वेदों पर चढ़ बैठी और घंटों तक उनको पावों से रोंदती रही तथा जहाँ तहां से कुतर २ कर खा गई। सत्यार्थप्रकाश पर तो कम्बख्त ने—हरे राम ! हरे राम !—पेशाब भी कर डाला ! रविवार को जब हवनकुण्ड साफ किया जाने लगा तो देखा कि कुण्ड के चारों ओर बिखरी 'डालडा' में सनी नारियल की गिरी बेतहाशा खा २ कर बदमाश ने मेंगन ही मेंगन बखेर दी। हाय ! निराकार बाबा ! तुम भी शिवपिंडी की भान्ति निर्बल निकले ! जिस चुहिया के उत्पात से साकार को छोड़ा था उसी के उत्पात से आज तुम्हें तिलाञ्जलि देने को दिल भड़भड़ा रहा है। वस्तुतः 'जैसे सांपनाथ वैसे ही नागनाथ।' हे ब्रह्म, तुम भी कोरे नपुंसक ही हो ! मेरे सामने मेरी वेद पुस्तकको मेरा अबोध बेटा भी जरा पांव लगा देता तो मैं उसे भी तमाचा रसीद किए विना नहीं रहता। परन्तु तेरे सामने तेरी वाणी को तुच्छ चुहिया पांवों से रौंदे उस पर मूत्र और मेंगन तक कर डाले, परन्तु तू ताकता रह जाए ! बस ! 'हम बाज आए मुहब्बत से, उठाओ पानदान अपना।'

जो हो ! हम तो उस शिवरात्रि के उपलक्ष्य में भगवान् का भूरि भूरि धन्यवाद करते हैं कि उस दिन सौभाग्यवश शिवपिण्डी पर स्वामी दयानन्दको चुहिया ही दीख पड़ी जिससे विचलित हो स्वामी जी ने केवल साकार परमात्मा को ही तिलांजलि दो; आस्तिकों के भाग्य से बेचारा निराकार परमात्मा तो बाल बाल बच गया। आधी पूँजी ही नष्ट हुई। कदाचित् दुर्भाग्यवश चुहिया के बजाए कहीं बिल्ली का बच्चा पिण्डी पर चढ़ बैठता तब तो उसे देख स्वा० दयानन्द साकार और निराकार दोनों को ही तिलांजलि दे बैठते और यदि कहीं अतीव दुर्भाग्य-

वश वह म्याऊं कर बैठता तब तो निराकार साकार की कौन कहे वे स्वयं अपने अस्तित्व में भी सन्देह करने लग जाते।

कथा प्रसिद्ध है कि हिरण्यकशिपु ने सनातनधर्मी बालक प्रह्लाद से ईश्वर विश्वास छुड़ाने के लिये अन्यान्य उग्र यातनाओं के साथ २ एक दिनके भूखे सिंहके आगे भी उसको खड़ा किया। आशा थी कि सिंह से भयभीत हुवा प्रह्लाद ईश्वर को छोड़ देगा परन्तु प्रह्लाद टस से मस न हुआ, निर्भय होकर तथैव अपने विश्वास की घोषणा करता रहा। उल्टा सिंह ही अपने हिंसक स्वभाव को छोड़ कर प्रह्लाद को चाटने लगा। बलिहारी इस सनातनधर्मी बालक की ! एक यह बालक है जो सिंह को मुंह फाड़े सामने देख कर भी ईश्वर-विश्वास से पराङ्मुख नहीं होता ! एक आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द हैं जो चुहिया मात्र को देख कर ही आधे ईश्वर को छोड़ बैठे। कदाचित् बलूंगड़ा देख पाते तो निराकार और साकार दोनों को ही छोड़ बैठते। क्यों न प्रह्लाद से आस्तिक बालक के चरणों पर इन बड़े बूढ़े खुर्राटों को न्यौछावर कर दिया जाए।

अब विज्ञ पाठक ही विचार करें इस दिन स्वामी दयानन्द जी को 'बोध' हुवा था या भ्रामक व्यामोह हुवा था ?

स्वा० दयानन्द के अपने व्याख्यान के आधार पर लिखित और स्वयं आर्यसमाजियों द्वारा ही प्रकाशित 'दयानन्द जीवन-चरित्र' के लेखानुसार स्वामी जी को भांग पीने का अतीव दुर्व्यसन लगा था। एक बार तो वे भाँग के नशे में अतीव मस्त होकर 'चाण्डाल गढ़' के शिवालय के विशालकाय नन्दी में घुस कर अचेत हुवे पड़े रहे। सौभाग्यवश जब किसी शिव पूजिका देवी ने नन्दी के मुख में पूजा दही डाला तब उसको

चाटने पर स्वामी जी को होश आई। जान पड़ता है यह बुरी लत स्वामी जी को बचपन में ही लग गई थी। गाने नाचने का पेशा करने वाले लोगों में ऐसे दुर्व्यसन प्रायः देखे भी जाते हैं। तो चुहिया वाला किस्सा भी यदि वास्तव में घटित हुवा था तो वह अवश्य ही मादक भंग की तरंग का ही कुपरिणाम था। कुछ भंग-व्यसनी लोग शिवरात्री को अब भी शास्त्र की झूठी दुहाई देकर तत्परता से अपनी इस इलत को पूरा करते हैं परन्तु वास्तव में इस कुप्रथा का शास्त्र से रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। सभी नशीले पदार्थ बुद्धि-नाशक हैं यह आयुर्वेद की डिण्डिम घोषणा है यथा—'बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारी तदुच्यते'। फिर यदि यह शिव का अनुसरण कहा जाए तो शिव ने तो उस 'हलाहल' का पान किया था जिसकी एक बून्द से 'अकाण्ड-ब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरगणः' त्राहि २ करने लगे थे। भक्त होने का दावा रखने वाले व्यसनियों को पाव भर तो शंखिया खा देखना चाहिये।

निःसंदेह बोधप्राप्ति की यह कहानी सर्वथा निर्मूल है जो स्वा० दयानन्द जी के ही शब्दों में 'मरने के बाद सिद्ध' बनाने वाली कुप्रथा की निदर्शन है।

होली

फाल्गुन पूर्णिमा को सम्पन्न होने वाला 'होली' नामक त्योहार वर्ष का अन्तिम तथा जन सामान्य का सबसे बड़ा त्योहार है। आबालवृद्ध नर नारियों में जो उल्लास और उत्साह इस अवसर पर दिखाई पड़ता है वह वर्ष भर में कभी नहीं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों ही अपने वर्ण एवं वर्गभेद को भुलाकर इसमें समान रूप से सम्मिलित होते हैं।

होली का आरम्भ कब हुआ—इस विषय में इदमित्थं कुछ भी कहना साहसमात्र ही होगा। भारतीय इतिहास के आदि स्रोत वेदों और पुराणों में उल्लेख होने से 'होलिकोत्सव' हिन्दु जाति का वैदिककालीन पर्व कहा जा सकता है। प्राचीन काल में इस अवसर पर वेद के 'रक्षोहणं बलगहणम्' आदि राक्षस विनाशक मन्त्रों से होली की अग्नि में हवन किया जाता था और इसी पूर्णिमा से प्रथम चतुर्मास सम्बन्धी 'वैश्वदेव' नामक यज्ञ का आरम्भ होता था, जिसमें लोग खेतों में तैयार हुई नई आषाढ़ी फसल के अन्न—गेहूँ, जौं, चना आदि—को आहुति देकर फिर उसे स्वयं यज्ञशेष प्रसाद के रूप में ग्रहण करते थे।

कोष ग्रन्थों के अनुसार संस्कृत में भुने हुए अन्न को 'होलका' नाम से पुकारा जाता है अतः इसी के नाम पर 'होलिकोत्सव' का प्रारम्भ मानकर इस पर्व को हम वैदिक कालीन ही कह सकते हैं। आज भी होलीदाह के समय डंडों पर बन्धी गेहूं व जौं की बालों को भूनते हुए लोग पूर्वकाल में इस समय सम्पन्न होने वाले यज्ञों की बची खुची स्मृति को सजीव रखते हैं। यज्ञान्त में लोग उस यज्ञभस्म को शिर पर धारण कर उसकी वन्दना किया करते थे जिमका विकृत रूप आज होली की राख को बलात् लोगों पर उड़ाने के रूप में रह गया है। उस समय का धूलिहरी शब्द ही आज विकृत हो कर 'धुलैंडी' बन गया है।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया अनेक ऐतिहासिक स्मृति इस दिन के साथ संकलित होती गईं और उन्होंने इस पर्व को अपनी २ विशेष प्रवृत्तियों से संयुक्त करके आज की 'होली' के रूप में ढाल दिया। नारदपुराण के अनुसार यह पवित्र दिन परम भगवद्भक्त प्रह्लाद की विजय और हिरण्यकशिपु की बहिन 'होलिका' के विनाश का स्मृति-दिवस है। प्रसिद्ध है कि वह राक्षसी अग्नि में न जल सकने के बरदान से गर्विता हो अपने भतीजे प्रह्लाद को गोद में लेकर इसलिये अग्नि-चिता में बैठी थी कि इस प्रकार प्रह्लाद जल जाएगा और ईश्वर तथा ईश्वर-वादियों का सदा के लिये अन्त हो जाएगा। किन्तु उसका कुत्सित अभिप्राय उसी को ले डूबा। प्रभु ने प्रह्लाद को सर्वथा सुरक्षित बचा कर संसार में आस्तिकता को बचा लिया। फलतः आज का दिन न केवल अग्नि-ज्वालाओं में से तपे कुन्दन की भांति और भी उज्ज्वल रूप में प्रकाशित होने वाले सत्य एवं न्याय की विजय का स्मृति-दिवस है, किन्तु अन्याय एवं पाप अपने ही ताप से दग्ध हो जाते हैं—इस बात का समर्थक भी है।

भविष्यपुराण इस पर्व से एक और ऐतिहासिक घटना का सम्बन्ध जोड़ता है। कहा जाता है, महाराजा रघु के राज्यकाल में ढुण्ढा नामक राक्षसी के उपद्रवों से भयभीत प्रजाजनों ने महर्षि वसिष्ठ के आदेशानुसार बालकों को लकड़ी की तलवार ढाल आदि देकर हो हल्ला मचाते हुए (राक्षसविनाशार्थं राक्षसी आचरण का अभिनय करते हुए) स्थान २ पर अग्नि-प्रज्वलन तथा अग्नि-क्रीड़ा आदि का आयोजन किया था और इस प्रकार

वह राक्षसी-बाधा वहाँ से सर्वथा शान्त हो गई थी। वर्तमान होलिकोत्सव में बालकों का उपद्रव करना और कर्णकष होहल्ला मचाना आदि बातें इसी घटना की देन समझनी चाहियें।

होली की अक्षुण्ण परम्परा

वेद तथा पुराणों के अनन्तर हमारे अवान्तरवर्ती सम्पूर्ण साहित्य से भी होली के प्रचलन का पता चलता है। जैमिनी-मीमांसा दर्शनकार ने अपने ग्रन्थ में होलिकाधिकरण नामक एक स्वतन्त्र प्रकरण लिख कर होली की प्राचीनता को प्रदर्शित किया है। विन्ध्यप्रदेश के रामगढ़ नामक स्थान से ३०० ईसा पूर्व का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें पूर्णिमा को मनाये जाने वाले इस उत्सव का उल्लेख है। स्पष्ट है कि होली की परम्परा उस समय भी प्रचलित थी।

वात्सायन महर्षि ने अपने कामसूत्र में 'होलाक' नाम से इस उत्सव का उल्लेख किया है। इस पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय परस्पर किंशुक=ढाक के पुष्पों के रंग से तथा चन्दन केसर आदि से खेलने की प्रथा विद्यमान थी। सातवीं शताब्दी में विरचित रत्नावली नाटिका में महाराजा हर्ष ने होली का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। ११वीं शताब्दी में मुस्लिम पर्यटक अलबरूनी ने अपने इतिहास में भारत में होली के उत्सव का उल्लेख किया है—जिससे इस उत्सव की तात्कालिक लोकप्रियता का अच्छा परिचय मिलता है। तत्कालीन अन्य मुस्लिम लेखकों के ऐतिहासिक वर्णनों से पता चलता है कि उस समय भारत में हिन्दु और मुसलमान

समान रूप से इस उत्सव में भाग लेते थे ; यहां तक कि सम्राट् अकबर और जहांगीर के समय में शाही परिवार के सदस्य भी इसे बड़े समारोह से मनाते थे। १७५७ ईस्वी में अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के कारण उस वर्ष राजपरिवार में यह उत्सव न मनाया जा सका था—इसका भी उल्लेख मिलता है। यह सब वर्णन करने का भाव यही है कि होली के उत्सव की परम्परा भारत में वैदिक काल से लेकर आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है और परस्पर प्रेम एवं भ्रातृत्व के सन्देश द्वारा अनेक वर्णों में बंटी हुई भी हिन्दु जाति को संगठन-सूत्र में पिरोये हुए है।

विश्वव्यापी पर्व

वाणिज्य व्यवसायार्थ भारत से बाहर सुदूर विदेशों में जाने वाले भारतीय तत्तद् देशों में बस जाने पर भी अपने इस प्रिय उत्सव को न भुला सके। फलतः भारत से बाहर के देशों में भी हमें अपनी मूल भावना को सुरक्षित रखते हुए होली' अपने विविध रूपों में मिलती है।

इटली—के प्रदेश में यह उत्सव फरवरी में 'रेडिका' के नाम से मनाया जाता है। सायंकाल के समय लोग भांति-भांति के स्वांग बनाकर 'कार्निवाल' की मूर्ति को एक रथ पर बैठाकर विशिष्ट सरकारी अधिकारी की कोठी पर पहुँचते हैं। उनके सम्मिलित हो जाने पर अब गाना-बजाना आरम्भ हो जाता है और गाते-बजाते यह जलूस नगर के चौराहों से गुजरता हुआ शहर के मुख्य चौक पर पर पहुँचता है। वहाँ इकट्ठी की

हुई सूखी लकड़ियों में इस रथ को खड़ा करके इसमें आग लगा दी जाती है। लोग खूब गाते, बजाते, नाचते और यथेच्छ कोलाहल करते हैं।

फ्रांस—फ्रांस के नारमंडी नामक स्थान में घास से बनी हुई मूर्ति को शहर में घुमाकर गाली तथा भद्दे शब्द बकते हुए आग लगा देते हैं। बालक कोलाहल मचाते हुए, गाते हुए इसकी प्रदक्षिणा करते हैं।

जर्मनी—ईस्टर के समय में पेड़ों को काटकर गाड़ दिया जाता है। उनके चारों ओर लकड़ी घास आदि का ढेर इकट्ठा कर देते हैं और उसमें आग लगा देते हैं। उस समय बच्चे एक-दूसरे के मुखों पर विविध रंग (गुलाल आदि) मलते हैं। लोगों के कपड़ों पर ठप्पे लगाकर अनेक प्रकार से मनोविनोद करते हैं।

स्वीडन नार्वे—सैन्ट जॉन की पवित्र तिथि पर लोग सम्मिलित होकर अग्नि-क्रीड़ा महोत्सव करते हैं। सायंकाल किसी प्रमुख स्थान पर अग्नि जलाकर लोग नाचते, गाते और उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि इस प्रकार अग्नि-परिभ्रमण से उनके स्वास्थ्य की अभिवृद्धि होती है।

साइबेरिया—ग्रीष्म ऋतु के आगमन से पूर्व बालक घर पर जाकर लकड़ियां इकट्ठी करते हैं। इकट्ठी हो जाने पर उनमें आग लगा दी जाती है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे का हाथ पकड़कर तीन बार अग्नि-परिक्रमा कर उसको लांघते हैं।

उनकी मान्यता हैं कि ऐसा करने से वर्ष भर बुखार नहीं होता।

अमेरिका—में होली का त्यौहार 'हैलोईन' के नाम से प्रतिवर्ष ३१ अक्टूबर की रात को मनाया जाता है। १२ मार्च, १९५४ का 'अमेरिकन रिपोर्टर' लिखता है—'हैलोईन' का त्यो-हार अनेक दृष्टियों से भारत के होली त्योहार से मिलता-जुलता है। यह ईसा से बहुत पहिले का अंग्रेजी त्यौहार है। जब पुरानी दुनियां के लोग अमेरिका पहुँचे तो वे अपने साथ 'हैलोईन' का त्योहार भी ले आये। यह त्योहार बालकों को बहुत पसन्द है बच्चों की टोलियां सूर्यास्त होने के बाद खेलने-कूदने, मसखरी करने, नाचने-गाने आदि के लिए जमा हो जाती हैं। इस अवसर पर खूब खुशियां मनाई जाती हैं और स्वांग रचे जाते हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'होली' विश्वव्यापी त्योहार है और प्रायः सभी देशों में किसी-न-किसी रूप में इसे अवश्य मनाते हैं। विदेशों में यथार्थ वैदिक प्रणाली के लुप्त हो जाने के कारण यद्यपि इसके काल और विधान में अन्तर पड़ गया है है परन्तु मूल-भावना वहाँ भी वही है।

वैज्ञानिक-विवेचन

१—हमारे अन्य पर्वों की भांति होली भी सर्वथा विज्ञान पर आश्रित पर्व है। इसकी सभी क्रियाएँ रहस्यपूर्ण हैं और अप्रत्यक्षरूपेण मानव-स्वास्थ्य और शक्ति पर पड़ा प्रभाव डालती हैं। देश भर में एक साथ एक रात में सम्पन्न होने

वाला होलिका-दहन इस जाड़े और गर्मी की ऋतु-सन्धि में फूट पड़ने वाली चेचक, मलेरिया, खसरा तथा अन्य अनेक संक्रामक रोग-कीटाणुओं के विरुद्ध सामूहिक अभियान है। स्थान-स्थान पर प्रज्वलित महाअग्नि की प्रदीप्त ज्वालाएँ आवश्यकता से अधिक ताप द्वारा समस्त वायु-मण्डल को उष्ण बना कर जहाँ सूर्य की समुचित उष्णता के अभाव से उत्पन्न इन रोगों के कीटाणुओं का संहार कर देती हैं वहाँ प्रदक्षिणा के बहाने अग्नि की परिक्रमा के समय १४० डिग्री फारनहाइट ताप को अपने शरीर में समाविष्ट करने वाली जनता के शरीरस्थ समस्त रोगोत्पादक जीवाणुओं (Bacterias) को भी नि.शेष करने में समर्थ होती है।

२—होली के अवसर पर होने वाले नाच, गान, खेल-कूद हल्ला-गुल्ला, विविध स्वांग और हंसी-मजाक वसन्त ऋतु की इस मादक वेला में स्वाभाविक तो हैं ही, किन्तु नित्तान्त लाभप्रद भी। वसन्त ऋतु अपनी नव-स्फूर्ति और नव-चेतना के लिए प्रसिद्ध है। न केवल मानव किन्तु अबोध पशु-पक्षी आदि जीव-जन्तु भी ऋतुराज वसन्त के अप्रतिम प्रभाव को अनुभव करते दिखाई पड़ते हैं। यही क्यों ? इस ऋतु में तो वनस्पति-जगत् भी अपने अभिनव विकास के साथ नव-नूतन पुष्पाञ्जलि लिये वसन्त के स्वागत में खड़ा दृष्टिगोचर होता है। फलतः वसन्त की प्रेरणा से मनुष्य में क्रीड़ा एवं मनोविनोद की प्रवृत्ति स्वयं सजग हो उठती है और वह होली के रूप में फूट पड़ती है। वसन्त के कारण रक्त में आने वाला द्रव शरीर में आलस्य तथा मस्ती का जनक भी होता है। आप अनुभव करके

देख लें जितनी अच्छी नींद इन दिनों में आया करती है उतनी वर्ष में कभी नहीं। यह खेल-तमाशे, क्रीड़ा कौतुक इस आलस्य को दूर भगा कर मनुष्य को वसन्त का वास्तविक आनन्द उठाने में क्षम बनाते हैं।

महर्षि सुश्रुत ने वसन्त को कफ-कोपक ऋतु माना है, तथा—

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशु तापितः।
हत्वाग्नि कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत् ॥

—आदि आयुर्वेदोक्त वचनों के अनुसार शिशिर ऋतु में, इकट्ठा हुआ कफ वसन्त में पिघल-पिघलकर कुपित होकर जुकाम, खांसी, श्वास, दमा आदि नाना प्रकार के रोगों की सृष्टि करता है इसलिए उसके उपशमन के उपायों में शास्त्रकारों ने बतलाया है कि—

तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः।
व्यायामोद्वर्तघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम् ॥

अर्थात्—तीक्ष्णवमन, तीक्ष्णनस्य, लघु रूक्ष भोजन, व्यायाम, उद्वर्तन और आघात आदि का प्रयोग कफ को शान्त करता है।

फलतः ऊँचे स्वर से बोलना, गाना-बजाना, कूदना, फांदना, भागना, दौड़ना आदि सब ऐसी ही व्यायामिक क्रियायें है जिस से कफ-कोप शान्त हो जाता है और सहसा कोई कफ-उपद्रव-जन्य विकार खड़ा नहीं होता।

२—होली रंग का त्यौहार है। बहुत कम व्यक्ति इस बात को जानते हैं कि इन रंगों का हमारे शरीर और स्वास्थ्य पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्री मानते हैं

कि हमारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये जैसे विविध प्रकार के अन्य बहुत से तत्त्वों की आवश्यकता है, इसी प्रकार रंगों की भी। इसलिए अमुक रंग की कमी से शरीर के रुग्ण हो जाने पर डाक्टर लोग तत्तद् तत्त्व के रंग से युक्त वस्तु को खिलाकर मनुष्य का समुचित उपचार किया करते हैं। होली के अवसर पर प्रयुक्त विविध रंग शरीर की तत्तद् रंग-सम्बन्धी न्यूनता को पूरा करके इसे और भी दृढ़ तथा स्वस्थ बनाते हैं।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस अवसर पर जिस रंग के प्रयोग का विधान शास्त्रकारों ने किया है वह है पलाश अर्थात् ढाक के फूलों—टेसुओं का रंग। ढाक अपने विशिष्ट गुणों के कारण हमारे यहाँ सदा से पुनीत एवं प्रशस्त वृक्षों में गिना जाता रहा है। ब्रह्मचारी को उपनयन के समय जहां ढाक का ही दण्ड धारण करवाया जाता था वहाँ सर्व-साधारण के लिए यज्ञार्थ समिधा भी ढाक की ही बतलाई गई हैं। 'कस' इस वृक्ष की सबसे बड़ी विशेषता है। वैद्य-लोग इसकी छाल, गोंद, फूल, पत्र सभी का नाना औषधियों में खूब प्रयोग करते हैं। ढाक के फूलों से तैयार किया हुआ रंग एक प्रकार से उसके फूलों का अर्क ही होता है। यदि उस रंग में रंगा हुआ कपड़ा भिगोकर शरीर पर डाल दिया जाय तो रंग शरीर के रोमकूपों द्वारा आभ्यन्तरिक स्नायु-मण्डल पर अपना प्रभाव डालता है और संक्रामक बीमारियों को शरीर के पास फटकने नहीं देता। यथा—

एतत्पुष्पं कफं पित्तं कुष्ठं दाहं तृषामपि।
वातं स्वेदं रक्तदोषं मूत्रकृच्छ्रं च नाशयेत्॥

(यज्ञ मधुसूदन)

—इत्यादि प्रमाणानुसार ढाक के यह फूल कुष्ठ, दाह, वायु रोग तथा मूत्रकृच्छ्रादि रोगों की भी महौषध है। चूँकि बालकों की त्वचा अपेक्षाकृत अधिक कोमल होती है और उस पर रोगों के आक्रमण का अधिक भय रहता है, अतः रंग खेलने की इस प्रवृत्ति को हमारे पूर्वजों ने बालकों में अधिक प्रसृत किया। सिंघाड़े के आटे से तैयार किया हुआ चूर्ण=गुलाल भी ऐसी ही पवित्र वस्तुओं में से है। प्राचीन भारत की होली में पलाश पुष्पों का रंग, गुलाल, अबीर और स्निग्ध चन्दन यही वस्तुएँ मुख्य थीं, जिनका स्थान आज गारा कीच आदि ने ले लिया है।

४—दोपहर तक खूब रंग खिला, तीसरे पहर लोग स्नानादि से निवृत्त हो नवीन वस्त्र पहन कर एक दूसरे से भेंट करने के लिए निकल पड़ते हैं। इस भेंट के लिए किसी विशेष परिचय की अपेक्षा नहीं है। छोटे बड़ का प्रश्न नहीं। यहाँ मित्र शत्रु का अन्तर नहीं है और नांही धनी निर्धन का भेदभाव। आज के दिन सब समान हैं, सब एक ही परब्रह्म परमात्मा के लाडले बच्चे हैं। होली इस समय मिलन-पर्व के रूप में परिणत हो जाता है। लोगों का साल भर का मन-मुटाव, वैर विरोध आज के दिन रंग के साथ ही बह जाता है और कल से वे फिर भाई-भाई बन कर आत्मकल्याण में जुट जाते हैं।

५—हमारे यहाँ संवत्सर के अनेक प्रकार प्रचलित हैं। कुछ प्रदेशों में कृष्णपक्ष के प्रारम्भ से मास माना जाता है और कुछ प्रदेशों में शुक्ल प्रतिपदा से शुरू होकर अमावस्या पर मास

समाप्त होता है। पञ्चांगों में इसीलिए पूर्णिमा को १५ के अंक से सूचित किया जाता है और अमावस्या को ३० से। फलतः पूर्णिमा पर मासान्त मानने वाले सिद्धान्त के अनुसार आज शुक्ल पूर्णिमा को वर्ष का अन्त हो जाता है और अगले दिन चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से वर्ष आरम्भ हो जाता है। पिछला वर्ष समाप्त हुआ=मर गया, अतः उसे जला दिया जाता है। इसीलिये यू० पी० के पूर्वी जिलों में होलिका-दहन को 'संवत् जलाना' भी कहते हैं। चूँकि यह वर्षान्त पूर्णिमा है, अतः आज के दिन विगत वर्ष की सभी कटु एवं तीखी स्मृतियों और पीड़ाओं को जलाकर मानों हम अगले दिन नये वर्ष का प्रारम्भ हंस-गाकर, खेल-कूदकर, रंग अबीर उड़ा कर करते हैं, जिससे सम्पूर्ण वर्ष भर हम आनन्दपूर्वक सुख का जीवन व्यतीत करें।

६—होली को वसन्तसखा 'कामदेव' की पूजा के दिन के रूप में भी शास्त्रों ने वर्णित किया है। धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'—के अनुसार धर्मसंयत काम संसार में ईश्वर की ही विभूति माना गया है। आज के दिन उसी कामदेव की पूजा की परिपाटी किसी समय समस्त भारत में थी। दक्षिण में आज भी होली का उत्सव 'मदन-महोत्सव' के नाम से ही विख्यात है। लोग नवीन वस्त्र धारणकर एक स्थान पर एकत्र होकर परस्पर अबीर, गुलाल या केसरमिश्रित सुगन्धित चन्दनादि के द्वारा एक-दूसरे का सम्मान करते हैं। सम्भव है इस कामपूजा प्रथा का ही अतिविकृत रूप आज अश्लील-भाषण के रूप में होली में अवशिष्ट रह गया है।

वैष्णव लोगों के लिए यह अपूर्व 'दोलोत्सव' का दिन है। इस दिन ब्रह्मपुराण के—

नरो दोलागतं दृष्ट्वा गोविन्दं पुरुषोत्तमम् ।
फाल्गुन्यां संयतो भूत्वा गोविन्दस्य पुरं व्रजेत् ।।

—के अनुसार झूले में झूलते हुए गोविन्द भगवान् के दर्शन से मनुष्य वैकुण्ठ को प्राप्त होता है। वैष्णव-मन्दिरों में भगवान् श्रीमन्नारायण का अलौकिक शृङ्गार करके बड़ा विशाल जलूस निकाला जाता है। भक्त-मंडली नाचती गाती एवं संकीर्तन करती पालकी को साथ लेकर सर्वत्र भ्रमण करती है। और होली उन लोगों के लिए एक विशिष्ट अराधना का पर्व बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं—होली हमारा सार्वजनीन और विश्वव्यापक त्योहार है। कालक्रम से इस में जो दोष आ गये हैं उन्हें दूर कर हमें इसके उदात्त आदर्शों और विज्ञानपूर्ण तत्त्वों की पुनः प्रतिष्ठा कर इसे विशुद्ध रूप देना चाहिए।

व्रतोपवास-विचार

शरीर, इन्द्रिय और मन पर विजय पाने के लिये जितासन और जिताहार होने की परम आवश्यकता है। यह एक अनिवार्य नियम है कि अध्यात्म-मार्ग का पथिक तब तक इस पथ में अग्रसर हो ही नहीं सकता जब तक कि वह जितासन और खासकर जिताहार न हो जाए। जिताहार होने का एकमात्र उपाय

विधिवत् तत्तद् व्रत और उपवास करना ही शास्त्र में बतलाया है। वैदिक वाङ्मय में एकादशी आदि के साधारण व्रतों से लेकर चान्द्रायण, कृच्छ्र-चान्द्रायण और पराक आदि नानाविध व्रतों एवं उपवासों की इतिकर्तव्यता और अनुष्ठान से होने वाली आत्मशुद्धि का विशद वर्णन विद्यमान है।

व्रत और उपवासों से जहाँ अनेक शारीरिक व्याधियें समूल नष्ट हो जाती हैं, वहाँ मानसिक आधियों के शमन का भी यह एक अमोघ उपाय है। बहुत से पाश्चात्य और पौरस्त्य डाक्टरों ने और महात्मा गांधी जी जैसे विशिष्ट व्यक्तियों ने स्वयं अनुभव करके व्रतोपवास को आत्मशोधन का सर्वश्रेष्ठ उपाय प्रकट किया है।

किस शारीरिक किंवा मानसिक रोग की निवृत्ति के लिए किस विधि से मिताहार, फलाहार, दुग्धाहार, जलाहार किंवा निर्जल उपवास और किस प्रकार का कौन व्रतधारण करना चाहिए—यह विस्तार तो व्रत-विधायक ग्रन्थों में ही द्रष्टव्य है, परन्तु व्रतोपवास सर्वथा और सर्वदा आचरणीय एक वैज्ञानिक अनुष्ठान है—इतना मात्र प्रकट कर देना यहाँ हमें अभीष्ट है। एतदर्थ पहिले इसका शास्त्रीय-स्वरूप कतिपय प्रमाणों द्वारा व्यक्त किया जाता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) अथा वयमादित्य ! व्रते तवाऽनागसो अदितये स्याम । (ऋग्वेद १।२४।१५)

(ख) अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि ।

(यजुः १।३०)

(ग) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

(गीता २।५६)

अर्थात्—(क) (आदित्य !) हे प्रकाशमान अखण्डनीय परमात्मन् (वयम्) हम सब आस्तिकजन (अथा) सब धर्मानुष्ठानों के आरम्भ में (तव) आपकी प्रसन्नता के लिए (व्रते) व्रत धारण करते हुवे (अनागसः) ज्ञात-अज्ञात अपराध-जन्य प्रत्यवाय से उन्मुक्त होकर (अदितये) जन्म-मरण-रूप बन्धन हीनता=मुक्ति के अधिकारी (स्याम) हो जाएँ। (ख) हे व्रतों के पालक देदीप्यमान परमात्मन् ! मैं अमुक व्रत का आचरण करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। ग) निराहार=उपवास व्रत धारण करने वाले मनुष्य के सब विषय निवृत्त हो जाते हैं।

एकादशी व्रत क्यों ?

सब धर्मानुष्ठानों का अन्तिम लक्ष्य चञ्चल मन का निग्रह है। मन के संयत होने पर समस्त इन्द्रियां अपने आप वशीभूत हो जाएँगी। यह तत्त्व उपनिषदों में—'शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े और मन को घोड़ों की लगाम'—रूपलङ्कार से प्रकट करते हुए स्पष्ट किया है। तदनुसार—दश इन्द्रियों के बाद मन को भी ग्यारहवीं इन्द्रिय शास्त्र ने माना है। सो एकादशी तिथि को मनशक्ति का केन्द्र चन्द्रमा क्षितिज की एकादशवीं कक्षा पर अवस्थित होता है। यदि इस अनुकूल समय में मनोनिग्रह की साधना की जाए तो वह सद्यः फलवती हो सकती है। इसी

वैज्ञानिक ग्राशय से एकादशेन्द्रियभूत मन को एकादशी तिथि के दिन व्रतोपवास धर्मानुष्ठान द्वारा निगृहीत करने का विधान किया गया है।

एकादशी को चावल निषिद्ध क्यों ?

एकादशी तिथि को ग्रन्न न खाएँ, क्योंकि इस दिन ग्रन्न में 'पापों' का निवास होता है ऐसा शास्त्र का वर्णन है। श्यामाक, कन्द-मूल फल ग्रादि जो पदार्थ '**ग्रकृष्टपच्या**' कोटि के हैं, ग्रर्थात्—जमीन को जोते बिना स्वतःसमुद्भूत हैं, वे ही वस्तुतः व्रतोपवासों में ग्राह्य हैं। ऐसे पदार्थों के ग्रभाव में ही शरीर-यात्रा निर्वाह के लिये सात्विक फलाहार उपयुक्त माना गया है। दक्षिणी भारत के विद्वान् 'ग्रन्न' शब्द का ग्रभिप्राय उबले हुवे चावल=ग्रोदन भात ही मानते हैं। एकादशी को वे भात का तो परित्याग कर देते हैं, परन्तु यव, मूँग ग्रादि देवधान्यों को फलाहार कोटि में परिगणित करके उनका उपयोग करते हैं। यद्यपि यह देशाचार है ग्रौर सतत ग्रोदनभोजी वर्ग के लिये ग्रात्मनियन्त्रण का भी परिचायक है, तथापि इसे सार्वदैशिक शास्त्रीय फलाहार तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु एकादशी को चावलों का भक्षण सर्व ग्रास्तिकों की सम्मति में सर्वथा निषिद्ध है, इस तथ्य का द्योतक ग्रवश्य है। इसलिए ग्रन्य मनुष्य भी एकादशी को चावलों का उपभोग नहीं करते।

चावलों के परिवर्जन का वैज्ञानिक रहस्य जानने के लिए पहिले यह समझ लेना चाहिए कि कृषिविद्या से थोड़ा भी परिचय रखने वाला व्यक्ति यह भली-भान्ति जानता है कि समस्त खाद्य पदार्थों में चावल का पौदा ही सर्वाधिक जल

माँगता है। अन्यान्य धान्यों की भान्ति चावल के खेत को दो-चार बार पानी से सींच देने मात्र से काम नहीं चल सकता किन्तु कम-से-कम दो महीने तक चावल के पौदे को आकण्ठ जल में डुबोए रखने की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में यदि हम चावल को प्रकृति के यन्त्र द्वारा शोषित जल-कणराशि कह दें तो अत्युक्ति न होगी। हम पीछे कह आए हैं कि ब्रह्माण्ड में विराट् का मन चन्द्रमा है जो दिव्य जल-संघातमय होने के कारण संस्कृत भाषा में—'अब्ज' अर्थात्—जल-समुद्भूत कहा जाता है, हिमांशु हिमकर आदि नाम भी इसी तथ्य के पोषक हैं। इसीलिए पुराणों में उसे समुद्र-मन्थन से समुत्पन्न प्रकट किया है। प्रत्यक्ष में भी चन्द्रमा के आकर्षण से पृथ्वीस्थ समुद्रों की अगाध जलराशि का ज्वार और भाटे के रूप में उद्वेलित होना देखा जा सकता है। सो 'अण्ड-पिण्ड' सिद्धान्त के अनुसार मानव समाज के 'मन' का विराट् के मनोमय पिण्ड चन्द्र से सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में एकादशी को जिस मन को चाचल्यरहित बनाने के लिए व्रतोपवास का अनुष्ठान किया जा रहा है, यदि उसी दिन चावल जैसे चन्द्रांश समुद्भूत जलमय धान्य का उपभोग किया जाएगा तो जो चन्द्र समुद्र तक को उद्वेलित कर देता है, वह अपने अंशभूत चावलों को भी अवश्य करेगा। हमारे भोजन का ही अन्तिम सूक्ष्म परिणाम मन है। सो वह भी अधिक चांचल्य-वर्द्धक आहार का उपभोग कर डाले तो यह वैसा ही होगा जैसे कि अमुक रोग की निवृत्ति के लिए एक ओर स्वर्णभस्म चाटते हैं तो दूसरी ओर कुपथ्य सेवन से बाज नहीं आते। औषध सेवन का पूरा लाभ तभी हो सकता है जबकि कुपथ्य का भी परित्याग किया

जाए। इसलिए एकादशी तिथि को एकादश संख्यात्मक इन्द्रिय मन की चंचलता दूर करने के लिए नियमित व्रतोपवास करना एक वैज्ञानिक उपचार है और इस दिन निन्द्रा-तन्द्रावर्द्धक अन्न तथा चन्द्रांश समुद्भूत होने के कारण चाञ्चल्य-वर्द्धक चावलों का उपभोग कुपथ्य की भांति सर्वथा वर्जनीय है।

पौर्णिमा व्रत क्यों ?

प्रतिमास पौर्णिमा को व्रत रखने का शास्त्रीय विधान और इसीदिन सत्यनारायण भगवान् का पूजन तथा कीर्तन आदि धर्मानुष्ठान भी आस्तिकलोग करते हैं। यूँ तो बहुतसे पवित्र दिनों को उपचारात् 'पर्व' कह देते हैं परन्तु वस्तुत: शास्त्र में 'पर्व' शब्द एकमात्र पौर्णिमा तिथि का ही पर्य्याय है। हम इसी ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में गर्भाधान प्रकरण में पौर्णिमा के पर्वत्व पर पर्य्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। पाठक एक बार पुनः उसे पढ़ कर ताजा दम हो जायें तब यह झटिति समझ में आ जाएगा कि चन्द्र-पिण्ड से सम्बद्ध मानव मन में सत्य प्रतिष्ठा की दृढ़ निष्ठा बैठाने के लिए विराट् के मन:स्वरूप पूर्णचन्द्र से प्रकाशित राका रात्रि का सोने में सुगन्ध जैसा कैसा समुचित सुयोग है। इसी लिए त्रिकालज्ञ महर्षियों ने सत्यस्वरूप नारायण भगवान् का व्रत धारण करने के लिए पौर्णिमा तिथि को और उसमें भी चन्द्रोदय काल को सर्वाधिक उपयुक्त प्रकट किया है।

सत्यनारायण कथा कौन ?

प्राय: यह भी प्रश्न होता है कि वर्तमान सत्यनारायण की कथा में शतानन्द निर्धन ब्राह्मण, लकड़हारा शूद्र, साधु बनिया

और तुंगध्वज राजा आदि की कहानी गाई जाती हैं सो साम्प्रतिक सत्यनारायण व्रती तो उक्त भक्तों की कथायें सुनते हैं, परन्तु इन पुरातन भक्तों के यहाँ कौन कथा हुई थी यह भी तो बतलाना चाहिए ?

उक्त जिज्ञासा का प्रथम उत्तर तो यह है कि दुःखित मानव समाज की कष्ट निवृत्ति के लिए देवर्षि नारद ने जब वैकुण्ठाधिपति विष्णु भगवान् से उपाय पूछा तो उसके उत्तरमें श्रीभगवान् ने यही कहा कि—

व्रतमस्ति महत्पुण्यं स्वर्गे मर्त्ये च दुर्लभम् ।
तव स्नेहान्मया वत्स ! प्रकाशः क्रियतेऽधुना ।।

अर्थात्—हे पुत्र ! मर्त्यलोक क्या—स्वर्ग में भी अति दुर्लभ, बड़ा ही पवित्र एक 'व्रत' है जिसे मैं तेरे स्नेह से प्रेरित होकर आज प्रकट करता हूँ ।

यहाँ व्रत का ही निर्देश किया गया है । वास्तवमें व्रतोपवास पूर्वक सत्यनारायण भगवान् का पूजन ही इस धर्मानुष्ठान का प्रधान अंग है । कथा कीर्तन, जागरण और ब्राह्मण-भोजन आदि अन्यान्य कृत्य तो केवल इस मुख्य अनुष्ठान के पूरक मात्र हैं, जिससे आस्तिक लोग सत्यनारायण भगवान् के अनुग्रह से व्रत-अनुष्ठाताओं को हुवे अनेक लाभों को सुनकर स्वयमपि सत्य-व्रतधारण में प्रवृत्त हों । शास्त्र में अमुक धर्मानुष्ठान की विधि और विधि-प्रशंसक अर्थवाद=माहात्म्य दोनों अंग पाए जाते हैं । सो यहाँ भी व्रत धारण की विधि है और उक्त विधि की प्रशंसा के लिए **'रोचनार्थाः फलश्रुतिः'** के रूप में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र=चारों वर्णों के प्रतिनिधियों

द्वारा सत्यव्रत धारण करने पर इच्छित लाभान्वित होने का उल्लेख है।

यदि इतने पर सन्तोष न हो तो यह समझ लेना चाहिए कि शतानन्द और साधु वैश्य आदि सत्य व्रतधारियों के यहाँ भी यही सत्यनारायण कथा बंची थी क्योंकि यह कथा अनादि है, वह न सृष्टिसर्जन के साथ उत्पन्न होती है और न प्रलय में विलीन होती है, क्योंकि पूर्वकालमें प्रचलित तथा कालपरम्परासे विलुप्त-प्राय: तथ्यों का ही युगान्तर में पुनरपि प्रचलन होता है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् ने कहा है कि—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

अर्थात्—यही गीताप्रोक्त योग सृष्टि के आदिम पुरुष विवस्वान् को मैंने बताया था। वह कलक्रम से नष्ट हो गया था सो यही पुन: तुम्हें बतला रहा हूँ।

इसीप्रकार पुरा-कल्पकालीन सत्यव्रत और उसका माहात्म्य रूप यह कथानक अनादि होते हुवे भी कालक्रम से विस्मृत हो गया था सो भगवान् ने स्वयं वृद्धब्राह्मण के रूपमें अवतरित होकर वह परमभक्त शतानन्द को कह सुनाया। यदि शिवपार्वती के विवाह में उनके ही पुत्र गणेश का पूजन 'सुर अनादि जिय जानी' सूत्र से समाहित हो सकता है, तब उसी पद्धति से शतानन्द आदि के के यहाँ की पुरा कल्प की अनादि कथा बंच जाने में कौन रुकावट ? सो हमारा उत्तर है—सत्यनारायण की यही कथा शतानन्द के यहाँ बंची थी और यही कथा काष्ठक्रेता साधु वैश्य एवं तुंगध्वज आदि के यहाँ कही सुनी गई थी।

तीर्थ-विचार

(सर्वतीर्थानि पुण्यानि)

भगवत्प्राप्ति के उपायों में शास्त्रों ने तीर्थसेवन को भी अन्यतम स्थान प्रदान किया है। तीर्थ का अर्थ ही है--वह साधन. जिसके अवलम्बन से मनुष्य भवसागर से तर सके। तीर्थों के सेवन से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध हो जाती है, अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और उसकी वृत्तियें पावन होकर सुमार्ग की ओर अग्रसर होने में समर्थ हो जाती हैं। पावनीकरण की इस विशेषता के कारण ही भारतवर्ष में अनादिकाल से तीर्थसेवन की प्रथा चली आ रही है।

तीर्थ पवित्र क्यों ?

देश वैचित्र्यवाद का निरूपण करते हुए हम पीछे बतला आये हैं कि समस्त भूमण्डल के एक होते हुए भी उस जगन्नियन्ता प्रभु ने भिन्न-भिन्न स्थानों की भूमि एवं जल में कुछ ऐसी विचित्रताओं का सन्निवेश कर दिया है कि जिसके कारण तत्तद् तीर्थ-स्थानों की भूमि अन्य स्थानों की अपेक्षा महत्त्वशाली मानी गई है। जिस-जिस भूमि के जल में महर्षियों ने परीक्षण द्वारा पवित्रीकरण शक्ति का आधिक्य पाया, जहाँ-जहाँ उन्हें संसार की समस्त वस्तुओं को शोधन करने में क्षम तेजस्-तत्त्व का प्राचुर्य दिखाई दिया वही-वही स्थान 'तीर्थ' नाम से स्मरण किये गये और बिना किसी भेदभाव के आबाल वृद्ध सर्व-साधारण उनसे लाभ उठाने लगे। तपोनिष्ठ महर्षियों और

भजनानन्दी साधु-महात्माओं ने इन स्थानों को स्व-निवास के योग्य चुना और तत्तद् तीर्थों पर अपने आश्रमों की स्थापना की। सन्तों के समागम से तीर्थों की वह पावन शक्ति और भी बढ़ गई। जहाँ तपोपूत ऋषि-मण्डली धर्म चर्चा करती, भक्तगण प्रभु संकीर्तन में लीन होते, कहीं वेद-पाठ, कहीं यज्ञ हवन, कहीं स्वाध्याय-परायण वटुवृन्द—इन सबके समन्वय से तीर्थों का वायुमण्डल तथा वातावरण ऐसा पावन एवं पुण्यमय बन गया कि तीर्थसेवी के लिये मुक्ति जैसी दुर्लभ वस्तु भी अकिञ्चन मानी जाने लगी।

वैज्ञानिक-विवेचन

१. विशिष्ट भूमि, २. विशिष्ट जल और ३. साधु-महात्माओं का निवास इन तीन कारणों ने ही तीर्थों को वस्तुतः तीर्थत्व (=तारक शक्ति-सम्पन्नता) प्रदान किया है। जैसा कि व्यास जी कहते हैं—

प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनाञ्च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥

मनुष्यों के कायिक, मानसिक और आत्मिक इन त्रिविध तापों के उपशमन के लिये तीर्थ में तीन ही विशेषताएँ कही गई हैं। हमारा शरीर पार्थिव है अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न है उस के ताप को उपशमन करने के लिये उपाय भी पार्थिव ही होना चाहिये।

तीर्थों की भूमि का अद्भुत प्रभाव मनुष्य के शारीरिक

ताप को दूर करने में क्षम होता है। शारीरिक ताप से अभिप्राय विविध प्रकार के रोगों से है। तीर्थों का वायुमण्डल सर्वथा शुद्ध, निर्मल और अधिक जनसमुदाय रहित होने से मनुष्यों के अनेक रोगों को अपहरण करने में समर्थ होता है। पर्वत-समीपवर्ती तीर्थों में अनेक ऐसी जड़ी-बूटियें उपलब्ध होती हैं जिनकी एक ही मात्रा भयंकर से भयंकर रोग का अपहरण कर लेती हैं। स्थान के परिवर्तन से भी स्वास्थ्य पर शुभ प्रभाव होता है। तात्पर्य यह है कि तीर्थ-सेवन से शारीरिक ताप की शान्ति सर्वथा सम्भव है।

तीर्थ की दूसरी विशेषता तेजोमय जल है। हमारा प्राण एवं मन भी जलीय तत्त्वों से निर्मित हैं। मनुष्य जिस प्रकार का अन्नजल सेवन करता है उसका मन भी वैसा ही हो जाता है। तीर्थों का तेजोयुक्त जल तथा तदुद्भव अन्न स्नानादि भोजन द्वारा मनुष्य के मानसिक ताप को दूर कर उसे मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर करने में सहायक होते हैं।

शारीरिक और मानसिक तापों की शान्ति के अनन्तर तीर्थों पर निवास करने वाले साधु-महात्माओं का सत्संग, भगवत्प्रेमियों का सम्मिलन और धार्मिक वातावरण, हमारे आत्म-ताप को शान्त कर हमें सच्ची शान्ति प्रदान करने में सहायक होते हैं।

लौकिक दृष्टि से तीर्थों का महत्त्व

लौकिक दृष्टिकोण से भी हमारे जीवन में तीर्थों की कुछ कम महत्ता नहीं है। हम एक क्षण को मान लेते हैं—तीर्थ वगैरह सब ढकोसला है, वहाँ नहाने से कोई लाभ नहीं होता,

लोग व्यर्थ ही अन्धानुकरण करते हुए तीर्थस्थानों में जाकर परेशानी उठाते हैं आदि, पर क्या आप कह सकते हैं—तीर्थ-यात्रा हमारे जातीय और राष्ट्रीय जीवन के अनिवार्य अंग नहीं हैं ? तीर्थों एवं तीर्थसेवी आस्तिक जनों की भावना की खिल्ली उड़ाते हुए लोग भूल जाते हैं कि तीर्थ और उनके प्रति ऐसी अगाध श्रद्धा की भावना ने ही हिन्दु जाति और हिन्दु संस्कृति को आज तक अक्षुण्ण रखा है। सांस्कृतिक भवन के दृढ़ आधार स्तम्भ के रूप में हजारों और लाखों वर्षों से ये आज भी सुरक्षित हैं और युग-युगान्तर से हमारे हृदयों को भारतीयता की प्रेरणा से सजग करते आ रहे हैं।

सर्वथा लौकिक दृष्टिकोण से देखने पर भी तीर्थ हमारे लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने धार्मिक दृष्टिकोण से। १. प्राकृतिक सौन्दर्य २. ऐतिहासिक परम्परा का महत्त्व ३. पूर्वजों की स्मृति ४. सांस्कृतिक आदान-प्रदान ५. राष्ट्रीय एकता–तीर्थों में ये पाँच ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण न केवल धार्मिक और संस्कृतिप्रेमी सज्जनों को किन्तु निरे नास्तिक और गंगाजल को पानी और मूर्ति को पाषाणमात्र मानने वाले लोगों को भी एक बार तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए। इस यात्रा से उनको जो लाभ होगा उससे वे स्वयं इस बात के कायल हो जाएँगे कि हमारे यहाँ शास्त्रग्रन्थों में तीर्थों का जो इतना महत्त्व वर्णन किया है वह अहैतुक नहीं है।

प्राकृतिक सौन्दर्य—

मनुष्य सौन्दर्यप्रेमी है, सुन्दर वस्तुएँ उनके नेत्रों को

आनन्द देती हैं परन्तु संसार में जिस सौन्दर्य से वह मुग्ध हुआ रहता है, वह कृत्रिम सौन्दर्य है। यदि वास्तविक सौन्दर्य के दर्शन करने हों तो तीर्थस्थानों की ओर निकल जाइए। प्राकृतिक सौन्दर्य की जो अनुपम छटा, रमणीयता का जो आकर्षक रूप, वहाँ आपको देखने को मिलेगा उसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान् बद्रीनाथ जी के विशाल प्रांगण में ऊँची-ऊँची हिमाच्छन्न शैल-मालाओं, हरे-भरे उपवनों, शान्त, नीरव पर्वतोपत्यकाओं, हर हर कर झरते हुए दुग्ध-धवल झरनों और कल कलनिनादिनी सरिताओंकी जो अद्भुत छटा देखनेको मिलती है वह वर्णन का विषय नहीं, किंतु अनुभव की ही वस्तु है। भगवान् शंकर के निवासस्थल कैलाश के समीप ६० मील के घेरे में लहराता हुआ अपार जलराशियुक्त मानसरोवर, प्रयाग में गंगा यमुना सरस्वती का मनोमोहक त्रिवेणी-संगम, भूस्वर्ग काश्मीर में भूतभावन भगवान् अमरनाथ का तुषारमय शिवलिंग, काश्मीर प्रदेश में ही क्षण-क्षण में लाल, हरा, नीला, गुलाबी वर्ण धारण करने वाला क्षीरभवानी तीर्थ, भगवान् राम के परमप्रिय चित्रकूट पर्वत में मन्दाकिनी का अतीव रम्य प्रवाह—तीर्थस्थानों पर होने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य के वे अमर निदर्शन हैं जिनको देख कर मनुष्य आत्म-विभोर हो जाता है। उसे भान होने लगता है कि वह भूमण्डल को छोड़कर स्वर्ग के किसी अज्ञात प्रदेश में उतर आया है और यदि उसका वश चले तो वह सब कुछ छोड़कर इन्हें ही निहारता रहे। तीर्थभूमि पर उपलब्ध होने वाली इस नैसर्गिक सुन्दरता को

देख मानव-हृदय सृष्टिकर्ता प्रभु के रचनाकौशल के प्रति स्वतः ही श्रद्धावनत हो जाता है। बरबस उसकी अन्तरात्मा पुकार उठती है इस अनुपम सौन्दर्य की विधायिका कोई महा-महिम शक्ति है अवश्य !

मनुष्य स्वयं भी प्रभु के रचना कौशल का एक अनुपम नमूना है। उसने भी अपने बुद्धि बल से शिल्पकला को जन्म देकर सांसारिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि में चार चांद लगा दिए हैं। ऊँचे-ऊँचे गगनचुम्बी प्रासाद जहाँ उसकी उन्नत स्थापत्य-कला को दर्शाते हैं वहाँ उनकी सजावट में प्रयुक्त होने वाली विविध प्रकार की चित्रकारी सोने-चाँदी के तारों द्वारा की जाने वाली नक्कासी और विविध प्रकार की वस्त्रालंकार सज्जा, मानव की सुरुचिपूर्ण कलाप्रियता के परिचायक हैं। तीर्थस्थानों के मन्दिरों के निर्माण में मानव ने अपनी इस निपुणता और शिल्पचातुरी को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। धार्मिक भावना से मिश्रित होकर उसकी शिल्पनिपुणता ने तीर्थ स्थानों में जिस अनुपम शोभा, मनोरम आकर्षक और हृदयग्राही सौंदर्यको जन्म दिया है वह उसकी उत्कट प्रभुभक्ति और अनन्य श्रद्धा का जाज्वल्यमान उदाहरण है। शिल्पकला के ऐसे सुन्दर नमूने आपको सिर्फ तीर्थस्थानों में ही मिल सकते हैं अन्यत्र नहीं। मदुरा का मीनाक्षी मन्दिर, श्रीपांडुरंग जी का मन्दिर, श्रीरामेश्वरम्, पुरीमें जगन्नाथ जी का मन्दिर, मथुरा वृन्दावन के अनेकों विशाल मंदिर भारतीय शिल्पकला के आदर्श नमूने हैं। क्या इनका कला कौशल घोर से घोर नास्तिक के लिए भी दर्शन का विषय नहीं है ? इस रचना-सौन्दर्य के दर्शन की भावना से ही सही आप

एक बार तीर्थयात्रा के लिये जाइये तो सही, आपकी नास्तिक-वृत्ति का उद्धार तो अपने आप ही हो जाएगा ।

ऐतिहासिक गौरवस्थल—

जिन्हें आज हम तीर्थ नाम से स्मरण करते हैं उनका धार्मिकता के अतिरिक्त ऐतिहासिक-परम्परा से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि विशद दृष्टि से देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि हिन्दु जाति और हिन्दु-संस्कृति का इतिहास इन स्थानों में बिखरा पड़ा है। तीर्थ भारतीय इतिहास के वे स्थायी पृष्ठ हैं जिन पर लिखा हुआ इतिहास आज भी उतना ही ताजा और समुज्ज्वल है जितना कि कभी हजारों वर्ष पूर्व था। मुसलमान बादशाहों ने हमारे साहित्य को—जिसमें कि इतिहास भी एक था—जलाकर वर्षों अपने हमामों को गर्म किया, अंग्रेजों ने भाँति-भाँति की मिलावटें करके उसको भद्दे रूप में संसार के सामने रक्खा और स्कूलों में हमारे कोमलमति छात्रों को पढ़ा-पढ़ाकर उनके मस्तिष्क को विकृत बना डाला, परन्तु इतिहास के वे स्थायी पृष्ठ आज भी हमारे स्वर्णिम अतीत की मुँहबोलती कहानी कह रहे हैं। अंग्रेज इतिहासकार तथा तदनुयायी कतिपय भारतीय इतिहासकार भले ही कहते रहें कि रामायण और महाभारत कल्पना-प्रसूत काव्य (Mythology) हैं। राम और कृष्ण कभी भारत भूमि पर नहीं हुए, विक्रमादित्य कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं आदि २, परन्तु जब इस देश में—अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका पुरी द्वारावती आदि प्रसिद्ध तीर्थ विद्यमान हैं तब तक भारतीय जन इन ऐतिहासिकों की अल्पज्ञता पर हँसते ही रहेंगे। मुसलमान

शासकों ने पुस्तकरूप में लिपिबद्ध भारतीय इतिहास को तो नष्ट-भ्रष्ट किया ही था, किन्तु उन्होंने इतिहास के इन स्थायी पृष्ठों के उच्छेद में भी कोई कोर कसर न रखी थी। इन तीर्थ-स्थानों पर बने हुए ऐतिहासिक स्मारकों को तोड़-फोड़कर उन के स्थान पर अपनी मस्जिद तथा अन्य स्मारक बनवाए, स्थानों के नाम परिवर्तन कर अयोध्या को फैजाबाद और प्रयाग को इलाहाबाद रूप में बदलने की घृणित चेष्टा की परन्तु—

सब मिट गए जहां से हमको मिटाने वाले,
कुछ राज है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

और वह राज—कुछ अन्य बातों के साथ २ हमारे ये तीर्थ भी हैं जो कि हमारी ऐतिहासिक परम्परा के गौरवपीठ हैं। इन स्थानों पर जाकर और वहाँ के परम्परागत इतिहास रक्षकों=पण्डों से उस स्थान के विषय में ऐतिहासिक श्रुतियाँ अवगत कर हमारा हृदय हर्ष से भर जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध विक्रम शंकर के वे आदर्श-चरित्र और पावन लीलाएँ जो उन्होंने तत्तद् स्थानों में कीं, सजीव होकर हमारे मानस में एक उदात्त प्रेरणा का सञ्चार करती दीख पड़ती हैं। हमें ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज कैसे महान् थे। कितना समुज्ज्वल चरित्र था उनका! अयोध्या में पहुँचने पर जब मार्गदर्शक बतलाता है 'यहाँ पर राम उत्पन्न हुए थे; यहाँ उनका निवास-स्थान था, यह सीता की रसोई थी, यहाँ तुलसी ने रामायण महाकाव्य की रचना की थी' आदि-आदि—तो दर्शकगण सहसा ९ लाख वर्ष पूर्व की अयोध्या में पहुँच जाता है। उसके नेत्रों के सामने सम्पूर्ण रामायण एकबारगी घूम-सी जाती है।

अयोध्या का जैसा दृष्टान्त दिया गया है वही बात न्यूनाधिक मथुरा माया आदि सातों पुरियों, चारों धामों, क्षेत्रों, पीठों, सर सरिताओं आदि पर सर्वथा लागू होती है। इसलिये अपने पूर्व पुरुषाओं की पुण्यमयी लीलास्थली के नाते ही सही प्रत्येक हिन्दु की दृष्टि में इन तीर्थों को महत्ता कुछ कम नहीं होनी चाहिये।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान—

जलवायु के भेद के कारण प्रायः बीस-तीस कोस के अन्तर पर ही लोगों की बोल-चाल, रीति-रिवाज रहने-सहने के ढंग और व्यौहार-बर्ताव में कुछ-न-कुछ अन्तर पड़ जाता है। यह अन्तर ज्यों-ज्यों दूरी की सीमा विस्तृत होती जाती है और अधिक २ होता जाता है; उदाहरणतया—पंजाबी और बंगाली का खाना-पोना, बोलचाल, वेषभूषा, रहन-सहन एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं, परन्तु फिर भी दोनों अपने को भारतीय हिंदू सनातनधर्मानुयायी मानते हैं। आप जानते हैं हमारी इस अन्तर की खाई को किसने पाटा है ? पृथक्-पृथक् प्रांतों और भाषाओं में बँटे हुए हम लोगोंको कौन एकसूत्र में पिरोकर हार की तरह गूँथे हुए हैं—ये तीर्थ ही। हिंदूके हृदय का यह संस्कार कि बिना तीर्थयात्रा के जीवन सफल नहीं, बिखरे हुए हिंदुओंको एकतामें जोड़ता है। क्या आप देखते नहीं कि पर्व समय में तीर्थों पर जो मेले होते हैं उनमें सारे भारत के सब कोनों से जनता एकत्र होती है वहाँ आपको बँगाली, गुजराती, मराठी, पूर्वी, पहाड़ी, पंजाबी आदि सभी देशों के व्यक्ति एकत्र दिखाई देंगे। ऐसे समय में ये तीर्थभूमि ही सांस्कृतिक आदान प्रदान द्वारा पूर्व

और पश्चिम को मिलाती दृष्टिगोचर होती हैं। रामेश्वर में पहुँचकर जैसे एक पंजाबी भूल जाता है कि अब किसी गैर इलाके में आया हुआ है इसी प्रकार कुरुक्षेत्र में पहुँच कर एक दक्षिणी सर्वथा भूल जाता है कि वह किसी पंजाबी देश में है। वहां तो एक ही बुद्धि रहती है—तीर्थ बुद्धि। वह तीर्थ न पंजाबी का है, न मराठीका। वह तो हिन्दु मात्र का है और प्रत्येक का उस पर समानाधिकार है।

तीर्थ फल भागी कौन ?

तीर्थसेवियों के लिए शास्त्रकारोंने अनेक नियमों का विधान किया है जिनमें मुख्य ये हैं—

(क) ब्रह्मचर्य्यमधःशय्या पत्रावल्यां च भोजनम् ।

(ख) यस्य हस्तौ च पादौ च मनो यस्य सुसंयतम् ।
दानमानतपःसेवी स तीर्थ फलमश्नुते ॥

अर्थात्—(क) तीर्थ पर जाकर यात्रियों को ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए। पृथ्वी पर सोना चाहिए और पत्तल में भोजन करना चाहिए। (ख) जिसके हाथ पांव और मन सुसंयत हैं अर्थात् जो हाथों से चोरी आदि कोई निन्द्य कर्म नहीं करता पांवों को व्यर्थ भ्रमण में नहीं लगाता और मन को बिषय वासनाओं की ओर से अवरुद्ध कर लेता है वह तीर्थफल का भागीं होता है। जो तीर्थ पर जाकर स्वयं दान ग्रहण नहीं करता किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक दान देता है, विद्वान् ब्राह्मणों, सन्त महात्माओं का सम्मान करता और

अधिक से अधिक समय धर्माचरण जप तप में व्यतीत करता है वही वस्तुतः तीर्थ फल का भागी है।

उपर्युक्त नियमों की वैज्ञानिकता स्पष्ट है। यदि पवित्र तीर्थ स्थान पर जाकर भी मनुष्य विषयवासना में ही लिप्त रहा, ब्रह्मचर्यका पालन न किया; चोरी व्यभिचारादि कुकर्मोंकी ओर प्रवृत्त रहा तो पुण्यार्जन की तो चर्चा ही क्या, वहाँ किये गये ये दुष्कर्म वज्रलेप बनकर उसका सर्वनाश कर देंगे। तीर्थ सेवन से मुक्ति मिलती है और अवश्य मिलती है, पर वह मिलेगी तभी जब हम तीर्थयात्रा के नियमों का भलीभान्ति पालन करते हुए तीर्थसेवन करेंगे। यदि हमने बड़े कष्टसे तीर्थ स्थान पर पहुँचकर भी शास्त्रविधि का पालन न किया तो हमारे गंगा स्नान में और गंगाजलवासी मत्स्य कच्छपों की डुबकी में क्या अन्तर रहा ? और उनकी भांति हम भी सारी आयु गंगा तट पर बिता कर यदि पामर जीव ही बने रहें तो इसमें तीर्थ का क्या दोष ? इसलिए तीर्थफलाभिलाषी जनों को उपरोक्त नियमों के प्रति प्रतिक्षण सजग रहना चाहिए।

चार धाम

भारतीय तीर्थों में सर्वोपरि प्रतिष्ठा चार धामों की है। ये चार धाम हैं—जगन्नाथ, बदरीनाथ, द्वारिकाधीश और रामेश्वर। पुराण शास्त्रों में इनकी महिमा का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) यत्र देवो जगन्नाथः परं पारं महोदधेः।
बलभद्रः सुभद्रा च तत्रमाममृतं कृधि ॥

(ऋग्वेद परिशिष्ट)

(ख) उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां
धिया विप्रो अजायत । (ऋक् परि.)

(ग) अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ।
सेतुबन्ध इतिख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥
(वा० रा० १२५-१०)

(घ) अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः । (अथर्व ६।१०।२)

अर्थात्—(क) महोदधि समुद्र के किनारे जहां देवाधिदेव श्री जगन्नाथ जी बलभद्र जी और सुभद्रा=लक्ष्मी देवी विद्यमान हैं मुझे उस स्थान में अमरपद भागी बनाइये । (ख) पर्वतों के मध्य में गंगा अलकनन्दादि नदियों के संगम पर (ब्राह्मणों की) स्तुति से प्रसन्न हो श्री बदरीनाथ भगवान् प्रकट हुए। (ग) हे सीते ! यहां रामेश्वर में (लङ्का पर चढ़ाई करने से) पूर्वकाल में भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न हो हम पर अनुग्रह किया था। यह त्रैलोक्य से पू जत रामेश्वर सेतुबन्ध नामक तीर्थ है। (घ) वह जल वाला अपार समुद्र स्थान है जिसके मध्य में हम (यादवों) का स्थान (द्वारिका) है।

चार धाम क्यों ?

उपरोक्त चार धामों की श्रद्धालु जनता के हृदय में बड़ी प्रतिष्ठा है। प्रत्येक भारतोय इनके दर्शन करने पर ही अपने जीवन को कृतकार्य समझता है। तीर्थ तो अनेक हैं पर धाम चार ही क्यों—यह समझ लेना आवश्यक है।

वास्तव में चार की यह संख्या निर्हेतुक नहीं है। जिस संस्कृति का मूलाधार ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चार वेदों

पर हो ; जिसके अनुयायी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त होकर धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ का सम्पादन करते हों उसके परम पवित्र धाम भी यदि चार ही हों तो क्या आश्चर्य ! फिर दिशायें भी तो चार हैं—पूर्व पश्चिम, उत्तर, दक्षिण। चारों दिशाओं में चार धाम हैं—पूर्व में जगन्नाथ, पश्चिम में द्वारिका, दक्षिण में रामेश्वरम् और उत्तर में बदरीनाथ।

चारों वेदों के प्रतीक—इन धामों का वेदों के साथ केवल संख्यात्मक साम्य ही नहीं है किन्तु वस्तुतः ये चारों वेदों के प्रतीक रूप ही हैं। भगवान् बदरीनारायणको हम यजुर्वेदका प्रतीक कह सकते हैं। उक्त वेद की भांति भगवान् बदरीनाथ भो कर्म और तपः प्रधान देव हैं। यहाँ की पूजा-पद्धति भी यजुर्मयी ही दीख पड़ती है। ऋग्वेद के प्रतीक होने के कारण भगवान् रामेश्वर ऋक् प्रोक्त उपासना तथा संयम प्रधान देव कहे जाते हैं। वहाँ की पूजा विधि तदनुकूल है और ऋग्वेदाध्यायी ब्राह्मणों के कण्ठघोष से मन्दिरगर्भ सदा गुञ्जायमान रहता है।

सामवेदके प्रतीक भगवान् द्वारिकेश—जिनकी कि बांसुरीके एक २ स्वर से साम की पावन ऋचायें फूट पड़ती थीं–आज भी द्वारिका में विराजकर संसार के आर्तजनों को भक्ति का संदेश देते प्रतीत होते हैं। भगवान् जगन्नाथ साक्षात् अथर्व के प्रतीक हैं, यह बात यहाँ की सवर्णमयी सामूहिक तान्त्रिक पूजा विधि का देखकर स्पष्ट हो जाती है। इन्हें हम ज्ञान तथा अथर्व के विशेष प्रतिपाद्य अभिचार का मुख्य देव कह सकते हैं। मन्दिर के बाह्य प्रांगण में विद्यमान अनेक प्रकार के वीभत्स

चित्रोंको देखकर अथर्व के मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि —अभिचार प्रयोगों का सहसा स्मरण हो आता है।

वर्णाश्रम के प्रतीक—चारों वर्णों व आश्रमों के साथ भी इन धामों का असाधारण सम्बन्ध है। रामेश्वरम् यदि ब्राह्मणों और सन्यासियों का मुख्य पीठ है तो बदरीनारायण क्षत्रियों और ब्रह्मचारियों का मुख्य अध्यात्मकेन्द्र। इसीलिए बदरीनारायण में आज भी क्षत्रियवंशी टिहरी नरेश के नायकत्व में अविवाहित 'रावल' नामधारी वंशधर ही मुख्य पूजक नियत होते हैं। भगवान् द्वारिकेश गृहस्थ आश्रम और वैश्य वर्ण के प्रतीक हैं। इसी पवित्र धाम में उन्होंने अपनी गृहस्थ लीलायें की थीं अतः इसे गृहस्थियों का प्रधान पीठ कहा जाता है। इसीलिए गोस्वामियों के तत्त्वावधान में उनके शिष्य प्रशिष्य लक्ष्मीपुत्र भाटिया लुवाणा आदि धनिक वश्य वर्ग का वैभव उनके द्वार पर खूब देखा जा सकता है। जगन्नाथ जी चूँकि चतुर्थ वर्ण और वानप्रस्थ के प्रतीक हैं अतः वहाँ तादृश वर्ण और आश्रम की महत्ता स्पष्ट देखी जा सकती है। अन्य पुजारियों के अतिरिक्त चतुर्थ वर्ण के प्रतिनिधि 'भील' वंशधरों का भी पूजक होने का परम्परागत अधिकार आज भी अक्षुण्ण चला आता है। इस प्रकार ये चारों धाम अनादिकाल से प्रचलित वर्णाश्रम मर्यादा के ज्वलन्त प्रतीक कहे जा सकते हैं।

चारों पुरुषार्थों के प्रतीक—भारतीय संस्कृति में जहाँ चार वेद हैं, चार वर्ण हैं, चार आश्रम हैं वहाँ मानव-जीवन के उद्देश्य भी चार ही है, जिन्हें 'पुरुषार्थ' कहा जाता है। वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। चारों धाम इन चारों पुरुषार्थों

के प्रतीक भी हैं। भगवान् बदरीश धर्म के प्रतीक हैं तो द्वारिकेश अर्थ के। जगन्नाथ जी का दर्शन अभीष्ट काम का दाता है तो मोक्ष प्राप्ति के लिये भगवान् रामेश्वर के चरण शरण हैं।

सात पुरियें क्यों ?

चार धाम के अनन्तर शास्त्रों में—अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका पुरी तथा द्वारावती—इन सात पुरियों का विशेष माहात्म्य प्रतिपादन किया गया है। भारतीय संस्कृति के उद्‌गम काल से ही इन्हें परम पावन तथा मोक्षप्रद माना गया है। हिन्दुओं की प्रातःकालीन प्रार्थनाओं में प्रतिदिन इनका स्मरण किया जाता है और इनके दर्शन से अपने नेत्रों को सुफल करने की अभिलाषा प्रत्येक भारतीय में अवश्य होती है। प्रश्न होता है कि ये पुरियें क्या हैं और ये सात ही क्यों हैं न्यूनाधिक क्यों नहीं ? नीचे की पंक्तियों में हम इसी पर विचार करेंगे।

अण्ड पिण्डवाद के अनुसार हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार मानव शरीर में ओतप्रोत—रक्त, मांस, मज्जा, स्नायु, शुक्र, अस्थि, ओजादि सात धातुयें शारीरिक सत्ता के लिए अनिवार्य हैं, भारतीय संस्कृति के शरीर निर्माण में यही स्थान इन सात पुरियोंका है। सप्त धातुओं की भांति ये हमारी सभ्यता व संस्कृति के शरीर में रमी हुई हैं और उसे जीवन प्रदान कर रही हैं। भारतीय इतिहास से थोड़ा सा भी परिचय रखने वाले सज्जन भलो-भांति जानते हैं कि अयोध्या, मथुरा आदि ये सातों पुरियें अतीत काल में भारतीय राजनीति, धर्म,

एवं संस्कृति की विकास केन्द्र रही हैं। अयोध्या में भगवान् राम ने अवतरित हो पथभ्रष्ट मानव-समाज के सम्मुख आदर्श जीवन का अनुपम चित्र रख कर भारतीय संस्कृति को समुज्जीवित किया। मथुरा के पावन अंचल में जन्म लेकर नन्दनन्दन भगवान् कृष्ण ने अपनी लोकोत्तर लीलाओं से न केवल हिन्दुओं को ही बल्कि रसखान, ताज बेगम, रहीम सरीखे अन्य धर्मावलम्बियों को भी हिन्दू-संस्कृति का कायल बना दिया।

मायापुरी=हरिद्वार तो भारतीय संस्कृति का उद्भव स्थान ही है। आदिपुरुष दक्ष प्रजापति ने सर्वप्रथम इसी स्थान पर अपने सृजन-यज्ञ का आरम्भ किया था और भागीरथ की कठिन तपश्चर्या से प्रसन्न हुई लोकपावनी जान्हवी गिरि-गुहाओं का छोड़ कर सर्व प्रथम यहाँ मदान में उतरी है। काशी आदि अन्य पुरियें भी इसी प्रकार समय-समय पर राजनैतिक चेतना, धार्मिक-क्रान्ति और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का केन्द्र रही हैं। अतः सप्त धातुओं की भांति हमारे सांस्कृतिक निर्माण में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और रहेगा।

भारतीय संस्कृति में 'सात' की संख्या का सदा से विशिष्ट स्थान रहा है। महर्षि गौतम के अनुसार इस संसार की रचना —'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव— कुल सात ही पदार्थों (Elements) से हुई हैं इनके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ संसार में है ही नहीं। वैदिक सम्प्रदायानुसार सृष्टि का मूल गायत्री अनुष्टुबादि सात छन्द ही हैं जिनके विकास से इस समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है।

संगीत-शास्त्रियों ने संसार भर की बोलियों को 'स रे ग म प ध नी' इन सात ही स्वरों में बाँधा है। रवि, सोम आदि सात वार तो प्रसिद्ध ही हैं। आकाश में प्रतिदिन चमकने वाले सप्तर्षि नामक तारों से कौन अपरिचित है ? इस प्रकार जब सात की संख्या से ही सृष्टि का मूलारम्भ होता है और वही चारों ओर ओतप्रोत है, तब इन पुरियों की संख्या भी ७ ही होनी युक्ति-युक्त है।

द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग क्यों ?

शास्त्रों में दो सौ पचहत्तर पवित्र शवस्थल और एक सौ आठ दिव्य लिंग तथा द्वादश ज्योतिर्लिंगों का उल्लेख मिलता है यह क्यों ?

'एको रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' श्रुति के अनुसार शिव एक और अद्वितीय है, तथापि वह नाना दृष्टियों से 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' श्रुति के अनुसार अगणित नाम रूपों वाला वर्णन किया जाता है। यह संसार २५ तत्त्वों के संघात से समुद्भूत है और शिव भगवान् के रौद्र रूप एकादश परिमित हैं, यदि २५ को ११ से गुणित किया जाए तो २७५ संख्या लब्ध होती है, सो प्रत्येक तत्त्व एकादश रुद्रों से अधिष्ठित है इस वैज्ञानिक तत्त्व के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए पवित्र शव-स्थलों की सख्या २७५ नियत है।

निर्गुण निर्लेप शिव एक है और उसी की पृथ्वी आदि सगुण आकार मूर्तियें आठ हैं। इस प्रकार निर्गुण और सगुण उभयविध शिव नव संख्यात्मक सिद्ध हुआ। ज्योतिर्लिंगों की संख्या द्वादश है, जिनके बारह होने का हेतु अगली पंक्तियों में

प्रकट किया जायेगा। शिव के बारहों लिंग पूर्वोक्त निर्गुण किंवा सगुण नौ स्वरूपों के अधिष्ठान हैं इसलिए बारह को नौ से गुणित करने पर १०८ संख्या लब्ध होती है। यही तत्त्व शिव के १०८ दिव्य लिंग की सत्ता से उद्घोषित किया गया है।

शिवपुराण की तात्त्विक प्रक्रिया के अनुसार यह ब्रह्माण्ड केवल बारह तत्त्वों का ही संघात है, वे बारह तत्त्व हैं। १. पृथ्वी, २. अप्, ३. तेजः, ४. वायु, ५. आकाश [ये पंच-महाभूत कहलाते हैं], ६. मनः, ७. बुद्धि, ८. चित्त, ९. अहङ्कार [इन चारों को अन्तःकरण-चतुष्टय कहा जाता] १०. जीव, ११. प्रकृति और १२. पुरुष।

उक्त द्वादश तत्त्वों के प्रतीकभूत ही द्वादशज्योतिर्लिंग हैं, जिनका शास्त्रों में इस प्रकार वर्णन मिलता है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।

(यजुः ३२-२)

(ख) ज्योतिर्लिंगं तदोत्पन्नम्।

(शिवपुराण धर्म० २-६३)

(ग) सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालं ओंकारं परमेश्वरम्॥
केदारं हिमवतः पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
वाराणस्याञ्च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने।

सेतुबन्धे च रामेशं घुश्मेशञ्च शिवालये ।।

(शिवपुराण ज्ञा० स० ३८ अध्याये)

अर्थात्—(क) यह सब निमेष कला काष्ठामय विश्व-प्रपञ्च 'विद्युत् पुरुष' द्वारा समुत्पन्न हुआ। (ख) सृष्टि के आदि में 'ज्योतिर्लिंग' उत्पन्न हुआ। (ग) [द्वादश ज्योतिर्लिंगों के नाम इस प्रकार हैं सौराष्ट्र में १. सोमनाथ, श्री शैल पर, २. मल्लिकार्जुन, उज्जैन में ३. महाकाल, नर्मदा क्षेत्र में ४. ओंकारेश्वर, हिमालय में ५. केदारनाथ, डाकिनी में ६. भीमशङ्कर, काशी में ७. विश्वनाथ, गोदावरी तट पर ८. त्र्यम्बकेश्वर, चितभूमि में ९. वैद्यनाथ, दारुक वन में १०. नागेश्वर, सेतुबन्ध में ११. रामेश्वर और शिवालय में १२. घुश्मेश्वर।

कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण क्यों ?

सूर्यग्रहण के समय आज भी भारत की लाखों जनता कुरुक्षेत्र में स्नान दान आदि अनुष्ठान करने के लिए इकट्ठी होती है। शास्त्र में भी सूर्योपराग और कुरुक्षेत्र का विशिष्ट सम्बन्ध वर्णित है, यह क्यों ?

जैसे मानव शरीर में तत्तत् अंगविशेष का विन्यास है, ठीक इसी प्रकार पृथ्वी आदि पिण्डों में भी तत्तत् स्थानों की विशिष्टता के कारण तादृश अंगों की वैज्ञानिक कल्पना की जाती है। तदनुसार हमारी पृथ्वी के सर्वोच्च प्रदेश हिमालय की गौरीशिखर नामक अधित्यका शिरःस्थानीय है। उसके समान सूत्र में आने वाला अधोभाग पाद-स्थानीय है तथा दाएँ-बाएँ के प्रदेश भुजस्थानाय हैं। इसी भांति अन्यान्य अंग समझ लेने

चाहिएँ। भारतमाता की चित्र कल्पनामें भी इसी स्वाभाविकता का आश्रय लिया है। इसी प्रकार समस्त तीर्थ मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, प्राण और आत्मा आदि का प्रातिनिध्य करने वाले अंगोपांग हैं।

'देशवैचित्र्यवाद' के अनुसार यह विज्ञान-सिद्ध बात है कि आकाशस्थ तत्तद् ग्रहों का हमारे भूमण्डल पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु अमुक-अमुक प्रदेश पर अमुक-अमुक ग्रह का ही न्यूनाधिक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक स्थान की जलवायु विभिन्न है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण तत्तत् देश-निवासियों का गौर, श्याम, पीत और लाल किसी एक रंग का होना देखा जा सकता है। (क्यों पूर्वार्ध पृष्ट १०५, ६४६ में)

कुरुक्षेत्र को वेदों में **'कुरुक्षेत्रं ब्रह्मसदनम्'** स्मरण किया है मानवपिण्ड में जिस प्रकार समस्त पिण्ड-व्यापक, चेतन जीव का आवास-स्थान विशेषतया 'हृदय' प्रकट किया है, इसी प्रकार हमारे भू-पिण्ड में कुरुक्षेत्र प्रदेश भी ब्रह्मसत्ता का विशेषतया आवास-स्थान है, अर्थात्—पृथ्वी का हृदय है। जैसा कि अथर्ववेद (१२-१-२२) के **'सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु'** आदि प्रमाणों से प्रमाणित है। ब्रह्माण्ड में प्राण-शक्ति का स्रोत एकमात्र सूर्य है। अन्य सभी पार्थिव प्राणी इस पिण्ड से अनुप्राणित हैं। जैसा कि **'प्राणेन विश्वतो मुखं सूर्यं देवा अजनयन्'** अथर्व (२१-२७-७) इत्यादि प्रमाणों से सुस्पष्ट है।

जब राहु अपर नामक चेतनदेवाधिष्ठित चन्द्रपिण्ड की छाया से सूर्य आच्छादित हो जाता है तब पृथ्वी स्थानीय प्राणी सूर्यसे निरन्तर प्राप्त होने वाली प्राण-शक्ति के अवरुद्ध हो जाने

पर उससे वञ्चित होने लगते हैं। ऐसे समय में सांसारिक कार्य बन्द करके ईश्वराराधन, दान, पुण्य, पूजापाठ आदि धार्मिक कार्यों से अपनी क्षीयमाण प्राणशक्ति को स्थिर रखना परमावश्यक हैं। अन्यथा भयानक हृदय रोग की छाप पड़ जाने का खतरा है। एतदर्थ अन्यान्य स्थानों की अपेक्षा पृथ्वी का हृदय-प्रदेश-भू कुरुक्षेत्र तादृश धर्मानुष्ठानों के लिए और भी अधिक उपयुक्त है। इसलिए आस्तिक लोग सूर्यग्रहण के दुष्प्रभाव से वचने के लिए सूर्यग्रहण के समय सर्वत्र धर्मानुष्ठान करते हैं और विशेषतया कुरुक्षेत्र में इकट्ठे होकर सूर्यग्रहण से पड़ सकने वाली भयावह हृदयरोग की छाप का पृथ्वी के हृदय प्रदेशभूत कुरुक्षेत्र के स्थान प्रभाव से अपमार्जन करते हैं।

कुरुक्षेत्र पृथ्वी का प्राणप्रधान हृत्प्रदेश है—यह बात अगणित प्रत्यक्ष हेतुओं से प्रमाणित की जा सकती है। महाभारत के युद्धार्थ जब भूमि निश्चित की जाने लगी तो श्रीकृष्ण सहित पाण्डवों ने देखा कि कुरुक्षेत्र प्रदेश के एक हलवाहक किसान का लड़का खेत में खेलते-खेलते सर्पदंश से मर गया, किसान ने उसके शव को भूमि में गाड़कर पूर्ववत् तत्काल पुनः हल जोतना आरम्भ कर दिया। भगवान् ने निश्चित किया कि जिस क्षेत्र के प्रभाव से अपठित किसान भी इतने प्राणवान् हैं कि वे पुत्रशोक की उपेक्षा करके कर्त्तव्यपालन में जुट जाते हैं ऐसे क्षेत्र में किया युद्ध अवश्य ही निर्णायक युद्ध होगा। कोई भी पक्ष यहां प्राणों के मोह से 'धर्मयुद्ध' से विचलित न होगा। अन्त में हुआ भी यही। श्रीमद्‌भगवद् गीता के आरम्भ में भी धृतराष्ट्र ने जो 'किमकुर्वत' प्रश्न किया है इसका स्वारस्य भी

कुरुक्षेत्र के 'धर्मक्षेत्र' विशेषण में निहित है, क्योंकि धर्मक्षेत्र होने के कारण वहाँ युद्धार्थ इकट्ठे होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से सद्‌बुद्धि आ जाने की सम्भावना की जा सकती थी। यदि धृतराष्ट्र के मन में यह आशा न होती तो 'किमकुर्वत' न पूछ कर 'कथमयुध्यन्त' ऐसा प्रश्न किया जाता? परन्तु प्राण-प्रधान क्षेत्र होने के कारण ही वहाँ सन्धि का वातावरण न बन सका।

हमारे इन धार्मिक उपचारों का यह प्रत्यक्ष फल देखा जा सकता है, कि हृदय-यन्त्र की गति बन्द हो जाने की बीमारी (हार्ट फेल) से अधिकांश में वे ही व्यक्ति मरते हैं, जो कि हमारी आस्तिकता को प्रायः ढकोंसला बताकर उपहास करते और ग्रहणों के समय कभी कुरुक्षेत्र या काशी आदि तीर्थों में जाना आवश्यक नहीं समझते किन्तु नित्य की भान्ति संसारी कारोबार में लगे रहते हैं।

ग्रहण का दुष्प्रभाव सगर्भा के उदरस्थ बालकों पर भी पड़ता हुआ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। स्थान खण्डेला (राज-स्थान) में एक नास्तिक पण्डितायमान महाशय ने ग्रहण के दिन जान-बूझकर पुंसवन संस्कार कराया और यजमान की पत्नी को यह कहकर भरपेट खिलाया कि 'ग्रहण के सूतक में नहीं खाना—यह सब पोप-लीला है, आकाश के तारे हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं'। परिणामस्वरूप लंगड़ा, लूला और विक्षिप्त बालक उत्पन्न हुआ। कोई भी सज्जन तत्रत्य प्रत्येक व्यक्ति से इस तथ्य की पुष्टि कर सकता है।

इसलिये पृथ्वी के हृदय-प्रदेश-भूत-कुरुक्षेत्र तीर्थ में—प्राण

शक्ति के स्रोत सूर्यपिण्ड के राहु नामक चन्द्र-छाया-भूत असुर से आक्रान्त हो जाने पर आत्मरक्षा के लिए आस्तिक प्राणी वहां आते हैं और कुरुक्षेत्रस्थ तड़ाग के प्राणप्रधान सोमांशमय जल में स्नान करके सम्भावित हृदयविकार से त्राण पाते हैं।

कुरुक्षेत्र तीर्थ में जो तालाब है, उसके जल में सोमांश रहता है। यह रहस्य वेद में स्पष्ट उद्घाटित किया गया है। यथा—

शर्यणावति सोमविन्दुः पिब वृत्रहा । बलं दधात आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परिस्रव ।

(ऋग्वेद ९-११२-१)

अर्थात्—(सायणभाष्यानुसार भाषार्थ) [शर्यणावन्नाम कुरुक्षेत्रस्य जडनार्धे सरः तत्र स्थितं सोमं ['शर्यणावत' यह नाम कुरुक्षेत्र के आधे भाग में स्थित तालाब का है। उसमें स्थित जो सोम] (अमृतांश) है उसके पान से आत्मबल प्राप्त करके इन्द्र वृत्रासुर का वध करने में समर्थ हुआ।

काशी में चन्द्रग्रहण पर्व क्यों ?

उपर्युक्त प्रघट्ट में जिस प्रकार कुरुक्षेत्र तीर्थ को पृथ्वी का हृदय प्रदेश सिद्ध किया गया है इसी प्रकार 'काशी' पुरी पृथ्वी का मनः प्रदेश है। हम सप्रमाण कई जगह प्रकट कर चुके हैं कि चन्द्रपिण्ड विराट् के मन से समुद्भूत है और मनस्वी प्राणियों के मन चन्द्रपिण्ड से अनुस्यूत और अनुप्राणित हैं। सो चन्द्रग्रहण के समय जब चन्द्रपिण्ड से पृथ्वी प्रदेश को मिलने वाले सोमांश का 'केतु' अपर नामक चेतनदेवाधिष्ठान भूच्छाया से अवरोध हो जाता है तो उस समय सांसारिक व्यवहार कार्यों में व्यापृत मानव-समाज की क्षीयमाण मनः-शक्ति में

मानसिक रोगों की छाप पड़ जाने का पूरा भय होता है। अतः आस्तिक लोग उस समय स्नान, दान, पूजापाठ और ईश्वराराधन करते हुए अपने मानसिक स्तर को स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। अन्यान्य भू-प्रदेशों की तुलना में काशीपुरी का पंचक्रोश परिमित भू-खण्ड पृथ्वी का मनोमय प्रदेश होने के कारण उपर्युक्त कार्यों के लिये सर्वाधिक उपयुक्त है। इसी वैज्ञानिक भावना से प्रेरित होकर सनातनधर्मी जनता समय-समय पर चन्द्रग्रहण के समय काशीपुरी में एकत्रित होकर गंगास्नान और श्री विश्वनाथ भगवान् के दर्शन से अपने आपको कृतार्थ करती है। हमारी उपर्युक्त स्थापना के अनेक प्रमाण शास्त्र में विद्यमान हैं। ग्रन्थ-विस्तरभयात् उनमें से कतिपय का दिग्दर्शन कराया जाता है तथा—

(क) यत्र ब्रह्मा पवमानछन्दस्यां वाचं वदन्, ग्राव्णा सोमे महीयते। सोमेनानन्तं जनन्निन्द्रायेन्दो परिस्रव। (ऋग्वेद—७।११३।४)

(ख) वेद ते भूमि! हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। (पारस्कर—७।१८।१)

(ग) हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समूहे संगमः।
आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन् हृद्योत भेषजम्।
(अथर्व—६।२४।१)

अर्थात्—(क) जिस काशीक्षेत्र में जगत्स्रष्टा ब्रह्मा ने पवित्र वेदवाणी का पाठ किया था और जहां 'ग्राव्णा'= पाषाण प्रतिमायें भी [सोमे] उमा=अन्नपूर्णा सहित विश्वनाथ के रूपमें पूजनीय हो गई है। हे चन्द्रदेव! उमा सहित शङ्कर

द्वारा आनन्द प्रदान करता हूँ, आ, तू परमैश्वर्य के लिए अपना मनोमय सोमांश (परिस्रव) चारों ओर से प्रवाहित कर। (ख) हे भूमिदेवी ! द्युस्थानस्थित चन्द्रमा में जो तेरा हृदय आश्रित है वह क्रान्तदर्शियों द्वारा ज्ञातव्य है। (ग) [सायणानुसारी भाषानुवाद] जो (गंगादिनदीरूपाः पापक्षयहेतवः) गंगा आदि नदियों के रूप में प्रवाहित पापनाशक (आपः) जल (हिमवतः) हिमालय पर्वत से (प्रस्रवन्ति) बहते हैं और (सिन्धौ) समुद्र में (समहः) अन्यान्य यमुना आदि सहायक नदियों सहित (संगमः) संगत होते हैं। (तद्देवीः) वे दिव्य (आपः) जल (मह्यं) मुझे (हृद्योत भेषजम्) हृदय के सब विकारों की अमोघ औषधी (ददन्) प्रदान करें।

उपर्युक्त मन्त्रों से सुस्पष्ट है कि चन्द्रग्रहण के समय चन्द्रचूड़ भगवान् शंकर से अधिष्ठित काशी पंचक्रोशी क्षेत्र का आश्रय एवं तत्क्षेत्रस्थ गंगा का स्थान, ग्रहण-जन्य सम्भावित दुष्प्रभाव से अपने मानसिक स्तर को बचा सकने का वैज्ञानिक उपचार है। काशी के क्षेत्र के मनस्तत्त्व-प्रधान होने का तो यह प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है कि काशीपुरी अनादिकाल से विद्याका केन्द्र चली आ रही है। काशी का यह बौद्धिक-उत्थान अहैतुक नहीं कहा जा सकता, किन्तु उक्त क्षेत्र भारत के अन्यान्य प्रदेशों की अपेक्षा बौद्धिक उर्वरा शक्ति से अत्यधिक सम्पन्न है—यह नास्तिकों को भी मानना ही पड़ेगा।

गौतम बुद्ध जैसे वेदों में आस्था न रखने वाले व्यक्ति को भी अपना धर्म-चक्र सञ्चालित करने के लिए काशीक्षेत्रीय 'सारनाथ' स्थान ही चुनना पड़ा। अपठित कबीर की वाणी में जो स्वाभाविक ओज और कसक दीख पड़ती है, वह काशीक्षेत्र

के मनस्तत्त्व-प्रधान बौद्धिक वातावरण का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है। हिन्दीयुग के अन्यतम प्रवर्तक श्री भारतेन्दु जी तथा श्री जयशंकर प्रसाद जी भी अपनी उपमा नहीं रखते।

कुम्भपर्व क्यों ?

हरिद्वार, प्रयाग, पंचवटी और उज्जैन भारत के इन चार स्थानों में प्रति बारहवें वर्ष कुम्भपर्व माना जाता है, जिसमें भारत के कोने-कोने से लाखों जनता जुटती है, यह क्यों ?

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः। स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन्।

(अथर्व—१६-५३-३)

(ख) चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि।

(अथर्व—४-.४-७)

(ग) देवदानवसंवादे मथ्यमाने महोदधौ।
उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ विधृतो विष्णुना स्वयम्।

अर्थात्—(क) अमृत से पूर्ण कुम्भ, समुद्र मंथन के समय जहाँ-जहाँ स्थापित किया गया था, वहाँ-वहाँ उस कुम्भपर्व को हम संतलोग बहुधा होता हुआ देखते हैं। यह कुम्भपर्व समस्त चौदहों भुवनों में समय-समय पर उपस्थित होता है। कुम्भपर्व के काल को सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठ के तुल्य पवित्र कहते हैं। (ख) भूलोक में चार स्थानों में चार कुम्भपर्व प्रदान करता हूँ।

(ग) देव और दानवों ने जब क्षीरसागर को मथा, तब हे कुम्भ, तू उत्पन्न हुआ था और स्वयं धन्वन्तरि रूपधारी भगवान् विष्णु ने अपने हाथों से तुझे धारण किया था।

चार स्थानों में ही कुम्भ क्यों ?

यद्यपि उपर्युक्त प्रमाणों में सभी जिज्ञासाओं के संक्षिप्त उत्तर सूत्ररूप से विद्यमान हैं तथापि सर्वसाधारण उन्हें अङ्कुरित नहीं कर पाते एतदर्थ पुराणों में और गर्गसंहिता आदि पुराण-संहिताओं में उक्त रहस्य को पल्लवित किया गया है। तदनुसार यह कथानक सर्व विदित है कि जब अमृत से भरा घट प्रादुर्भूत हुआ तो उसे हथियाने के लिए देव-दानव-वृन्द 'अहं पूर्वं अहं पूर्वं' टूट पड़े। श्री विष्णु भगवान् के संकेत पर देवगुरु बृहस्पति के नेतृत्व में इन्द्रपुत्र जयन्त ने उस अमृत कुम्भ को उठा लिया। घट फूट न जाये एतदर्थ सूर्य को तद्रक्षार्थ नियुक्त किया गया, अमृत सूख न जाय इसके लिए हिमांशु चन्द्रमा को नियत किया गया। उक्त देवगण अमृतकुम्भ को छुपाने के निमित्त तीनों लोकों में घूमे, परन्तु दानवों ने उनका सर्वत्र पीछा किया। भूलोक में दिव्य बारह दिन तक भ्रमण करते हुए उक्त अमृत कुम्भ को चार बार भूमि पर रखने का अवसर आया। कुंभ को रखते और उठाते कुछ अमृतकण इन इन स्थानों में बिखर गए। जहाँ-जहां वह कुम्भ रखा गया था, वे स्थान हरिद्वार, प्रयाग, नासिक और उज्जैन थे। दिव्य बारह दिन बारह मानव वर्षों के बराबर होते हैं, अतः सूर्य चन्द्र और बृहस्पति के योगायोग से बारह वर्षों में उक्त चारों स्थानों में चार कुम्भ पर्वों का योग बनता है। अमृतकणों की सत्ता से उक्त चारों स्थान श्रद्धालु

भक्तोंको अमरपदके भागी बनानेमें समर्थ हैं। पृथ्वीकी भांति चार कुम्भ देवलोकमें और चार कुम्भ पाताललोक में भी होते हैं।

कुम्भयोग का वैज्ञानिक विश्लेषण

यह सम्पूर्ण संसार 'जीवनवर्धक' और 'जीवनसंहारक' दो प्रकार के तत्त्वों से परिपूरित है। आजकी वैज्ञानिक भाषा में आक्सीजन-प्रधान पिण्डों को जीवन-वर्धक और कार्बन डाई ऐक्साइड-प्रधान पिंडों को जीवन संहारक कहा जा सकता है। उक्त दोनों तत्त्वोंका अनवरत संघर्ष ही वैज्ञानिक देवासुर-संग्राम है। हमारी पृथ्वी अन्यान्य ग्रह नक्षत्रों की गति विगति के तारतम्य से कभी जीवनवर्धक वातावरण से आप्यायित होती है तो कभी जीवन-संहारक वातावरण से उपप्लुत होती है। कौन काल में पृथ्वी के किस क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह विज्ञान ज्योतिषशास्त्र के अनुसार हमारे क्रान्तदर्शी महर्षियों ने इदमित्थम् जाना था। तदनुसार ही पृथ्वी के अमुक प्रदेश में अमुक काल में अमुक कृत्य करने की अनादि परम्परा आज तक चली आती है। पृथ्वी के उन्हीं विशिष्ट स्थानों का नाम तीर्थ है और तादृश काल की उपस्थिति का नाम ही पर्व है।

बृहस्पति पिण्ड जीवनवर्धक तत्त्वों का सर्व प्रधान केन्द्र है और शनिपिण्ड जीवनसंहारक तत्त्वों का खजाना है। इसलिए वैदिक-वाङ्मय में बृहस्पति का अपर नाम ही 'जीव' प्रसिद्ध है तथा शनि महाराज भी अपनी संहारक प्रकृति के अनुसार मारक-ग्रह के नाम से प्रख्यात हैं। सूर्य के अन्यून द्वादशांश को छोड़कर शेष भाग जीवनवर्धक है वैज्ञानिकों का सुपरिचित, सूर्य के काले धब्बे वाला भाग ही केवल जीवनसंहारक तत्त्वों से उपद्रुत है। चन्द्रमा अमावस्याके निकट काल में जब क्षीण रहता है

तब तो वह संहारक प्रभाव डालता है, परन्तु अन्य दिनोंमें खास-कर अपनी पूर्ण अवस्था में जीवनवर्धक रहता है। शुक्रग्रह सौम्य होता हुआ भी परपोषक स्वभाव का है अतः जीवनसंहारक तत्त्वों को प्रबलता के समय वह अग्नि को वायु की भांति संहारकता के प्रवृद्ध करने में सहायक हो जाता है। अतएव इसे आसुरी शक्ति का पुरोधा कहा गया है। मङ्गल पिण्ड का प्रभाव केवल रुधिर तक ही सीमित नहीं है, अपितु बौद्धिक विश्लेषण में भी उसका प्रभाव नगण्य नहीं है। बुधपिण्ड अपना कोई एक स्थिर प्रभाव नहीं रखता किन्तु उभयविध पिण्डों के तात्त्विक संघर्ष में जब जिसका पलड़ा भारी पाता है चिमगादड़ की भाँति वैसा ही बन जाता है। इसीलिए इसे ज्योतिष में क्लीव माना गया है। छाया ग्रह राहुकेतु सदैव जीवनसंहारक तत्त्वों के परिपोषक हैं।

आकाश के बारह विभागों का पारिभाषिक नाम 'राशि' है। नक्षत्रों की आकृति के अनुसार उन द्वादश राशियों के 'मेष' 'वृष' आदि विभिन्न नाम हैं। अनन्त आकाश का कौन-सा राशिनामक प्रदेश किस ग्रहपिण्ड से सदैव प्रभावित रहता है। इस वैज्ञानिक तथ्य के अनुसार तत्तद् राशियों के तत्तद् ग्रहपिण्ड स्वामी माने जाते हैं। तदनुसार सूर्य एकमात्र सिंह का स्वामी है और चन्द्रमा केवल कर्क का, परन्तु अन्यान्य भौम आदि पांच ग्रहों को दो-दो राशियों का स्वामित्व प्राप्त है। तदनुसार मकर और कुम्भ का स्वामित्व शनि को मिला और मेष तथा बृश्चिक का मंगल को। सो जब बृहस्पति मारक-ग्रह की राशि में प्रविष्ट होकर जीवनसंहारक तत्त्वों का अवरोध कर देता है तो उस समय जीवनवर्धक तत्त्व अतीव आप्यायित हो जाते हैं। और

पृथ्वी के जिस केन्द्रबिन्दु पर तादृश प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ता है, उस क्षेत्र को उस समय जीवनवर्धक अमृत-कणों से परिव्याप्त बताकर तादृश वातावरण के सम्पर्क में आने का संकेत ही 'कुम्भ पर्व' की वैज्ञानिक आधार भूमिका है।

सो जब जीवनसंहारक प्रधान ग्रह शनि की खास राशि कुम्भ में बृहस्पति प्रविष्ट हो जाते हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा मंगल की राशि मेष में आ जाते हैं तो ऐसे ग्रहयोग में हरिद्वार पंचपुरी क्षेत्र में अमृतमय वातावरण की उपस्थिति हो जाती है। जो आस्तिक हरिद्वार में आकर कुम्भपर्व के अवसर पर नियमित जीवन बिताते हैं वे प्रकृति की इस अलभ्य देन से अतीव लाभान्वित होते हैं।

इसी प्रकार दैत्यगुरु शुक्र की राशि वृष में बृहस्पति की उपस्थिति तथा शनि की राशि मकर में सूर्य और चन्द्रमा की अवस्थिति त्रिवेणी के संगम तीर्थराज प्रयाग में अमृतकण उडेलती है। आस्तिक उससे लाभान्वित होते हैं।

सूर्य के मारकभाग का सीधा प्रभाव जब भूमण्डल पर पड़ता है, तब भादों की भयानक धूप में लोहपुरुष कृषक भी तिल मिला उठते हैं और हरिण भी काले पड़ जाते हैं। सो उस समय जब सूर्य की राशि सिंह में बृहस्पति का प्रवेश होता है और सूर्य स्वयं भी चन्द्रसहित उक्त राशि पर ही अवस्थित रहता है तब गोदावरी के उद्गम स्थान नासिक में जीवनमय अमृत कणों की धारावृष्टि होती है।

इस प्रकार जब सिंहस्थ बृहस्पति हों तथा मंगल की राशि मेष में सूर्य हो और शुक्र की राशि तुला में चन्द्र पहुँचते हैं तो

महाकाल के पवित्र क्षेत्र में अमृत की निर्भरिणी शिप्रा के रूप में प्रवाहित हो जाती है।

यही कुम्भों का वैज्ञानिक दिग्दर्शन है, ग्रन्थ-विस्तारभयात् हम अधिक लिखने में असमर्थ हैं। पाठक हमारे सूत्रों को स्वयं पल्लवित करके अधिक समझने का प्रयत्न करें।

इस प्रकार पर्वों के उपलक्ष्य में किये जाने वाले व्रत, उपवास तीर्थ-स्नान और तदङ्गभूत देवपूजन, हवन और यज्ञ यागादि नैमित्तिक कर्मों का दिग्दर्शन कराने के अनन्तर अवसर प्राप्त 'काम्य' कर्मों का भी संक्षिप्त निरूपण किया जाता है, जिससे यह प्रघट्ट अपेक्षाकृत परिपूर्णता को प्राप्त कर सके।

काम्य कर्म

अमुक अभिलाषा की पूर्ति के निमित किये जाने वाले अनुष्ठानों को शास्त्रों में 'काम्य-कर्म' कोटि में परिगणित किया जाता है। काम्य कर्मों के विधिवत् अनुष्ठान से कर्ता को अमुक २ अभिलषित फलों की प्राप्ति होती है, परन्तु न करने पर कोई प्रत्यवाय नहीं होता। अतः 'काम्य' कर्मों की इति-कर्त्तव्यता 'नित्य' और 'नैमित्तिक' कर्मों की भांति अनिवार्य नहीं होती।

प्रवृत्तिमार्गनिष्ठ, पुत्र-वित्त-लोकेषणा-सम्पन्न सांसारिक व्यक्तियों के लिए तादृश अनुष्ठान कथमपि अनुष्ठेय हो सकते हैं, परन्तु निवृत्ति-मार्गनिष्ठ मोक्षाभिलाषी अधिकारियों के लिए तो 'काम्य-कर्म' निषिद्ध माने गए हैं। उनमें भी मारण, मोहन और उच्चाटन आदि कृत्य तो अतीव निकृष्ट कोटि के काम्य कर्म हैं। वे तो सर्वसाधारण के लिए भी

अननुष्ठेय ही हैं। इसलिए मोक्ष प्राप्ति में बाधक तादृश काम्य कर्मों का, खासकर कलिकाल में सर्वथा वर्जित 'अश्वमेध' आदि यज्ञोंका दिग्दर्शन 'अपायतत्त्व निरूपणाध्याय' में किया जाएगा क्योंकि आपाततः ये कृत्य अपाय कोटि में ही आते हैं।

यहाँ तक नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मोंका स्वरूपदर्शन हुवा है, परन्तु श्राद्धकर्म तीनों कोटियों में आता है। जैसे— **कुर्य्यादहरह श्राद्धम्** (मनु ३ । ८२) इस उक्ति के अनुसार 'सध्न्योपासना' की भान्ति 'देवर्षि-पितृ-तर्पण' और तदङ्गभूत बलिवैश्वदेव आदि भी नित्यकर्म कोटि में आता है, जिसे नित्य श्राद्ध कहते हैं। इसके न करने से प्रत्यवाय होता है।

और्ध्वदैहिक-संस्कारकालीन श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध, एकोद्दिष्ट-श्राद्ध एवं आश्विन में होने वाले पार्वण-श्राद्ध अथ च तीर्थ-निमित्त श्राद्ध—ये सब 'नैमित्तिक' कर्म कोटि के अन्तर्गत हैं। तत्तत् निमित्त उपस्थित होने पर इनकी करणीयता भी शास्त्रसिद्ध है।

'वृद्धिश्राद्ध' प्रायः काम्य कोटि में आता है, क्योंकि क्रिय-माण विवाहादि-संस्कार काल में सम्भावित सूतक, पातक-जन्य, विघ्न बाधा के परिहार की कामना से ही इसकी करणी-यता अपेक्षित है, तत्तत्संस्कारांगात्वेन नहीं। अतः तादृश विप्रति-पत्ति की असम्भावना में इसके न करने पर भी कोई प्रत्यवाय नहीं होता।

इस प्रकार श्राद्ध समयभेद से नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीनों कोटि का कर्म है। अतः उस का निरूपण अधस्तन स्वतन्त्र प्रघट्ट में विस्तारपूर्वक किया जाता है।

श्राद्ध-विचार

जीवित माता-पिता और गुरुजनों की सेवा करना तो मानव कर्तव्य है, परन्तु उनके मर जाने पर शरीर की दाह आदि क्रियाओं द्वारा जब 'मिट्टी में मिट्टी मिल जाती है' और आत्मा शरीर के बिना खाने-पीने की योग्यता नहीं रखता अतः वह कर्मानुसार पुनः गर्भ में चला जाता है फिर मृत व्यक्ति के नाम पर जो पोपों ने अपने खाने पीने का ढंग बना रक्खा है जिसका नाम 'श्राद्ध' प्रसिद्ध है वह क्यों किया जाता है ? क्या पोपों का पेट 'लैटर बक्स'' है कि उसमें कुछ डाला और वह मृत व्यक्ति को मिल गया। पोप क्या परलोक के 'पोस्टमैन' हैं ? इत्यादि २ अनेक कुतर्क वैदिक होने का दम भरने वाले बेधड़क धर्मावलम्बियों की ओर से प्रायः किये जाते हैं। यह कितने खेद और आश्चर्य की बात है कि वेद में जो विषय लबालब भरा पड़ा हो, उपलब्ध संहिता भाग में ही अन्यून चार सहस्र मन्त्र जिस विषय का प्रत्यक्ष प्रतिपादन करते हों-ऐसे सुस्पष्ट विषय का भी दयानन्दी टोला चार्वाक आदि नास्तिकों के उच्छिष्ट कुतर्कों द्वारा खण्डन करते हुवे नहीं लजाता—'**किमाश्चर्यमतः परम्**' ?

श्राद्ध का शास्त्रीय स्वरूप

(क) प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य, भोज्यं यत्प्रियमात्मनः ।
श्रद्धया दीयते यत्र, तच्छ्राद्धं परिचक्षते ॥

(श्राद्धकल्पे शाठ्यायनिः)

(ख) योऽग्निः क्रव्यात्प्रविवेश नो गृहम्······तमाहरामि पितृयज्ञाय देवम् (ऋग्वेद १०।१०।१३)

(ग) श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात् (कात्यायन स्मृति १३।४)

(घ) पितृणां लोकमपि गन्छन्तु ये मृताः (अथर्व १२।२।४६)

(ङ) अधामृताः पितृषु सम्भवन्तु (अथर्व १८।४।४८)

(च) तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ।
(अथर्व १८।४।४८)

(छ) अन्तर्हितो पितृलोको मनुष्यलोकात् ।
(तैत्तिरीय १।६।८।६)

(ज) विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः (सिद्धान्तशिरोमणि)

(झ) ये निखाता ये परोप्ता ये चोच्छ्रिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितृन् हविषे अत्तवे ।।
(अथर्व १८।२।३४)

(ञ) त्वमग्ने ! ईडितो जातवेदो वाड् हव्यानि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः पितृभ्यः । (अथर्व १८।३।४२)

(ट) इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्ग्यम् ।। (अथर्व १८।३।४८)

अर्थात्—(क) मृत पितरों के उद्देश्य से जो अपने प्रिय भोग्य पदार्थ (ब्राह्मण को) श्रद्धापूर्वक प्रदान किये जाते हैं तादृश अनुष्ठान का नाम 'श्राद्ध' है । (ख) कच्चे मांस को दाह सस्कार में फूंक डालने वाला जो अग्निदेव हमारे घर में प्रविष्ट हुआ है···उस अग्निदेव को मैं 'पितृयज्ञ' [श्राद्ध] के निमित्त शुद्ध करके स्थापित करता हूँ । (ग) पितृयज्ञ का ही अपर नाम 'श्राद्ध' है (घ) जो मर गये हैं वे पितृलोक को चले जाएं । (ङ) मृत्यु के

पश्चात् पितृयोनि में प्रविष्ट हो जाओ। (च) अन्तरिक्ष से उपरितम भाग की 'अद्यौः' संज्ञा है जिसमें पितर रहते हैं। (छ) पितृलोक मनुष्यलोक से चर्मचक्षुओं द्वारा दृष्ट नहीं है। (ज) चन्द्रमा की ऊर्ध्व कक्षा में वर्तमान पितृलोक में पितर रहते हैं। (झ) जिन [अजातदन्त और कुष्ट रोगी आदि] मृत व्यक्तियों के शरीर भूमि में गाड़ दिए गए हैं, जिन [वैखानस आदि चतुर्थाश्रमियों] के जलादि में प्रवाहित कर दिए हैं, जिनके जला दिये गये हैं और जिन [परमहंस आदि] के वन में वृक्षों पर टांग दिये गये हैं, हे अग्निदेव! उपर्युक्त चारों प्रकार के और्ध्वदैहिक-संस्कार-सम्पन्न उन पितरों को हमारी प्रदान की हुई हवि खाने के लिये इस श्राद्ध कर्म में पहुँचाओ! (ञ) हे जातवेदा अग्निदेव! [जिस प्राणी ने कर्मानुसार जहाँ-जहाँ भी जन्म धारण किया है उन सबके ज्ञाता तेजस्वी परमात्मन्!] हम आपकी स्तुति करते हैं, आप हमारे द्वारा प्रदान की हुई इन हवियों को सुगन्धित करके तृप्ति के निमित्त पितरों को प्रदान करो। (ट) मैं इस ओदनोपलक्षित भोजन को ब्राह्मणों में स्थापित करता हूँ [उन्हें खिलाता हूँ] जो सूक्ष्म रूप से अतीव विस्तृत होकर लोक-लोकान्तर को जीतता हुआ स्वर्ग तक पहुँचता है।

मृतश्राद्ध विषयक प्रामाणिक रहस्योद्घाटन

वेद में जहां अन्यान्य लौकिक विषयों के प्रतिपादक पचास सौ प्रमाण उपलब्ध होते हैं वहां पारलौकिक परोक्ष विषय मृतश्राद्ध के प्रतिपादक सहस्रों मन्त्र विद्यमान हैं। यदि यह भी कह दिया जाए कि वेद का वेदत्व एकमात्र इसी बात पर निर्भर करता है कि वह प्रत्यक्षानुमानोपमानादि प्रमाणान्तर से

अज्ञात परलोक विषय का एकमात्र प्रधान निरूपक है और इसलिए श्राद्ध सम्बन्धी छोटी-से-छोटी क्रिया का भी वेद में विशद वर्णन विद्यमान है—तो अत्युक्ति न होगी।

सनातनधर्म और आर्यसमाज के मध्य में श्राद्ध विषय को लेकर पौन शताब्दी से नित्य देवासुर-संग्राम चलता आ रहा है। यद्यपि निर्णायक मध्यस्थ मानने पर प्रत्येक लिखित शास्त्रार्थ में वजीराबाद (पंजाब) के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ की भांति जर्मन विद्वान् मैक्समूलर जैसे निष्पक्ष अध्यक्षों ने सर्वत्र आर्यसमाज की ही पराजय घोषित की है, तथापि 'बकरी की तीन टांग' वाली टेक दयानन्दी उपदेशक क्यों छोड़ने लगे। अभी तक वे जीवित श्राद्ध जीवित श्राद्ध चिल्लाते ही रहते हैं।

यद्यपि आर्यसमाज में दुराग्रही कठमुल्लाओं का ही प्रबल बहुमत है जो समय-समय पर यहाँ तक कहते हुए भी नहीं हिचकते कि यदि वेद में मृतश्राद्ध जैसा तर्क से असिद्ध विषय लिखा हो तो हम ऐसे वेद को भी मानने के लिए तैयार नहीं। तथापि अपवादभूत कुछ सच्चे हृदय के लोग भी प्रत्येक संस्था में हो ही सकते हैं। दश-बारह वर्ष पूर्व कुछ ऐसे ही प्रभावशाली आर्यसमाजियों ने यह अनुभव किया कि घर में तो सनातनधर्मियों से श्राद्ध पर शास्त्रार्थ चलता ही है; वे मृतश्राद्ध के मन्त्र वेद से निकालकर दिखाते हैं और हमारे उपदेशक उनका जीवित श्राद्धपरक अर्थ करते हैं। यद्यपि जनता पूरा-पूरा निर्णय नहीं कर पाती तथापि प्राय: सनातनधर्मियों का ही पलड़ा झुका रहता है। इसलिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने एक गुप्त प्रस्ताव करके यह आयोजन किया कि हमारे निष्पक्ष वेदज्ञ पण्डितों को वेदों का अनुसंधान करके घर में तो यह निर्णय करना चाहिए कि वस्तुत: वेद में मृतश्राद्ध मिलता है या जीवित

श्राद्ध ? तदनुसार दयानन्द जन्मशताब्दी महोत्सव (मथुरा) में होने वाले वेद-सम्मेलन के सभापति सुप्रसिद्ध वेदभाष्यकार श्री पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर औंध (सितारा) और गुरुकुल कांगड़ी के मान्य स्नातक श्री मङ्गलदेव तडित्कान्त विद्यालङ्कार की अध्यक्षता में वेदों का अनुसन्धान किया गया। उक्त सज्जनों ने वर्षों के बाद अपनी ऋष्यर्चा का परिणाम 'यम और पितर' नाम से पुस्तकाकार छापकर सब सदस्यों के सामने उपस्थित किया, जिसमें चारों वेदों के अन्यून दो हजार वेदमन्त्र हिन्दी अर्थ सहित मृतश्राद्ध के समर्थक संगृहीत किये गये।

यद्यपि यह सब कार्य गुप्त रीति से सम्पादन किया गया था तथा उक्त पुस्तक की प्रायः उतनी ही प्रतिएँ छापी गई थीं जितने कि उक्त संस्था के सदस्य थे। पुस्तक के आवरण पृष्ट पर यह पंक्ति भी छाप दी गई थी कि—'यह पुस्तक विक्रयार्थ नहीं है केवल आर्य सदस्यों के लिये हैं'—तथापि किसी तरह इसकी कुछ प्रति हमारे भी हाथ लग गईं जो अभी तक हमारे पुस्तकालय में विद्यमान हैं। जब यह बात सर्वसाधारण के सामने प्रकट हुई तो कठमुल्ला क्वालिटी के दयानन्दी घबड़ा उठे, उन्हें असत्य की रेतीलो दीवारों पर खड़ी आर्यसमाज की बिल्डिङ्ग धराशायी होती दीख पड़ी। आखिर जब अन्य कुछ उपाय न सूझा तो बड़ी तत्परता के साथ उक्त पुस्तक की सब प्रतियों को वापिस मंगवाकर अग्नि की भेंट कर डाला।

अब चाहे 'यम और पितर' नामक पुस्तक अप्राप्य है तथापि श्री सातवलेकर जी का अथर्ववेद-भाष्य सव-सुलभ है जिसके अट्ठारहवें काण्ड में बहुत से वे ही मन्त्र भाषार्थ सहित ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। इसी प्रकार आर्यसमाज के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी पं राजाराम प्राध्यापक दयानन्द ऐङ्गलो वैदिक कालेज

लाहौर के बनाए अथर्ववेद भाषाभाष्य को देखा जा सकता है, जिसमें उक्त पण्डित जी ने वैतनिक दासता के समय की गई आर्यसमाज की झूठी वकालत का प्रायश्चित्त करने के लिये उक्त भाष्य लिखकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त की है। इसलिये जहां तक प्रमाण का सम्बन्ध है वहां तक तो यह खम ठोककर डिंडिमघोषेण कहा जा सकता है कि केवल पचास सौ प्रमाण नहीं, किन्तु समस्त वैदिक वाङ्मय हो मृतश्राद्ध विषय से भरा पड़ा है।

श्राद्ध में पिण्डदान क्यों ?

श्राद्ध में पिण्डदान क्यों करना चाहिये? यह बात पाठक तब तक पूरी तरह नहीं समझ पाएंगे जब तक कि पहिले वे जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रीय रहस्य हृदयङ्गम न कर लेंगे। 'अण्ड-पिण्ड सिद्धान्त' के अनुसार यह तो पूर्व प्रकट किया जा चुका है कि प्राणियों का प्रत्यक्षदृष्ट देह जड़ और स्थूल है तथा इसका अगोचर अभिमानी जोव चेतन और सूक्ष्म है। यह शरीर जहां कोषात्मक विश्लेषण के अनुसार १. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय और ५. आनन्दमय, पांच प्रकार का है वहां प्रकारान्तर से १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण नाम से त्रैविध्य-सम्पन्न भी है। सो स्थूल पञ्च महाभूतों से संयुक्त होकर भूमण्डल में प्रकट होने का नाम ही 'जन्म' है और उनसे वियुक्त होकर लोकान्तर गमन का नाम ही 'मृत्यु' है। तदनुसार मृत्यु किसी ऐसी भयङ्कर स्थिति का नाम नहीं है जबकि प्राणी सर्वदा के लिए सर्वथा सत्ताहीन हो जाता हो, किन्तु स्थूल देह को छोड़कर जब जीवात्मा पृथक् होता है तब भी वह १७ तत्त्वों से बने सूक्ष्म शरीर से सम्बन्द्ध ही रहता है। सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में लिखा है कि—

वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च,
प्राणानि पञ्चाभ्रमुखानि पञ्च ।
बुद्ध्याद्यविद्याऽपि च कामकर्मणी,
पुर्य्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ।। (वि. चूड़ा. २)

अर्थात्—वाणी आदि पांच कर्मेन्द्रिय, श्रवण आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय, पांच प्राण, आकाश आदि पांच महाभूत, मनः, बुद्धि चित्त अहंकारात्मक अन्तःकरण चतुष्टय और अविद्या काम तथा कर्म इन कुल २७ तत्त्वों के संघात से बनी हुई यह देह है। स्थूल पञ्च महाभूत और स्थूल कर्मेन्द्रियों को छोड़कर शेष १७ तत्त्वों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर होता है।

जब प्राणी मरता है तो उसके हाथ-पांव आदि अङ्ग निश्चेष्ट हो जाते हैं, इन्द्रियों की देखने सुनने आदि की शक्तियें क्रमशः एक-एक करके नष्ट होने लगती हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान स्थानभेदेन पंचविध प्राणवायु अपने-अपने स्थानों से च्युत हो जाता है। इस तरह अपान और उदान वायु का तारतम्य बिगड़ते ही प्राण वायु का अवरोध हो जाता है, इस अवस्था का अपर नाम ही लोक में 'मृत्यु' प्रसिद्ध है। बालाग्र शतभाग के भी शतांशभूत, अतिसूक्ष्म जीव का जब स्थूल शरीर से प्रयाण होता है तो वह पूर्वोक्त तत्त्वों के संघात से आवेष्टित होकर 'अंगुष्ठप्रमाण' सदृश उपलक्षित होता है। यद्यपि यह उसकी अंगुष्ठ-प्रमाणता भी किसी स्थूल पदार्थ की भांति मेय किंवा ज्ञेय नहीं होती तथापि 'रंहति संपरिष्वक्तः' आदि वेदान्त दर्शन के सूत्र में और 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' आदि श्रीमद्भगवद्-गीता (अ. १५ श्लो.८) के प्रमाण में जैसे पुष्प संस्पृष्ट वायु फूल की सूक्ष्म गन्ध को भी अपने साथ उड़ा ले जाता है इसी प्रकार

यह जीव भी पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर से पृथक् होता हुआ तद्गत सूक्ष्म भूतांशों को भी अपने साथ ले जाता है जिसका उपलक्षण शास्त्र में 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' कहा गया है ।

सूक्ष्म शरीरधारी जीव इस लोक के सतत अभ्यास के कारण परलोक में भी तत्तद् इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा करता है परन्तु उन अभिलाषाओं की पूर्ति का साधक 'भोगायतन' देह न होने के कारण वह उपभोग में कृतकार्य नहीं हो पाता । इस दशा का कुछ अनुमान इस प्रकार हो सकता है कि जैसे राग-रसिक पुरुष वधिर हो जाने पर, सिनेमा का शौकीन अन्धा हो जाने पर और इतर-फुलेलों का व्यसनी नाक कट जाने पर पूर्वानुभूत विषयों का बार-बार स्मरण करता हुआ भी तत्तद् विषय ग्राहक इन्द्रियों के अभाव में सन्ताप को प्राप्त होता है, यही दशा प्रायः भोगायतन शरीररहित जीव की होती है । उक्त अभिलाषाओं के सात्विक, राजस और तामस होने के तारतम्य से ही यह जीव, देव-पितर, भूत-प्रेत और पिशाच आदि भली और बुरी नानाविध योनियों में प्रविष्ट होने के कारण नाना नामों से स्मरण किया जाने लगता है । परलोकगत जीव को तादृश भोगायतन पिण्ड की प्राप्ति हो, एतदर्थ वेद-शास्त्र ने मृतक के निमित्त श्राद्ध के अन्यतम अङ्ग दशगात्र पिण्डदान आदि का विधान किया है ।

अन्त्येष्टिकालीन पिण्डदान की इतिकर्तव्यता

मरने के अनन्तर शवयात्रा के समय दाहक्रिया काल तक १. शव, २. पान्थक, ३. खेचर, ४. भूत और ५. साधक नामक पांच पिण्ड होते हैं जो पंच महाभूतों के उपलक्षण हैं । और दश दिन पर्यन्त प्रदिदिन क्रमशः १. शिर पूरक २. कर्णाक्षि नासिका पूरक ३. गलांस भुज वक्षःस्थल पूरक, ४. नाभि लिङ्ग गुदा

पूरक ५. जानु जंघा पाद पूरक ६. मर्म पूरक ७. सर्व नाड़ी पूरक ८. दन्त पूरक ९. बल वीर्य ओजः पूरक और १०. क्षुधा पूरक नाम दश पिण्ड होते हैं।

ये पिण्ड जिन्हें दशगात्र नाम से स्मरण किया जाता है, भोगायतन शरीर की साङ्गता के उपलक्षण हैं। चौथे दिन अस्थि-संचय श्राद्ध में एक पिण्ड प्रदान किया जाता है यह अन्तःकरण का उपलक्षण है। इस तरह सब मिलाकर सोलह पिण्डों का यह मलिन षोडशा प्रसिद्ध है। आशौचादि के दिन मध्यम षोडषा और वार्षिक श्राद्ध पर्यन्त तत्तत् समयों में क्रमशः प्रदत्त पिण्डों का उत्तम षोडशा होता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीरों को और्ध्वदेहिक योग्यता प्राप्त्यर्थं यह वैदिक अनुष्ठान षोडशा-त्रयी के रूप में सम्पन्न होता है। जैसे—'षोडशकलं वै ब्रह्म'—इस वेद प्रमाण के अनुसार ब्रह्म षोडश कलाओं से परिपूर्ण होता है ठीक इसी प्रकार उक्त षोडश पिण्ड प्रदान के विज्ञान-पूर्ण और्ध्वदैहिक अनुष्ठान से मृतात्मा को साङ्ग बनाकर भोगायतन को योग्यता प्रदान की जाती है, जिससे वह वायु मण्डल में निरुद्देश्य भटकता न फिर कर अपने लोकान्तर गमन के भावि पुरोगम को कार्यान्वित करने में व्यापृत हो। हमारी उक्त स्थापना के आधारभूत प्रमाण मननीय हैं, यथा—

(क) यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयन् जातवेदः। तद्वः एतत्पुनराप्यायामि सांगास्स्वर्गे पितरो मादयध्वम्। (अथर्व १४-४-६४)

(ख) गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि। (१८-४-५२)

(ग) आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि (वात्स्यायनः)। (न्यायदर्शन ३।१।२८)

(घ) पंचभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्। शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्। (मनु० १२।१६)

अर्थात्—(क) हे पितरो ! जातवेदा अग्नि ने पितृलोक को पहुँचाते हुए [दाह कर्म के समय] जो तुम्हारे प्रत्येक अंग को भस्म कर डाला है, इस [पिण्डदान क्रिया द्वारा] तुम्हारे उन अंगों को मैं पुनः आप्यायित करता हूँ जिससे तुम समस्त अंगों से सम्पन्न होकर स्वर्गलोक में आनन्द करो। (ख) हे मृतप्राणी, वेद के [इस दशगात्र विधान] द्वारा मैं तेरे अंगों को उपभोग-क्षम बनाता हूँ।] (ग) जैसे इस पृथ्वीलोक में पृथ्वी-तत्त्व के आधिक्य से बने शरीर होते हैं इसी प्रकार अन्यान्य लोकों में जलीय तैजस और वायव्य शरीर होते हैं। (घ) मरने पर पापी मनुष्य को पंच महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्राओं से बना हुआ अन्य यातना [=नारकीय कष्ट] भोग सकने योग्य शरीर निश्चित रूप से मिल जाता है। इस प्रकार अन्त्येष्टिकालीन श्राद्धों की वैज्ञानिक क्रियाओं की 'क्यों ?' का समाधान जाना जा सकता है। अन्यान्य श्राद्ध की इति कर्त्तव्यता का निरूपण आगे यथास्थान किया जाएगा।

जीव मरने पर कहाँ जाता है ?

मृत्यु पश्चात् जीव कहाँ जाता है—इसके लिए कोई समान सार्वत्रिक नियम नहीं है किन्तु प्रत्येक जीव की स्व-स्व-कर्मानुसार विभिन्न गति होती हैं यही कर्मविपाक का सर्वतंत्र सिद्धांत है।

मुख्यतया प्रथम दो गति समझनी चाहियें, पहिली यह कि १. जिसमें प्राणी जीवत्व भाव से छूटकर जन्म मरण के प्रपंच से सदा के लिए उन्मुक्त हो जाय और दूसरी यह कि (२) कर्मानुसार स्वर्गनरक आदि लोकों को भोग कर पुनरपि मृत्युलोक में जन्म धारण करे।

वेदादि शास्त्रों में उक्त दोनों गतियों को कई नामों से प्रपञ्चित किया गया है यथा—

(क) द्वे सृती अश्रृण्वं देवानामुत मानुषाणाम्।
(ख) शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थात्—(क) देव मनुष्य आदि प्राणियों की मृत्यु के अनन्तर दो गति होती हैं। (ख) इस जंगम जगत् के प्राणियों की अग्नि, ज्योति, दिन शुक्ल-पक्ष और उत्तरायण से उपलक्षित अपुनरावृत्ति-फलक प्रथमगति तथा धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन से उपलक्षित पुनरावृत्ति-फलक दूसरी गति अनादि काल से चली आती है। इसमें प्रथम मार्ग से प्रयाण करने वाला प्राणी सूर्यमण्डल भेदन करके सर्वदा के लिए जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है और दूसरे मार्ग से प्रयाण करने वाला जीव कर्मानुसार पुनः २ जन्म मरण के वक्र चक्र में पड़कर आ-ब्रह्मलोक परिभ्रमण करता रहता है।

स्वर्ग नरक व्यवस्था क्यों ?

जो प्राणी पुनरावृत्ति मार्ग के पथिक हैं वे भी मूलतः दो प्रकार की गति को प्राप्त होते हैं। जिन जीवों के सकाम सत्कर्म्म अत्युग्र होते हैं अर्थात् जिनका प्रतिफल=आनन्दोपभोग—मृत्युलोक में जन्म धारण करने पर भोगा जाना सम्भव न हो,

वे प्राणी स्वर्ग आदि आनन्ददायक लोकों में दिव्य शरीर धारण करके आकर्म्मविपाक निवास करते हैं। वेदादि शास्त्रों में ऐसे पुण्यलोकों को **'आनन्दा नाम ते लोका'** (क० उप०) **'घृतह्रदा मधुपूर्णाः'** (अथर्व) आदि रोचक शब्दों में वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार जिन जीवों के दुष्कर्म अत्युग्र होते हैं जिनका कि प्रतिफल=उग्र यातनाएँ-मृत्युलोक में भोगी जानी संभव न हों वे प्राणी नरक आदि कष्टप्रद लोकों में यातना शरीर धारण करके दुष्कर्म फलोपभोग काल पर्यन्त निवास करते हैं। शास्त्रों में ऐसे कष्टप्रद लोकों का **'अन्धेन तमसा वृताः'** (यजु ४०।) आदि भयानक शब्दों में निरूपण किया गया है।

पीछे चन्द्र कक्षान्तरवर्ती उपरितन भाग में जिसे कि 'प्रद्यौः' नाम से वेद ने स्मरण किया है—'पितृलोक' की अवस्थिति प्रकट की जा चुकी है। इससे ऊपर ब्रह्मलोक पर्यन्त प्रकाशमय 'द्यौः' नामक विस्तृत प्रदेश में अनेक पुण्यलोकों की अवस्थिति बतलाई गई है जिनका समष्टिनाम 'स्वर्ग' है। वेद में सुस्पष्ट लिखा है कि—

(क) द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् ।
(ख) तिर इव वै देवलोको मनुष्यलोकात् ।

अर्थात्—(क) समस्त देवताओं का आवास स्थान 'द्यौः' है (ख) देवलोक की मनुष्य लोक से सर्वथा पृथक् सत्ता है।

इसी प्रकार शनिग्रह की कक्षा से ऊपर के अन्धकारमय प्रदेश में प्रधानतया इक्कीस पाप लोक अवस्थित हैं जिनका समष्टिनाम 'नरक' है। वेद में सुस्पष्ट लिखा है कि—

'ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः (यजुः ४०।३)

अर्थात्—जो कोई आत्महत्यारे=मानव शरीर पाकर भी आत्मोद्धार का प्रयत्न न करने वाले प्राणी हैं, वे मृत्यु के पश्चात् उन अन्धकारमय नारकी लोकों में जाते हैं।

सो उग्रकर्मा प्राणी सकाम सत्कर्मों को भोगने के लिए स्वर्ग में और पापकर्मों को भोगने के लिए नरक में जाता है, परन्तु भोगते २ जब वे कर्म उग्रकोटि के नहीं रहते किन्तु मृत्युलोक में भोग सकने योग्य रह जाते हैं तब उस जीव का जन्म अवशिष्ट सत्कर्मों के उपभोग के निमित्त ब्रह्मवेत्ता योगी, धनी-मानी ब्राह्मणादि के रूप में होता है और दुष्कर्मों के उपभोग के लिए रुग्ण, कुष्ठी चाण्डालादि के रूप में होता है इस आशय की छान्दोग्य की श्रुति प्रसिद्ध है—

ये रमणीयाचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् । कपूयाचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् ।

अर्थात्—शास्त्रविहित आचरण करने वाले व्यक्ति उत्तम योनियों को प्राप्त होते हैं और पापाचारी पाप योनियों को प्राप्त होते हैं ।

वेद में एक अधमाधम **'जायस्व म्रियस्व'** गति का भी उल्लेख मिलता जिसमें अतीव पापी प्राणी एक ही दिन में कीट पतंग आदि के रूप में कई २ बार उत्पन्न होता और मरता रहता है । यही कर्मानुसार जीव की विविध गतियों का रहस्य है । अमुक राजरोगादि के प्रत्यक्ष दर्शन से पूर्व-जन्मकृत पापों के परिपाक का भी बहुत कुछ अनुमान हो सकता है । मन्वादि धर्मशास्त्रों में अमुक २ पाप का परिणाम अमुक २ योनि किंवा अमुक राजरोग—ऐसा स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है । यहाँ

इतना और अधिक समझ लेना आवश्यक होगा कि मनुष्य योनि को छोड़कर अन्य सभी योनि केवल भोगयोनि हैं। अर्थात्—उनमें केवल पूर्व जन्म के कर्मों का उपभोग मात्र होता है ! किसी नए कर्म की सृष्टि नहीं होती, परन्तु मनुष्य योनि में जहां पूर्व जन्मों के किए हुए संचित कर्मकोष के प्रारब्ध नामक कुछ अंश का उपभोग होता है वहाँ नये कर्मों की सृष्टि भी होती है, इसीलिए मनुष्य योनि 'कर्मयोनि' नाम से विख्यात है। यही स्वर्ग और नरक आदि लोक लोकान्तरों की अवस्थिति और उनकी व्यवस्था का सहैतुक विवेचन है।

तृण जलौकावत् जन्म तो श्राद्ध किसका ?

श्रीमद्-भागवत में स्पष्ट लिखा है कि—'जैसे जोंक पिछला कदम तब उठाती है जब कि वह पहिले अगला कदम ठीक जमा लेती है, ठीक इसी प्रकार यह जीव भी इस देह का तब ही परित्याग करता है जबकि आगे इसका देह नया तैयार हो जाता है।' ऐसी स्थिति में इस शरीर के छोड़ने पर जब वह तत्काल ही अन्य शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और वहाँ कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से गर्भ में, अथवा जन्म लेने के बाद माता पिता द्वारा उसके पालन-पोषण का सुप्रबन्ध रहता है, तब श्राद्ध में प्रदान किया अन्न उसे कब खाने को मिलेगा। और उसे उसकी आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी ? इसलिए मृतश्राद्ध का ढंकोसला व्यर्थ है !

यह शंका केवल नास्तिक प्रतिपक्षी ही नहीं करते अपितु कभी कभी आस्तिक सनातनधर्मी भी कर बैठते हैं, परन्तु वास्तव में इस शंका का मूल तत्काल जन्म धारण करनेका भ्रम है। श्रीमद्भागवत के उक्त वचन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि प्रत्येक जीव मरने पर तत्काल ही माता के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है—बल्कि उक्त

वचन का तात्पर्य है कि यह जीव आमोक्ष कभी भी अशरीरी तो रहता ही नहीं। वह ज्योंही इस स्थूल शरीर को छोड़ता है तो उसे त्योंही कर्मानुसार दिव्य, यातना, आप्य, तैजस, किंवा वायव्य कोई न कोई शरीर अवश्य मिलता है, यह पिछले प्रघट्ट में भी हम सिद्ध कर चुके हैं। ऐसी दशा में जीव चाहे किसी अन्य लोक में रहे अथवा मृत्युलोक में ही तत्काल जन्म धारण करले, हर हालत में उसे श्राद्धफल प्राप्त होता है। यह वेद शास्त्र का अटल सिद्धान्त है। यथा—

**(क) स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः। स्वधा पितृभ्यो-
ऽन्तरिक्षषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः।**

(अथर्व—१८।४।७८।८०)

**(ख) देवत्वे यातनास्थाने तिर्य्यंग्योनौ तथैव च।
मानुष्ये च तथाऽऽप्नोति श्राद्धं यत्तं स्वबांधवैः।**

(विष्णुस्मृति २०।३५)

अर्थात्—(क) पृथ्वी पर जन्म धारण करके रहने वाले पितरों को स्वधा=श्राद्ध में प्रदत्त कव्य तृप्त करता है। अंतरिक्ष में भूत प्रेत आदि योनियों में विचरने वाले प्राणियों को स्वधा द्वारा तृप्ति मिलती है। और द्यु: लोक में देवयोनि पाकर निवास करने वाले पितरों को 'स्वधा=श्राद्ध में प्रदत्त कव्य से तृप्ति मिलती है। (ख) देवयोनि में, नारकीय योनियों में, पशु पक्षी आदि तिर्य्यंग् योनियों में तथा मनुष्य योनि में भी अपने बांधवों द्वारा दिया गया श्राद्ध प्राणी को प्राप्त होता है।

क्या गधे को खीर मिल सकती है ?

एक बार शास्त्रार्थ में आर्यसमाज के एक प्रतिष्ठित महाशय

ने मृतश्राद्ध के खंडन में कहा कि—'सुनिये पंडित जी महाराज ! कल्पना करो मेरे पिताजी मरकर गधे की योनि में पैदा हो गए और मैंने उनके निमित्त ब्राह्मण को खिलाई खीर !, क्या यह कभी भी संभव हो सकता है कि जीवन भर में गधे को खीर खाने का अवसर आए ! अथवा मेरे पिता वन गए चिउंटी, ब्राह्मण खागया दो सेर खीर ! यदि दो सेर खीरका बंडल चिउंटी पर गिर पड़े तो वह दबकर तत्काल मर जाए ! श्राद्धकर्ता को पितृहत्या का पाप लगे ! अथवा पिताजी बन गए हाथी, जो सवा मन मलीदे से तृप्त हो सकता है हमारी भेजी सेर भर खीर से हाथी कैसे तृप्त हो सकेगा ? इत्यादि २ और भी अनेक कुतर्क पूर्ण बातें कहीं। झूठ बड़ा मीठा और रोचक भी तो होता ही है—इसी लिए तो भारत के प्रसिद्ध नास्तिक बृहस्पति का नाम 'चारवाक' अर्थात् 'चारु वाक' पड़ गया था। सो महाशय जी की उक्त बातों को सुनकर दयानन्दी श्रोता आनन्द-विभोर फूलकर कुप्पा हो गए। आस्तिक सनातनधर्मी व्याघ्राक्रान्त गाय की भान्ति टुकर २ कातर दृष्टि से हमारे मुख की ओर ताकने लगे। आखिर हमारे उत्तर देने का अवसर आया !

हमने कहा कि 'महाशय जी के पूज्यपिता जी मरकर क्या बने यह तो उन्होंने स्वयं अपने मुखारविन्द से भरी सभा में घोषित कर दिया। आखिर जिस पिता के पुत्र महाशय जी जैसे लायक फायक (?) हों, वे मरकर गधे के अतिरिक्त और बन भी क्या सकते हैं ? यह स्पष्ट है। महाशय जी यदि चाहते तो वे ऐसी भद्दी कल्पना न करके अच्छी कल्पना भी कर सकते थे। कह सकते थे कि मेरे पिता मर कर बन गए चक्रवर्ती सम्राट् और मैंने श्राद्ध में ब्राह्मण को खिलाई जौं की सूखी रोटी, सो चक्रवर्ती को जौं की सूखी रोटी खाने का कभी अवसर ही नहीं आ सकता ! परंतु महाशय जी तो आज मृत

श्राद्ध का खण्डन करने पर तुले हैं, फिर चाहे उनके कुतर्कों से वेद शास्त्र का सफाया हो जाये और चाहे अपने पिता को गधा, कुत्ता कुछ भो क्यों न बनाना पड़े! और तो और दयानन्दी श्रोताओं की मुखाकृति द्रष्टव्य है। ये लोग अपने उपदेशक के पूज्य पिताजी के गर्दभ बन जाने की बात पर फूले नहीं समा रहे हैं, सेर भर खीर के नीचे दबकर मरे हुए अपने पितरों की दशा पर हर्ष के कहकहे लगा रहे हैं। आखिर इस निर्लज्जता-पूर्ण मूर्खता का भी कोई ठिकाना है! हमारी आलोचना सुनकर समाजियों के चेहरे फक्क हो गए और उपदेशक महाशय को अब होश आई कि जोश में मैंने क्या-क्या कह डाला।

यह तो कुतर्क का तात्कालिक प्रतिबंध था परन्तु वस्तुतः वेदादि शास्त्रों में उक्त गंभीर समस्या का बड़ा ही चोखा समाधान किया है। इस प्रश्न का मूल केवल यह भ्रान्त धारणा है कि नास्तिक लोग समझे बैठे हैं कि 'श्राद्ध में जो खिलाया-पिलाया जाता है वही पदार्थ ज्यों-के-त्यों उसी तोल, वजन और परिमाण में—मृत पितरों को मिलते हैं।' इस विषय पर हमें एक ऐसी ही मूर्खतापूर्ण सच्ची घटना का स्मरण हो आया है, पाठकों के विनोदार्थ हमें उसे यहां अङ्कित करके तब आगे बढ़ेंगे।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में मूर्ख लोगों में कुछ ऐसी भ्रान्त अफवाह फैल गई कि कागज के सिक्के नोटों का चलना बन्द हो जाएगा। बस, इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि लोगों ने दुवन्नी, चवन्नी, आने, पैसे आदि खरीज सिक्कों का संग्रह आरम्भ कर दिया और बाजार में चेंज मिलना कठिन हो गया। दुकानदार ग्राहक से पहले यह पूछकर कि टूटे हुए सिक्के हैं—तभी सौदा देता था। कहीं-कहीं तो डाक के टिकटों और पोस्टकार्डों तक का खरीज के स्थान में प्रचलन जारी रहा।

उन्हीं दिनों हमारे एक पंजाबी मित्र ने हमें बतलाया कि 'कल घर से पत्तर आया था, पंजाब में भनखड़ (खरीज) की बड़ी भारी तंगी हो रही है, मन्ने आज इधर-उधर से बड़ी मुश्किल से दश रुपए की चेंज कठ्ठी करके अभी मनीआर्डर कीता है। पता नहीं खरीज नूं की लोढा पैग्या।'

मैं अपने मित्र के भोलेपन पर बहुत चकित हुआ और उनसे कहा कि श्रीमान् जी, मनीआर्डर की रकम तो इसी डाकखाने में रह जाएगी, आपके गांव में तो फारम मात्र पहुँचेगा। वहाँ पोस्टआफिस में रुपए, नोट जो प्रस्तुत होंगे सो तुम्हारे आदमी को मिलेंगे, खरीज नहीं मिलेगी। मेरी बात समझकर अब तो वे बहुत छटपटाए और हक्के-बक्के हो गए। यही हाल उक्त प्रश्न करने वाले महाशयों का है उन्होंने यह दृढ़ धारणा बना रक्खी है कि मानो श्राद्ध में जो खिलाया जाता है वही ज्यों-का त्यों पितरों के पास पार्सल की भांति पहुँचता है, परन्तु शास्त्र का यह आशय नहीं है। इस समस्या का समाधान एक लौकिक दृष्टांत द्वारा समझा जा सकता है।

पृथ्वी पर अनेक देश हैं और प्रत्येक देश के भिन्न-भिन्न सिक्के हैं। भारत में जैसे 'रुपए पैसे' का प्रचलन तो इङ्गलैंड में 'पौण्ड पैंस' आदि चलते हैं। अमेरिका में 'डालर' चलता है तो जर्मनी में 'फ्रांक'। मुस्लिम प्रदेशों में 'दीनार' तो अफरीका के उपनिवेशों में 'शिलिङ्ग और सैंट'। गर्ज है कि प्रत्येक देश का अपना-अपना पृथक् सिक्का है। भारत में पहिले रियासतों में ही अपने-अपने सिक्के प्रचलित थे, हैदरावाद का हाली तो अभी कल तक भी सिसकता रहा है।

एक देश का दूसरे देशों के साथ लेन-देन सदा से चलता ही है। प्रत्येक देश दातव्य राशि के उपलक्ष में अपने देश का सिक्का

अपने सरकारी कोश में जमा कर देता है तो दूसरे देश को उतने ही मूल्य का उस देश का सिक्का वहाँ की गवर्नमेंट प्रदान कर देती है। इस व्यवस्था के लिए 'विश्व बैंक' के तत्त्वावधान में प्रत्येक देश में एफ 'एक्सचेंज आफिस' (परिवर्तन कार्यालय) रहता है जो नियमानुसार प्रत्येक देश के सिक्के का मूल्य आंक कर उतने उतने ही मूल्य का अपने देश का सिक्का निर्धारित कर देता है। जैसे यदि पौंड-प्रधान देशों की ओर से भारत में एक पौंड का मनीआर्डर या पोस्टलआर्डर पहुँचे तो यहाँ का डाकघर उसके मूल्य में सवा तेरह रुपया पाने वाले को पेमेन्ट कर देता है। यही बात अन्यान्य देशों में समझ लेनी चाहिए। सो यदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी व्यवस्था से अपने-अपने देश का लेन-देन अन्यान्य देशों से बिना गड़बड़ी के चालू रख सकते हैं, तब नाना ब्राह्मणों में तो एक ही परमात्मा का साम्राज्य है, वह अपनी न्याय-व्यवस्था के अतुसार श्राद्ध में दिए हुए हमारे भौतिक पदार्थों को मृत प्राणी के आवास-स्थान और जीव की योनि की योग्यता के अनुरूप बनाकर क्यों न तृप्त कर पाएगा ? वास्तव में ऐसी आशङ्का किसी वज्रमूर्ख को ही हो सकती है।

श्राद्धान्न से सब योनियों में तृप्ति कैसे ?

वेदादि शास्त्रों में सुस्पष्ट लिखा है कि—

(क) यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणा।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नोदधत् ॥ (यजुः १८।६४)

(ख) यद् यद् ददाति विधिवत्सम्यक् चछ्रद्धासमन्वितः।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥
(मनुस्मृति ३।२७५)

(ग) पितृलोकगतश्चान्नं श्राद्धे भुंक्ते स्वधामयम् ।

(विष्णुस्मृति २०।३४)

(घ) देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुसारतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेप्यनुगच्छति ।।
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेप्यनुगच्छति ।।
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम् ।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम् ।
मनुष्यत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत् ।

(देवल स्मृति)

अर्थात्—(क) श्राद्ध में पितरों के निमित्त जो कुछ भी दान दिया जाता है, फिर चाहे वह वापी, कूप, तड़ाग आदि पूर्त हो और चाहे नकद दक्षिणा हो, समस्त विश्व का नियन्ता तेजः-स्वरूप परमात्मा उससे हम सबको स्वर्ग आदि लोकों में और देव आदि योनियों में यथावत् पोषण करता है। (ख) श्रद्धा-पूर्वक विधिवत् जो-जो वस्तुएँ सम्यक् प्रदान की जाती हैं वे सब वस्तुएँ अन्य लोकों में पितरों के लिए अनन्तकाल तक अक्षय तृप्ति प्रदान करती हैं। (ग) पितृलोक में गया हुआ प्राणी श्राद्ध में दिए हुए अन्न को स्वधारूप में परिणत हुए को खाता है। (घ) यदि शुभ कर्मों के कारण मरकर पिता देवता बन गया हो तो श्राद्ध में दिया हुआ अन्न उसे अमृत में परिणत होकर देवयोनि में प्राप्त होगा। गन्धर्व बन गया हो तो वह अन्न नाना भोगों के रूप में प्राप्त होगा और पशु बन जाने पर तृण रूप में परिणत होकर तृप्त करेगा। यदि वायुभक्षक नागयोनि में चला

गया हो तो श्राद्ध का अन्न वायु रूप से तृप्ति का हेतु होगा। यक्ष बनने पर पेय के रूप में और राक्षस बन जाने पर 'आमिष' के रूप में, दानव योनि में मांसरूपेण तथा प्रेत बन जाने पर रुधिरोदक रूप से तृप्ति का कारण बनेगा और मनुष्य योनि में जन्म धारण करने पर वही श्राद्धान्न नाना अन्न पान और भोग्यरसादि के रूप में परिणत होकर प्राणी को तृप्त करेगा।

क्या हमें श्राद्ध नहीं मिलता ?

यदि पूर्वजन्म के पुत्र आदि द्वारा किया हुआ श्राद्ध प्रत्येक योनि में मिलता है तो हमें भी मिलना चाहिए ! क्या हम सब श्राद्ध न करने वाले आर्यसमाजी पुत्रों के ही पिता हैं ? आखीर हममें से किसी का तो पूर्वजन्म का पुत्र आस्तिक होगा ही जो हमारे लिए ब्राह्मणों को खिलाता होगा फिर हमें—क्यों नहीं मिलता ?

यह कुतर्क भी अज्ञान विजृम्भित है। शङ्कावादी महाशयों ने हमारे गत प्रघट्ट का ध्यान-पूर्वक मनन नहीं किया हमने वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों के उद्धत करके यह सिद्ध किया है कि श्राद्ध में दिए हुए अन्न का परिणाम अन्ततोगत्वा 'तृप्ति' होती है। सो तृप्ति किसी भौतिक स्थूल पदार्थों के उपभोग से प्राप्त नहीं हो सकती। उल्टा तत्तद् इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों के सेवन से तो विषय-प्राप्ति की लालसा अधिकाधिक बढ़ती ही है। शास्त्र का अटल सिद्धांत है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात्—कामोपभोग से कामनाएँ कभी भी शान्त नहीं

होतीं, अपितु घी से अग्नि की भांति विषय सेवन से वे बढ़ती ही हैं। श्राद्ध का परिणाम मृत-प्राणियों को किसी भौतिक स्थूल पदार्थ के रूप में प्राप्त नहीं होता किन्तु तत्तद् विषयों के उपभोग के लिए भटकती हुई उनकी आत्मा को 'तृप्ति' अर्थात् तत्तद् विषयों के उपभोग की लालसा की परिसमाप्ति प्राप्त होती है।

लड्डू, जलेबी खाने से पेट भर सकता है और बेतहासा ठूंसते जाने से चाहे वह फट भी सकता है, परन्तु एतावता सदा के लिए उसकी तद्विषयक लालसा समाप्त हो जाती हो ऐसी बात नहीं। सो विषय सेवन एक बात है और विषयों की लालसा से उन्मुक्त हो जाना दूसरी ही बात है। विषय सेवन के लिए स्थूल पदार्थ सापेक्ष्य हैं परन्तु तृप्ति के लिए किसी भौतिक स्थूल पदार्थ के उपभोग की आवश्यकता नहीं, किन्तु आवश्यकता है तद्विषयक लालसा की निवृत्ति की, जिसका अपर नाम 'तृप्ति' हैं।

जैसे देवताओं के निमित्त किए गए हवन में भौतिक स्थूल 'हव्य' सामग्री तो अग्नि में भस्म हो जाती है परन्तु उसका सूक्ष्म अंश ही 'स्वाहाकार' रूप से देवताओं को परितुष्ट करता है, ठीक इसी प्रकार श्राद्ध में प्रदत्त 'कव्य' का स्थूल अंश तो भौतिक अग्नि, किंवा ब्राह्मण की जाठराग्नि में भस्मसात् हो जाता है परन्तु उसका सूक्ष्म अंश 'स्वधाकार' रूप से पितरों को परितृप्त करता है, इसी लिए वेदादि शास्त्रों में देवता के निमित्त दिए जाने वाले हव्य का 'स्वाहा' कहकर विसर्ग किया जाता है, और पितरों के निमित्त दिए जाने वाले कव्य का 'स्वधा' कहकर संप्रदान होता है।

अब रहा यह प्रश्न कि 'हम भी तो किसी के पितर हैं, फिर

पूर्व जन्म के पुत्रों द्वारा किया हुआ श्राद्ध या उसका फल हमें तो कभी नहीं मिला'—इसका उत्तर एक बार भरी सभा में हमें इस प्रकार देने के लिए बाध्य होना पड़ा। मैंने कहा—'मैं अभी पांच मिनट में दो टूक यह निर्णय कर डालता हूँ कि इस सभा में उपस्थित कौन-कौन सज्जन आस्तिक पुत्रों के पिता हैं, जिनको कि पूर्व जन्म के पुत्रादि द्वारा किए हुए श्राद्ध के उपलक्ष्य में 'तृप्ति' प्राप्त है और कौन-कौन सज्जन मृतश्राद्ध न मानने वाले नास्तिक बेटों के बाप हैं, जिनको कि श्राद्ध न होने के कारण 'तृप्ति' नहीं मिल सकी है।

सभी जानते हैं कि न केवल मनुष्यों में अपितु पशु आदि तिर्य्यंश्चों में भी दो प्रकार के जन्तु पाए जाते हैं। एक थोक ऐसा है कि जो स्वतः प्राप्त अपने न्याय अंश को खा-पीकर ही मस्त रहता है, साहस किंवा अन्याय से यथा-तथा उपार्जन करने की प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। दूसरा थोक इसके सर्वथा विपरीत खूब खाए, और अहर्निश खाए ! जब जैसे भी मिले उसे तथैव प्राप्त करके भी खाए !! कानून के डंडे और रक्षक के लगुड़ प्रहार की भी परवाह न करके छापा मारने से न चूके !!!

जैसे—एक गाय सामने पड़े जैसे-तैसे चारे को खाकर भी आनन्द के फुंकारे भरने लगती है और दूसरी कोटि की गाय गले में घन्टी बांधने पर भी, दोनों पांवों के बीचोबीच गले में मोटा लक्कड़ लटकाने पर भी हरे-भरे खेत को खाए बिना दम नहीं लेती। एक विश्वस्त कुत्ता सुदूर आंगन में बैठा गृह-स्वामिनी द्वारा प्रदत्त कौर मात्र खाकर प्रसन्न रहता है, चौंके की सीमा में कभी धंसने का दुस्साहस नहीं करता। परन्तु उसी का दूसरा भाई मिस्टर कुतबुद्दीन भोजन करने वाले व्यक्ति की आँख में आँख डालकर ताक लगाए खड़ा रहता है। जब जरा

भोक्ता या भोजन परसने वाले की आँख इधर-उधर झपकी कि यह तपाक से टूट पड़ा और जितनी खाद्य सामग्री मुँह में आ सकी उठाकर देखते-देखते अन्तर्धान हो गया।

इसी प्रकार इस सभा में भी दोनों प्रकार के मनुष्य विद्यमान हैं। हम किसी को लज्जित करने के लिए अंगुली निर्देश-पूर्वक तो कह डालना उचित नहीं समझते परन्तु समझदार सज्जन हमारी आलोचना के दर्पण में अपना-अपना चारित्रिक मुख देखकर स्वयं निर्णय कर लें कि वे किस कोटि में हैं। एक वे सज्जन हैं जिनका सिद्धांत है कि—

रूखी सूखी खायकर ठंडा पानी पीव।
देख बिगानी चोपड़ी मत ललचावे जीव॥

अर्थात्—वे चाहे गरीब किसान हों, और चाहे निर्धन मजदूर, चाहे हों फक्कड़ बाबा सच्चे सन्त, उनको जो कुछ भी खाने-पीने को मिल जाता है वे आधे पेट रहते हुए भी उतने से ही परितृप्त हो जाते हैं। पड़ौस में घी घूँटते हुए धनियों को देखकर न उनके मन में कभी डाह होती है और न वैसा बनने की चाह।

परन्तु दूसरी कोटि के नर-पुंगवों का इसके सर्वथा विपरीत सिद्धान्त है कि—

देख बिगानी चोपड़ी, गिर पड़ बेईमान।

दो घड़ी को बेशरमी, दिन भर का आराम॥

इस कोटि के लोग चाहे कितने ही धनी-मानी हों और चाहे कितनी ही भोगोपभोग की उन्हें सुख-सुविधा प्राप्त हो तथापि वे कभी परितृप्त नहीं होते। दिन भर बकरी की भांति चरते सोए,

कि स्वप्न में भी उन्हें रसगुल्ले दीख पड़े । सो इनमें प्रथम कोटि के जो व्यक्ति बताए गए हैं, जिनको कि 'तृप्ति' प्राप्त है—वे पूर्वजन्म के आस्तिक पुत्रों के पितर हैं, उनका विधिवत् श्राद्ध होता है जिसके पुण्य प्रताप से भगवान् ने उनकी लालसा का शमन कर दिया है और वे शरीर धारण के लिए जो सो खाकर भी सदैव 'तृप्ति' अनुभव करते हैं ।

दूसरी कोटि के वे व्यक्ति हैं जो कि दुर्भाग्यवश नास्तिक बेटों के बाप हैं जिनका कभी श्राद्ध तर्पण नहीं होता, अतः उनको स्वकर्मानुसार इस लोक में धन सम्पत्ति प्रतिष्ठा चाहे जो प्राप्त हो परन्तु श्राद्ध के अभाव में 'तृप्ति' प्राप्त नहीं । संसार के विषयोपभोगों में उनकी उत्कट लालसा बनी हुई है ।

अब आप लोग अपना २ स्वयं निर्णय कर लें कि कौन-किस कोटि में है—और तदनुसार यह भी जान लें कि किसको श्राद्ध का अन्तिम परिणाम 'तृप्ति' प्राप्त है और किसको नहीं ?

श्राद्ध का भार पुत्र पर क्यों ?

मनुष्य अपनी करणी से आप तरता है, परन्तु पुत्र पर यह श्राद्ध करने का भारी बोझा क्यों ? भला जीवन भर तो वह माता पिता की सेवा इसलिए करता रहता है कि वह उनसे उत्पन्न हुवा था । परन्तु जबकि पिता माता का वह देह भी भस्मसात् हो गया फिर भी वह श्राद्ध करे—यह तो अनावश्यक ढंकोसला है । फिर जीव तो किसी का बाप बेटा नहीं होता पुनः उसके उद्धार के नाम पर श्राद्ध का नाटक रचना कोरी पोपलीला है !

हम पीछे पूर्वार्द्ध के अन्त्येष्टि प्रकरण में यह प्रकट कर चुके हैं कि यदि कोई व्यक्ति सन्तान उत्पन्न न करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे तो एकमात्र इस साधन से वह दशमद्वार से

प्राण निकालकर सूर्य-मण्डल को भेदन करता हुवा अपुनरावृत्ति मार्ग का पथिक बन जाता है, परन्तु सभी मनुष्य इस कठिन मार्ग में आरूढ़ हो जाएँ तो सबके आश्रयदाता गृहस्थ आश्रम के अभाव में अन्यान्य आश्रमों का आपाततः वर्णाश्रम-धर्म का ही उच्छेद हो जाए जो भगवान् को कथमपि इष्ट नहीं है। इसलिए बड़े २ ज्ञानी ध्यानी ऋषिमुनि भी जगत्प्रवाह के संचालनार्थ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। सो सन्तानोत्पादन के व्यापार से दशमद्वार से प्राण प्रयाण की स्वाभाविकी शक्ति क्षीण हो जाती है अतः पिता की इस हानि का दायित्व पुत्र पर है। दाह कर्म के समय पुत्र पिता की कपालास्थि को बांस से तीन बार स्पर्श करता हुवा अन्त में तोड़ डालता है जिसका स्वारस्य यही है कि पुत्र श्मशानस्थ समस्त बाँधवों के सामने संकेत करता है कि यदि पिता जी मुझ-से पामर जन्तु को उत्पन्न करने का प्रयास न करते तो ब्रह्मचर्य के बल से उनकी यह कपालास्थि स्वतः फूटकर इसी दशम द्वार से प्राण निकलते और वे मुक्त हो जाते। परन्तु मेरे कारण उनकी वह योग्यता विनष्ट हो गई। मैं तीन बार प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस कमी को मैं श्राद्धादि और्ध्वदेहिक वैदिक क्रियाओं द्वारा पूरी करके पिता जी का अन्वर्थ—'पुं' नामक नरक से 'त्र' त्राण करने वाला 'पुत्र' बनूँगा। वास्तव में शास्त्र में पुत्र की परिभाषा करते हुवे पुत्रत्व का आधार 'श्राद्ध' कर्म को ही प्रकट किया गया है यथा—

जीवतो वाक्यकरणान्मृताहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

अर्थात्—जीवित माता पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने से और उनके मर जाने पर और्ध्वदैहिक

संस्कार—पिण्ड पत्तल—ब्रह्मभोज आदि कृत्य करने से तथा गया आदि तीर्थ में जाकर पिंडदान करने से पुत्रता सिद्ध होती है, अर्थात् उक्त तीनों कार्यों का सम्पादन ही 'पुत्रत्व' का द्योतक है।

एक ही मार्ग है जिससे दो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं एक 'पुत्र' और दूसरा 'मूत्र'। सो जो व्यक्त उपर्युक्त तीनों कार्य करता है वही 'पुत्र' है। शेष सब कोरे 'मूत्र' हैं। मूत्रालय में किलबिलाते हुए 'कीट' भी हमारे ही वीर्यकणों से समुद्भूत हैं, इसी प्रकार वे नास्तिक भी साढ़े तीन हाथ के मूत्रकीट ही समझे जाने चाहियें जो कि श्राद्धादि कर्म करके अपने पुत्र होने का प्रमाण नहीं देते।

दूसरे के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है ?

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित-मानस' में लिखा है कि—

कोउ न काहू सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ॥

अर्थात्—कोई न किसी को सुख पहुँचा सकता है और नां ही दुःख दे सकता है। सब जीव केवल अपने किए कर्मों को ही भोगते हैं—फिर पुत्र के किए हुवे श्राद्ध का पुण्यफल पिता को कैसे मिल सकता है ?

अरे ! ये शंकावादी वैसे तो 'रामचरित-मानस' को जाल ग्रंथ बतलाते हैं परन्तु जब इनको कोई शंका करनी हो तब ये 'हीर रांझा' और 'तोता मैना के किस्से' को भी वेदवत् प्रमाण कोटि में मानने लग जाते हैं। महाशयों को जब और कुछ न सूझी तो 'रामचरित-मानस' की एक अप्रासंगिक चौपाई उद्धत करके शङ्कापङ्क में आशिरोनिमग्न हो गए।

अब जरा इस चौपाई के प्रकाश में मृतश्राद्ध के दर्शन कीजिए। पिता ने गर्भाधान रूप कर्म किया, जिसके दो फल हुए; एक--नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के भङ्ग हो जाने के कारण पिता की स्वतः सिद्ध मुक्ति का अभाव ! और दूसरा--अपनी ही आत्मा के अभिन्न प्रतिबिंब पुत्ररत्न का प्रसव ! पहिला फल दुःख रूप है और दूसरा सुखप्रद। यदि दुर्भाग्यवश अथवा पिता के किसी अनैतिक दुराचार के कारण पुत्र नास्तिक बन गया तो पिता 'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया' के अनुसार अपने ही कर्म का फल नरक भोगेगा। यदि पुत्र शास्त्राज्ञाकारी आस्तिक हुवा तो उससे जीवन काल में सेवा का सुख और मरने पर श्राद्धादि द्वारा पारलौकिक कल्याण प्राप्त होगा। ये सुख और दुःख दोनों ही पिता के द्वारा किए हुए गर्भाधान आदि सुसंस्कारों और कुसङ्गादिजन्य कुसंस्कारों पर निर्भर हैं।

यदि आपके मस्तिष्क में इस चौपाई का यह अर्थ जमा है कि अन्य के परिश्रम से समुत्पन्न होने वाली कोई वस्तु अन्य किसी को मिल ही नह सकती तो फिर आप किसान का बोया अन्न, माली द्वारा उत्पादित शाक सब्जियें, जुलाहों द्वारा बुना हुआ कपड़ा—गर्ज है कि अन्यान्य सभी उपयोगी पदार्थों से वंचित हो जाओगे ? सच कहना ! बाप दादे की उपार्जित सम्पत्ति का आप उपभोग कर रहे हैं या नहीं ? दुर्भाग्यवश आपके पूज्य पिता श्री को यदि व्यभिचार-जन्य आतशक, सुजाक, आदि कोई रोग रहें हों तो क्या वे परम्परागत कुलज रोग आपको विरासत में नहीं मिलेंगे ?

वास्तव में उत्पादक के श्रम का मूल्य चुका कर हम अपने ही श्रम से उपार्जित द्रव्य द्वारा तत्तद् वस्तुएँ खरीदते हैं। श्राद्ध कर्म में भी पिता ने—मोक्ष जैसी कीमती वस्तु जिससे

प्राप्त हो सकती थी ऐसे अमूल्य वीर्य को बहाकर 'पुत्र' को खरीदा है और अपना सर्वस्व उसे प्रदान करके उपकृत किया है, सो इतना बड़ा मूल्य चुका देने पर भी पुत्र यदि पिता को नगण्य तीन चुल्लू पानी देने में भी सौ नुन नच, हज़ार तर्क वितर्क करे तो उससे अधिक कृतघ्न और कौन हो सकता है ? इसलिये श्राद्ध करना कोई पितृगणों पर अहसान नहीं है, अपितु 'पितृऋण' का स्वल्पसा व्याजमात्र देना है।

क्या ब्राह्मणों का पेट ही लैटरबक्स है !

यदि क्षणमात्र के लिए उपर्युक्त बातें मान भी ली जाएँ तो सबसे बड़ी महती शङ्का तो यह शिर ऊँचा किये खड़ी ही रहेगी कि क्या फिर पितरों की तृप्ति के निमित्त पार्सल भेजने के लिये ब्राह्मणों का पेट ही लैटर बक्स है ?

मृतश्राद्ध के सम्बन्ध में जितनी भी आशङ्काएँ उठती हैं उन में नास्तिकों के मन में ब्राह्मणों को खिलाने वाली बात सबसे अधिक खटकती है। स्वभावतः खीर बड़ा ही मृदुल, सुपाच्य, सुस्वाद्य, रुचिकर एवं तरल पदार्थ है परन्तु जहाँ उसमें अनन्त गुण हैं वहाँ उसमें एक दोष भी विद्यमान है। और वह यह कि खीर खिलाते हैं आस्तिक श्रद्धालु और खाते हैं वेदपाठी श्रोत्रिय ब्राह्मण। परन्तु उनको खाते देखकर क्या, स्मरण मात्र करने से भी दर्द होता है नास्तिक दयानन्दियों के क्षुद्र हृदयों में ! यह अतीव मृदुल पदार्थ भी नास्तिकों के पेट में शल्य की भांति कसकता है और आँखों में कांटे की भांति चुभता है। ब्राह्मणेतर नास्तिकों को रह २ कर यह बात खलती है कि आखीर ये ब्राह्मण खीर क्यों उड़ाते हैं ? हो न हो इन लोगों ने केवल अपना पेट पालने के लिये ही मृतश्राद्ध का यह सब दम्भ रचा है।

हमने निष्पक्ष भाव से महाशयों की इस तुच्छ वृत्ति का जब मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया तो हम इस परिणाम पर पहुँचे कि यदि उक्त महाशयों को श्राद्ध की समस्त क्रियाओं का परिज्ञान हो जाए तो वे इस खलने वाली ब्राह्मणभोजनात्मक एक क्रिया को छोड़कर अन्यान्य क्रियाओं के अनुष्ठान से तो अपने मृत पितरों का उद्धार कर पाएँगे। इसलिए यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि केवल ब्राह्मण को खिलाना मात्र ही सर्वाङ्गपूर्ण श्राद्ध नहीं है अपितु मुख्यतया चार क्रियाओं का नाम श्राद्ध है।

शास्त्र में मुख्यतया श्राद्ध के चार अङ्ग बतलाए गये हैं जिनमें पहिला अङ्ग है (१) हवन। दूसरा अङ्ग (२) पिण्डदान। तीसरा अङ्ग (३) तर्पण और चौथा अङ्ग (४) ब्राह्मण भोजन। वेद कहता है कि—

[क] वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि स बिभर्ति पितरं पितामहान्। (अथर्व १८।४।३५)

[ख] ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन, सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे। अपः प्रविशत प्रतिगृह्णातु वश्चरु इमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम्। (अथर्व ११।१।१८)

[ग] एतास्त्वा धारा उपयन्तु विश्वाः स्वर्गेलोके मधुमत्पिन्वमानाः। (अथर्व ४।३४।७)

[घ] इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्। (अथर्व ४।३४।८)

अर्थात्—(क) मैं अग्नि में जो हवि होमता हूँ वह मेरे पितृ-

पितामहादिकों का पोषण करता है। (ख) वेदमन्त्रों द्वारा शुद्ध किए गए और घृत आदि पदार्थों के सम्मिश्रण से पावन बनाए गए—सोम अंश जिनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं ऐसे ये पितृयज्ञ सम्बन्धी चावल के पिण्ड हैं जो अवनेजन और प्रत्यवनेजन आदि श्राद्ध क्रियाओं द्वारा जल में प्रविष्ट किए गए हैं, हे दिवंगत प्राणी ! आप हमारे इस पिण्डरूप चरु को ग्रहण करो। तथा इसके परिपाक से आप पुण्यात्माओं के लोक को जाओ। (ग) तर्पण में प्रदत्त हमारी ये सब जल धाराएँ तुम्हें प्राप्त हों ! और ये स्वर्गलोक में मीठी बनकर तुम्हारा प्रीणन करें। (घ) ये ओदनोपलक्षित-भोज्य पदार्थ मैं ब्राह्मणों में स्थापित करता हूँ (उन्हें खिलाता हूँ) जो विस्तार को प्राप्त होकर, लोक-लोकांतरों को जीतता हुआ स्वर्ग तक पहुँचता है।

नेक सलाह—

सो उपर्य्यक्त चारों क्रियाओं का नाम 'श्राद्ध' है, जिनके द्वारा मृत पितरों की तृप्ति होती है। हम अपने शंकावादी महाशयों को उनकी ही भलाई के लिए मैत्रीपूर्ण परामर्श देना चाहते हैं कि यदि उन्हें ब्राह्मणों को खिलाने में ही कुछ आपत्ति हो तो वे श्राद्ध के शेष तीन अंगों को अपने कल्याण के निमित्त कर लिया करें।

हवन तो प्रायः दयानन्दी करते ही हैं। इस क्रिया के सम्पादन में उनको सनातनियों द्वारा की जा सकने वाली सम्भावित 'तानाजनी' का भी कुछ डर नहीं। सो श्राद्ध के दिन जो हवन किया जाए उसमें 'वायु शुद्धि' होने की तुच्छ अशास्त्रीय भावना को छोड़कर 'मेरे मृत पितर तृप्त हों।' ऐसी भावना दृढ़ करनी चाहिए, बस ! चार आना भर श्राद्ध हो गया।

अब रहा पिण्डदान, सो घर में खीर पूड़ी पकाकर उनका ही कुछ भाग मथकर वार्षिक आदि श्राद्ध के दिन केवल एक पिण्ड और तीर्थश्राद्ध किंवा कनागत पार्वण श्राद्ध के समय—कुक्कुटांड प्रमाण न सही बदरीफल सन्निभ हो सही अधिक नहीं तो छः हो पिण्ड बनाकर चुपके-चुपके पितर पितामह, प्रपितामह और मातामह प्रमातामह, वृद्ध प्रमातामह, इन छः सपत्नीक पितरों का ध्यान करके घर की गाय को ही खिला दें। गाय खाकर दूध अधिक देगी। इस रीति से कुछ अपव्यय भी न हुआ और श्राद्ध का एक अंग भी सम्पन्न हो गया।

रहा तर्पण, वह तो बड़ा ही सस्ता सौदा है, महाशयों को चाहिए कि श्राद्ध के दिन किसी नदी किंवा तालाब में स्नान के बहाने डुबकी लगाकर मृत पिता आदि संबंधियों का ध्यान करके तथा मन ही मन उनका नाम लेकर जलांजलि दे डालें। इस गुप्त रीति से संगी साथियों को भी तर्पण करने का पता न चलेगा और श्राद्ध का तीसरा अंग भी सम्पन्न हो जाएगा।

उपर्युक्त रीति से 'तानाजनी' से डरने वाले दयानन्दी महाशयों का पर्दा भी फाश न होगा और उन्हें बारह आना श्राद्ध कर सकने का भी सुअवसर मिल जाएगा, जिससे उनका और उनके मृत आत्मीयों का भी कल्याण हो सकेगा। सो ब्राह्मण भोजन तो चौथाई श्राद्ध है, यदि दयानन्दी एक वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण को एक टाइम भोजन खिला देने मात्र से दिवालः निकल जाने का खतरा अनुभव करते हैं तो वे इस मद को तब तलक जाने दें—जब तक कि परमात्मा उनको सुबुद्धि प्रदान न करे।

यह तो हुआ, नास्तिक दयानन्दियों से समझौता, परंतु वस्तुत श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाना ही क्यों आवश्यक है ? इस प्रश्न

का विज्ञानपूर्ण समाधान हम शास्त्र विश्वासी आस्तिक पाठकों के निमित्त यहाँ लिखते हैं।

ब्राह्मणों को खिलाना ही अनिवार्य क्यों ?

पाठक नित्य अनुभव करते हैं कि पृथ्वी में विधिवत् डाला हुआ अन्न का बीज सौगुणा बढ़ता है और जल के अनुपान से खाई हुई औषधि सहस्रगुणी फलवती होती है–होम्योपैथिक चिकित्सा-प्रणाली की तो मूलभित्ति ही इस जलीय सिद्धान्त पर सुस्थिर है। इसी प्रकार अग्नि में डाली गई वस्तु लक्षगुणा तथा वायुकणों में परिव्याप्त अनन्तगुणी हो जाती है। एक रत्ती हींग का भंगार—जिसे देशभेद से 'छौंक' या 'तड़का' भी कहते हैं, सहस्रों मनुष्यों को अपनी सत्ता की सूचना दे देता है और घ्राणतर्पक सिद्ध होता है। रेडियो यन्त्र के सान्निध्य में समुच्चरित एक शब्द विद्युत् शक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्ड भर में परिव्याप्त हो जाता है। सौ वैदिक विज्ञान में भी लोकान्तर में बसने वाले देव-पितर आदि प्राणियों तक पृथ्वीलोक से द्रव्य पहुँचाने के लिए अग्निदेव का माध्यम नियत किया गया है जिस का प्रक्रियात्मक (Practieal) स्वरूप, अग्नि में हव्य और कव्य को विधिवत् होमना है।

भौतिक अग्नि सूर्य-समुद्भूत है। अतः अग्नि में डाले पदार्थ का स्थूल अंश जहां यहीं भस्मरूप में परिणत हुवा दीख पड़ेगा, वहाँ उसका सूक्ष्म अंश अपने अंशी सूर्य-मण्डल पर्यन्त बेरोक-टोक अबाध गति से पहुँचे बिना परिसमाप्त न होगा। जैसे रेडियो पर बोला शब्द यद्यपि ब्रह्माण्ड भर में परिव्याप्त

हो जाएगा परन्तु उसकी अभिव्यक्ति वहीं होगी जहाँ कि उस को कैच कर सकने वाले यन्त्र की सुई ठीक उसी नम्बर के किलोमीटर पर होगी। इसी प्रकार अग्नि में डाला हव्य वेद-मन्त्रों के 'स्वाहाकार' संकेत से मन्त्रोक्त देवता की तृप्ति का कारण बनेगा और श्राद्ध-विधान के वेदोक्त 'स्वधाकार' संकेत से संकल्प-पठित पितर को परितृप्त करने वाला सिद्ध होगा।

यह तो हुवा भौतिक अग्नि में किए गए हवन द्वारा देव और पितरों की तृप्ति होने का वैज्ञानिक विश्लेषण, परन्तु इसी के साथ इतना शास्त्ररहस्य और अधिक मनन कर लेना चाहिए कि ब्राह्मण भी अग्निस्थानीय है, अर्थात्--विराट् के जिस मुख से अग्निदेव उत्पन्न हुवा है उसी मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति लिखी है। वेद की सुस्पष्ट घोषणा है कि--

(क) मुखादग्निरजायत ।

(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् । (यजु: ३१।१२)

(ग) अग्निमुखा एव तत्पितृलोकाज्जीवलोकमभ्या-यान्ति । (शतपथ १३।८।४।४)

(घ) यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥
(मनुस्मृतिः १।९५)

अर्थात्—(क) विराट् के मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ। (ख) ब्राह्मण विराट् का मुख स्थानीय है। (ग) अग्नि के माध्यम द्वारा स्वर्गस्थ देवता सदा हव्यों को खाते हैं और

पितृगण कव्यों को खाते हैं उस ब्राह्मण से अधिक उत्तम और कौन हो सकता है ?

इस प्रकार अग्नि और ब्राह्मण की तात्त्विक समानता शास्त्र-सिद्ध है इसीलिये सविता देवताक ब्राह्मगायत्री ब्राह्मणों का मूल मन्त्र है। सो भौतिक अग्नि में विधिवत् होमना और ब्राह्मण की जाठराग्नि में होमना दोनों समान क्रियाएँ हैं।

जैसे भक्षित अन्न का स्थूलभाग मलरूप से बाहिर निकल जाता है और उसका सूक्ष्मभाग रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य रूप में परिणत होकर शारीरिक पोषण का हेतु बनता है तथा उसका ही सूक्ष्मतर भाग नस्य, आघ्रेय आदि रूपों में परिणत होकर इन्द्रिय और मन को परम्परा से अन्ततो गत्वा भोक्ता के चेतन जीव का 'आस्वाद्य' बन जाता है। इसी प्रकार उक्त भक्षित अन्न का सूक्ष्मतम भग यजमान के श्रद्धा, सत्य-संकल्प और ब्रह्मण्यता आदि सद्गुणों के प्रभाव से तथा तत्तद् वैदिक क्रियाकलाप की सामर्थ्य से देव पितरों का परिपोषक सिद्ध होता है।

यह बात तो केवल श्राद्धभोक्ता ही अनुभव कर सकते हैं; कि श्राद्ध में खाए हुए नाना प्रकार के भोजन व्यञ्जन भी भोक्ता के परिपोषक नहीं होते। यदि ऐसा होता तो कनागत श्राद्धों में लगातार सोलह दिन तक प्रत्यक्षतः माल उड़ाने वाले ब्राह्मण, बलिष्ठ और बलवान् बन जाते परन्तु होता इसके विपरीत यह है कि श्राद्धभुक् अपने को केवल बोझा ढोने वाला सा अनुभव करता है; खाया हुआ हुवा भोजन निःसार सा जंचता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि भक्षित श्राद्धान्न का

सार भाग भोक्ता को प्राप्त नहीं होता अपितु पितरों को प्राप्त होता है। भोक्ता तो केवल माध्यम मात्र है।

श्राद्ध जीवितों का होना चाहिए ?

जब प्रतिवादी वेदादि शास्त्रों के श्राद्धविषयक परःशतम् प्रमाण देखकर उनका प्रतिवाद करने में असमर्थ हो जाते हैं और उनको इस विषम वागुरा से मुक्त होने का अन्य कुछ उपाय नहीं सूझता तो वे अन्त में यह कहकर अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये हाथ-पांव मारने लगा करते हैं कि—'वेद में श्राद्ध तो लिखा है परन्तु वह जीवितों का होना चाहिए, मृतकों का नहीं इत्यादि।

एक बार एक शास्त्रार्थ में जब जीवित श्राद्ध वाली उपर्युक्त बात एक दयानन्दी महाशय ने कही तो हमने उनसे पूछा कि अच्छा! यह श्राद्ध का पचड़ा तो पीछे सुलझाएंगे, पहिले आप यह तो बतलाएँ कि 'विवाह जीवित का होना चाहिये या मृतक का ?' इस प्रश्न से महाशय जी और बहुत से श्रोता भी हंसने लगे और हमारे मुख की ओर सशंक दृष्टि से ताकने लगे। हमने पुनः ललकार कर कहा कि हँसने की बात नहीं, उत्तर दीजिए।

महाशयजी ने तपाक से कहा कि उत्तर क्या खाक दूं, आप का प्रश्न ही बेहुदा है। कभी मृतक का भी विवाह हो सकता है ? आज तक किसी ने मुर्दों का भी विवाह देखा या सुना है। जनता भी मूँड हिला-हिलाकर महाशय जी के इस उत्तर का मूक समर्थन करने लगी। दयानन्दी फूल कर कुप्पा हो गए

और सनातनधर्मी कातर दृष्टि से 'किं भविष्यति' की चिन्ता में डूबकर हमारी ओर देखने लगे। मैंने पुनः कहा—'श्रीमान् जी भला ! मुर्दे का विवाह क्यों नहीं हो सकता ? यदि हो जाए तो इसमें क्या बाधा है ?' महाशय जी सदर्प बोले—'पण्डित जी महाराज ! आप तो यह अप्रासंगिक बात छेड़कर समय टालने का असफल प्रयास कर रहे हैं। आपके इस असम्भव प्रश्न की तुच्छता शत प्रतिशत जनता जान रही है। विवाह तो एक संस्कार विशेष का नाम है, जिसमें घुड़चड़ी वरपूजन, मधुपर्क पान, और वर कन्या द्वारा अग्नि-परिक्रमण इत्यादि क्रियाएँ होती हैं। क्या मुर्दा, घोड़ी पर बैठ जाएगा ? पूजन की सामग्री ग्रहण करता हुआ वर पठनीय मन्त्र—'अर्चय ! पाद्यम् अर्घम्, आचमनीयम् प्रतिगृह्णामि' बोल सकेगा ? मधुपर्क पान में समर्थ होगा ? कन्या का अंगूठा पकड़ सकेगा ? फेरे (भांवरी) लेगा ? जब कि विवाह-संस्कार विषयक कोई भी क्रिया मृतक व्यक्ति पर लागू नहीं हो सकती फिर मृतक के विवाह का प्रश्न उठाना ही उपहासास्पद है।'

बस ! जब हमने भरी सभा में महाशय जी के मुख से उक्त सब बातें कहलवा डालीं और उन पर श्रोताओं की भी मौनमुद्रात्मक मुहर लगवा ली, तब अपना वैदिक विज्ञानमय खड्ग उठाया और कहना आरम्भ किया—महाशय जी ! जैसे आपको मेरा मृतक विवाह-सम्बन्धी प्रश्न उपहासास्पद प्रतीत होता है और है भी वास्तव में उपहासास्पद ही, क्यों कि विवाह एक संस्कार-विशेष है। तत्सम्बद्ध क्रियायें मुर्दे के साथ कथमपि सम्बद्ध नहीं की जा सकतीं ! बस ठीक इसी प्रकार श्राद्ध भी एक और्ध्वदैहिक संस्कार-विशेष का ही नाम है,

और उसमें भी भूमि में दर्भ के ऊपर फीके भात का या चावलों के कच्चे आटे का पिण्ड-दान होता है, यव तिल मिश्रित जलाञ्जलि प्रदान की जाती है। पिण्ड के ऊपर उल्का भ्रमण होता है। तिलों का विकीर्ण होता है। ये सब क्रियाएँ यज्ञोपवीत को अपसव्य करके और केवल दक्षिण दिशा को मुख करके ही की जाती हैं। महीने में एकमात्र अमावस्या तिथि को और वर्षभर में मृत व्यक्ति की मरण तिथि को तथा केवल आश्विन कृष्ण पक्ष में ही श्राद्ध किया जाता है। इन सब बातों का जीवित पितरों के साथ कुछ भी सामंजस्य नहीं बैठ सकता।

स्वामी दयानन्द जी ने भी प्रथमावृत्ति 'सत्यार्थप्रकाश' में तो सप्रमाण सुस्पष्ट ही मृतश्राद्ध का विस्तृत विधान लिखा था, जिसको उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रयाग के आर्य-समाजियों ने कम्पोजीटरों द्वारा की गई मिलावट का झूठा बहाना करके तादृश विज्ञापन छाप डाला और उस अंश को दूध की मक्खी की भान्ति निकाल डाला। परन्तु प्रसिद्ध 'नवल किशोर प्रेस' (लखनऊ) में राजा जयकृष्णदास द्वारा प्रकाशित स्वामी दयानन्द जी की जो 'सन्ध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधि' नामक पुस्तक छपी थी वह कल तक उक्त प्रेस से प्राप्य थी और हमारे पुस्तकालय में उसकी दो प्रति आज भी सुरक्षित हैं। उसमें पूर्व उत्तर और दक्षिण दिशा में मुख करके अक्षत, यव और तिल मिश्रित एक दो और तीन जलाञ्जलि भर कर यज्ञोपवीत को सव्य कण्ठीकृत और अपसव्य करके क्रमशः देव, ऋषि और पितरों के निमित्त तथा भीष्मपिता के निमित्त भी तर्पण करने का विस्तृत विधान लिखा है, जिसका आर्य

समाज के पास कुछ भी उत्तर नहीं और कदाचित् इस पर भी कुछ झूठी चिल्लपों की जाए तो, आज भी 'सत्यार्थप्रकाश' और संस्कारविधि के जो संस्करण आर्यसमाज द्वारा प्रामाणिक माने जाते हैं उन सब में पितरों के निमित्त मंत्रोच्चारण पूर्वक नमक रहित भात के १६ ग्रास पत्तल पर रखकर श्राद्ध करते हुए उन्हें अतिथि को खिलाने या अग्नि में होमने का विधान विद्यमान है।

'संस्कार विधि' के जातकर्म संस्कार में बालक की जन्मतिथि और जन्मनक्षत्र तथा उन दोनों के अधिष्ठाता देवताओं के निमित्त चार आहुति अग्नि में होमनी लिखी हैं। जिनमें अमावस्या तिथि तथा मघा-नक्षत्र का अधिष्ठाता देवता, पितर माने हैं तथा 'समावर्तन-संस्कार' में स्नातक के लिए दक्षिणाभिमुख और अपसव्य होकर **'ओं पितरः शुन्धध्वम्'**। यह मन्त्र बोल कर तीन अंजलि जल भूमि पर छोड़े—ऐसा स्वामी दयानन्द जी ने स्पष्ट लिखा है। क्या जीवित व्यक्तियों के साथ उक्त विधियों का कुछ सामञ्जस्य बैठ सकता है ?

जैसे विवाह शब्द की परिभाषा है कि 'वह संस्कार जिस में वर अंगुष्ठग्रहण अग्निपरिक्रमण आदि तत्तद् वैदिक क्रियाओं द्वारा किसी कन्या को पत्नीरूप में प्राप्त करे।' ठीक इसी प्रकार श्राद्ध शब्द की शास्त्रोक्त परिभाषा (जो कि हम पीछे लिख आए हैं) है—कि 'वह और्ध्वदैहिक संस्कार जिसमें पिण्डदान तिलमिश्रित जलांजलि आदि वैदिक क्रियाओं द्वारा प्रेत=मरे हुए पितरों के निमित्त अपने प्रिय भोज्य पदार्थों को श्रद्धा-पूर्वक प्रदान किया जाए।' सो जैसे मृतक का विवाह होना सम्भव नहीं ठीक वैसे ही जीवित का श्राद्ध होना भी कथमपि

सम्भव नहीं। जब कि श्राद्ध की परिभाषा ही मृतक व्यक्ति के निमित्त किया जाने वाला और्ध्वदेहिक संस्कार है तब उसे जीवित व्यक्ति के साथ बलात् सम्बद्ध करना वैसी ही उपहासास्पद चेष्टा है जैसी कि मृत व्यक्ति के साथ विवाह-संस्कार का सम्बन्ध जोड़ने की हो सकती है।

जीवित श्राद्ध की छीछालेदड़

यदि आर्यसमाज की सत्यार्थप्रकाश लिखित श्राद्धविधि पर ही विचार करें तो जीवित पितरों को नमक रहित फीका भात ही देना कैसे सहेतुक होगा ? क्या दयानन्दियों के सभी जीवित माता-पिता आदि गुरुजन आतशक, शुजाक या पामा=खारिश आदि रोगों से सदैव पीड़ित रहते हैं ? जो चिकित्सकों ने उनके लिये नमक खाना कुपथ्य समझकर वर्जित कर दिया हो। फिर वह भात भी सोलह ग्रासमात्र ही क्यों हों ? उनकी क्षुधा के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में क्यों न हों ? उसे पत्तल पर एक-एक मन्त्र बोल-बोलकर एक ग्रास रूप में पृथक्-पृथक् रखना ही अनिवार्य क्यों ? थाली में चम्मच या कड़छी के साथ एक साथ परसने में क्या आफत ? और तो और फिर वह सोलह ग्रास भी तो, जो उनका नाम लेकर निकाले गए हैं, बेचारे जीवित माता-पिताओं को न खिलाकर अग्नि में फूंक दिए जाएं या किसी भिखमंगे को दे दिए जाएँ ! यदि उपर्युक्त दयानन्दोक्त विधि के अनुसार तीन दिन भी जीवित श्राद्ध किए जाए तो दयानन्दियों के माता-पिता भूख की वेदना से छटपटाकर

प्राण ही छोड़ जाएँ। अपसव्य दक्षिणाभिमुख होकर मन्त्रपूर्वक तीन अञ्जलि जल भूमि पर डालने का भी जीवितश्राद्धपक्ष में कुछ अर्थ नहीं हो सकता। क्या दयानान्दयों के सब पितर मद्रास किंवा हैद्राबाद दक्षिण में ही मुलाजमत करते हैं ? फिर यदि यज्ञोपवीत सव्य रख कर जीवित माता-पिता आदि को जल पिलाया जाए तो क्या वह गले के नीचे नहीं उतरेगा ? फिर वह भी तीन चुल्लूभर ही क्यों ? क्या वे बहुत लज्जाशील हैं जो तीन चुल्लू पानी में डूब मरने वाली प्रसिद्ध लोकोक्ति का उन्हें पात्र बनाया जा रहा है ? यदि लोटा भर जल की प्यास हो तो वह तीन चुल्लू पानी से कैसे शान्त हो सकेगी ? फिर सबसे बड़ी मजेदार बात यह है कि वे तीन चुल्लुवें भी बेचारों के मुख में न डाल कर जमीन में डाल दी गई। यदि कोई पुत्र स्वस्थ जीवित माता-पिता को चुल्लू से पानी पिलाने का प्रयत्न करे और ज्यों ही वे प्यास से मरते हुए उसे पीने को मुँह खोलें त्यों ही वह उस चुल्लू को भी भूमि में उड़ेल दे और यह गुस्ताखी तीन बार करे तो माता-पिता पर क्या बीतेगी। पाठक जरा इस का अनुमान कर देखें। यह जीवित श्राद्ध हुआ या जावित माता पिता का अक्षम्य अपमान !

इसके अतिरिक्त जातकर्म-संस्कार में अमावस्या तिथि और मघा नक्षत्र के साथ किसी जीवित मां-बाप का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? यह भी चिन्तनीय है। फिर उबलते हुए घृत के चार चम्मच उनके मुखारविन्द में ही डाले जाने में जीवित श्राद्ध पक्ष सार्थक हो सकता है। वे ताकते रह जायें और तन्निमित्तक घी अग्नि में फूंक दिया जाए इस बेहूदा हर्कत की क्या तुक ?

ऐसे अनेक तर्क और कुतर्क दयानन्दोक्त जीवित श्राद्ध विधान पर हो सकते हैं जिनमें से एक का भी आर्यसमाज के पास कोई युक्तियुक्त माकूल जवाब नहीं है। सीधी बात यह है कि जीवित माता-पिता की सेवा का न कोई मन्त्र हो सकता है और न कोई विशेष विधि-विधान। किन्तु गुरुजन जब जो चाहें या आज्ञा करें तब अपने बल पौरुष और आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार उनकी वह इच्छा पूरी कर दी जाए। जीवितों की सेवा का इससे अच्छा और कोई स्वरूप हो ही नहीं सकता। फिर जीवित-श्राद्ध की दुहाई देने वाले दयानन्दियों से शपथ पूर्वक यह भी प्रष्टव्य है कि जब से आर्यसमाज बना तब से आज तक किसी महाशय ने सत्यार्थप्रकाश लिखित 'सानुगाय यमाय नमः' आदि मन्त्र बोल २ कर कभी एक दिन भी अपने माता-पिता का कथित जीवित श्राद्ध किया है ? या आगे उसके कर सकने की सम्भावना है ? ऐसी स्थिति में सर्वथा और सर्वदा अव्यवहार्य पचड़े को लेकर वेद-शास्त्रोक्त मृत श्राद्ध के वैज्ञानिक विधान का अपलाप करना केवल निरे निठ्ठले नास्तिकों का ही कार्य हो सकता है।

मृत श्राद्ध पर यही आक्षेप

प्रतिवादी कह सकते हैं कि यदि फीके भात और जल-अञ्जलि आदि को लेकर जीवित श्राद्धपक्ष पर आक्षेप किए जा सकते हैं तो यही सब क्या, इससे भी कहीं अधिक आक्षेप मृतक श्राद्धपर भी हो सकते हैं। फिर इन बातों का उत्तरदायित्व अकेले आर्यसमाज पर ही क्यों ? शास्त्र का सिद्धांत है कि—

यथोरेव समो दोषः परिहारस्तयोः समः।

अर्थात्—जो दोष वादी प्रतिवादी दोनों पक्षोंपर समान रीति से लागू होता है, उसका उत्तरदातृत्व भी दोनों पक्षों पर समान ही होता है। सो कुशा पर चावल का पिण्ड देना, सतिल जलांजलि देना, उल्का भ्रमण करना इत्यादि क्रियाए मृतपक्ष में भी आक्षेपार्ह हैं। पिण्ड बनाने का क्या तात्पर्य ? फिर उसे थाली में न रख कर कुशा घास पर रखने का क्या अर्थ ? जब कि तिल चबाकर ऊपर से तत्काल तीन घूंट पानी पीने से भी खांसी हो जाती है—यह प्रत्यक्ष है, यदि विश्वास न हो तो कोई भी स्वयं कर देखे, फिर तिल मिला कर जल देना तो मृत पितरों को कास श्वास रोगों का शिकार बनाना है। जलता लक्कड़ घुमाना तो और भी बेहूदा हर्कत है। पहिले मृत पितरों को बुलाने का ढोंग करना और फिर उनके सामने जलता मराड़ घुमाकर उन्हें भयभीत करना यह भी कोई सभ्यता है। तो जैसे आक्षेप जीवित श्राद्ध मानने वाले पक्ष पर किये गये हैं वैसे ही मृतक श्राद्धपक्ष पर भी हो सकते हैं, जो उत्तर सनातन-धर्मी अपनी श्राद्ध क्रियाओं का देंगे वही दयानन्दी क्रिया का समझ लेना चाहिए।

यद्यपि प्रतिवादी का—'समान दोष तो समान परिहार' वाला सिद्धान्त शास्त्र-सम्मत है तथापि वह तभी लागू हो सकता है जबकि वस्तुत: समान दोष हो। मृतक श्राद्धपक्ष में तो सब विधि विधानों की इतिकर्तव्यता का अन्य कुछ न भी सही यह तो शास्त्रसम्मत समाधान हो ही सकेगा कि मीमांसकों के मतमें सब वैदिक विधि-विधान 'अदृष्ट फलाधायक' ही होते हैं। अर्थात्—यदि किसी क्रिया का कोई लौकिक फल प्रत्यक्ष दीख भी पड़ता है तो वस्तुत: उस क्रिया का वह एतावन्मात्र ही फल नहीं

समझना चाहिए, किंतु प्रत्यक्ष प्रमाणादि से सर्वथा अगम्य कोई 'अदृष्ट' ही उसका वास्तविक फल है। जैसे आम्रादि वृक्षों के वास्तविक मुख्य फल—सुमधुर 'आम्र' आदि ही होते हैं जो कि तत्तद् ऋतु के समय ही प्राप्त होते हैं परन्तु उनकी छाया—जो कि सदा उपलब्ध है वह उनका गौण फल ही समझी जाती है। ठीक इसी प्रकार सब धर्मानुष्ठानों का मुख्य फल तो अदृष्ट ही है जो कि कर्ता को यथासमय ही प्राप्त होता है। परन्तु साधारण जनों को धर्मनिष्ठ बनाने के लिए जो दृष्टफलों की कल्पना की जाती है वह केवल उनका 'रोचनार्था फलश्रुतिः' इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार 'गौण' फल समझना चाहिए।

वेद का 'विधि-भाग' ही मुख्य है। 'अर्थवाद भाग' तो केवल विधियों का प्रशंसक मात्र है। प्रमाणान्तर से अगम्य और प्रकारान्तर से अप्राप्य विषयों में वेदकी प्रवृत्ति है। इसलिए आस्तिक वेदाभिमानियों के निकट को दृष्टफल का कुछ अधिक मूल्य नहीं। सो मृतश्राद्ध विषयक तत्तत् क्रियाओं की इतिकर्तव्यता का यदि कोई दृष्टफल हम अल्पज्ञ होने के कारण न भी जानते हों तो भी 'अदृष्ट' फलप्राप्ति की दृढ़ धारणा से वे सब हमारे लिए तथैव श्रद्धापूर्वक अनुष्ठेय बनी रहेंगी। वास्तव में और्ध्वदैहिक सब क्रियाएँ हैं भी इसी कोटि की। इसीलिये तो वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा की प्रधानता के कारण उन सबका समष्टि नाम ही 'श्राद्ध' अर्थात्—श्रद्धा समुद्भूत कर्म नियत किया गया है। परंतु जीवित श्राद्ध पक्षाग्रही लोग तो अदृष्ट फल में आस्था नहीं रखते। वे तो दयानन्दी कपोल-कल्पित कथित 'वैदिक-सन्ध्या' के लेखानुसार आचमन का फल भी 'कफ निवृत्ति' मानने का हठ बान्धे बैठे हैं फिर चाहे

संसार भर के चिकित्सक एकस्वरेण जल को कफ-वर्द्धक ही क्यों न घोषित करते हों ! ऐसी दशा में 'अदृष्ट' मानने वाले सनातन-धर्मियों के साथ प्रत्यक्षवादी अर्ध नास्तिक दयानन्दियों की कथमपि सैद्धान्तिक समानता नहीं स्थिर की जा सकती। सो मृतश्राद्ध पक्ष में तो सब विधि विधानों की इतिकर्तव्यता का चरम फल अदृष्ट होता है। यह मानने पर प्रतिवादियों के सब आक्षेप सद्यः समाहित हो जायेंगे। परन्तु सिद्धान्तहीन, दीन-दयानन्दी जीवित श्राद्धपक्ष में होने वाले आक्षेपों का प्रत्यक्ष-फल-विरहात् क्या खाक समाधान कर पाएँगे—यह विचारणीय है। इसलिए 'समान दोष समान परिहार' वाला नियम यहाँ कथमपि लागू नहीं हो सकता।

क्या सेवा को श्राद्ध कह सकते हैं ?

कुछ लोग हठ के मारे नरक में जाने के लिए कटिबद्ध हैं। इसलिये वे **'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी'** न्याय के अनुसार जब मुख मौजूद है तो फिर दश हाथ लम्बी हरड़ बतलाते ही रहना चाहते हैं। मृतश्राद्ध के अपलाप के लिए 'जीवितों की सेवा' का बेसुरा राग आलापते ही रहते हैं। अब पाठक यहाँ थोड़ा यह भी विचार करलें कि क्या सेवा को श्राद्ध कहा भी जा सकता है ? संस्कृत या हिन्दी भाषा के किसी कोश में सेवा और श्राद्ध शब्द समानार्थक पर्य्याय स्वीकार नहीं किए गए। सेवा शब्द के अपर पर्य्याय, सुश्रूषा, परिचर्या, अभ्यर्चा, पूजा आदि संस्कृत कोशों में और टहल, आवभगत, खिदमत आदि लौकिक भाषाओं में प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'श्राद्ध' शब्द का

अपरपर्य्याय वेद में भी केवल एकमात्र 'पितृयज्ञ' ही है. अन्य कोई शब्द नहीं। इसका कारण यह है कि 'श्राद्ध' एक पारिभाषिक शब्द है जो वेदादि शास्त्रों में और्ध्वदैहिक क्रिया कलापों के एक समष्टिनाम के रूप में परिगृहीत हुवा है। इसीलिये यत्र-तत्र-सर्वत्र उसे केवल इसी नाम से स्मरण किया गया है। यथा—

(क) **श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात्।** (कात्या० स्मृति १३। ४)

(ख) **श्राद्धं तत्कर्म्म शास्त्रतः।** (अमर कोश २।७।२१)

(ग) **श्राद्धमिति शब्दो वाचको यस्य तत्कर्म श्राद्धशब्दम्।** (मदन पारिजात)

(घ) **देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।**
पितॄन्नुदिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥
(अमरकोश की हेमचन्द्र-व्याख्या)

अर्थात्—(क) पितृयज्ञ को श्राद्ध कहते हैं। (क) श्राद्ध उस कर्म को कहते हैं जिसका कि विधि-विधान वेदादि शास्त्रों में वर्णित है। (ग) श्राद्ध यह शब्द जिस कर्म का वाचक है उसी कर्म को श्राद्ध कहते हैं। (घ) देश काल और पात्र में श्रद्धापूर्वक और यथाविधि पितरों के उद्देश्य से ब्राह्मणों को जो प्रदान किया जाए उसको श्राद्ध कहते हैं।

इसलिये हम डिंडिम-घोषेण कह सकते हैं कि जीवित माता-पिता की सेवा का अपर नाम श्राद्ध कथमपि सिद्ध नहीं

हो सकता। संस्कृत-साहित्य का बलाद् आकृष्ट एक अक्षर भी दयानन्दियों के इस निर्मूल झूठ का अंशत: समर्थन नहीं कर सकता ?

श्रद्धया क्रियते—श्राद्धम् ?

अजी साहिब ! श्राद्ध शब्द का सीधा-सादा अक्षरार्थ है कि जो श्रद्धा से किया जाए सो 'श्राद्ध'। ऐसी दशा में पुत्र माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा भी श्रद्धापूर्वक करता है फिर उस का नाम श्राद्ध क्यों न होगा ?

नास्तिक लोग सचमुच बुद्धि के पीछे लगुड़ लिए घूमते हैं। उसे वे अपने पड़ौस में भी फटकने नहीं देते, तभी तो ऐसी-ऐसी कुतर्क करते हैं। भला इनसे कोई पूछे कि यदि श्राद्ध शब्द का अभिप्राय तुम्हारे मन्तव्य के अनुसार केवल भक्ति-भावना स्नेह किंवा सौहार्दमात्र है तबतो तुम अपने लड़के-लड़कियों के विवाह, उनके जातकर्म, नामकरण, मुण्डन और यज्ञोपवीत आदि संस्कार भी ऐसी भावना पूर्वक ही करते हो—ऐसी दशा में ये सब कृत्य भी 'श्राद्ध' शब्द वाच्य हो जायेंगे। अब जरा अपने कलेजे पर हाथ रख कर शपथपूर्वक कहो कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे लड़के के विवाह के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करता हुवा प्रश्न करे कि महाशय जी ! आपके लड़के का श्राद्ध किस तिथि का है, तो क्या आप बिना दुःख अनुभव किए इस प्रश्न का उत्तर देने को तैयार हो सकेंगे ? वास्तव में बहुत से शब्द अभिधार्थ के अनुसार व्यापक होते हुए भी अपने लाक्षणिक और व्यंग्य अर्थ के अनुरोध से अतीव

संकुचित हो जाते हैं। जैसे 'राम-राम सत्य है' यह वाक्य अपने अक्षरार्थ के अनुसार एक त्रिकालावाधित सर्वकालीन तथ्य है, तथापि विवाह की शोभायात्रा के समय वर के आगे-आगे कोई मनहूस गधूस अक्षरार्थ के भरोसे इसका कीर्तन करने लगे तो इसे अपशकुन समझकर मारे जूतों के उसकी खोपड़ी गंजी कर दी जाएगी। सो महाशय जी, अक्षरार्थ के भरोसे अपने पुत्र के विवाह को 'श्राद्ध' मत कह बैठना नहीं तो और न सही आपके घर की श्रीमती जी ही तलाकनामा पेश करने को उद्यत हो जाएंगी! क्या जीवित पितरों का श्राद्ध करने चले हो, आपकी ही 'लुप्तपिण्डोदकक्रिया' हो जाएगी।

हम पीछे कई बार कह आए हैं कि वास्तव में 'श्राद्ध' एक पारिभाषिक शब्द है। जैसे 'उपनयन' शब्द का अक्षरार्थ है 'उप=समीपे नीयते' अर्थात्—निकट ले जाना, और 'विवाह' शब्द का अर्थ है—वि=विशेषेण 'वहनम्—प्रापणम्' अर्थात्—विशेषतया प्राप्त करना,—तथापि उक्त दोनों शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अभिधार्थ के अनुसार अश्व या शकट पर आरोहण क्रिया को 'उपनयन' और नौकरी तथा सीमेन्ट-परमिट की प्राप्ति को 'विवाह' नहीं कहा जाएगा। क्योंकि उक्त दोनों शब्द शास्त्र में तत्तत् संस्कारों के लिए पारिभाषित हैं। 'उपनयन' शब्द अपने व्यापक अभिधार्थ को छोड़कर स्वपरिभाषा के अनुसार 'गुरु के समीप वटुक का शिष्य रूपेण पहुँचना' इतने सीमित अर्थ में ही चरितार्थ होता है। इसी प्रकार 'विवाह' शब्द भी अपने व्यापक अभिधार्थ को छोड़कर स्वपरिभाषा के अनुसार 'वर द्वारा पत्नी की प्राप्ति' इतने से सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

श्राद्ध शब्द भी इसी कोटि का है वह भी 'श्रद्धया क्रियते' इस व्यापक अभिधार्थ को छोड़कर स्वपरिभाषा के अनुसार 'मृत पितरों के निमित्त और्ध्वदैहिक क्रिया' इस सीमित अर्थ का ही परिचायक है। एतावता यह सिद्ध हुवा कि जीवित माता-पिता का सेवा को—सुश्रूषा, परिचर्य्या, आदि अन्य चाहे जो भी कुछ कहा जाए—परन्तु उसे 'श्राद्ध' नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में श्राद्ध शब्द जिस 'श्रद्धा' शब्द से समुद्भूत है उस श्रद्धा शब्द का मूलभूत धातु भी 'श्रत्' पूर्वक 'धा' है जिसका निर्वचन है कि 'श्रत्—सत्यम् दधाति' इति 'श्रद्धा' अर्थात्—सत्य को धारण करने वाली क्रिया का नाम श्रद्धा है। और 'श्रद्धया क्रियते यत् तत् श्राद्धम्' अर्थात्—उस श्रद्धा से प्रेरित होकर जो अनुष्ठान किया जाए वह 'श्राद्ध' कहा जाता है। सो जबकि नामरूपात्मक सब प्रपञ्च 'असत्' शब्द वाच्य है और परात्पर श्रीमन्नारायण ही एकमात्र 'सत्' शब्द वाच्य है, ऐसी स्थिति में किसी ऐहलौकिक प्रत्यक्षदृष्ट फलाधायक अनुष्ठान को 'सत्' कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता, किन्तु पारलौकिक एवं केवल भगवद्-वाणीभूत वेदों द्वारा ही प्रमाणित अदृष्ट फलधायक क्रिया कलाप को ही 'सत्' किंवा सत्य कहा जा सकता है। ऐसी सत्यमूलक आस्तिक भावना ही 'श्रद्धा' शब्द वाच्या है। अर्थात्—जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, ऐतिह्य आदि प्रमाणान्तर को अवकाश न हो केवल एकमात्र वेद ही जिस विषय में मार्गदर्शक हो ऐसी पारलौकिक निष्ठा ही श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा से समुद्भूत पारलौकिक अनुष्ठान ही श्राद्ध है।

इससे यह सिद्ध हुवा कि श्रद्धा केवल उसी स्थल में सापेक्ष्य है जहां अमुक कर्म की इतिकर्तव्यता में वेद शास्त्र को छोड़

कर अन्य कोई विश्वास का आधार न हो। जीवित माता-पिता को सेवा निष्ठापूर्वक हो सकती है, प्रेम और भक्तिपूर्वक हो सकती है क्योंकि उस सेवा से माता-पिता का प्रत्यक्षतः प्रसन्न होना, आशीर्वाद देना, पड़ौसी और सम्बन्धियों के सामने आज्ञाकारी पुत्र का यशोगान करना और मृत्यु के समय 'सति सम्भवे' अन्य पुत्रों को छोड़कर अपनी निजी पूंजी सेवा करने वाले पुत्र को दे देना इत्यादि अनेक लाभ सेवा के उपलक्ष्य में प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, परन्तु यहां दिया पिण्ड, तर्पण, हवन और ब्राह्मण-भोजन परलोक गत पितरों को तृप्त कर सकेगा इसमें शब्द-प्रमाण को छोड़कर अन्य कुछ भी प्रमाण नहीं हो सकता। सो जिसे वेद-शब्दों पर श्रद्धा हो वह वेद के भरोसे पर श्राद्ध करे और जिसे न हो वह न करे। कहना न होगा कि प्रमाणान्तर से असिद्ध, परलोक, स्वर्ग, नरक, देव, पितर, यज्ञ श्राद्ध, दान पुण्य आदि विषय एकमात्र वेदगम्य हैं, उनको मानने और तत्सम्बन्धी अनुष्ठानों के करने में एकमात्र 'श्रद्धा' ही आधार हो सकती है। इसलिए श्रद्धा का क्षेत्र ऐहलौकिक प्रत्यक्षदृष्ट-फलाधायक अनुष्ठानों की करणीयता नहीं, किन्तु प्रमाणान्तरागम्य एकमात्र शब्द प्रमाण पर आधारित 'अदृष्टफल' पारलौकिक धर्मानुष्ठानों की इतिकर्तव्यता है।

इस तरह प्रतिवादी का यह ओछा हथियार भी आखीर नितान्त कुण्ठित ही सिद्ध हुवा।

मृत पितर दिखा दीजिये ?

कहा जाता है कि यदि वस्तुतः ब्राह्मणों को खिलाते से मृत पितर तृप्त होते हैं और वे श्राद्ध में भोजन खाने आते हैं

तो आप हमें एक बार दिखा दीजिए ! उनके दर्शन करा दीजिये बस ! हम मृत-श्राद्ध मान जाएँगे।

एक बार हमारे एक घनिष्ट सम्बन्धी प्रत्यक्षवादी ने बात-चीत के सिलसिले में हमारे तर्क और प्रमाणों से मूक होकर अन्त में अपनी झेंप मिटाने के लिये इसी ओछे हथियार का 'अमोघ ब्रह्मास्त्र' समझकर हम पर वार किया, और कहने में यहां तक आगे बढ़ गये कि 'पण्डित जी महाराज ! यदि आप पितर दिखा दो तो एक हजार रुपया पुरस्कार मैं आपकी भेंट करूँ।' उस समय वातावरण बड़ा विचित्र-सा बना हुवा था, अन्य श्रोता मित्रमण्डली भी बड़ी उत्सुकता से हमारे उत्तर की प्रतीक्षा कर रही थी ! चाहे यह शास्त्रार्थ-गोष्ठी न थी परन्तु तो भी एक विवाह के प्रसंग में अनेक स्थानों के विशिष्ट व्यक्ति जुटे थे, बातचीत चाहे हास्य-विनोद से ही आरम्भ हुई थी परन्तु बढ़ते-बढ़ते अब वह ऐसे स्तर पर पहुँच चुकी थी कि जिसे केवल हँसकर टालने से प्रत्यक्षतः सैद्धान्तिक निर्बलता प्रकट होने का पूरा खतरा था।

ऐसी स्थिति में हमें महाशय जी की शर्त स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा तथा सनातनधर्म की सिद्धान्त-रक्षा के लिये स्वयं भी यह कहना पड़ा कि—'बहुत ठीक, महाशय जी ! यदि मैं आपको पितर दिखा दूँगा तो एक हजार रुपया ले लूँगा और यदि न दिखा सका तो दो हजार आपको दे दूँगा। चारों ओर से सब मित्र—'बहुत ठीक ! बहुत ठीक !! कह उठे। महाशय जी को तो यह पूरा भरोसा था ही कि न कभी किसी ने मृत पितरों को आते देखा है और न पण्डित जी दिखा ही

सकते हैं, अतः अब ये फंस गये हैं, तो फिर अच्छी तरह क्यों न फांस लिया जाए। बस ! ऐसा कुटिल विचार करके वे बोले 'देखिये पण्डित जी ! मैं तो अपनी शर्त पर दृढ़ हूँ, ये सब भाई साक्षी हैं, यदि आप पितर दिखा देंगे तो एक हजार रुपया दे दूँगा। यदि मेरी तरह आप भी अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं तो विधिवत् लिखा-पढ़ी हो जानी चाहिए। मैंने कहा 'बहुत ठीक, मैं तैयार हूँ।'

आखिर पक्के कागज पर विधिवत् स्टांप लगाकर शर्तनामा लिख लिया गया और चार व्यक्तियों की साक्षी भी दर्ज हो गई। नगर भर में यह विचित्र चर्चा बिजली की भांति फैल गई। जिसने सुना वही चकित रह गया। सभी 'किं भविष्यति' जानने के लिये उत्कण्ठित थे।

महाशयजी ने पूछा—पं० जी, परिलेख तो लिखा गया अब कहिये पितर कब दिखाएँगे ? हमने कहा—नियमानुसार उक्त परिलेख की मियाद तीन वर्ष की है। परमात्मा ने चाहा इसके अन्दर ही अन्दर दिखा दूँगा। हर एक वस्तु समय पर ही दीखती है ; कार्तिक के महीने में अनृतु के कारण आम का मौर नहीं दिखाया जा सकता, सद्योजात मनुष्य शिशु के दांत और पांच वर्ष के लड़के की फर्राटेदार मूँछें भी नहीं दिखाई जा सकतीं। ये सब समय पर ही दीखती हैं इसलिये जरा धैर्य धारण करें। न दिखाऊँगा, तो दो हजार ठनकते भरूँगा, आपके तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। बस ! दो हजार का नाम सुनते ही महाशय जी का मन सुखस्वप्न की कल्पना से अन्दर-

ही-अन्दर बल्लियों उछलने लगा, नीले-नीले पूरे बीस नोटों का पुलिन्दा मानों आँखों के सामने ही थिरकने लगा।

वैदिक दूरबीन से पितर दर्शन

समय बीतता गया, मैं भी सुअवसर की ताक में सतर्क रहा। इस तरह लगभग डेढ़ वर्ष बीत जाने पर एक दिन पता चला कि महाशय जी की पिचासी वर्षीया बुढ़िया नानी सख्त बीमार है। पड़ोसी के नाते मैं भी खबर-सार पूछने चला गया। वैद्य डाक्टरों ने बतलाया कि दो-चार दिन की मेहमान है। तब तो मैं और भी तत्परता से जाने-आने लगा। आखिर वह दिन भी आ पहुँचा जो कि प्रायः एक दिन सबके लिए अनिवार्य है।

मैंने देखा कि बुढ़िया मैय्या का एक सांस चल रहा था, नाड़ी ढूँढी नहीं मिलती थी : सब परिवार वाले अब गई—अब गई की प्रतीक्षा में थे। कहना न होगा कि उक्त महाशय जी मुमुर्षु नानी के एकमात्र दत्तकपुत्र होने के नाते इसकी विशाल सम्पत्ति के एकमात्र उत्तराधिकारी थे। बुढ़िया माता पुराने संस्कारों और विचारों की थी। इसने अपनी चलती में व्रत उद्यापन तीर्थयात्रादि बहुत कुछ किया था, परन्तु अब चाहती हुई भी गोदान दीपदान आदि महाप्रयाणकालीन शास्त्रीय-कृत्य करने न करने में पराए हाथ बिकी थी। महाशय जी उक्त सब बातों को पोपलीला समझते थे अतः विचार-वैषम्य का अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था।

मैंने पूछा—कहिए महाशय जी! नानी जी का अब क्या हाल है? महाशय जी ने कहा—'बस! पण्डित जी महाराज,

अब तो नानी जी प्रस्थान कर रही हैं—जा रही हैं—विदा हो रही हैं।

तब तो मैंने उसका हाथ थामकर कहा—सुनिए, आपके और मेरे मध्य में पितर दिखाने की शर्त लगी हुई है। आज जो नानी जा रही हैं (हमारी दृढ़ धारणा के अनुसार श्राद्ध के समय में) यही नानी आवाहन करने पर पधारेंगी, सो अब जाती हुई नानी को हमें दिखा देना। कल को आती हुई को हम दिखाएँगे। तपाक से महाशय जी बोले—'महाराज ! हमने और आपने अपने जीवन में सैंकड़ों सगे सम्बिन्धियों को मरते देखा है। परन्तु शरीर में से निकलने वाली वस्तु तो कभी किसी को कुछ दिखाई नहीं पड़ी, फिर मैं उसे आपको कैसे दिखा सकता हूँ ?

मैंने पूछा—जो वस्तु शरीर से निकलती है, विना देखे आप उसके अस्तित्व में किस आधार पर विश्वास करते हैं। देहात्म-वादी चारवाक आदि नास्तिकों की भांति 'शरीर से भिन्न कोई जोव है हो नहीं-रक्त की प्रगति का परिणाम ही चेतनता है'—ऐसा क्यों नहीं मानते ?

महाशय जी स्वाध्यायशील कट्टर सिद्धान्तवादी आर्यसमाजी थे, अतः वे बोले कि-श्रीमान्‌जी ! आर्यसमाज पूर्णतः प्रत्यक्षवादी नास्तिक नहीं है। यदि जीवात्मा इन चर्मचक्षुओं से नहीं दीख पड़ता तो वेद की दूरबीन से तो दीख पड़ता है, अर्थात्—वेद शास्त्रों के शतशः प्रमाणों और अखण्डनीय तर्कों से तो वह सुतरां सिद्ध होता है। पण्डित जी, आप तो जानते ही हैं, कि नवीन वेदान्ती सनातनधर्मी चाहे जीव को अनादि किन्तु सान्त

मानते हों, परन्तु स्वामी दयानन्द जी के वैदिक सिद्धान्त में तो जीवात्मा जहां अनादि माना गया है वहां वह अनन्त भी है। यहां तक कि मुक्त हो जाने पर भी वह यथाकाल मोक्ष दशा में रहकर पुनः लौट आता है। फिर आप मुझसे कैसे आशा रखते हैं, कि मैं शरीर से पृथक् होते हुवे जीव को चर्म-चक्षुओं से न दीख पड़ने की अपनी अयोग्यता के कारण प्रमाण-तर्क-सिद्ध जीव के अस्तित्व में ही सन्देह करने लग जाऊँ।

संयोगवश शर्तनामा लिखते समय उपस्थित होने वाले सज्जनों में से अधिकांश सज्जन भी उस समय वहाँ विद्यमान थे। मैंने सबको सम्बोधित करते हुए कहा कि—देखो भैय्या! महाशय जी कबूल करते हैं कि इस शरीर से जीवात्मा नामक कोई चेतन पदार्थ निकलता अवश्य है, परन्तु वह इन चर्म चक्षुओं का विषय नहीं। उसके अस्तित्व को वेद-शास्त्र और अनेक युक्तियें सिद्ध करती हैं। अब आप लोग समझ लो कि केवल स्थूल शरीर से पृथक् हो जाने का नाम ही 'मृत्यु' है। जो जीवात्मा अब नानी जी के इस स्थूल शरीर से पृथक् होगा वह सूक्ष्म और कारण दो शरीरों सहित यहां से महा-प्रयाण करेगा। वही कर्मानुसार लोक-लोकान्तर में जाएगा और उसका पुनर्जन्म होगा। हमारी चमड़े की बनी स्थूल आँखें केवल स्थूल शरीर को देख सकती हैं। स्थूल शरीर के निश्चेष्ट हो जाने पर—देखना, सुनना, बोलना आदि क्रियाएँ समाप्त हो जाने पर हम मुमूर्षु को मृतक समझ लेते हैं। कारण, सूक्ष्मशरीर सहित जाते हुए जीवात्मा को हम चर्मचक्षुवों से नहीं देख पाते। केवल वेद-शास्त्रों के आधार पर ही जीवात्मा के जाने का विश्वास

करते हैं। सो जो जीवात्मा मृत्यु के समय शरीर से निकलकर जाता है वही श्राद्ध के समय आता है। जाते हुए जीव को कोई दिखा दे, आते हुए को हम दिखा दगे। अन्यथा महाशय जी वेद की दूरबीन से जैसे जाते हुए जीव को देखते हैं वैसे ही वेद के दूर-वीक्षण यन्त्र से अब हम पितरों के दर्शन कराते हैं।

पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः

हमारी शर्त थी कि पितर न दिखाएँगे तो दो सहस्र रुपये प्रदान करेंगे, सो अब महाशय जी, अपनी आँखों पर हमारे उद्धृत किए नीचे लिखे वेद प्रमाणों को दूरबीन की भाति जरा लगाओ और पितरों का दर्शन करो। वेदशास्त्र कहता है कि—

(क) परायात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पूर्याणैः। अधामासी पुनरायात नो गृहान् हविरत्तु सुप्रजसः सुवीराः॥ (अथर्व १८-४-६३)

(ख) आसीनासो अरुणीनामुपस्थे। (अथर्व १८-३-४३)

(ग) अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत। अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि॥ (अथर्व १८-३-४४)

(घ) निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते॥
(मनुस्मृति ३-१८९)

(ङ) स्नातुं यान्तं द्विजं सर्वे देवाः पितृगणैः सह।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ताः सलिलार्थिनः॥

निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते।
तस्मान्न पोडयेद् वस्त्रं कृत्वा पितृतर्पणम् ॥

(पराशरः १२-१२-१३)

(च) उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १५-२०)

अर्थात्—(क) हे वीर और आस्तिक सन्तान वाले सौम्य पितरो ! आप अन्तरिक्ष के गम्भीर मार्ग से चान्द्र-किरण रूप यानों द्वारा पितृलोक को जाओ और महीने के अनन्तर (अमावस्या को) हमारे घरों में हव्य खाने के लिये पुनः आओ! (ख) हमारे बिछाए हुए सुन्दर आसनों पर आप विराजमान होओ। (ग) [मृत्यु के समय जिन पितरों की देह का क्रव्याद् अग्नि ने आस्वादन किया है वे] अग्निष्वात्ता पितर ! यहां आओ और कुशाओं पर परोसी हुई हमारी इस हवि को खाओ (घ) पितर लोग उन निमन्त्रित ब्राह्मणों में उपस्थित रहते हैं और वायु की भान्ति (अदृष्ट रूप से) उनका अनुगमन करते हैं। तथा उनके बैठ जाने पर स्वयं भी समीपस्थ रहते हैं। (ङ) जब कोई द्विज स्नान करने जाता है तो प्यासे जलाभिलाषी पितरों सहित देवगण भी वायुरूप बनाकर उसके साथ जाते हैं। जब स्नात द्विज अपना धौतवस्त्र निचोड़ डालता है तब वे निराश होकर वापिस लौटते हैं। इसलिये पितृ-तर्पण किये बिना अपने धोतवस्त्र को न निचोड़े। (च) स्थूल शरीर को छोड़कर परलोक जाते हुए को सूक्ष्म

कारण शरीर में स्थिर हुए को तथा श्राद्धादिक में खाते हुए को एवं वर शाप दे सकने के गुणों से युक्त जीव को मूढ़ नहीं देख सकते, केवल ज्ञानदृष्टि वाले व्यक्ति ही देख पाते हैं।

महाशय जी कुछ तो नानी जी की मृत्युकालीन करुणा से पहले ही पसीजे हुए थे क्योंकि ऐसे वक्त में पाषाण हृदय व्यक्ति भी संसार की वास्तविक स्थिति और जीवन-पहेली के अन्तिम परिणाम की निराशामय कल्पना को मूर्त देखकर क्षणिक वैराग्य में डूबा रहता है, फिर गरम लोहे पर ठीक मौके पर ज्यों ही मैंने वैदिक हथौड़ा दे मारा तो महाशय जी की अन्तरात्मा जाग उठी। वे सहसा अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरे चरण छूते हुवे गद्गद् स्वर में बोल उठे कि—

बस ! पण्डित जी महाराज ! अब मैं और अधिक कुछ सुनना नहीं चाहता। आपने एक भ्रान्त प्राणी को आज नरक से बचा लिया है। अब तो नानी जी के हाथ से अन्तिम गोदान, दीपदान आदि कृत्य सम्पन्न हो जाने में मेरी सहायता कीजिये।

मेरा भी तादृश वातावरण में कुछ हर्ष से और कुछ करुणा से हृनय भर आया। 'तथास्तु' के अतिरिक्त और कुछ कहते न बना। आन की आन में मित्र-मण्डली ने सब वस्तुएँ जुटा दीं। विधिवत् संकल्प हुआ, तब नानी जी अपनी अन्तिम साध पूरी करके सुखपूर्वक परलोकगामिनी हुईं।

क्या मृत पितर दीख सकते हैं ?

कोई-कोई आस्तिक यह भी प्रश्न किया करते है, कि क्या

कोई ऐसा भी उपाय है जिससे हम अपने पितरों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर सकें ?

'योगदर्शन' के विभूतिपाद में बड़े विस्तार के साथ तत्तत् सिद्धियों का निरूपण करते हुए अष्टांग-साधन की अमुक कक्षा में पहुँच जाने पर पितृ-दर्शन कर सकने की योग्यता का वर्णन किया है। जब आस्तिक लोग भगवद् दर्शन के भी अधिकारी बन जाते हैं, तब पितृ-दर्शन तो बहुत इधर की बात है।

भूत-प्रेतों की कुछ सच्ची घटनाएँ तो बहुत से पाठकों की दृष्टश्रुत हो ही सकती हैं। परन्तु इतिहास में पितृ-दर्शन सम्बन्धी भी बहुत सी कथाएँ आती हैं। उदाहरणार्थ रामायण और महाभारत कालीन दो प्रख्यात घटनाएँ यहाँ प्रकट करनी अनावश्यक न होंगीं, जो त्रिकालदर्शी महर्षि वेदव्यास जी ने हमारे उपकार के लिए अङ्कित की हैं।

भगवान् राम ने एक बार वन में महाराजा दशरथ का श्राद्ध किया। सीता जी ने अपने हाथों सब सामग्री तैयार की परन्तु जब निमन्त्रित ब्राह्मण भोजनार्थ पधारे तो सीता उनको देखकर कुटी में जा छुपीं।

भोजनोपरान्त जब ब्राह्मण चले गए तो सर्वज्ञ भगवान् राम ने सीता से इस प्रकार छिप जाने का कारण पूछा। उत्तर में सीता जी कहने लगीं—

पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव।
दृष्ट्वा त्रपान्विता चाहमपक्रान्ता तवान्तिकात् ।।

याऽहं राज्ञा पुरा दृष्टा सर्वालङ्कारभूषिता ।
सा स्वेदमलदिग्धाङ्गी कथं पश्यामि भूमिपम् ।।

(पद्म पुराण-सृष्टि ३३-७४-११०)

अर्थात्—हे राघव ! मैंने निमन्त्रित ब्राह्मणों के शरीर में आपके पिता जी का दर्शन किया । इसीलिये लज्जित होकर मैं आपके निकट से दूर छुप गई । जिन मेरे श्वशुर ने पहिले मुझको सब आभूषणों और अलंकारों से सुसज्जित देखा था, अब वे पसीने और मैल से सनी हुई को कैसे देख पाते ।

'ब्रह्माण्ड पुराण' में भी यह प्रसंग विद्यमान है । वहां सीता ने इतना और अधिक कहा है कि वनयात्रा के समय जब मैं अलंकार उतार रही थी, तो मुझको देखकर पिता जी ने दुःख से लम्बी सांस भरी थी और मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे । सम्भवतः यह मूर्छा ही अन्त में उनकी मृत्यु का कारण बनी । मुझे यह ध्यान आ गया कि यदि अब वे मुझे इस दीन दशा में देखेंगे तो मारे दुःख के कभी वापिस ही न लौट जाएँ । अतः मैं कुटी में जा छुपी ।

दूसरा प्रसंग महाभारत में आता है । एक बार भीष्म जी की निष्ठा की परीक्षा के लिए देवगण ने एक कौतुक रचा । भीष्म जी ने जब अपने पिता शान्तनु को पिण्ड प्रदान करना चाहा, तो उनके सामने पिता शान्तनु का साक्षात् दक्षिण हस्त पिण्ड ग्रहण करने को प्रकट हुआ । भीष्म जी ने पिता के सकङ्कण हाथ को भली-भान्ति पहिचान लिया, क्योंकि जीवन काल में

प्रणाम करने पर पिता का यही वरद हस्त नित्य श्री भीष्म के मस्तक पर स्पृष्ट होता था।

भीष्म जी विचार में पड़ गए कि पिण्ड पिता जी के हाथ पर रक्खूं या शास्त्रविधि के अनुसार कुशा पर रक्खूं ? अन्त में निर्णय किया कि हम यह कर्म केवल शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धा करके ही करते हैं। किसी लौकिक मां-बाप की आज्ञा से नहीं। सो शास्त्र में पिण्ड प्रदान कुश पर ही करना लिखा है। अतः भीष्म जी ने पितृ-स्नेह-परिलुप्त हृदय को बलात् संभालकर कुशा पर ही पिण्ड रख दिया। देवगण भीष्म की इस शास्त्र-निष्ठा को देखकर चकित रह गए और उनकी पितृभक्ति से संतुष्ट होकर शान्तनु को देवलोक ले गए।

आधुनिक खोज में पितृ-दर्शन

'पितृविद्या' भारत की प्राचीन वैदिक विद्याओं में अन्यतम है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि' आदि नारद और सनत्कुमार के संवाद में अन्यान्य विद्याओं के साथ 'पितृ-विद्या' का भी उल्लेख विद्यमान है परन्तु काल चक्र की वक्रगति से जैसे अन्य बहुत-सी विद्याएँ अब लुप्तप्रायः या अतीव विरल-प्रचार हो गईं। इसी प्रकार पितृविद्या भी अब केवल पुस्तकों मात्र तक सीमित रह गई।

पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ग्रन्थों के ऐसे लेखों से प्रभावित होकर अपने नवीन अनुभवों द्वारा तत्तद् विद्याओं के अन्वेषण में प्रयत्नशील हैं। पितृविद्या के सम्बन्ध में भी Spiritualism के नाम पर वे बहुत कुछ अग्रसर हो गए हैं।

किसी व्यक्ति को माध्यम बना कर उसमें मृतात्माओं को बुलाना और फिर उनसे सन्देश लेना, अथवा तीन पांव के टेबल के खटकों की गति से अमुक सन्देश का संकेत पाना। —यह सब बातें तो बहुत दिन से प्रचलित थीं। कुछ विशिष्ट अभ्यासियों ने अब तो मृतात्माओं के चित्र ले सकने का द्वार भी खोल दिया। अमेरिका के बहुत से थियासोफिस्ट विद्यालयों में तो यह विषय अब पाठ्यक्रम में प्रैक्टिकल साइन्स की भांति सिखाया जाने लगा है। भारत में भी पितृविद्या के इस नवीन संस्करण को बहुत से सज्जनों ने अपनाया है। बी० डी० ऋषि, (दाक्षिणात्य) और प्रो० नन्दलाल (पंजाब) आदि कई सज्जन अपने सफल प्रयोगों द्वारा दर्शकों को चकित कर देते हैं। स्व० श्री पं० केदारनाथ शर्मा जी ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार से तादृश साहित्य प्रकाशित करते रहे हैं और बहुत वर्ष तक 'परलोक' नामक एक मासिक पत्र भी शर्मा जी के सम्पादकत्व में भिवानी से निकलता रहा है, जिसमें मृतात्माओं के अनेक चित्र भी छपते रहते थे।

पाकिस्तान बनने से पूर्व लाहौर से 'ब्रह्म-दर्शन' नामक उर्दू का एक मासिक पत्र निकला था, जिसका अग्र-लेख सुप्रसिद्ध स्वर्गीय स्वामी रामतीर्थ को आत्मा से प्राप्त किया जाता था।

हिन्दी के पुराने सुप्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय श्री पं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी ने इस विद्या में बहुत प्रगति प्राप्त की थी। वे सूरदास, तुलसीदास आदि महाकवियों की आत्माओं के आवाहन में सिद्धहस्त थे। उक्त आत्माओं से प्राप्त बहुत से नवीन पद्य समय-समय पर वे समाचार-पत्रों में प्रकाशित करते रहते थे।

आर्यसमाज नैरोबी (केनिया) के प्रधान महाशय अभी पिछले दिनों बिरला मन्दिर (नई देहली) में ठहरे थे। आपने अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् स्नेहवश स्वयं अमेरिका के परलोक-विद्याविशारदों के पास जाकर उसकी आत्मा को बुलाया। पति पत्नी के अतिरिक्त तीसरे व्यक्ति को सर्वथा अज्ञात बहुत से रहस्य जब उक्त पत्नी की आत्मा ने माध्यम द्वारा प्रकट किये तो महाशय जी चकित रह गये। उन्होंने पत्नी के निमित्त कुरुक्षेत्र पृथूदक नामक स्थान पर जो-जो श्राद्ध में दान दिया था, उसकी पूरी तालिका और उसके प्राप्त हो जाने के समाचार से तो ये सज्जन दंग ही रह गए। अब वे आर्यसमाज की समाज सम्बन्धी बातों में केवल दिलचस्पी रखते हैं परन्तु उसके सिद्धान्तों पर, खासकर मृतश्राद्ध-खण्डन पर उनकी बिलकुल आस्था नहीं है। ये सब बातें हमारे प्रतिनिधि श्री पं० देवदत्त शर्मा सनातनधर्मोपदेशक ने उक्त सज्जन से मिलकर उनकी ही जबानी सुनीं। वे तब तक अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहते जब तक कि स्वयं आत्माओं के आवाहन में सफल होकर अन्य अविश्वासियों को विश्वास दिला सकने को स्थिति में न हो जाएँ।

यद्यपि हम स्वयमपि पितृविद्या के इस अभारतीय संस्करण में उतना विश्वास नहीं रखते, क्योंकि यह अभी एक साध्य कोटि की वस्तु है। ऐसी स्थिति में पितृआवाहन की वेदोक्त सनातन पद्धति—जो कि एक सिद्धान्त कोटि की अपरिवर्तनशील सफल प्रणाली है को छोड़कर 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' न्याय के अनुसार यत्र-तत्र भटकना हमारी सम्मति में ऋषियों के प्रति अविश्वासात्मक अपराध है, तथापि अबोध बच्चों को

आरम्भ में गुड्डा गुड्डी के खिलौनों से शिक्षा की ओर प्रवृत्त करने की भांति नास्तिक और अर्धनास्तिक लोगों को पितृविद्या की ओर उन्मुख करने के लिए इस प्रणाली का प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये हमारा खुला निमन्त्रण है कि जो महाशय पितृ-दर्शन की अभिलाषा रखते हों वे हमारे बताए हुवे उपर्युक्त भारतीय परलोक-विद्याविशारद सज्जनों ने स्वयं मिलकर या पत्रालाप करके तादृश साहित्य के अध्ययन द्वारा पितरों के आवाहन और दर्शन की योग्यता प्राप्त करें।

पहिले ब्राह्मण खाता है या पितर ?

जब महाशयों के मूल प्रश्न समाहित हो जाते हैं तो फिर वे हुज्जतों पर उतर आते हैं, कहने लगते हैं कि—'श्राद्ध में मृत पितर के नाम पर ब्राह्मणों को जो अन्न खिलाया जाता है, यदि वह पितरों को मिलता है तो यह प्रष्टव्य है कि उसे पहिले ब्राह्मण खाता है या पितर ? यदि पहिले ब्राह्मण खाता है और पश्चात् वह भोजन मृत पितर को मिलता है तो पितर ब्राह्मणों की झूठन खाते हैं ! और यदि पहिले पितर खाते हैं पश्चात् ब्राह्मण जीमते हैं तो ब्राह्मण मृतपितरों की झूठन खाते हैं ! इस तरह दोनों में से कोई एक बात मान लेने पर भी आखिर एक को दूसरे की झूठन अवश्य खानी पड़ती है, जो धर्मशास्त्र और आयुर्वेदानुसार उभयथा दूषित है, इसलिए मृत-श्राद्ध करना पाप है।

प्रतिवादी की उपर्युक्त स्थापना का हवाई किला केवल एक भ्रम के रेतीले टीले पर खड़ा है, जो सिद्धान्तवादियों को एक फूँक लगते ही हिलने लग जाता है।

भला ! कोई शंकावादी महाशय से पूछे कि तुमने यह किससे सुना कि मृतपितर नपे-तुले स्थूल भोजन को हमारी भांति उदरसात् करते हैं ? हजार बार समझा देने पर भी अभी तक तुम पितरों का सूक्ष्म शरीरधारी होना नहीं समझ पाए और शास्त्र के शब्दों में बार-बार 'वायु की भान्ति, वायु की भान्ति अनुगमन करते हैं'—ऐसी उक्तियों का 'वायुवत्' शब्द तुम्हारे ध्यान में नहीं बैठा।

धर्मशास्त्र के अनुसार जैसे जिह्वा से आस्वादित वस्तु उच्छिष्ट हो जाती है, इसी प्रकार घ्राण से घ्रात वस्तु भी उच्छिष्ट हो जाती है परन्तु पुष्पोद्यान के निकट से निकलने वाले व्यक्ति को एवं गन्ध-विक्रयी के निकट से गुजरने वाले व्यक्ति को वायु की कृपा से पुष्पों की गन्ध और इतर का सौरभ्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है यह सतत अनुभूत तथ्य है। तो क्या एतावता वे घ्रात पुष्प और इतर अब उच्छिष्ट हो जाने के कारण किसी अन्य के आघ्रेय नहीं रहेंगे ? क्या आस्तिक लोग अब इन दोनों वस्तुवों का देवपूजा और भगवत्पूजा में तथा आस्तिक लोग स्वघ्राणतर्पण में उपयोग नहीं करेंगे ?

ब्राह्मण और पितर दोनों स्थूल अन्न के भोक्ता होते तो आपका प्रश्न उचित हो सकता था, परन्तु यहाँ तो केवल स्थूल अन्न के भोक्ता ब्राह्मण हैं और तदुद्गत सारभूत सूक्ष्म अंश के उपभोक्ता पितर हैं। उद्यान के स्थूल फूलों का बीनने वाला केवल माली है और वायु की कृपा से अनायास चारों ओर बिखरी हुई पुष्पों की सूक्ष्म गन्ध के उपभोक्ता निकटवर्ती सहस्रों अन्यान्य व्यक्ति हैं। इस दृष्टान्त में न एक-दूसरे की झूठन के उपभोग का प्रश्न लागू हो सकता है और नांही फूलों

के तोल, वजन, रूप-रंग और सौरभ्य के घटने का। बस ! ठीक इसी प्रकार श्राद्ध-प्रदत्त अन्न के स्थूल और सूक्ष्म अंश के उपभोग की समस्या का विश्लेषण समझ लेना चाहिए।

इस तरह न ब्राह्मण की झूठन पितर खाते हैं और न पितरों की झूठन ब्राह्मणों को खाने का अवसर आता है, किन्तु ये दोनों अपनी-अपनी योग्यतानुसार भोजन के स्थूल और सूक्ष्म दोनों विभिन्न अंशों को युगपत् ही ग्रहण कर लेते हैं। यही इस हुज्जत का शास्त्रीय समाधान है। यदि एतावता भी प्रतिवादी को सन्तोष न हो तो वत्सोच्छिष्ट दूध, मक्षिकावान्त मधु, भ्रमघ्रात पुष्प और शुक-सारिका-आस्वादित मधुर फल न खाने का दृढ़ व्रत धारण कर लेना चाहिए।

वेद में श्राद्ध शब्द दिखाओ !

कभी-कभी यह प्रश्न भी सामने आया करता है कि चारों वेदों में 'श्राद्ध' शब्द दिखा दो ? जब वेद में 'श्राद्ध' शब्द भी नहीं है, तब श्राद्ध क्यों किया जाए ?

वस्तुतः प्रतिवादी 'चार वेद' के नाम से वेद की जिन चार शाखाओं को स्वीकार करता है उनके ही समान जब ग्यारह सौ सत्ताइस अन्य शाखाएँ भी तथैव आदरणीय हैं; फिर चार शाखाओं में ही 'श्राद्ध' शब्द दिखलाने का आग्रह क्यों ? यदि उपलब्ध शाखान्तर में वह विद्यमान हो, अथवा अनुपलब्ध अन्यान्य शाखाओं में **'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'** इस मीमांसा शास्त्र के सिद्धान्तानुसार अनुमित श्रुति के रूप

में उसकी सत्ता स्वीकार की जाए तो फिर क्या प्रतिवादी को वह मान्य न होगी ?

उक्त चार शाखाओं में भी 'श्राद्ध' का अपर पर्याय 'पितृ-यज्ञ' धड़ल्ले के साथ विद्यमान है। यह हम पीछे 'श्राद्ध का शास्त्रीय-स्वरूप' शीर्षक के नीचे **'तमाहरामि पितृयज्ञाय देयम्'** (ऋग्वेद १०।१०।१३) मन्त्र द्वारा प्रकट कर आए हैं। यदि अमुक ग्रन्थ में 'गो' शब्द न हो किन्तु उसका पर्याय 'धेनु' शब्द विद्यमान हो तो क्या एतावता उस ग्रन्थ में गलकम्बल-सास्नादिमान् पशु-विशेष का अनस्तित्व स्वीकार किया जाएगा ? क्या **'पानीयम् देहि'** कहने से ही पानी मिल सकेगा **'जलं देहि'** कहने से न मिलेगा ?

अस्तु, हम उनकी इस मांग को भी पूरी करने की उदारता दिखाते हैं। हमारा दावा है कि वेद में अर्थात्—प्रतिवादी स्वीकृत चारों शाखाओं के अन्तर्गत भी न केवल निर्विशेष 'श्रद्धा' शब्द ही, अपितु वह और उसका पूरा निर्वचन भी विद्यमान है। यथा—

सत्यञ्च मे श्रद्धा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

(यजुर्माध्यन्दिनी शाखा १८-५)

अर्थात्—'सत्य' और सत्य पर आधारित क्रिया 'श्रद्धा' तथा श्रद्धा समुद्भूत यज्ञ='श्राद्ध' मुझे प्राप्त हो।

उक्त मन्त्र में—श्रत्=**सत्यम् दधातीति, 'श्रद्धा' श्रद्धया क्रियते यत् तत् 'श्राद्धम्'=पितृयज्ञः।** इतना तत्त्व इस मन्त्रांश में परोक्ष रीति से वर्णित है। वेदों में अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ इस शैली से

निर्वचनपुरस्सर तत्तत् तत्त्वों का निरूपण किया गया है, जैसे मन का निरूपण करते हुवे यजुर्वेद के सुप्रसिद्ध शिवसंकल्प सूक्त में आता है कि—

मनुष्यान्नेनीयते······तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

यहाँ—मनुष्यान् नेनीयते' इति मनः ऐसा निर्वचन करते हुवे मन शब्द को परोक्ष रीति से 'मनुष्य' उपपदपूर्वक 'णीञ्' धातु से निष्पन्न प्रकट किया है। ठीक इसी प्रकार सत्यार्थक 'श्रत्' पूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न 'श्रद्धा' शब्द है और श्रद्धा पर आधारित यज्ञ ही आपाततः 'श्राद्ध' है। क्या अब भी प्रतिवादी महाशय वेद में श्राद्ध शब्द दिखाओ की प्रवञ्चनापूर्ण मांग करने का दुस्साहस करेंगे ? इसके अतिरिक्त सूत्र शाखाओं में तो सुस्पष्ट सीधा-सीधा 'श्राद्ध' शब्द भी विद्यमान है। यथा—

(क) अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीत । (कातीय श्राद्धसूत्र)

(ख) अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञश्चन्द्रादर्शनेऽमावस्यायाम् ।
(कात्यायन श्रौतसूत्र ४।१।१)

(ग) चोरस्यान्नं नवश्राद्धं······शमयन्तु स्वाहा ।
(तैत्तिरीयाण्यक १४)

(घ) चतुर्थे पञ्चमे चैव नवमैकादशे तथा ।
यदत्र दीयते जन्तोस्तन्नवश्राद्धमुच्यते ।।
(कात्यायन)

अर्थात्—(क) अपर पक्ष में श्राद्ध करना चाहिये। (ख)

मध्याह्नोत्तर काल में, चन्द्र दर्शन रहित अमावस्या तिथि में 'पिण्ड-पितृ-यज्ञ' करना चाहिए। (ग) चोर का अन्न खाना और 'नवश्राद्ध' में भोजन करना आदि प्रत्यवाय शान्त हों। (घ) मृत के निमित्त चौथे, पाँचवें, नवमें और ग्यारहवें दिन जो दान दिया जाता है वह 'नवश्राद्ध' कहलाता है। [उक्त दिनों में दान लेना पतन का कारण है अतः ग्रहीता प्रायश्चित्तार्ह है यह शास्त्र का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।]

मृत के मुक्त होने पर श्राद्ध किसको मिलेगा ?

यदि मृत व्यक्ति मुक्त हो जाए तो तन्निमित्तक श्राद्ध का अदृष्टफल पुण्यरूपेण श्राद्धकर्त्ता यजमान को मिलेगा। जैसे मनीआर्डर का पाने वाला व्यक्ति संयोगवश मर गया हो तो पोस्ट कार्यालय उस मनीआर्डर को लौटा कर भेजने वाले को ही प्रदान कर देगा। कदाचित् भेजने वाला भी इन्हीं दिनों में परलोकगामी हो जाए तो उसकी अन्यान्य सम्पत्ति का जो वास्तविक अधिकारी होगा, यह रकम भी उसको दे दी जाएगी। यह निश्चित है कि डाकघर उस रकम को स्वयं हजम न करेगा किन्तु प्रापणाधिकारी, प्रेषक, किंवा दायभाक् तीनों में से कोई एक सज्जन पूर्व पूर्व के अभाव में अपर अपर नियमानुसार तद्भागी होंगे। इसी प्रकार श्राद्धकर्म भी निरर्थक न जाएगा किन्तु मृत पितरके मुक्त हो जाने पर तत्फल श्राद्धकर्ता को और श्राद्धकर्ता के भी मुक्त हो जाने पर उसके पुत्र पौत्रादि वंशजों को सुतरां प्राप्त हो जाएगा।

अन्य के किये कर्म का फल अन्य को कैसे मिल सकेगा ?

—इसका विस्तृत समाधान पीछे किया जा चुका है।

'अकर्तुरपि फलोपभोगाऽन्नाद्यवत् ।'

अर्थात्—अमुक कर्म का अकर्ता भी तज्जन्य फल को उपभोग करने वाला हो सकता है, जैसे कृषक उत्पादित अन्न का उपभोग अकृषक भी करता है।

श्राद्धकर्म की इतिकर्तव्यता

आस्तिक पाठक श्राद्ध कर्म की इतिकर्तव्यता की भी सामान्य रूपरेखा जान सकें एतदर्थ अधस्तन प्रघट्ट उपहृत है।

(क) नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।
पार्वणञ्चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः ॥

(यमस्मृति ८१)

(ख) सेकः संकल्पगायत्र्यौ 'देवताभ्यो' जपासनम् ।
आवाहनञ्च हस्तार्घो न्युब्जीगन्धादि मण्डलम् ॥१॥
अग्नौ करणं भूस्वामी, परिवेशोऽन्नदर्शनम् ।
असुरद्रावणं चोल्का-भ्रमणं वेदिसंस्कृतिः ॥२॥
निर्णेजनं पिण्डदानं, पुनः प्रत्यवनेजनम् ।
पिण्डार्चनं तथा घ्राणं दुग्धधाराभितर्पणम् ॥३॥
'दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्' कर्मनिःछिद्रप्रार्थनम् ।
सामान्योऽयं श्राद्धविधिर्विशेषः सविशेषके ॥४॥

अर्थात्—(क) वेदवेत्ता विद्वानों ने श्राद्ध पाँच प्रकार का बतलाया है। (१) नित्य श्राद्ध (२) नैमित्तिक श्राद्ध (३) काम्य श्राद्ध (४) वृद्धि श्राद्ध और (५) पार्वण श्राद्ध (ख) श्राद्ध की सामान्य विधि निम्नलिखित है और विशेष विधि तत्तद् श्राद्ध में यथाशास्त्र द्रष्टव्य है। (१) आत्माभिसिञ्चन (२) संकल्प (३) आत्मशुद्धयर्थं गायत्री जाप तथा 'देवताभ्यश्च पितृभ्यः' इत्यादि मन्त्र का त्रिरुच्चारण-जाप (४) आसन प्रदान (५) पितृ-आवाहन (६) हस्तार्घं (७) न्युब्जीकरण (८) गन्धादि दान (९) मण्डलीकरण (१०) अग्नीकरण (११) भूस्वामी (१२) अन्नपरिवेषण (१३) अंगुष्ठेन अन्न दर्शन (१४) असुर-विद्रावण (१५) उल्काभ्रमण (१६) वेदि संस्कार (१७) अवनेजन प्रदान (१८) पिण्डदान (१९) प्रत्यवनेजन (२०) पिण्डार्चन (२१) घ्राणपूर्वक श्वासप्रक्षेप (२२) दुग्धधारा (२३) तर्पण (२४) दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्' प्रार्थना और (२५) कर्म के निश्छिद्र होने की अभ्यर्थना।

साधारण पाठक उक्त विधियों का पुण्यपाठ करके सुकृत भागी बन सकते हैं परन्तु वास्तव में उक्ति विधियों का क्रिया-त्मक स्वरूप क्या होता है—यह बात केवल कर्मकाण्ड-निष्णात व्यक्ति ही समझ सकते हैं क्योंकि इन विधानों के अधिकांश नाम 'पारिभाषिक' हैं।

श्राद्ध के प्रथम अंग पिण्डदान का यह संक्षिप्त सार कहा जा सकता है। पञ्चविध श्राद्धों में प्रायः सबमें ही यह सामान्य विधियें करणीय हैं परन्तु 'सपिण्डीकरण' आदि विशेष श्राद्धों में पिण्डजल मेलन आदि की विशिष्ट विधियें भी होती हैं जो श्राद्ध विधायक ग्रन्थों में द्रष्टव्य हैं।

तर्पण, हवन और ब्राह्मण-भोजन के विशिष्ट नियम हैं, जैसे—देव तर्पण में पूर्वाभिमुख सव्य होकर प्रति देवता को अक्षतयुक्त एक-एक जलाञ्जलि दातव्य है। ऋषि तर्पण में उत्तराभिमुख कण्ठीकृत यज्ञोपवीत होकर यवयुक्त दो-दो अञ्जलि दातव्य हैं और पितृ-तर्पण में दक्षिणाभिमुख अपसव्य होकर सलिल को तीन-तीन अञ्जलि घुटना झुका कर दातव्य हैं।

हवन के शाकल्य में—एक, दो, तीन और चार भाग क्रमशः तण्डुल, घृत, जौं और तिल ग्राह्य हैं। शर्करा और सुगन्धित द्रव्य यथारुचि, तथा शमी पलाश आदि अशूद्रजातीय वृक्षों की समिधा दहन क्षम। यह पितृकर्म-प्रधान हवन का निरूपण है। यदि देवकर्म-प्रधान हवन हो तो वहाँ शाकल्य में जौं और तिलों का परिमाण विपरीत हो जाएगा।

देवकर्म में ब्राह्मणों का साधारण परीक्षण और निर्वाचन पर्याप्त है अर्थात्—गायत्रीमात्रसार भी 'अभावे सति' ग्राह्य है, परन्तु पितृकर्म में श्राद्धभोक्ता की कसौटी बहुत ही ऊँची है। इस पर सैंकड़ों में से कोई एक पूरा उतर सकता है। उस लम्बी तालिका में से केवल एक प्रमाण यहाँ उद्धृत किया जाता है, यथा—

चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपण्येन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युः हव्यकव्ययोः॥

(मनुः ३।१५२)

अर्थात्—चिकित्सा करने वाले, देव-मूर्ति को उठा कर घर घर घूमकर भीख मांगने वाले, मांस-विक्रेता और दुकान-

दारी से जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्ति 'हव्य' और 'कव्य' के अधिकारी नहीं।

यहां चिकित्सक और दुकानदार आवश्यक कर्तव्यपरता में विघ्न हो जाने की सम्भावना से और देवलक व मांस-विक्रयी तादृशी जघन्य वृत्ति के कारण वर्जनीय हैं।

श्राद्ध के लिए पवित्र वन, नदीतीर और जनशून्य स्थान को प्रशस्त माना गया है। इसी प्रकार गव्य पदार्थ, चावल, मूंग, यव आदि मुन्यन्न, मध्याह्नोत्तरवर्ती 'कुतुप' काल भी प्रशस्त माना गया है। परन्तु चाण्डाल, सूकर, कूकर, मुर्गा, रजस्वला स्त्री और नपुंसक श्राद्धभोक्ता को देखें भी नहीं ऐसी मनु (३।२०६) की आज्ञा है। श्राद्ध की सब क्रियाएँ विज्ञानपूर्ण हैं। अतः प्रत्येक बात में बाल की खाल उतारी गई है, यदि यहाँ प्रत्येक क्रिया की 'क्यों ?' बतलाई जाए तो एकले श्राद्ध विषय पर 'महाभारत' के समान बृहत् ग्रन्थ लिखने पर भी वे सब पूरी न हो पाएँ। परन्तु हम इस विभीषिका के कारण पाठकों को वैज्ञानिक रहस्य से सर्वथा निराश भी नहीं रखना चाहते, इसलिये 'स्थालीपुलाक' न्याय से यहाँ कतिपय बातों पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

श्राद्ध में अमावस्या तिथि प्रशस्त क्यों ?

नित्य नैमित्तिक काम्य आदि श्राद्ध, जननाशौच किंवा मरणाशौच के कारण एवं अन्य किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित हो जाने के कारण यदि समय पर न किये जा सकें तो वे सब श्राद्ध अथवा अज्ञात-मृत्युतिथिक पितरों का क्षयाहिक

एकोद्दिष्ट श्राद्ध भी अमावस्या तिथि को किया जाना चाहिए ऐसी शास्त्राज्ञा है। सो श्राद्धकर्म में अमावस्या तिथि की प्रधानता क्यों ? यही तिथि पितृदेवता के योंहै ?

इसका वैज्ञानिक कारण यह समझना चाहिये । जैसे हमारी इस पृथ्वी पर सूर्य चन्द्रादि की गति के तारतम्य से ध्रुव प्रदेश में और ग्रीनलैण्ड आदि भूभागों में छः-छः मास तक सूर्य और चन्द्र अदृष्ट रहते हैं, योरोप के प्रदेशों में दिन और रात्रिमान १९ और ४१ घड़ी तक न्यूनाधिक हो जाते हैं, और पूर्व-पश्चिमी भूमध्यरेखा पर न्यूनाधिक होते ही नहीं, किन्तु पूरे ३० घड़ी अर्थात्—बारह-बारह घण्टे के ही सदैव रहते हैं, इसी प्रकार मृत्युलोक के अतिरिक्त अन्यान्य लोकों में सूर्य चन्द्रादि की गति विगति के तारतम्य से दिन और रात्रियों का मान विभिन्न प्रकार का होना स्वाभाविक है। तदनुसार पृथ्वी के अत्यन्त निकटवर्ती चन्द्रकक्षा में विद्यमान पितृलोक में हमारे एक मास परिमित काल में पितृगणों का एक अहोरात्र होता है। प्रत्येक मास में कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक पितरों का दिन होता है और शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक पितरों की रात्रि होती है।

साधारणतया कृष्णपक्ष को दिन और शुक्लपक्ष को रात्रि कह दिया जाता है, परन्तु वस्तुतः शास्त्रों के समस्त वचनों की एकवाक्यता करने पर वह पक्ष अष्टमी से अष्टमी तक ही सिद्ध होता है। इस प्रकार अमावस्या तिथि पितृगणों का ठीक मध्याह्न-काल होता है। शास्त्ररीति से सर्वत्र भोजन के लिये यही काल प्रशस्त माना जाता है अतः अमावस्या को श्राद्ध करना सहेतुक है।

सूर्य कक्षान्तरवर्ती द्युःलोकस्थ देवताओं का अहोरात्र मानव-वर्ष के बराबर होता है। जिसमें उत्तरायण दिन और दक्षिणायन रात्रि मानी जाती है। इसीलिये सकाम इष्टापूर्त प्रतिष्ठोद्यापन आदि कार्य उत्तरायण में ही होते हैं। देवशयनी से देवोत्थापिनी पर्यन्त विवाहादि कृत्य भी बन्द रहते हैं।

जैसे पितृलोक और देवलोक की अहोरात्र गणना विभिन्न है इसी प्रकार अन्यान्य प्रदेशों की भी समझनी चाहिये। सुमेरू शिखरवर्ती प्राणी सदैव दिन देखते हैं तो शनिग्रह की कक्षा के नारकीय प्रदेश में सर्वदा घोर रात्रि विद्यमान रहती है। हमारी उपर्युक्त स्थापना के साधक निम्नलिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं।

(क) **पित्र्ये रात्र्यहनी मासः ।** (मनुः १।६६)

(ख) **पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वं···दर्शे···।**

(सिद्धान्त शिरोमणी गो० १३)

(ग) **अहमेवास्म्यमावास्या···मयीमे···साध्याश्चेन्द्र-ज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ।** (अथर्व ७।७९।२)

(घ) **कृष्णपक्षे दशम्यादौ···श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयः ।**

(मनु ३।२७६)

(ङ) **अमावस्यायां पितृभ्यो दद्यात् ।** (गौतम १५)

अर्थात्—(क) मनुष्यों का एक मास पितरों का एक अहोरात्र होता है। (ख) पितृगण दर्श=अमावस्या के दिन

सूर्य को ठीक अपने मस्तक के समान सूत्र में ऊपर देखते हैं। (ग) सूर्य चन्द्र दोनों अमा=साथ-साथ जब वसते हों, वह तिथि अमावस्या मैं हूँ। मुझमें सब साध्यगण=पितृविशेष और इन्द्र प्रभृति देवता इकट्ठे होते हैं। (घ) कृष्णपक्ष की दशमी से (चतुर्दशी को छोड़ कर) अमापर्यन्त तिथियें श्राद्ध में प्रशस्त हैं। (ङ) अमास्या के दिन पितरों के निमित्त देना चाहिये।

आश्विन में श्राद्ध क्यों ?

यदि अमावस्या को ही पितरों का भोजन काल होता है तो फिर आश्विन महीने में सभी तिथियों को पूरे पक्ष भर श्राद्ध क्यों ?

हम पीछे कह आए हैं कि श्राद्ध के पांच भेदों में अन्यतम 'पार्वण श्राद्ध' भी है। सो अमावस्या का श्राद्ध तो पितरों के दैनिक भोजन के समान है परन्तु आश्निन का पितृपक्ष हमारे विशिष्ट सामाजिक उत्सवों को भांति पितृगणों का सामूहिक महापर्व है। इसीलिये उक्त समय में किए जाने वाले श्राद्ध को **'पर्वणि भवम् पार्वणम्।'** इस निर्वचन के अनुरूप 'पार्वणश्राद्ध' कहते हैं। सो जिस प्रकार हम नित्यप्रति तो साधारण दशा में नियमानुसार मध्याह्न काल में ग्यारह-बारह बजे भोजन करते हैं, परन्तु तिथि त्योहार विवाहादि महोत्सवों में प्रात: सायं और रात के बारह-बारह बजे तक भी भोजन करते हैं। जन्माष्टमी आदि विशिष्ट त्योहारों पर अर्धरात्रि में भी व्रत-पारणा होती है, ठीक इसी प्रकार आश्विनकालीन पितृपक्ष

को पितरों का सामूहिक मेला समझना चाहिये। इस समय सभी पितर अपने पृथ्वीलोकस्थ सगे-सम्बन्धियों के यहाँ अनिमन्त्रित भी पहुँचते हैं और उनके द्वारा प्रदान किये 'कव्य' से परितृप्त होकर उन्हें अपने शुभाशीर्वादों से आप्यायित करते हैं। जो कृतघ्न उक्त मृतात्माओं की गाढ़े खून-पसीने से उपार्जित सम्पत्ति का तो उपभोग करते हैं, परन्तु पितरों को चुल्लू भर पानी देते हुवे उन पर शंकाओं के पहाड़ टूट पड़ते है, ऐसे दुरात्मा लोग पितरों द्वारा शप्त होकर नाना दुःखों के भाजन बनते हैं।

ज्योतिर्गणना के अनुसार मेष राशि के दश अंश पर वर्तमान सूर्य परमोच्च का होता है और तुला के दश अंश पर स्थिर होता हुवा परम नीच का होता है। अर्थात्—मेष का सूर्य पृथ्वी कक्षा से सर्वथा दूर होता है और तुल का सूर्य पृथ्वी कक्षा के सर्वथा निकट। पृथ्वीलोक पर किये गये यज्ञ याग आदि सब अनुष्ठान पहिले सूर्यमण्डल में पहुँचते हैं और फिर वहाँ से तत्तत् स्थानों को जाते हैं। देवताओं के निमित्त भौतिक अग्नि में किंवा ब्राह्मण की जाठर अग्नि में विधिवत् डाला हुआ 'हव्य' सूर्य द्वारा द्युलोकस्थ देवताओं की तृप्ति का कारण बन जाता है क्योंकि देवलोक सूर्यकक्षा में ही विद्यमान है, परन्तु पितृगणों के निमित्त उभयविध अग्नि में हुत 'कव्य' पहिले सूर्य में पहुँचता है और फिर सूर्यमण्डल से चन्द्रमण्डल में जाता है।

यह सभी विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि चन्द्रमा स्वयं प्रकाशमान नहीं है किन्तु सूर्य की ही 'सुषुम्णा' नामक रश्मि चन्द्रमण्डल को प्रकाशित करती है। जैसे अमावस्या को उक्त

दोनों मण्डलों के सान्निध्य के कारण पितरों को हमारी प्रदत्त वस्तु झटिति प्राप्त होती है, इसी प्रकार कन्या के दश अंश से तुला के दश अंश पर्यन्त सूर्य के परम नीच कक्षा में विद्यमान होने के कारण अर्थात्—पृथ्वी, चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डल के सान्निध्य के कारण 'कन्यागत' श्राद्ध करना भी विज्ञान-पूर्ण है।

कई मूर्ख कभी-कभी यह भी कहते सुने जाते हैं कि आश्विन के श्राद्ध ता राजा कर्ण के समय से चले हैं। तभी तो 'कर्णागत' होने के कारण इनको 'कनागत' कहा जाता है। प्रतिवादियों की यह सूझ भी 'ईश्वर की रचना' का अपभ्रंश 'नौ सेर चना' बताने के बराबर है। वास्तव में 'कन्यागत' शब्द का अपभ्रंश ही 'कनागत' है।

हमारी उपर्युक्त स्थापना के साधक निम्नलिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं।

(क) सर्वास्ता अवारुन्धन् स्वर्गः षष्ठ्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात। (अथर्व १२।३४१)

(ख) ततः शेषाणि कन्याया यान्यहानि तु षोडशः।
ऋतुभिस्तानि तुल्यानि पितृभ्यो दत्तमक्षयम्।
(सिद्धान्त-शिरोमणि)

(ग) श्राद्धं कन्यागते भानौ यो न कुर्याद् गृहाश्रमी।
धनं पुत्राः कुतस्तस्य पितृकोपाग्निपीडनात्।

यावच्च कन्यातुलयोः क्रमादास्ते दिवाकरः ।
शून्यं प्रेतपुरं तावद् यावद् वृश्चिकदर्शनम् ॥
(महाभारत-दान धर्मपर्व)

(घ) कन्यागते सवितरि पितरो यान्ति सत्सुतान् ।
(अत्रि ३५८)

(ङ) सूर्ये कन्यागते कुर्यात्श्राद्धं यो न गृहाश्रमी ।
(अत्रि ३५७)

अर्थात्—(क) शरद् ऋतु में छठी संक्रान्ति=कन्यार्क में जो अभीप्सित वस्तुएँ पितरों को प्रदान की जाती हैं, वे सब स्वर्ग को देने वाली होती हैं। (ख) कन्यार्क के जो अवशिष्ट सोलह दिन हैं, वे यज्ञों के तुल्य हैं, उनमें पितरों को जो दिया जाता है वह अक्षय होता है। (ग) जो गृहाश्रमी कन्यागत सूर्य में श्राद्ध नहीं करता, पितरों के शाप की अग्नि से उसका धन, पुत्र आदि सब भस्म हो जाता है। जब तक कन्या से तुला तक क्रमशः सूर्य रहता है तब तक वृश्चिक संक्रान्ति पर्य्यन्त समस्त पितृलोक खाली रहता है। (घ) कन्या राशि पर सूर्य जब आता है तब पितर लोग अपने सत्पुत्रों के निकट पहुँचते हैं। (ङ) जो गृहस्थ कन्यागत सूर्य में श्राद्ध नहीं करता (वह पापी है)।

इस प्रकार आश्विन पितृपक्ष के महालय पार्वण-श्राद्धों की करणीयता भी वेदादिशास्त्रानुमोदित और अतीव सहेतुक तथा विज्ञानपूर्ण है। यह बात उपर्युक्त प्रघट्ट से सुतरां सिद्ध है।

योग्य ब्राह्मण के अभाव में क्या करें ?

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में श्राद्ध-भोक्ता ब्राह्मण के जो लक्षण प्रकट किये हैं वर्तमान समय में तादृग् ब्राह्मण सर्वत्र अप्राप्य नहीं तो दुर्लभ अवश्य हैं। ऐसी स्थिति में अगत्या श्राद्ध अकरणीय ही ठहरता है !

यह आशंका भी व्यर्थ है, क्योंकि जैसे कोई भी वैद्य, रोगी के न मरने का निश्चित आश्वासन नहीं दे सकता और अधिकांश व्यक्ति औषधि खाते-खाते ही परलोक सिधारते हैं तथापि एतावता चिकित्सा-प्रणाली का बहिष्कार नहीं किया जाता, किन्तु यथासम्भव अच्छे वैद्य को ढूँढकर रोगापनयन करने की चेष्टा की ही जाती है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त लक्षणसम्पन्न श्राद्धभोक्ता ब्राह्मण को ढूँढने का भरसक प्रयत्न जारी रखना चाहिये। परन्तु अभाव में श्राद्धतिथि का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। गायत्रीमात्रसार ब्राह्मण को ग्रहण कर लेना चाहिये। सर्वलक्षणसम्पन्न के अभाव में कतिपय-लक्षण-सम्पन्न से समय पर काम न लेना और श्राद्ध को सर्वथा छोड़ ही बैठना तो 'सर्व लक्षण-सम्पन्न' के ढूँढने में शिथिल-प्रयत्न होना है। इस भान्ति तो फिर कभी उसके मिलने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। इसलिते अच्छे को ढूँढो, पर जब तक वह न मिले तब तक कुछ कम-अच्छों से श्राद्ध कर्म करते रहो। 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' अर्थात् न करने से तो कुछ करना ही भला है।

यदि जीवन भर में एक बार भी सर्वलक्षणसम्पन्न पंक्तिपावन श्राद्ध-भोक्ता ब्राह्मण मिल गया तो पितरों को अक्षयतृप्ति

प्राप्त होगी। श्राद्ध का प्राशस्त्य श्राद्धभोक्ता की श्रेष्ठता पर तो निर्भर है ही परन्तु यजमान की श्रद्धा भी उसके साफल्य का मुख्य आधार है; शास्त्र कहता है कि—

(क) मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।

(शतपथ ब्राह्मण)

(ख) ब्राह्मणमद्य विन्देयं पितृमन्तं पैतृमत्यं ऋषिमार्षेयम्। (यजु, ७।४६)

(ग) ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।

(मनुः ३।१३५)

(घ) वृत्तिनश्च कुलीनश्च श्रुतिस्मृतिरतं सदा।
तादृशं भोजयेच्छ्राद्धे पितॄणामक्षयं भवेत्।

(अग्नि ३५३)

(ङ) श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन त्वराक्रोधविवर्जितः।
उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत्।

(शंख १४-१२)

(च) अन्यचित्तेन यद्दत्तं यद्दत्तं विधिवर्जितम्।
अनासनस्थितेनापि तज्जलं रुधिरायते॥

 (व्यास ३।२३)

(छ) पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम् ।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धभुगष्ट वर्जयेत् ॥
(लघुहारीत ७५)

(ज) वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ।
(मनुः ३।२०१)

अर्थात्—(क) श्रेष्ठ माता और श्रेष्ठ पिता से समुत्पन्न तथा आचरणशील गुरु का शिष्य ही 'ज्ञानी' होता है। (ख) (हे भगवन् !) आज मुझे पिता पितामह आदि कुल परम्परा से श्रेष्ठ, स्वयं ऋषिकल्प और ऋषियों के वंशधर होने का गौरव रखने वाला ब्राह्मण प्राप्त हो। (ग) पितरों के निमित्त 'कव्य' ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणों को ही यत्नपूर्वक खिलाना चाहिये (घ) श्राद्ध में सदाचारी, कुलीन और श्रुति स्मृतियों के स्वाध्याय में निरत ब्राह्मण को भोजन खिलाना चाहिये जिससे पितरों को अक्षय तृप्ति प्राप्ति प्राप्त हो। (ङ) यजमान जल्द-बाजी और क्रोध को छोड़कर बड़े यत्न से श्राद्धकर्म करे। अनन्तर गर्म-गर्म भोजन कुल और संस्कार से सम्पन्न ब्राह्मणों को प्रदान करे। (च) अन्यमनस्क होकर, जो दिया जाता है और विधि की परवाह न करके जो किया जाता है तथा आसन पर बिना बैठे जो किया जाता है वह जल रुधिर के समान हो जाता है। (छ) दुबारा भोजन खाना, रास्ता चलना, बोझा उठाना, स्वाध्याय करना, स्त्री संग, दान देना और लेना तथा होम ये आठ काम श्राद्धभोक्ता ब्राह्मण उस दिन न करे। (ज)

यजमान यदि श्रद्धापूर्वक जलमात्र भी देता है तो वह भी पितरों को अनन्त तृप्ति का कारण हो जाता है।

यव, तिल और चावल ग्राह्य क्यों ?

समस्त देव और पितृकार्यों में यव, तिल और चावलों का प्रयोग होता है। पिण्डदान में भी उबले हुवे भात के या शाली-चूर्ण के ही पिण्ड होते हैं और पितृकार्य में तिलों को साथ मिलाए बिना कोई संकल्प ही नहीं होता, तर्पण में भी उक्त तीनों अन्नों का प्रयोग होता है, हवननिमित्तक शाकल्य तो इन अन्नों से तैयार होता ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अन्यान्य अन्नों को छोड़कर पितृकर्म में उक्त तीन अन्नों का ही प्राशस्त्य क्यों स्वीकृत है ?

उक्त प्रश्न के समाधान के लिये पहिले यह समझ लेना चाहिये कि समस्त संसार एक नियमित चक्र में आबद्ध होकर ही अपनी सत्ता स्थिर रख रहा है। प्रकृति के जिस एक ही नियम के नेतृत्व में जड़-चेतनात्मक समस्त वस्तुओं का उद्भव, रक्षण और संहार [रूपान्तर-प्राप्ति न कि अभाव] हो रहा है वह नियम है अग्नि में सोम-तत्त्व की नियमित आहुति।'

यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि यह समस्त विश्व **'अग्नि सोमात्मकं जगत्'** इस सर्वविदित वैदिक नियम के अनुसार अग्नि और सोम से निस्यूत है। अग्नितत्त्व में सोमतत्त्व की आहुति पड़ने से उत्पत्ति, रक्षण और संहारात्मक क्रियाएँ होती हैं, यह तथ्य अहर्निश घटने वाली लौकिक घटनाओं के गम्भीर अध्ययन से झटिति समझ में आ सकता है।

किसान भूमि को हल से कुरेद कर जब उसमें बीज वपन करता है तो इस क्रिया की परिणति से अर्बों खर्बों मन अन्न की उत्पत्ति होती है। भूमि के केवल उपरितन तीन अंगुल भाग में ही अग्नि का निवास है। अतः किसान उस अग्नि में सोमात्मक बीज का होम करता है। पृथ्वी की ऊष्मा से ज्यों ही उप्त अन्नकण भस्मसात् हो जाता है तो वह हव्यरूपेण स्वभावतः सूर्य की ओर आकृष्ट होता है। इधर पृथ्वी का आकर्षण भी बीजस्थ पार्थिव अंश को नहीं छोड़ता। इस उभयविध खींचातानी की प्रतिक्रिया से पौधे के मूलात्मक तने पृथ्वी में फैल जाते हैं और सूर्याकृष्ट अंकुर ऊपर को उन्मुख होता होता स्तम्ब औषधि किंवा क्षुपरूपेण प्रकट हो जाता है। परन्तु फिर भी उस पौदे की आभ्यन्तरिक अग्नि में सोमात्मक जल का सेचन रूप होम नितान्त आवश्यक है। ऐसा करने से ही वह पौधा जीवित रह सकता है अन्यथा सूर्याग्नि से भस्म होकर सूख जाता है। किसान चाहे इस वेदविज्ञान से परिचित नहीं परन्तु परम्परा से उसे इतना बोध अवश्य है कि बीज तीन चार अंगुल परिमित मिट्टी तक ही रहना चाहिए। यदि बीज को हाथ दो हाथ गहराई में डाल दिया जाए तो वह कभी अंकुरित न होगा। इसी वैदिक तत्त्व को जीवित रखने के लिये याज्ञिक लोग अपनी यज्ञवेदी को 'त्र्यंगुला वेदिः' इस प्रमाण के अनुसार तीन अंगुल परिमित उच्छ्रित करते हैं।

सो खेतीबाड़ी की सब प्रक्रिया 'अग्नि में सोम की आहुति' इस विज्ञानपूर्ण वैदिक सिद्धान्त पर ही आधारित है।

इसी प्रकार पशु-पक्षी और मनुष्य आदि सब प्राणी अपने

वीर्यरूप सोमतत्त्व को जब स्त्री के गर्भाशय रूप अग्निकुण्ड में होमते हैं तो उसका परिणाम सन्तति होती है।

एवमेव सब प्राणी अपनी-अपनी जाठर अग्नि में भोजन रूप सोम का होम करते हैं इसी व्यापार से वे जीवित रहते हैं। भक्ष्य पदार्थों में कुछ सोमांश रहता है और अधिकांश पार्थिव विकार रहता है। इसलिये प्राणियों को भोजन को पचाने के लिये सोमांश-प्रधान जल को बार-बार पीने की आवश्यकता पड़ती है।

लक्कड़, कोयला और तेल से संचालित समस्त यन्त्रों में भी 'अग्नि में सोमहुति' वाला सिद्धान्त ही काम करता है। वहाँ भी सोम रूप ईंधन के साथ-साथ जल की आवश्यकता आपाततः **'अग्नि सोमात्मकं जगत्'** का ही निदर्शन है।

हमारी इस लम्बी स्थापना का यही तात्पर्य है कि पाठक यह हृदयंगम कर लें कि समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और रूपान्तरप्राप्ति 'अग्नि में सोम की आहुति' इस अटल सिद्धांत पर निर्भर है।

अब दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि संसार के कुछ पदार्थ अग्नितत्त्व प्रधान हैं और कुछ सोमतत्त्व प्रधान। जैसे सुवर्ण आदि आकरज समस्त पदार्थ भारतीय नैय्यायिकों के मत में और वर्तमान नव्य गवेषकों के मत में भी तैजस पदार्थ हैं, अर्थात्—अग्नितत्त्व प्रधान हैं, परन्तु मृत् पाषाण आदि द्रव्य पार्थिव हैं। इसी प्रकार काष्ठ अन्न और घास-फूँस तक में भी यह विभेद चलता है। जैसे 'शमि' काष्ठ को सभी अग्निगर्भ स्वीकार करते हैं। चणक, मसूर, कुलथी आदि अन्नों

को और चित्रक एरण्ड आदि वनस्पतियों को भी 'अग्नि-प्रधान' पदार्थ माना जाता है परन्तु इसके विपरीत उशीर, चन्दन आदि द्रव्यों को और यव, चावल, मूँग तथा श्यामाक आदि अन्नों को सोम तत्त्व-प्रधान स्वीकार किया जाता है। विज्ञान की कोई मान्यता रूढ़िवाद किंवा परम्परागत विश्वास मात्र पर निर्भर नहीं होती, किन्तु वह तो वस्तु के तात्त्विक विश्लेषण पर आधारित होती है। तदनुसार यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है या कृषकों से पूछकर तसल्ली की जा सकती है कि समस्त अन्नों में चावल और उनमें भी शालि जिससे लोकभाषा में 'सांठी' भी कहते हैं, सर्वाधिक जलीय अंश से भरपूर है। अन्यान्य अन्न के खेतों में यदि अधिक पानी पड़ जाए तो वह नष्ट हो जाते हैं, परन्तु धान के खेत में जब तक कम से कम फुट भर पानी पकने के समय तक भरा न रहे तब तक यह जीवित ही नहीं रह सकता। चावल को यदि जलीयसंघात की क्षुद्र कणिका कह दिया जाए तो यह अत्युक्ति न होगी। इसलिए यह बात निर्विवाद विज्ञानसिद्ध है कि अन्नों में चावल सर्वाधिक सोमांशपूर्ण द्रव्य है और इसके बाद यव, तिल भी इसी श्रेणी के अन्यतम पदार्थ हैं। यहाँ इतना और भी अधिक समझ लेना चाहिए कि उक्त तीनों अन्नों में भी चावल, यव और तिल क्रमशः सात्विक, राजस और तामस सोमांश से भरपूर हैं। उक्त तीनों अन्नों में चावल, सात्विक, यव राजस और तिल तमः प्रधान हैं। इसीलिये देव, ऋषि पितरों के कृत्य में उक्त तीनों अन्नों की क्रमशः प्रधानता रहती है।

पिण्ड सम्बन्धित क्रियाओं का रहस्य

पिण्डदान में दक्षिणप्रवण त्र्यंगुला वेदि बनाई जाती है। वेदी की त्र्यंगुलोन्नति का वैज्ञानिक हेतु अनुपदं पाठक पढ़ चुके हैं। हमारी यह पृथ्वी अण्डाकृति होती हुई भी दक्षिण की ओर से सर्वथा गोल नहीं, किन्तु अन्दर को धंसी हुई है। इसीलिये आधुनिक वैज्ञानिक इसे नरंगी के समान एक ओर से कुछ नीचे को दबी हुई बतलाते हैं। सो उक्त पृथ्वी की अनुकृति ही श्राद्धकालीन वेदिका है। कुशा, घास अग्निप्रधान द्रव्य है। इसीलिए उसको तैजस सुवर्ण के स्थान में सर्वसुलभता से कारण पवित्री आसन आदि के निर्माण में बर्ता जाता है। सो वेदि पर कुशास्तरण करके उसे अग्निमय कुण्ड की भांति होमोपयोगी बनाया जाता है। उक्त कुशाओं पर चावलों के सोमांशमय पिण्ड को रखकर 'अग्नि में सोमाहुति' वाले वैज्ञानिक सिद्धांतानुसार पितरों को 'भोगायतन' सम्पन्न बनाने का वैज्ञानिक अनुष्ठान किया जाता है। जैसे कृषक विधिवत् बीज बोकर और जल सींचकर निश्चिन्त हो जाता है। अंकुर उगाने, पौदा बनाने और उसे पुष्पित एवं फलित करने में उसका कुछ भी प्रयत्न नहीं चलता किन्तु यह सब कृत्य प्रकृति के व्यापार से अपने आप हो जाता है, अथवा जैसे हम लोग जाठर अग्नि में भोजन और जल उडेल देने मात्र से कृतकृत्य हो जाते हैं। अशित अन्न का रस, रक्त, मांस, भेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य बनकर शरीर किस प्रकार परिपुष्ट होता है इसका हमें कुछ भी पता नहीं चलता, प्रकृति स्वयमेव यह सब कृत्य अपने आप कर डालती है, ठीक इसी प्रकार दर्भास्तृत

वेदीरूप भूमि में पिण्डरूप बीज के निर्वाप से और तर्पण रूप सेचन से भौतिक अग्नि तथा ब्राह्मण की जाठर अग्नि में विधिवत् हव्य कव्य के होमने से यजमान तो निश्चिन्त हो जाता है। इसकी परिणति किस रूप से पितरों की तृप्ति करती है, इस विषय में न यजमान का कोई प्रयत्न चल सकता है और नांही उसे ऐसे जल प्रताड़न के व्यर्थ पचड़े में पड़ने की आवश्यकता है। उप्त बीज अंकुर की भांति और अशित अन्न जन्य शरीर परिपोषण की भांति पितृतृप्ति की सब क्रियाएँ प्रकृति स्वयमेव करती है।

उल्का भ्रमण क्यों ?

श्राद्ध करते समय पिण्डवेदि के चारों ओर जलती कुशा को आलातचक्र की भान्ति घुमाने का भी वेद में विधान है यह क्यों ?

शास्त्र का सिद्धान्त है कि विधिहीन कृत्य का फल असुर और राक्षस लूट लेते हैं। जब हम कोई भी अनुष्ठान करने बैठते हैं तो उस समय अनेक दिव्यात्माएँ तो हमारे उस पुनीत कार्य में सहयोग और सहानुभूति की भावना से उपस्थित होती हैं और बहुत सी आत्माएँ नानाविध विघ्न डालने के विचार से छिद्रान्वेषण की ताक में जुटी रहती हैं। थियासोफिस्ट और आधुनिक परलोक-विद्याविशारदों का तो यह भी कथन है कि केवल अनुष्ठान के समय ही नहीं किन्तु सोते-जागते चौबीसों घन्टे हम बुरी और भली नाना आत्माओं से सर्वदा घिरे रहते हैं। उन आत्माओं के सम्पर्क से ही प्रतिक्षण हमारे हृदय में जसी आत्माओं का प्राबल्य हो जाता है हम वैसा ही कार्य कर डालने के लिये—भगवद्गीता के शब्दों में—'**बलादिव नियोजितः**'

विवश से हो जाते हैं। कई बार आवेश में सहसा अमुक अकृत्य कर चुकने पर जब सर पर चढ़ा भूत उतर जाता है तो हम स्वयं पश्चात्ताप करते हैं और हमने ऐसा क्यों कर डाला—यह पहेली समझ ही नहीं पाते।

हाँ ! तो श्राद्ध के समय भी बहुत सी आसुरी आत्माएँ हम में त्वरा क्रोध आदि श्राद्ध-विघातक दुर्गुण उत्पन्न करके अवैध श्राद्ध का फल स्वयं लूटने की ताक में रहती हैं उनको श्राद्धप्रदेश से भगाने के लिए वेद ने उल्काभ्रमण का आदेश दिया है। कहना न होगा कि सिंह व्याघ्र आदि से उपद्रुत घने जंगलों में रात को जलती अग्नि के प्रताप से ही वनवासी लोग आत्मरक्षा करते हैं। बिगड़े हाथियों का झुंड का झुंड भी यदि एक व्यक्ति पर आक्रमण करना चाहता हो तो एक जलता हुवा उल्मुक उठाकर वह पुरुष ज्यों ही हाथियों की ओर आगे बढ़ेगा तो वे भयभीत होकर बेतहासा भाग उठेंगे यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। सो आसुरी आत्माएं भी, जो कि अन्धकारमय नरक लोकों में रहने की अभ्यासी हैं और इसलिए प्राय: अन्धेरी रात्रियों में या अपवित्र स्थानों में ही जिनका प्रभाव चल सकता है वे अग्नि ज्योति: से बहुत भयभीत होती हैं। प्रत्येक शुभाशुभ कर्म के आरम्भ में रक्षादीप जलाना, गौरसर्षप, यव और तिल आदि रक्षोघ्न-द्रव्यों का विकीर्णन करना, तथा पांवों को कुशासन से हाथों को कुश-निर्मित पवित्रियों के धारण से और मस्तक को शिखान्यस्त कुशमय पवित्री से एवं सर्वांगों को अङ्गन्यास और करन्यास आदि वैदिक विधियों से सुरक्षित करना उपर्युक्त आशय से ही है। वेद कहता है कि—

(क) अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः । (यजुः २।२९)

(ख) पितृणामसुररक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्परस्ता-दुल्मुकं विदधाति । (शतपथ २।४।२।१४)

अर्थात्—(क) वेदि स्थान में वर्तमान सब असुर और राक्षस अपहत हो [भाग जाएं] (ख) पितृकृत्य को असुर और राक्षस उपद्रुत नहीं कर पाएं एतदर्थ चारों ओर उल्मुक [जलता मराड़] घुमाया जाता है।

दक्षिणाभिमुख, अपसव्य और भूस्वामी क्यों ?

पितृलोक दक्षिण दिशा में चन्द्रकक्षा के उपरितन भाग में विद्यमान है। इसलिये जिस ओर से किसी को पधारना हो उस ओर उन्मुख होना तर्कसङ्गत ही है। इसी आशय से सब पितृ-कार्य दक्षिणाभिमुख होकर करने का शास्त्र में विधान है।

अनुष्ठानकर्ता को यह ध्यान बना रहे कि मैं इस समय देव ऋषि या पितृ-सम्बन्धी तीनों में से किस कार्य में व्यस्त हूँ—उक्त तीनों कार्यों की विज्ञापना, सव्य, कण्ठीकृत और अपसव्य यज्ञोपवीत के द्वारा निश्चित रूप से बनी रहती है। कर्म-कर्ता के मन में जिसकी आराधना की जा रही है उसका ध्यान परमावश्यक है। इसीलिये शास्त्रों में प्रत्येक कार्य के आदि में तादृश ध्यान का विधान विद्यमान है। सो यज्ञोपवीत की अप-सव्यता पितृध्यान की ओर संकेत दिलाने की एक अमोघ प्रणाली है।

'श्राद्ध में कोई परकीय वस्तु नहीं होनी चाहिये'—यह शास्त्र

सिद्धान्त है। श्राद्धकर्ता अन्यान्य सब सामग्री तो अपने परिश्रम से या अपने सद्वृत्ति से उपार्जित किये हुए द्रव्य के द्वारा जुटाता ही है, परन्तु श्राद्धोपयोगी वन, नदी-तट और देवालय आदि स्थान प्रत्येक व्यक्ति का अपना ही हो यह सम्भव नहीं। इसलिए श्राद्धस्थान का ज्ञाताज्ञात कोई भी स्वामी हो—उसको मूल्य (भाड़ा) रूपेण श्राद्धान्न का कुछ अंश देकर परकीयता को निवृत्त कर देना, यही 'भूस्वामी' के नाम पर अन्न-वितरण क्रिया का तात्पर्य है।

मध्यम पिंड भक्षण क्यों ?

पितृश्राद्ध में--'यदि यजमान की पत्नी पुत्र सन्तति चाहती हो तो वह पितृ-पितामह-प्रपितामह निमित्तक तीन पिण्डों में से मध्यम पिण्ड को मन्त्रपूर्वक भक्षण करे' ऐसी विधि विद्यमान है, यह क्यों ?

प्राचीन समय में सन्तान-प्राप्त्यर्थ याज्ञिक हव्य के भक्षण का उल्लेख मिलता है। राजा दशरथ की तीनों रानियों ने तादृश हव्य खाकर वंशवर्द्धन किया था यह रामायण से सुस्पष्ट है। श्राद्ध भी एक यज्ञ है अतः इसमें सन्तान प्राप्ति के लिये कव्य-भूत पिण्ड का भक्षण प्रजानिरोधक बाधाओं के दूरीकरण का अमोघ उपाय है। वेद कहता है कि—

(क) मध्यमं पिण्डं पत्न्यै पुत्रकामायै प्रयच्छति।

(कौशिककल्प ११५)

(ख) आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। (यजुः २।३३)

(ग) पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥
(मनुः३।२६२)

अर्थात्—(क) मध्यम पिण्ड पुत्र चाहने वाली यजमान पत्नी को प्रदान किया जाए (ख) हे पितरो ! आप अपने आशीर्वाद से इस पुत्रवधू को गर्भवती कीजिए, जिससे कमल-माला के समान कोमलाङ्ग पुत्र उत्पन्न हो (२) पितृपूजन में तत्पर पतिव्रता यजमान-पत्नी पुत्र की अभिलाषा से मध्यम पिण्ड को विधिवत् भक्षण करे ।

जीवित श्राद्धपक्ष में जहां उल्का-भ्रमण, तिलयव-विकीर्णन आदि वेदोक्त क्रिया की कुछ भी संगति नहीं बैठती वहां यह पिण्डभक्षण-कालीन पितृ-प्रार्थना [जीवित पिता आदि से पुत्रवधू में गर्भ-स्थापन की बात तो सर्वथा] अनुचित ठहरती है, जिसका प्रतिवादी कुछ भी समाधान नहीं कर सकते ।

एतावता चावल यव और तिलों के प्राशस्त्य का, तादृश पिण्ड और तत्सम्बद्ध वेदि निर्माण का, तथा दर्भास्तरण आदि अन्यान्य क्रियाओं का विज्ञानपूर्ण सहेतुक संक्षिप्त विवेचन इन पंक्तियों से हो जाता है । परन्तु प्रमाणाग्रही सज्जन हमारे इस प्रयत्न को केवल काल्पनिक घुड़दौड़ समझने की भूल न कर बैठें एतदर्थ उपर्युक्त विवेचना के साधक प्रमाण भी यहां अङ्कित किये जाते हैं; शास्त्र कहता है कि—

(क) सोमस्यांशवस्तण्डुला इमे । (अथर्व ११।१।१८)

(ख) अश्वत्थो दर्भो विरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ । (अथर्व ८।७।२०)

(ग) इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः। (अथर्व ९।१०।१४)

(घ) तिलमिश्राः स्वधावतीः। तास्ते संतूद्भ्वीः।

(अथर्व १८।४।२६)

(ङ) यवोऽसि सोमदैवत्यः। तिलोऽसि सोमदैवत्यः।

(श्राद्धविवेक)

अर्थात्—(क) ये जो चावल हैं ये सोम के अंश वाले हैं। (ख) पीपल का वृक्ष और दर्भ=कुशा ये दोनों उद्भिज्ज जैसे वनस्पतियों के राजा हैं इसी प्रकार सोम प्रधान औषधियें भी अमृतमय 'हव्य' हैं, खासकर चावल और यव तो भेषज के समान हैं क्योंकि ये दोनों द्युलोक प्रसूत=दिव्य और मृत्यु से रहित हैं। (ग) यह जो वदि है सो इस पृथ्वी की परिधि है। (घ) तिल-मिश्रित हव्य-कव्य देव और पितरों को तृप्त करने वाला होता है। हे मृतप्राणी ! वे स्वधाएं तेरे लिये उन्नत लोकों तक व्याप्त हों। (ङ) यव और तिल सोमदैवत द्रव्य हैं।

भौरखे और जोहड़ी क्यों ?

सोम भोज्य है और अग्नि का अन्तिम स्रोत सूर्य उसका भोक्ता है। उक्त दोनों तत्त्वों के अनवरत चलने वाले भोज्य-भोक्तृत्व व्यापार का नाम ही जीवन है। जैसे वाष्प की स्वाभाविक शक्ति जान लेने पर भौतिक यन्त्रों द्वारा उसे अपने अनुकूल बनाकर रेल, जहाज आदि के संचालन का काम ले लिया गया है और अनादि-सिद्ध वैद्युत् प्रवाह के संचार को भौतिक-यन्त्रों द्वारा स्वानुकूल बनाकर अनेक काम

लिये जा रहे हैं, इसी प्रकार अग्नि सोम के प्राकृतिक प्रवाह को संकल्प बल से पिण्ड, तर्पण, हवन और ब्राह्मण-भोजन आदि वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा 'स्वधामय' बनाकर उससे लोकान्तरस्थ अपने सम्बन्धियों को तृप्त कर सकने की 'श्राद्ध' नामक आध्यात्मिक वैदिक पद्धति का आविष्कार भारतीय ऋषियों की देन है।

आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रपिण्ड को उजाड़ और जनशून्य ग्रह मानते हैं। चन्द्रकक्षा में पानी का सर्वथा अभाव नहीं तो अत्यधिक कमी अवश्य है। इसो कमी का अभाव पार्थिव जल राशि पर भी ज्वार और भाटे के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है जबकि समुद्र जल बल्लियों उछलकर चन्द्रमा की ओर आकृष्ट होता है। 'पितृलोक' चन्द्र कक्षा के उपरितन भाग में विद्यमान है इसलिए पितृगणों को जल की सर्वाधिक आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि वेद में पितरों के निमित्त वापी, कूप, तड़ाग और कुल्या आदि बनाने की बड़ी महिमा लिखी है। निर्धन व्यक्ति वेद की इस आज्ञा का पालन करने के लिए दश पांच ईंटों का छोटा-सा स्थान जिसे लौकिक भाषा में 'भौरखा' कहते हैं—बना देते हैं और उसके आगे हाथ भर का एक जलपूरित गढ्ढा जिसे 'जोहड़ी' कहते हैं—बना देते हैं। यह वैदिक प्रथा प्रायः सर्वत्र प्रचलित हैं। आधुनिक रीति से किसी माध्यम द्वारा पितृ आवाहन करने वाले परलोक-विद्याविशारदों का भी यहो अनुभव है कि पितृगण जल के बड़े इच्छुक रहते हैं। इसीलिए हमारे यहाँ सन्ध्या-वन्दन के अनन्तर 'तर्पण' को नित्यकर्म की भान्ति परिगृहीत किया है। सभी आस्तिक लोग अपने पितरों का नित्य तर्पण करते हैं और मृत्यु के अनन्तर अपनी सन्तान से इसी 'चुल्लू भर पानी' की बड़ी आशा रखते हैं।

शास्त्र में उल्लेख मिलता है कि यदि दुर्भाग्यवश पुत्र अर्थ-संकोच के कारण किंवा निगड़ग्रस्त जैसी भारी विपत्ति में फँसे रहने के कारण श्राद्ध तर्पण न कर सके तो उसे पितरों का स्मरण करते हुवे दक्षिण की ओर मुख ऊँचा करके अपनी असमर्थता पर दो आँसू ही बहा देने चाहिएँ, बस ! श्रद्धालु-आस्तिक पुत्र के इसी अनुष्ठान से पितृगण परितृप्त होकर आशीर्वाद देते हुए लौट जायेंगे।

श्राद्ध में गोग्रास और काक-श्वानबलि क्यों ?

पीछे कहा गया है कि सनातनधर्मी जहाँ अपने पितृ पितामह और प्रपितामह को श्राद्ध-तर्पण द्वारा परितृप्त करते हैं वहाँ वे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त अन्यान्य समस्त प्राणियों को भी अतृप्त नहीं रहने देते। तदनुसार पशुओं में सर्वोत्तम पशु गाय और सर्वाधम पशु कुत्ते को खिलाकर यावत्पशुसमाज को परितृप्त करते हैं। इसी प्रकार सर्वोत्तम प्राणी श्रोत्रिय ब्राह्मण और सर्वाधम प्राणी काक को खीर खिलाकर **'वसुधैव-कुटुम्बकम्'** का क्रियात्मक निदर्शन उपस्थित करते हैं। वेद कहता है कि—

(क) **यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ।** (अथर्व १८।२।१२)

(ख) **गोभ्यो नमः श्वभ्यो नमः काकेभ्यो नमः।**

(आह्निक कर्म)

अर्थात्—(क) हे यम ! तेरे मार्गरक्षक जो श्वान हैं (ख) गाय कुत्ते और काकों के निमित्त यह बलि है।

दक्षिणा क्यों ?

पोपों ने भी खूब दुहरा चक्र चलाया है, श्राद्ध के नाम पर

तर माल भी उड़ाते हैं और जाते हुए दक्षिणा के नामपर नकद नारायण से भी जेब गरम करते हैं।

महाशयों का यह प्रश्न ईर्ष्या और हसद से भरा है। न जाने क्यों वेदपाठी ब्राह्मणों के सम्मान को ये सहन नहीं कर पाते। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यद्यपि वे स्वयमपि अपने घर में जातकर्म, नामकरण, उपनयन और विवाह आदि संस्कारों के समय संस्कारकर्ता आर्यपुरोहित को दक्षिणा देते हैं। समाज के उत्सवों पर आए हुए आर्योपदेशकों को प्राप्त चंदे का आधा भाग सम्मिलित फीस, और वेदप्रचार के नाम पर नित्य कुछ देते हैं तथापि श्राद्धकालीन वेदोक्त दक्षिणादान उनके हृदय में शल्य की भान्ति बेतरह खटकता है।

वास्तव में कोई भी कर्म दक्षिणा के बिना सांगोपांग सम्पन्न नहीं हो सकता यह वेद की सुस्पष्ट उद्घोषणा है यथा—

दक्षिणावतामिदमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते, दक्षिणावन्तः प्रतिरंत आयुः॥

(ऋग्वेद २।१।१०।६)

अर्थात्—दक्षिणा प्रदान करने वालों के ही [आकाश में तारागण रूप] चमकीले चित्र हैं, दक्षिणा देने वाले ही द्यूलोक में सूर्य की भान्ति चमकते हैं, दक्षिणा देने वालों को अमरत्व प्राप्त होता है और दक्षिणा देने वाले ही दीर्घायु होकर जीवित रहते हैं।

धर्मशास्त्रों में दक्षिणारहित यज्ञ को सर्वथा निष्फल प्रकट किया है। जिस वेदवेत्ता ने पिण्डदान, तर्पण और हवन आदि

कृत्य मन्त्रपुरस्सर घण्टों तक करवाए हों उसे खाली हाथ लौटा देना अमानवता ही हो सकती है।

तीन पीढ़ी तक ही श्राद्ध क्यों ?

वेदादि शास्त्रों में—वसु आदित्य और रुद्र इन तीन देवताओं को क्रमशः पितृ पितामह और प्रपितामह का पोषक प्रतिनिधि माना है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यू नामक स्थानभेद से प्रकृति के सत्त्व रजः और तमः रूप त्रैत के कारण भी '**तिस्र एव देवताः।**' यह निरुक्त का अटल सिद्धांत है। ऐसी स्थिति में जबकि उक्त त्रैत में ही 'विश्वेदेवा' अन्तर्भूत हैं फिर अधिक की आशंका व्यर्थ। सो पितृपोषक देवत्रय के कारण पितरों का त्रैत भी सहैतुक है। विवाह में भी गोत्रोच्चारण में पितृ पितामह प्रपितामह इन तीनों का ही ग्रहण होता है। व्यावहारिक जगत् में जैसे कानूनन वल्दियत का उल्लेख आवश्यक है परन्तु संयोग-वश पिता पुत्र दोनों नामों की समानता अन्यत्र मिल जाने पर अन्यान्य उपायों से वास्तविक व्यक्ति का पता लगाना पड़ता है इसी भांति ब्रह्माण्डवर्ती अनेक लोकों के प्राणीसमूह में पितृ-लोकगत प्राणी का निर्दुष्ट पता लगने के लिए उसकी तीन पीढ़ी का वर्णन किया जाता है जिससे हम अल्पज्ञ प्राणियों के संकल्प से सर्वज्ञ भगवान् सुपरिचित होकर अभिमत पितृगणों को अक्षय तृप्ति प्रदान करें। शास्त्र कहता है कि—

(क) येन पितुः पितरो ये पितामहास्तेभ्यः पितृभ्यो-नमसा विधेम। (अथर्व १८।२।४९)

(ख) त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिंडः प्रवर्तते ।
चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नापि विद्यते ।।
(मनु: ९।१८६)

अर्थात्—(क) पितृ पितामह प्रपितामहों को हम श्राद्ध से तृप्त करते हैं (ख) पिता, पितामह और प्रपितामह इन तीनों का श्राद्ध तर्पण पिंडदान होता है, चौथा श्राद्धकर्ता यजमान होता है, यहाँ पांचवें की कोई सम्भावना ही नहीं है।

इतिहास ग्रन्थों में श्राद्ध

वेद और धर्मशास्त्र के प्रमाणों द्वारा तो 'श्राद्ध' कर्म का निरूपण किया जा चुका है अब उसकी सदाचार-गृहीतता भी प्रकट की जाती है। आदिकाव्य 'वाल्मीकीयरामायण' में पदे-२ श्राद्ध का उल्लेख मिलता है यथा—

(क) रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ।
(अयोध्याकाण्ड १४।१६)

(ख) उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ।।
प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ।।
(वा० रा० अयो० १०।२७–८)

(ग) प्रगृह्य तु महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् ।
दिशो याम्यामभिमुखो रुदन्वचनमब्रवीत् ।।

एतेन राजशार्दूल ! विमलं तोयमक्षयम् ।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥
ततः चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह ।
ऐंगुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ॥
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन्वचनमब्रवीत् ।
इदं भुक्ष्व महाराजन् प्रीतो यदशना वयम् ।
यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः ॥

(अयोध्या० १०३।२६-६०)

अर्थात्—(क) [राजा दशरथ आज्ञा देते हैं कि यदि राम का वनगमन भरत-सम्मत हो तो वह मेरा मृतक-संस्कार न करे किन्तु] मेरे मरने पर राम ही मेरा श्राद्ध-तर्पण करे (ख) [भरत ने चित्रकूट में पहुँचने पर राम से कहा] हे नरश्रेष्ठ ! अब उठो और पिता जी का तर्पण करो ! मैं और यह शत्रुघ्न तो पहिले कर ही चुके हैं। हे राघव ! प्रियजन जो कुछ देते हैं वह पितृलोक में पितरों के लिए अक्षय होता है ऐसा शिष्टजन कहते हैं। सो आप तो पिता जी के अतीव प्रिय पुत्र हो (ग) तब भगवान् राम ने जल से भरी हुई अंजलि थाम कर दक्षिण दिशा की ओर देखते हुए रोते हुए यह वचन कहा कि—हे राजाधिराज पितः ! मेरा प्रदान किया हुवा यह विशुद्ध अक्षयजल पितृलोक में पधारे हुवे आपको आज प्राप्त हो। तब सब भाइयों सहित तेजस्वी राम ने पिण्डों का निर्वाप किया। गोंदनी और बेर के गुद्दे से बनी पिन्नी आस्तृत कुशाओं पर रखकर अतीव दुःखित राम ने रोते हुवे यह वचन

कहा कि 'हे महाराज ! आप प्रसन्न होकर जो हम खाते हैं उसे खाइये ! क्योंकि संसार में पुरुष जो कुछ खाता है वही उसके देवता खाते हैं ।'

इसी प्रकार (आरण्यकांड सर्ग ३३ में) राम द्वारा जटायु का तर्पण-श्राद्ध, (किष्किन्धाकाण्ड सर्ग २३ में) सुग्रीव द्वारा बाली का श्राद्ध-तर्पण, और (युद्धकांड सर्ग १११ में) विभीषण द्वारा रावण का तर्पण-श्राद्ध वर्णित है । आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थी विद्वान् स्वर्गीय श्री पं० राजाराम शास्त्री (प्राध्यापक द० ऐ० वै० कालेज—लाहौर) ने अपनी वाल्मीकीय रामायण की हिन्दी टीका में उपर्युक्त प्रसंग को ज्यों का त्यों व्याख्यात किया है, जिसे पढ़कर दयानन्दी सज्जन अर्थ अनर्थ की शंका को भी निवृत्त कर सकते हैं ।

रामायण के बाद दूसरा इतिहास ग्रन्थ महाभारत है उसमें भी पदे २ श्राद्ध का उल्लेख मिलता है यथा—

ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः ।
ददुः श्राद्धं ततः पाण्डोः स्वधामृतमयं तथा ॥१॥

कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः ।
रत्नौघान् विप्रमुख्येभ्यस्तथाग्रामवरांस्तथा ॥२॥

(महाभारत आदिपर्व १२८)

अर्थात्—(महाराज पांडु के मर जाने पर) कुन्ती, धृतराष्ट्र और भीष्म ने सब बान्धवों सहित, पांडु का श्राद्ध किया और स्वधामृतमय पिंड तर्पण आदि क्रियायें कीं । हजारों ब्राह्मणों

और अपने भाई-बान्धवों को भोजन खिलाकर श्रोत्रिय ब्राह्मणों को अनेक रत्न और गांव प्रदान किए।

श्रीमद्भगवद्गीता में 'लुप्तपिण्डोदकक्रिया' वाले मृतपितरों का उत्तम लोकों से गिर जाना' प्रसिद्ध है। 'चरक संहिता' (चिकित्सास्थान १४।२०) में लिखा है कि—

अन्नाभिलाषारोचका विपाकपरीतं
पितृभिरुन्मत्तं विद्यात् ।

अर्थात्—जिसे अन्न खाने की बहुत अभिलाषा=रुचि रहती हो परन्तु उसके पचाने की क्रिया ठीक न हो पाती हो उसे पितृपीड़ा से उन्मत्त समझना चाहिए।

'सुश्रुत-संहिता' (अध्याय ६०) में लिखा है कि—

प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेसु पिण्डान् तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिभूतः ।

अर्थात्—पितृग्रहाभिभूत व्यक्ति के लिए अन्यान्य औषध्योपचार के अतिरिक्त आस्तृत दर्भों पर प्रेतों के लिए पिंडदान भी करवाना चाहिए।

पाणिनीय अष्टाध्यायी (१।४।२३) में और उसके महाभाष्य में '**श्राद्धाय निगर्हते**' सूत्र पर कैय्यट ने श्राद्ध-निन्दक को 'नास्तिक' प्रकट किया है।

कहना न होगा कि उक्त ग्रन्थ जहां संस्कृत वाङ्मय में अतीव प्रामाणिक और उच्चकोटि के माने जाते हैं वहां वर्तमान गवेषकों की दृष्टि में भी ये ईसा के जन्म से ५ शताब्दी पूर्व प्रणीत और अपने विषय के अनन्य ग्रन्थ स्वीकार किए जाते हैं।

ऋषिपञ्चमी की कथा से श्राद्धखण्डन !

कई शास्त्रार्थों में प्रतिवादियों के जब सब आक्षेपों के परखचे उड़ा दिए गए तो अन्त में 'डूबते को तिनके का सहारा' वाली लोकोक्ति के अनुसार उन्होंने 'ऋषि-पञ्चमी कथा' के पौराणिक उपाख्यान द्वारा ही छल प्रपञ्च से मृतश्राद्ध के खण्डन का दुष्प्रयत्न किया। कहा गया कि 'ऋषिपञ्चमी की कथा में लिखा है कि एक ब्राह्मण का पिता मरकर पापवश बैल बन गया और माता मरकर कुतिया बन गई। ये दोनों अपने पुत्र के घर में रहते थे। जब उक्त दोनों का श्राद्ध दिन आया तो खूब तरमाल पके, परंतु कुतिया ने भोजन उच्छिष्ट कर दिया। इससे उसपर खूब डंडे बरसे। दुबारा भोजन पकाकर ब्राह्मणों को जिमाया गया, परंतु इस आडम्बर में बैल को चारा डालना भी स्मरण न रहा। वह दिन भर भूखा मरा ! रात को बैल और कुतिया मिलकर अपना-अपना दुःख रोने लगे। बैल ने कहा—आज बेटे ने हमारे श्राद्ध की धूमधाम में खूब माल पकाए परन्तु मैं तो चारे से भी दिन भर भूखा मरा। कुतिया ने कहा मेरी तो मारे डण्डों के पीठ ही तोड़ डाली। अभी तक रीढ़ की हड्डी बुरी तरह चसक रही है।' सो यदि मृतात्माओं को पुनर्जन्म के बाद श्राद्ध मिलता तो यह कुतिया और बैल भूखे क्यों मरते ? इस पौराणिक कथा से ही सुस्पष्ट सिद्ध है कि श्राद्ध का पाखंड व्यर्थ है।'

वास्तव में उक्त कथा श्राद्धविधि की परवाह न करने पर कितना बुरा परिणाम निकल सकता है इस तथ्य को व्यक्त करने वाली है। जो ब्राह्मण के पिता माता आज कुतिया और

बैल बने हुए हैं पूर्वजन्म में ये भी ब्राह्मण-दम्पति थे। जिस दिन इनके पिता का श्राद्ध दिन आया तो ब्राह्मणी संयोगवश ऋतुमती होकर चौथे दिन का स्नान न कर पाई थी, तथापि उसने हठात् निमन्त्रित ब्राह्मणों के निमित्त स्वयं भोजन पका डाला। पति महाशय यह सब कुछ जानते हुए भी उपेक्षा से मौन रहे। स्वयं पाप करना और मौनभाव से उसका समर्थन करना दोनों ही बराबर हैं। इस पाप के कारण उक्त दम्पति को मृत्यु के अनंतर कुत्ते और बैल की दुर्योनि प्राप्त हुई।

अब उनके पुत्रों की कथा सुनिए। श्राद्ध के दिन पुत्रवधू ने पायस आदि भोजन बनाया परंतु वह ज्यों ही किसी गृहकार्य में में संलग्न हुई तो एक सर्प ने आकर पकी-पकाई खीर में गरल उड़ेल दी। कुतिया यह सब कृत्य देख रही थी। उसने सोचा कि 'अब यदि ब्राह्मण आकर इस विषाक्त खीर को खाएंगे तो मर जाएँगे' अतः उसने ब्राह्मणी के आने पर उसके हटाते-हटाते बलाद् खीर के बतन को मुँह लगा दिया और चौंका भ्रष्ट कर दिया। पुत्र और पुत्रवधू को सांप की गरल वाला रहस्य तो विदित नहीं था अतः ठीक समय पर भोजन भ्रष्ट हो जाने के दुःख से उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक था। जब तक पुनः चौंका-चूल्हा चढ़ाकर भोजन पका तो श्राद्धकाल समाप्त हो गया, प्रायः सायंकाल की आसुरीवेला आ पहुँची। और वह तिथि भी समाप्त हो गई। निमन्त्रित ब्राह्मणों को खिलाना अनिवार्य था परंतु श्राद्ध में जो-जो नियम पालने आवश्यक थे उनमें से किसी एक का भी पालन न हो पाया। अपराह्न-काल, अमावस्या तिथि, त्वरा क्रोधरहित श्राद्धकर्ता तथा शान्त-चित्त श्राद्धभोक्ता की आवश्यकता थी, परन्तु दुर्भाग्यवश यहाँ

उनमें से एक भी वस्तु विद्यमान न थी। ऐसी स्थिति में श्राद्ध का निष्फल होना स्वाभाविक था। [उक्त कथा में आगे सब छिद्रों के निवारणार्थ प्रायश्चित्तस्वरूप 'ऋषि-पञ्चमी' के व्रत और उद्यापन की करणीयता प्रकट की गई है] अब पाठक सोचें कि इस कथा से मृतश्राद्ध का खण्डन होता है किंवा श्राद्ध के वेदोक्त विधि-विधान के प्रति अतीव सावधानी बर्तने की शिक्षा मिलती है।

हम कई बार पीछे कह आए हैं और पुनः डिंडिम घोषेण कहते हैं कि ब्राह्मण को यथातथा खिलाने मात्र से पुण्यप्राप्ति भले ही हो सकती है, परंतु मृतात्मा की परितृप्ति के लिए तो विधिवत् क्रिया सम्पादन की नितांत आवश्यकता है। श्राद्ध एक वैज्ञानिक कृत्य है इसमें विधि और श्रद्धा दोनों पहिये बराबर बराबर लुढ़केंगे तभी अभिमतफल मिल सकता है। पाठक यदि ध्यानपूर्वक हमारे पूर्व उद्धृत श्राद्धविषयक प्रमाणों का मनन करेंगे तो हमारी इस विवेचना का प्रतिबिम्ब उन्हें उनमें झलकता अवश्य दीख पड़ेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड का उपबृंहण करने के अनन्तर अब अवसर प्राप्त उपासना काण्ड का उपबृंहण किया जाता है। उपासना का बहुत-सा रहस्य पीछे इसी अध्याय में आ चुका है प्रतीकोपासना का वैज्ञानिक निरूपण भी बहुत कुछ हो चुका है। यही प्रतीकोपासना अपनी चरम कोटि में पहुँचकर अष्टाङ्ग-योग की आधार भूमिका बन जाती है, जिसका निरूपण यहाँ किया जाता है।

अष्टाङ्ग योग विचार

पातञ्जल योगदर्शन में और तत्तद् प्रकीर्ण ग्रन्थों में योग का विस्तृत वर्णन विद्यमान है। वेद का उपनिषद् भाग उक्त विषय का उद्गम स्रोत है। यद्यपि आज भी भारत में योगियों का सर्वथा अभाव नहीं है, योग के बहिरङ्ग साधन यम, नियम आसन और प्राणायाम में सफलताप्राप्त साधकों का और हठ-योग की नेति, धोती, भस्त्रिका, खेचरी मुद्रा एवं बज्रोली आदि क्रियाओं में अधिकार रखने वाले महात्माओं का भी कभी-कभी परिचय मिल ही जाता है। सिद्धियों तक पहुँचे हुए सन्तों की भी परम्पराश्रुत कीर्ति-गाथाएँ आध्यात्मिक-पत्रों में छपी दीख पड़ती हैं और क्वाचित्क प्रत्यक्षदर्शियों के भी दर्शनों का सौभाग्य हो ही जाता है। तथापि भारत को यह प्रधान विद्या आज नाम-मात्र शेष रह गई है यह एक कटु सत्य है। आज योगी याज्ञ-वल्क्य की सेवा को सौभाग्य मानने वाले राजा जनक से रईसों का सर्वथा अभाव है। संसार की बढ़ती जनसंख्या ने कन्दमूल-फलदायक वनों की इतिश्री कर डाली है। अब **'फलं स्वेच्छालभ्यम्'** और **'दिशन्ति भिक्षां, नो वाङ्घ्रिपाः ?'** इत्यादि प्राचीन उक्तियें पुरायुग के खण्डहरों की भान्ति केवल स्मारकमात्र अवशिष्ट रह गई हैं। योगीजनोपयोगी गव्य निर्मित **'स्निग्धमुष्णञ्च भोजनम्'** का सर्वथा अभाव है। तब योग साधना में कोई प्रवृत्त हो यह कैसे सम्भव हो सकता है? हम निराशावादी नहीं हैं तथापि एक नग्न सत्य पर परदा नहीं डाला जा सकता है। इसलिए आवश्यकता है कि कुछ साधन-सम्पन्न लोग भगवान् के भरोसे

पर और अपने ही बलबूते पर इस क्षेत्र में अवतीर्ण होकर साधना में प्रवृत्त हों, इससे जहां वे अपने कल्याण का पथ परिष्कृत कर सकने में समर्थ होंगे वहाँ भारत की एक प्रधान विद्या के पुनरुद्धारक होने का पुण्य प्राप्त कर सकेंगे। एतदर्थ हम यहाँ इस उपेक्षित विषय का भी संक्षिप्त निरूपण अवश्य करेंगे।

योग की रूपरेखा के मूल सूत्र

(क) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

(ख) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

(ग) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधयोऽष्टौ योगाङ्गानि।

अर्थात्—(क) चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' कहा जाता है (ख) योग की दशा में द्रष्टा=परमात्मा अपने यथाथ रूप में प्रकट हो जाता है (ग) यम [१. अहिंसा, २. सत्य, ३, अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. दया, ६. आर्जव, ७. क्षमा, ८. धैर्य, ९. मिताहार और १०. शौच ये दश यम हैं] नियम [१. तपः, २. सन्तोष, ३. आस्तिक्य, ४. दान, ५. ईश्वरपूजन, ६. सिद्धान्तश्रवण, ७. लज्जा, ८. बुद्धि, ९. जप और १०. व्रत ये दश नियम हैं] आसन [चौरासी लाख हैं जिनमें चौरासी प्रसिद्ध हैं। तदन्तर्गत भी सिद्ध, स्वास्तिक, पद्म, भद्र, आदि तेंतीस अति सिद्धिदायक हैं] प्राणायाम [रोचक, कुम्भक और पूरक तीन प्रकार का है] प्रत्याहार [शब्द आदि पांच विषयों से मन का वापिस लौटाना] योग के आदिम चारों सोपान

बहिरङ्ग साधन कहे जाते हैं। यम और नियमों के सेवन से साधक योग का अधिकारी बन जाता है और आसनों से शारीरिक स्थैर्य में परिपक्व हो जाता है। प्राणायाम से प्राणशक्ति पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा प्रत्याहार से मन का निरोध कर लेता है। यह पंचम सोपान बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधना-नियोजक होने से उभयविध है। धारणा—[बहिर्जगत् से विमुख होकर अन्तर-राज्य में स्थिर हो जाना] योग का छठा सोपान है। ध्यान—[ध्याता, ध्यान और ध्येय इस त्रिपुटी के अतिरिक्त अन्तःकरण में निर्विषयता की स्थिति को कहते हैं] यह योग का सप्तम सोपान है। समाधि—[ध्याता का ध्यान में और उक्त दोनों का ध्येय में लय हो जाना] यही योग का अंतिम अष्टम सोपान है, जहां पहुँचने पर योगी **'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'** पद को प्राप्त हो जाता है।

अधिकारी भेद से मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग चार प्रकार का योग है। योग के अङ्गों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र न्यूनाधिक संख्या का भी अन्तर पाया जाता है, परन्तु इससे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि अन्तर्भाव और विश्लेषण के तारतम्य का ही तादृश परिणाम है।

अणिमा आदि आठ प्रधान सिद्धियें और दूर श्रवण-आदि सब मिलाकर तेंतीस सिद्धियें भगवद्दर्शन में विघ्न ही मानी गई हैं, सच्चा योगी इधर प्रवृत्त नहीं होता।

गुदा और लिङ्ग के मध्य में वर्तमान स्थान को 'मूलाधार' कहते हैं और ब्रह्मरन्ध्र स्थान को 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। योग

की परिभाषा के अनुसार मूलाधार से बहत्तर हजार छोटी-बड़ी धमनियें समस्त देह में परिव्याप्त हैं, उनमें ईड़ा पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियें प्रधान हैं। ईडा मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) के बाएँ भाग में चन्द्रतत्त्व प्रधान नाड़ी है और पिंगला दाएँ भाग में सूर्यतत्त्व-प्रधान नाड़ी है। सुषुम्ना मेरु दण्ड में ठीक बीचोबीच चन्द्र-सूर्य-अग्निरूपिणी नाड़ी है।

ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार चक्र से उत्थित होकर 'स्वाधिष्ठान मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध' इन चारों चक्रों को आवेष्टित करती हैं। ये अन्तिम चक्र 'आज्ञाचक्र' के अन्त तक पहुँचकर जब ईडा पिंगला धनुष की भान्ति मुड़कर भ्रूमध्य के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में इकट्ठी होकर नासारन्ध्र में प्रवेश करती हैं, उसी स्थान में मेरुदण्ड मध्यवर्तिनी सुषुम्ना भी इनसे सङ्गत हो जाती है।

योगशास्त्र में इस स्थान को गङ्गा-यमुना और सरस्वती का सङ्गम स्थान कहा गया है। मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्य्यन्त जो षट्-चक्रों का यौगिक वर्णन है वे चक्र सुषुम्ना में होने वाली छः वायव्य ग्रन्थी ही समझनी चाहिएँ।

योग को पांचवीं भूमिका में पहुँच जाने पर योगी को नाद श्रवण होने लगता है। नाद के अधिकाधिक सुस्पष्ट हो जाने पर छठी भूमिका में ज्योतिः का विकास होने लगता है। वह ज्योतिः क्रमशः केन्द्रित होते होते 'विन्दु' रूप में परिणत हो जाती है, यही धारणा की सिद्धावस्था है। प्रकृति पुरुषात्मक इस बिन्दु में ही योगी को आत्मदर्शन होता है। जो योग का अन्तिम ध्येय है।

यह विषय केवल शब्द-प्रतिपाद्यमात्र नहीं, किन्तु क्रिया में

आने पर साधक द्वारा भी अनुभवैकवेद्य ही है, अतः पाठक को इसमें रूक्षता का अनुभव होना स्वाभाविक है, तथापि उपासना का सर्वोच्च अङ्ग होने के कारण इसके उल्लेख बिना यह ग्रन्थ अपूर्ण ही रहता, अतः हमने अनधिकारी होते हुवे भी इस का यथामति परिचय देने का प्रयास किया है।

भगवत् शरणागति—प्रपत्ति

नवधाभक्ति का अन्तिम सोपान 'आत्म-निवेदन' है जिसका अपर नाम 'भगवत् शरणागति' किंवा 'प्रपत्ति' है। ज्ञान की पराकोटि 'स्व-स्वरूपावस्थान' भी आत्मनिवेदन का ही अन्यतम प्रकार है।

उक्त शब्द कहने में पृथक् २ जान पड़ते हैं और कुछ अविशेषज्ञ आलोचकों ने इस शाब्दिक पृथक्ता को तूल देकर 'ज्ञान' और 'भक्ति' को स्वरूपतः विभिन्न साधनामार्ग बतलाने का भी प्रयत्न किया है तथा एक पक्ष ने मुक्ति का साक्षात् साधन 'ज्ञान' और दूसरे पक्ष ने 'भक्ति' को सिद्ध करने का भी साहस किया है, परन्तु वास्तव में शास्त्र की दृष्टि में ज्ञान की परिपाक अवस्था का नाम ही भक्ति है और भक्ति की उत्कृष्ट दशा का नाम ही 'ज्ञान' है। कोई अभक्त ज्ञानी नहीं हो सकता और कोई अज्ञानी भक्त नहीं बन सकता। इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने मानस रामायण में ज्ञान और भक्ति के कल्पित भेदवाद को दूर करने के लिये अपना सुस्पष्ट मत लिखा है कि—

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

वास्तव में जहाँ ज्ञान को ही मुक्ति का एकमात्र साधन प्रकट किया है वहाँ 'ज्ञान' शब्द का तात्पर्य तद् तद् वस्तुओं का जान लेना मात्र अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि लोक में 'अन्न' के जान लेने मात्र से क्षुत् निवृत्ति नहीं होती और 'जल' के जान लेने मात्र से पिपासा शान्त नहीं होती, किन्तु उक्त दोनों पदार्थों के विधिवत् सेवन से ही क्षुत्पिपासा-निवृत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिए मुक्ति-जनक ज्ञान का अभिप्राय **'अस्मात् पदाद् अयम् अर्थो बोधव्यः'** इतना मात्र शक्तिग्रह नहीं है अपितु ज्ञाननिष्ठ के लिए जड़-चेतनात्मक उभयविध प्रपञ्च के विश्लेषणात्मक परिज्ञान के साथ २ **'वासुदेवः सर्वमिति'** की दृढ़ धारणा को बद्धमूल बनाकर स्थितप्रज्ञ होने की भी नितान्त आवश्यकता है।

इसी प्रकार जहां 'भक्ति' को ही मुक्ति का अनन्य साधन बताया गया है वहां भी 'भक्ति' शब्द का अर्थ केवल 'भजनम् भक्तिः' के अनुसार भगवत्-प्रतिमा की परिचर्य्यामात्र नहीं है, अपितु भक्त के लिए **'सियाराममय सब जग जानी'** की दृढ़ धारणा को बद्धमूल बनाकर भगवद्विग्रहरूप समस्त विश्व को **'प्रणमेदनन्यः'** की भी नितान्त आवश्यकता है।

यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा के चालीसवें अध्याय में 'सम्भूति' और 'असम्भूति' दोनों में से किसी एक की पृथक् उपासना का परिणाम पतन प्रकट किया गया है। और **'उभयँ सह'** पर जोर देते हुवे दोनों समान चक्रों की प्रगति से ही साधना-शकट को मुक्तिपथ में अग्रसर करने का आदेश दिया है। तथा— **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते'** के अनुसार अविद्या से मृत्यु को पार कर लेने पर ही 'विद्या द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति

की घोषणा की है। ऐसी स्थिति में जो लोग अपनी साधना की गाड़ी को केवल ज्ञान या भक्ति के एक पहिए के सहारे लुढ़काकर अभीष्ट स्थान तक पहुँचजाने की आशा करते हैं, वे कितने व्यामोह में हैं यह वेद के उपर्युक्त वर्णन के चिन्तन से सुस्पष्ट हो जाता है। इसलिए मुक्ति का अनन्य हेतु न शक्ति-ग्रहात्मक लौकिक ज्ञान है और नांही भजनात्मक लौकिकी भक्ति ही है, अपितु जड़चेतनात्मक उभयविध प्रपञ्च का भागवतत्व निश्चित करके आत्मसमर्पण करना ही मुक्ति का अनन्य द्वार है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'—इसके अतिरिक्त अन्य कोई भगवत् प्राप्ति का उपाय है ही नहीं।

पूर्वाचार्य्यों ने भक्ति और ज्ञान के इस सामंजस्य का अपर नाम 'भगवत् शरणागति' किंवा 'प्रपत्ति' इसलिए भी नियत किया है कि ज्ञान और भक्ति दोनों तत्त्व स्वरूपतः अभिन्न होते हुवे भी शब्दभेद के कारण साधकों के मन में कल्पित भेद-भावना का आधार बन सकते हैं। अतः उक्त दोनों तत्त्वों का संग्राहक एक ही ऐसा शब्द नियत करना आवश्यक था जिसकी परिभाषा में दोनों तत्त्वों का ही सुतरां समावेश हो जाए। तद-नुसार—

भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद् भगः प्रकृतिरुच्यते।

अर्थात्—'भ'=वृद्धि को 'ग'=प्राप्त होने वाली प्रकृति ही 'भग' है और उसके नियामक होने के कारण श्रीमन्नारायण ही 'भगवान्' शब्द वाच्य हैं। उस कर्तुम्-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुम् प्रभु को ही सर्वस्व मानकर आत्मसमर्पण करना, सर्वात्मना प्राप्त करना 'प्रपत्ति' है।

शास्त्रीय-स्वरूप

(क) नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । (कठोप.)

(ख) सा तस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा, अमृतस्वरूपा च । (नारद भक्तिसूत्र)

(ग) सा परानुरक्तिरीश्वरे । तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् । (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र)

(घ) मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यु दाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।
(श्रीमद्भागवत)

(ङ) ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् । (श्रीमद्भगवद्गीता)

अर्थात्—(क) भगवद्दर्शन व्याख्या से प्राप्त नहीं हो सकता न बुद्धि के आधिक्य से तथा नां ही अनेकों ग्रन्थों को सुनने सुनाने से ही वह प्राप्त हो सकता है, किन्तु श्रीमन्नारायण जिस भी प्रपन्न भक्त का स्वयं वरण करें वही भगवत्प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है (ख) भगवान् के प्रति उत्कृष्ट प्रेम ही भक्ति शब्द वाच्य है, जो जीव को अमृतपद प्रदान करता है (ग) ईश्वर के

प्रति परम अनुरक्ति ही भक्ति है। जो जीव तादृश भक्ति में स्थिर हो जाता है वह अमृतरूप परमपद का अधिकारी हो जाता है। (घ) [भगवान् श्रीमुख से आज्ञा करते हैं कि] मेरे गुणों का श्रवण मात्र करते ही मुझ पुरुषोत्तम में समुद्रगामिनी गङ्गा की अविरत धारा की भान्ति चित्त की जो निर्हैतुकी व्यवधान-रहित गति है उसी को सकल हेयगुण-वर्जित 'भक्तियोग' कहते हैं। (ङ) जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं वे भक्त मुझ में निष्ठ हो जाते हैं और मैं अन्तर्यामी रूपेण उनमें परिनिष्ठ हो जाता हूँ।

भगवद्गीता का स्वारस्य—प्रपत्ति

वेदों का सार उपनिषद् और उपनिषदों का सार श्रीमद्-भगवद्गीता है—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसीलिए '**सर्वशास्त्र-मयी गीता**' यह शास्त्रीय प्रवाद सर्ववादी-सम्मत है। श्रीमद्भग-वद्गीता में यद्यपि कर्मयोग, सांख्ययोग, उपासनायोग, ध्यान-योग और ज्ञानयोग आदि-आदि सभी योगों का निरूपण विद्यमान है तथापि गीता का हृदय शरणागति किंवा प्रपत्तियोग है।

मीमांसकों ने ग्रन्थ का तात्पर्य निर्णय करने के साधनों में—(१) उपक्रम (२) उपसंहार और (३) अनुवृत्ति ये तीन साधन मुख्यतया स्वीकार किये हैं। अर्थात्—ग्रन्थ का आरम्भ किन शब्दों में होता है, और उपसंहार=परिसमाप्ति किन शब्दों में होती है तथा बीच-बीच में भूयोभूयः किन शब्दों को आम्रेडित किया गया है बस ! ये तीन बातें ग्रन्थ का हृदय प्रकट करने

में अपरिहार्य हेतु हैं। अब इस निकष पर गीता को कसकर देखना चाहिये।

यूँ तो गीता का आरम्भ 'धृतराष्ट्र उवाच' से होता है परन्तु वास्तव में समस्त प्रथम अध्याय और दूसरे अध्याय के छठे श्लोक तक का वर्णन तात्कालिक सामयिक स्थिति और गीता की उपक्रमात्मक पृष्ठ-भूमिका तथा भगवान् का एक लौकिक मित्र की भान्ति अर्जुन को उचित परामर्श-मात्र कहा जा सकता है, तभी तो दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन कहता है कि—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसंमूढचेताः।

अर्थात्—(हे भगवन् !) बुद्धि की कृपणतारूप दोष के कारण मेरा शौर्य्यत्तेजो धृति-सम्पन्न क्षत्रियस्वभाव बदल गया है, धर्म्माधर्म्मनिर्णय में मेरा चित्त सर्वथा मूढ़ हो गया है इसलिये मैं आपको (स्वकर्तव्य) पूछता हूँ।

गीतापाठी जानते हैं कि युद्ध में अर्जुन एक 'रईस' की भान्ति रथी है और श्रीभगवान् भक्तिवश आज्ञाकारी सेवक की भान्ति 'साईस' बने हुवे हैं। अर्जुन ने स्वामियों के स्वर में ज्यों ही आदेश दिया कि—

'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत !'

अर्थात्—ऐ अच्युत ! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरा रथ खड़ा करो। भगवान् ने तत्काल अविलम्ब हुक्म की तामील की। परन्तु उपर्युक्त 'कार्पण्य' आदि श्लोक में अर्जुन अपनी बौद्धिक निर्बलता और किङ्कर्तव्यविमूढ़ता को स्पष्ट स्वीकार करता हुवा कर्त्तव्योपदेश चाहता है, परन्तु भगवान् मौन हैं, कुछ बोलते ही नहीं। अर्जुन भगवान् की चुप्पी पर चकित होकर पुनः बोला—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।

अर्थात्—(हे प्रभो !) जो मेरे लिये कल्याणकारी बात हो सो निश्चितरूपेण कहिये ।

भगवान् फिर भी चुप रहे। उन्होंने मन में विचार किया कि मैं यहां सारथ्य करने आया हूँ, गुरु बनकर उपदेश देने नहीं । रईस को सईस कभी उपदेश दे नहीं सकता । तत्त्वोपदेश गुरु शिष्य सम्प्रदाय पद्धति से ही देय और ग्राह्य हो सकता है, मैत्रीपूर्ण परामर्श तो मैं अब से पूर्व दे ही चुका हूँ, सो जब तक अर्जुन साम्प्रदायिक प्रणाली से पेश नहीं आता तब तक तत्त्वोपदेश नहीं दिया जा सकता !

अब तो अर्जुन भगवान् के मौनावलम्बन पर अत्यधिक विचलित हो उठा और विनयपूर्वक बोला—

शिष्यस्ते अहम्...

अर्थात्—(हे गुरो !) मैं आपका शिष्य हूँ (आप मुझे शिक्षा दीजिये !) भगवान् फिर भी चुप रहे, और मन ही मन अर्जुन की अवसरवादिता पर मुस्कराने लगे। अहो ! ये संसारी जीव अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए कैसे-कैसे प्रपञ्च रचते हैं। अर्जुन जब किंकर्तव्य-विमूढ़ हुवा तो झूठमूठ मेरा वाचिक शिष्य बनकर अपना काम निकालने को हाथ-पांव मारने लगा। भला। इससे कोई पूछे कि तुम मेरे शिष्य किस दिन बने हो ? मुझसे कब, कौन दीक्षा ग्रहण की है ? क्या वाणी से कह देने मात्र पर कोई किसी का शिष्य बन जाता है ? फिर केवल तुम्हीं तो मेरे शिष्य होने की मिथ्या बात अपने मुख से कह रहे हो।

मुझसे भी पूछ देखा है कि मैं भी तुम्हारा गुरु बनने को प्रस्तुत हूँ या नहीं ! इत्यादि,

अब तो अर्जुन को भगवान् का यह मौन धारण असह्य हो गया। वह अतीव आतुर होकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक गद्गद कण्ठ से बोला—

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।

अर्थात्—(हे देवाधिदेव !) मैं आपकी शरण में आ पड़ा हूँ, मुझे शिक्षा दीजिए।

बस ! जब अर्जुन के मुख से 'प्रपन्नम्' शब्द निकला तब तो भगवान् ने सोचा कि अब मौन धारे काम न चलेगा। अब तो शरणागत अर्जुन को तत्त्वोपदेश देना ही पड़ेगा। संसार के अन्यान्य सभी सम्बन्ध उभयपक्ष की सम्मति से ही स्थिर होते हैं, जैसे किसी की लड़की और किसी का लड़का, जब दोनों पक्षों के अभिभावक 'समधि'=समानबुद्धि वाले हुवे कि दाम्पत्य सम्बन्ध स्थिर हो गया। इसी प्रकार जब गुरु और शिष्य दोनों ने उभय सम्मति से 'सह नाववतु' पढ़ा कि गुरु चेला बन गए, परन्तु शरण्य और शरणागत के 'प्रपत्ति' रूप सम्बन्ध में उभय-पक्ष की सहमति अपेक्षित नहीं। जब किसी विपन्न आतुर को आत्मत्राण का अन्य कुछ उपाय न सूझा और मरने लगा तो एकमात्र अमुक को अपना रक्षक मानकर '**तवास्मि, शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' कहकर शरण में आ पड़ा। आतुर को इतनी फुरसत कहां कि वह पहले शरण्य को टेलीफून पर पूछकर या प्रार्थनापत्र फार्म भरकर शरण में आने की स्वीकृति ले ! ऐसी दशा में प्रपत्ति ही एकमात्र ऐसा सम्बन्ध है जो कि शरण्य के बिना पूछे ही

शरणागत अकेला स्थापित कर लेता है । तथास्तु, अतः भगवान् के चुप रहने का अब कोई कारण अवशिष्ट न रहा तो 'प्रपन्नम्' शब्द के बाद ही गीता में 'श्रीभगवानुवाच' अर्थात्—भगवान् बोले—यह लिखा गया है ।

पाठक खूब मनन कर सकते हैं कि जो भगवान् उपर्य्युक्त श्लोक की वाक्यरचना के अनुसार अर्जुन के बार २—'पृच्छामि' 'ब्रूहि' और 'शाधि' कहने पर भी टस से मस न हुवे वही शरणागत-वत्सल भगवान् 'प्रपन्नम्' शब्द सुनते ही सब उपनिषदों के अमृतमय दुग्ध को भर २ कटोरे अपने हाथों अर्जुन को पिलाने के लिए कटिबद्ध हो गए और तब तक शान्त न हुए कि जब तक स्वयं अर्जुन ने '**करिष्ये वचनं तव**' नहीं कहा। इससे स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता का वास्तविक उपक्रम=आरम्भ 'प्रपत्ति' से होता है ।

भगवान् ने गीता में सांख्य, कर्म, उपासना, ज्ञान आदि सभी योगों का विशद निरूपण किया परन्तु अठारहवें अध्याय के ६६ वें श्लोक में उपसंहार करते हुवे 'प्रपत्तियोग' से प्रारब्ध अपने तत्त्वोपदेश का पर्य्यवसान भी 'प्रपत्तियोग' में ही किया । भगवान् बोले—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज !
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

अर्थात्=[हे अर्जुन !] सब धर्म्मों को छोड़कर [सर्वोपरि प्रायश्चित्तभूत] मेरी अनन्य शरण में आ ! मैं तुझे सब पापों से उन्मुक्त कर दूँगा, चिंता मत कर !

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का उपसंहार भी 'प्रपत्ति' में

पर्य्यवसित है। गीता के बीच २ में तो पदे २ भक्ति-प्रपत्ति शरणागति की ही अनुवृत्ति का उल्लेख विद्यमान है यथा—

(क) ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् (४।११)

(ख) मद्भक्ता यान्ति मामपि (८।२३)

(ग) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य··तेऽपि यान्ति परां गतिम् (९।३२

(घ) यो मद्भक्तः स मे प्रियः (१२।१४।१६)

(ङ) तमेव शरणं गच्छ। स्थानं प्राप्स्यति शाश्वतम् (१८।६२)

(च) मामेकं शरणं व्रज (१८।६६)

(छ) भक्ति मयि परां कृत्वा मामैवेष्यत्यसंशयः (१८।८)

(क) जो जिस रीति से मेरी शरण में आता है मैं भी उनको तथैव भजता हूँ।

(ख) मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

(ग) हे पार्थ ! सारे शूद्रादि भी मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।

(घ) जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

(ङ) उसी प्रभुकी शरणमें जा जिससे मोक्षपदको प्राप्त होगा।

(च) एक मात्र मेरी शरण में आ।

(छ) मुझ में उत्कृष्ट भक्ति करके निःसन्देह मुझे प्राप्त हो जाएगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में 'प्रपत्ति' बोधक शताधिक प्रमाण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी रहस्य मननीय है कि गीता में जहाँ अन्यान्य विषयों का निरूपण

भगवान् ने 'प्रहसन् इदम् अब्रवीत्' के अनुसार हँसते २ किया है वहाँ शरणागति का निरूपण उपस्थित होने पर उसे न केवल हास्यविनोद से बचकर बड़ी गम्भीरतापूर्वक ही कहा है, अपितु अर्जुन को डांट डपट कर भी तथा करने को बाध्य किया है और अप्रपन्नों को उग्रभाषा में कोसा भी है। जैसे लोक में वृद्धजन अपने पुत्रादि को साधारण बातें तो साधारण शब्दों में बतला देते हैं परन्तु अवश्यकरणीय बात को बड़ी गम्भीरता के साथ सचेत और सावधान करते हुवे आदेश रूप में कहा करते हैं ठीक इसी प्रकार गीता में सांख्य, कर्म्म, ध्यान, और ज्ञानयोग आदि विषयों का निरूपण तो साधारण शब्दों में उपनिबद्ध है परन्तु 'प्रपत्ति' योग का वर्णन असाधारण चेतावनीपूर्ण सचोट शब्दों में अंकित है जिससे वह विषय भगवान् का हार्द प्रत्यायित होता है। हम पाठकों के विचारार्थ यहाँ एक आध उदाहरण अंकित करते हैं यथा—

(क) न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराऽधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः (७।१५

(ख) अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि(१८।५

अर्थात्—(क) जो मेरी शरण में नहीं आते, वे पापी हैं, मूढ़ हैं, नराधम हैं, माया से अपहृत ज्ञान वाले असुरभाव सम्पन्न हैं। (ख) यदि अहंकारवश तू मेरी बात न सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा।

उपर्युक्त पहिले पद्य में '**न मां प्रपद्यन्ते**' केवल इतना तो मूल वाक्य है, शेष पाँच उग्र गालियें हैं। जब अप्रपन्नों को पापी, मूढ़ नराधम, और मायावश-नष्टज्ञान, कहने पर भी भगवान् को

सन्तोष न हुवा तो आवेश में आकर उन्हें आसुरं भावमाश्रिताः' तक कह डाला जिसका सीधा २ अर्थ है मेरी शरण में न आने वाले शैतान के बच्चे होते हैं। दूसरे पद्य में तो आवेश का स्तर इतना ऊँचा हो गया कि भगवान् ने अपनी बात अनसुनी कर देने पर अर्जुन को न केवल सम्भावित अकल्याण की चेतावनी मात्र देना ही पर्य्याप्त समझा अपितु विनष्ट हो जाने का धमकीपूर्ण शाप सहन करने को उद्यत रहने के लिए भी आतंकित कर दिया

इससे सिद्ध है कि सर्वशास्त्रमयी गीता मुख्य-तात्पर्य्यात्मक फलितार्थ एकमात्र 'प्रपत्तियोग' है और अकारणकरुण करुणा-वरुणालय श्रीमन्नारायण समस्त जीवों को अर्जुन के व्याज से तन्निष्ठ करना चाहते हैं। इस प्रकार भगवत् प्राप्ति के परंपरागत उपाय व्रत, उपवास, तीर्थ, यज्ञ, नानाविध कर्मकलाप और उपासना आदि का निरूपण करके अन्त में मोक्ष के साक्षात् उपाय ज्ञानमयी भक्ति, किंवा भक्तिमय ज्ञान के दिग्दर्शन के साथ २ यह उपायतत्त्व निरूपणाध्याय' यहीं समाप्त करते हैं।

व्रत, उपवास, तीर्थ, यज्ञादिक, सुकृत कर्म से मल का नाश।
प्रभु उपासना ध्यान योग से, मन की चञ्चलता का ह्रास ॥
ज्ञान आवरण का विध्वंसक, भक्ति-प्रपत्ति मोक्ष का द्वार ॥
नारायण-पद प्राप्ति यत्न, अध्याय सातवें का है सार ॥
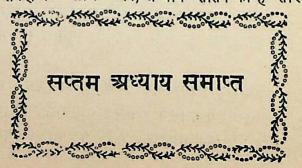
अपाय-तत्त्व-निरूपणाध्याय

(आठवां अध्याय)

वेदैर्निषिद्धा आचारा ये मोक्षपरिपन्थिनः ।।
कलिवर्ज्याश्च यज्ञाद्या अपायास्तेऽत्र कीर्तिताः ।।

नरतत्त्व, नारायणतत्त्व और उपायतत्त्व का निरूपण विगत अध्यायों में किया जा चुका है। मनुष्य जन्म का चरम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति है—यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है। भगवत्-प्राप्ति के लिये किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिये, जैसे यह जान लेना आवश्यक है, इसी प्रकार भगवत्-प्राप्ति में आड़े आने वाले जो २ कृत्य प्रतिबन्धक एवं विघ्नरूप हैं उनको जान लेना भी परमावश्यक है। उन्हीं को हम यहाँ 'अपाय' नाम से स्मरण करते हैं। सो गत अध्याय में मोक्षसाधक उपायों का निरूपण हो चुका है अब क्रमप्राप्त मुक्तिमार्ग में बाधा उपस्थित करने वाले 'अपायों' का निरूपण किया जाता है।

यद्यपि भगवत्-प्राप्ति में बाधक अपायों की इयत्ता नहीं, इस लघु कलेवर पुस्तक में उन सबका वर्णन न सम्भव है और नांही अपेक्षित है, क्योंकि समस्त आर्ष वाङ्मय विधि और निषेध दो भागों में ही विभक्त है। अतः समस्त निषिद्ध अनाचार ही 'अपाय' अपर नामक हैं, जो तत्तत् शास्त्रों में सुतरां देखे जा सकते हैं, तथापि सब अनर्थों के मूलभूत कतिपय अपायों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना हमें यहाँ अभीष्ट है जिससे

पाठक मोक्ष-प्रतिबन्धक तादृश कृत्यों से बचने के लिये जागरूक हो जायें।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः

यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि मन ही बन्धन और मोक्ष का प्रधान कारण है। वह यदि विषयासक्ति से मलिन हो जाए तो नरक में डाल देता है और वह यदि सात्त्विक बनकर भगवत्-परिचर्या में संलग्न हो जाए, तो भवसागर से पार कर देने में हमारा सर्वोपरि सहायक सिद्ध हो जाता है।

मन का विषयासक्त होना किंवा सत्त्वगुणयुक्त होना हमारे आहार पर निर्भर है। वस्तुतः हमारे आहार का अन्तिम सूक्ष्म परिणाम ही मन है—यह कह देना असंगत नहीं। ऐसी स्थिति में हमारे जीवन में आहार की शुद्धि भी परम्परा से मोक्ष का अन्यतम साधन है।

भोजन सम्बन्धी बहुत सी बातें उक्त ग्रन्थ के पूर्वार्ध में हम लिख चुके हैं। 'मांस मनुष्य का प्राकृतिक भोजन हो सकता है या नहीं ?'—यह विषय अतीव पुरातन कालसे विवाद का विषय बना हुवा है। शास्त्रों में विभिन्न आशयों से लिखे गये मांस विषयक विभिन्न लेख मिलते हैं, जिनको समन्वित करके सर्वतन्त्र सिद्धांत स्थिर करना सबका कार्य नहीं। प्रायः विद्वान् भी एकदेशीय प्रमाणों के आधार पर किसी एक पक्ष के आग्रही बन जाते हैं। अतः हम 'क्यों ?' के पाठकों को इस अतीव विचारणीय विषय का भी समन्वित पद्धति से निरूपण करते हुए परिचय करा देना आवश्यक समझते हैं, जिससे विज्ञपाठक

वास्तव में तथ्य और पथ्य क्या है ?—यह जान सकने में भली-भान्ति कृतकार्य हो सकें।

मुक्ति-प्रतिबन्धक अपायों में सर्व प्रथमता मांसभक्षण विचार को हमने इस ग्रन्थ में क्यों दी—यह भी आकस्मिक नहीं, किन्तु इस एक दोष के आ जाने पर अन्य सब दोष बिना बुलाए स्वत: आ जाते हैं—यह एक सर्वविदित सी बात है। मांसभक्षक लोगों का कथन है कि बीच २ में मद्य की घूंट घूंटे बिना मांस खाना केवल जानवरों की भांति पेट ही आंटना है। अर्थात्—मद्यपान मांसभक्षण का अनिवार्य अंग है। बस ! जहां मद्य माँस दोनों का चस्का लगा कि—मद्यपान से बुद्धि लुप्तप्राय हो जाने के कारण और मांसभक्षण से पाशविक दुर्गुणों का उद्रेक हो जाने के कारण कामवासना की दुष्ट बुद्धि हो जातो है, जो अगम्यागम्य को सीमा को पार करके भी शान्त नहीं हो पाती। अब जहां मद्य मांस और व्यभिचार का दौर चला तो इन सब ऐबों को क्रियान्वित करने के लिए द्रव्य सापेक्ष्य है। इतना द्रव्य सीधे २ रास्ते से उपलब्ध होना कठिन है। अत: एतदर्थ अगत्या, चोरबजारी, घूसखोरी, चार सौ बीस, ठग्गी बग्गी, सट्टा, फाटका, लाटरी, जूवा, चोरी और डकैती तक की नौबत आ सकती है। कम परिश्रम से अधिक धन जुटाने के उपर्युक्त दुस्साधन कितने भयावह हैं, यह सभी जानते हैं। दिवाला, निलामी और कुर्की की तो कथा ही क्या है—जेल यातना, आत्महत्या और मृत्युदण्ड भी इनका दुष्परिणाम हो सकता है। इसलिये मांसभक्षण, अन्यान्य दोषों का आमन्त्रक होने के कारण सब अनर्थों का मूलभूत महादोष है, इसी हेतु से हमने इसको उपायों में प्राथमिकता प्रदान की है।

मांस भक्षण विचार

आज संसार के अधिकांश प्राणी माँसभोजी हैं, भारत में भी ब्रह्मर्षि देश और ब्रह्मावर्त तथा कुछ मारवाड़ को छोड़कर शेष सभी प्रान्तों में मांसभोजियों की संख्या अधिक पाई जाती है। आदि गौड़ब्राह्मण उनके घोर सनाढ्य आदि उपवर्ग अग्रवाल और माहेश्वरी आदि वैश्य, जैनियों के सब वर्ग, वैष्णव सम्प्रदाय के समस्त दल और सिक्खों का नामधारी पन्थ, ये सब निरामिष-भोजी कहे जा सकते हैं, परन्तु अब अहिन्दुवों के सम्पर्क से और होटलों के दुष्प्रचार से बड़े कहे जाने वाले सभी वर्ग के लोगों में प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रूप से मद्य और माँस का उत्तरोत्तर दुष्प्रचार बढ़ता जा रहा है इसलिए अब अमुक व्यक्ति को ही निरामिषभोजी कहा जा सकता है, किसी जाति या समूह को नहीं।

आर्यसमाज में तो प्रत्यक्ष ही मांसभक्षण के प्रश्न को लेकर बड़े वाद-विवाद के अनन्तर दो पार्टी बनी हुई हैं, जिनका नाम ही 'घासपार्टी' और 'मांसपार्टी' स्वयं उन्हीं लोगों ने रख छोड़ा है। सनातनधर्मियों में भी यह प्रश्न कम विवाद का विषय नहीं बना हुआ है। बहुत से मत्स्य मांसभोजी साक्षर मांस के अभक्ष्य होने में अपना वैपरीत्य प्रकट किया करते हैं। इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि इस विषय पर सुस्पष्ट विचार किया जाए।

मांसभक्षण की आधुनिक निन्द्य प्रणाली

हमारा यह निश्चित मत है कि मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्रग्रंथ

उपनिषद्, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण ग्रन्थों में कहीं भी जिह्वालौल्य की पूर्ति के लिये आज की भांति बाजार से खरीद नमक मिर्च मसाले डालकर और घी में भूनकर मांस खाने का विधान विद्यमान नहीं है—इस प्रकार के मांसभक्षण की सर्वत्र निन्दा ही की गई है। यदि सब प्रमाणों को छोड़कर केवल 'मांस' शब्द के मनुप्रोक्त निर्वचन का ही मनन कर लिया जाए तो हमारा मत झटिति समझ में आ सकता है। मनु महाराज कहते हैं—'मांस' को 'मांस' इसलिये कहा जाता है कि—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।

(मनु ५।५५)

अर्थात्—जिस को मारकर आज मैं खा रहा हूँ कल (मां) मेरे को (स) वह खाएगा।

मांस-भक्षण निषेधक प्रमाण

मांसभक्षण के निषेधक कतिपय पुष्ट प्रमाण यहाँ उद्धृत करने अनावश्यक न होंगे, तद्यथा—

(क) न मा ँ समश्नोयात् । (तैत्तिरीय १।१।६।७)

(ख) य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति ये केशवास्तानितो नाशयामसि ।

(अथर्व ८।७।२३)

(ग) वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ।।

(घ) न कृत्वा प्राणिनां हिंसा मांस उत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥
(मनु. अध्याय ५)

(ङ) यक्षरक्षपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥
(मनु. ११।९५)

अर्थात्—(क) मांस नहीं खाना चाहिये। (च) [सायण-भाष्यानुसारी अर्थ] (ये केशवाः) जो दुर्व्यसनी कामुक पिशाच (आमं मांसं खादन्ति) कच्चा मांस खाते हैं (ये च पौरुषं क्रविः) और जो पुरुष द्वारा सम्पादित पका हुआ मांस खाते हैं। (गर्भान् खादन्ति) और जो अण्डों को खाते हैं (तान्) कच्चा पक्का अण्डा इन तीनों प्रकार के मांस को खाने वालों को (इतः) यहाँ से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं। (ग) जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो सब प्रकार का मांस नहीं खाता है, इन दोनों का पुण्य फल समान है। (घ) बिना जीव मारे मांस नहीं मिल सकता और प्राणियों को मारना स्वर्गप्रद नहीं हैं। अतः मांस का परित्याग कर देना चाहिए। (ङ) यक्ष, राक्षस और पिशाचों के भक्ष्य पदार्थ, मद्य, मांस, अरिष्ट, सिरका और आसव ये सब वस्तु देवहव्य को खाते हुवे भक्षण करने योग्य नहीं है।

मांस को क्यों नहीं खाना चाहिए ?

मांस क्यों नहीं खाना चाहिये !—इसका पहिला हेतु प्राकृतिक है, तदनुसार जीभ से चपककर पानी पीने वाले कुत्ता,

बिल्ली, सिंह, व्याघ्र आदि जीवों के लिए ही मांस प्राकृतिक भक्ष्य हो सकता है। ईश्वर ने उनके दांत, जाढ़ और नाखून तथा आमाशय आदि सभी अंग वैसे ही बनाए हैं। परन्तु घूंट कर पानी पीने वाले—गाय, भैंस, वानर, मनुष्य आदि जीवों के लिए मांस प्राकृतिक भक्ष्य नहीं, क्योंकि इनके अंग मांसाहारियों के समान नोचने कुचलने और चीरफाड़ करने योग्य नहीं बने हैं। इसी कारण मनुष्य को छोड़ कर अन्य कोई घूँट कर पीने वाला जीव स्वभावतः मांसाहारी नहीं है। इसलिये मनुष्य को भी प्रकृति नियम भंग का अपराधी नहीं बनना चाहिये।

दूसरा हेतु यह है कि—कोई भी मांसहारी पुरुष आध्यात्मिक मार्ग का सफल पथिक नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अन्तःकरण पशुतामय परमाणुओं द्वारा परिपुष्ट होने के कारण कभी सात्त्विक नहीं हो सकता। इसीलिये अन्यान्य विषयों में आज पाश्चात्य देशवासी चाहे कितने भी उन्नत कहे जा सकते हों, परन्तु आध्यात्मिक विषय में अब भी वे किसी महात्मा को गुरु बनाकर ही शान्ति प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि भारत में जिन स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ को सिद्धान्त के विचार से वेदान्त का विद्यार्थी ही समझा जाता है, पाश्चात्य देशों के आध्यात्मिक ज्ञान में सर्वथा शून्य लोगों में वे 'गुरु' माने जाते हैं। इसलिये अध्यात्मपथ के पथिक बनकर शान्ति चाहने वाले व्यक्तियों को मांस भक्षण का दुर्व्यसन छोड़ देना चाहिए।

चौथा हेतु यह है कि आज प्रायः सूकर, कुक्कुट और मत्स्य, इन तीन जीवों को ही अधिक खाया जाता है। सभी जानते हैं कि ये तीनों प्राणी मलभक्षक हैं। ग्राम्य सूकर तो प्रत्यक्ष ही

विष्ठा खाता देखा जा सकता है। जंगली सूवर भी समस्त वन्य जन्तुओं का मल खाता है। इसीलिए वन में ढूँढने पर भी अरण्य गोमय की भान्ति आरण्यक पशुओं का मल कहीं नहीं दीख पड़ता। जल में गिरा मल मछली तत्काल खा जाती है। मुर्गा तो मनुष्य की खंकार के शब्द को सुनकर भागकर आता है और थूक को पृथ्वी पर गिरने से पहिले चट कर जाने का प्रयत्न करता है। भेड़ बकरी हरिण की भी भीरुता प्रसिद्ध है। अतः हमने जान-बूझकर यहां केवल लौकिक हानियों का ही दिग्दर्शन कराया है। क्योंकि पारलौकिक स्वर्ग-नर्क आदि पर तो ऐसे दुर्व्यसनियों का प्रायः विश्वास नहीं होता। अतः उनकी चर्चा व्यर्थ है।

क्या शास्त्र में मांसभक्षण का विधान है ?

कुछ लोगों का कहना है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौत-सूत्रों और उपनिषदों तक में मांस खाना लिखा है—'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (३।१।२५) इस ब्रह्म-मीमांसा-सूत्र के भाष्य में आद्य शङ्कराचार्य जी, रामानुजाचार्य आदि सभी धर्माचार्यों ने एक-स्वरेण याज्ञिक प्रोक्षित मांस का समर्थन करते हुए वैदिकी हिंसा को अहिंसा ही माना है। मन्वादि सब धर्मशास्त्र भी इसी आशय का उपोद्बलन करते हैं। अथच इतिहास पुराण में भी यत्र-तत्र तादृश उदाहरण विद्यमान हैं। अतः मांसभक्षण को अशास्त्रीय नहीं कहा जा सकता ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए हमें शास्त्र के भिन्न-भिन्न प्रकरणों का विभिन्न रीति से ही समाधान करना पड़ेगा, तभी

यह जटिल समस्या समाहित हो सकेगी; क्योंकि शास्त्र में कह किसी आशय से कुछ लिखा गया है और कहीं किसी आशय से कुछ और।

शास्त्र में विधि नहीं—परिसंख्या है।

शास्त्र के जितने भी वचन मांस-भक्षण के समर्थन में उपस्थित किए जा सकते हैं, उन सबका **'अहरहः सन्ध्या-मुपासीत, ऋतौ भार्यामुपेयात् ।'** अर्थात्—प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए और ऋतुकाल में भार्यागमन करना चाहिए। इत्यादि विधियों की भान्ति 'मांस खाना चाहिए'—ऐसी विधि में तात्पर्य नहीं है, बल्कि रागतः प्राप्त अव्यवस्थित मांस-भक्षण-प्रवृत्ति को सीमित करके शनैः-शनैः उससे निवृत्त करने में ही तात्पर्य है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में परिसंख्या कहते हैं।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में इस समस्या पर मार्मिक विचार करते हुवे जो निर्णय दिया है वह बड़ा ही मननीय है, वेदव्यास जी कहते हैं कि—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा,
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तत्र विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

(श्रीमद्भागवत ११।४११)

अर्थात्—संसार में मद्य, मांस और व्यभिचार से तीन प्रधान दुर्व्यसन स्वाभाविक हैं। इनके लिए शास्त्र-विधि और तत्प्रचार में प्रयास की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पशु, पक्षी आदि अनेक तिर्यञ्च योनियों में भटकते हुए—आज नर

शरीरधारी भी हम पूर्वजन्मों में सतत अभ्यास के कारण देखने में नर, किंतु रहन-सहन में अब भी पशु-प्रवृत्ति के कारण कोरे 'जन्तु' हैं। इसलिए उक्त दुर्व्यसनों की उच्छृंखल प्रवृत्ति को रोकथाम के लिए विवाह, यज्ञ और सुरा घ्राण की व्यवस्था की गई।

तात्पर्य यह है कि उक्त दुर्गुण मनुष्य को कोई सिखाता नहीं, बल्कि हटाने के अनेक उद्योग किए जाते हैं। तब भी स्वतः ही सर्वत्र इन दुर्गुणों का प्रसार बढ़ता ही चला जाता है, इसलिए शास्त्र ने व्यभिचार की रोकथाम के लिए विवाह का विधान किया है। अर्थात् कल से पूर्व जो पुरुष संसार की समस्त स्त्रियों को अपनी काम-वासना-पूर्ति का साधन समझ कर उच्छृंखलता से यत्र-तत्र-सर्वत्र मैथुन के लिए प्रवृत्त था उसको धिधिवत् केवल एक भार्य्या प्रदान करके एक ही खूँटे से बांध दिया जाता है। इस तरह संसार की अन्यान्य सभी स्त्रियों को बुरी नजर से देखने की व्यभिचार-प्रवृत्ति को रोकने का यह एक व्यावहारिक उपाय बन जाता है। अब समाज ने उस व्यक्ति के निमित्त अपनी स्वाभाविक कामेच्छा की पूर्ति के लिए एक केन्द्र नियत कर दिया है। यदि वह पुरुष एक ही स्त्री पर संतोष करता है तो समाज की दृष्टि में नैष्ठिक ब्रह्मचारी की भांति चाहे वह वन्दनीय भले ही न हो, परन्तु व्यभिचारी की भांति निन्दनीय एवं नरक का अधिकारी भी नहीं समझा जाएगा। इस तरह कामेच्छा-पूर्ति की स्वाभाविक प्रगति के तारतम्य से मानव-समाज की तीन धाराएँ हो गईं—(१) जो काम का दमन करके आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर सकने का भीष्म व्रत पालन करते हैं। वे गङ्गा की भांति स्वयं

पावन हैं और दूसरों को पावन करने वाले हैं। अतः वे सबके सम्मान के पात्र हैं। (२) जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो नहीं रह सके, किंतु शास्त्रानुसार सामाजिक व्यवस्था से प्राप्त एक पत्नी पर संतोष करते हैं वे साधारण कूप-तड़ागों की भांति न वन्दनीय हैं और न निन्दनीय हैं।

किंतु (३) जो व्यभिचार करते हैं वे कर्मनाशा नदी या गन्दे नाले की भांति स्वयं पतित हैं और अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगों को भी पतित करने वाले हैं। बस ! इसी प्रकार उच्छृंखलतापूर्वक अनवरत सब जीवों की मांस-भक्षण करने की प्रवृत्ति को मर्य्यादित करने के लिए वेदादिशास्त्रों में जो व्यवस्था की है उसका नाम है 'परिसंख्या'। शास्त्र ने कहा है कि— **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'** (मनु: ५।१८) अर्थात्—पञ्च नाखून वाले जीवों में केवल शशक आदि ये पांच ही भक्षण किए जा सकते हैं। इससे अन्यान्य अगणित जीवों को भक्षण करने की आपाततः व्यावृत्ति हो गई=निषेध हो गया। फिर कहा— **'श्वेतं छागमालभेत'** तथा **'बार्ध्रीणसस्य मांसेन···'**—मनुः ३।३७१ अर्थात्—सफेद बकरा ही आलम्बन करना चाहिए। जिसके लम्बे कान पानी पीते समय मुख से पहिले जल में डूब जाते हों वह 'बार्ध्रीणस' नामक लम्बे कान वाला बकरा ही उपयुक्त है। एतावता अन्य सब जाति का निषेध हो गया। फिर कहा—'वर्ष भर में, या आयु भर में अमुक दिन, अमुक मुहूर्त में अमुक विधि-विधान से, इतना धर्मानुष्ठान और इतना व्यय करने पर ही यज्ञपशु संज्ञपनीय है' इस प्रकार सर्वकाल का परिहार हो गया। इस प्रकार इस व्यवस्था से सब चीज चारों ओर से संख्या में आ गई। बस ! इसी प्रकार हर तरफ से

संख्यात-परिगणित—सीमित—मर्य्यादित नियन्त्रण का नाम हो 'परिसंख्या' है,

परिसंख्या—न नौ मन तेल न नाच

वस्तुत: 'परिसख्या' एक ऐसी पद्धति है कि जिसके अवलम्बन से बद्धमूल दुर्गुण भी सहज में ही छूट जाता है। यदि व्यसनी को सीधे शब्दों में दुर्व्यसन छोड़ने के लिए कहा जाए तो अधिकांश मनुष्य ऐसे निकलेंगे कि जो कि उपदेष्टा की आंख बचाकर अपनी इच्छा-पूर्ति करने लगेंगे। कानून और समाज की फटकार से बचने के लिए आज अगणित अनाचार परदे की ओट में नित्य हो ही रहे हैं। इसलिए यह मनोविज्ञान का अटल सिद्धांत है कि आज्ञापालन की परिस्थिति का अध्ययन किए बिना किसी को कोई अव्यवहार्य आज्ञा दे डालना—फिर चाहे वह उसके लिए कितनी ही हित-साधक क्यों न हो—उसे चोरी-चोरी से वह काम करने के लिए बाध्य करना है। कानून के डण्डे के बल से आज्ञापालन के निमित्त विवश करने की भूल उस व्यक्ति को विद्रोह (खुली बगावत) करने के लिए मानो चुनौती देना ही है। इसलिए शास्त्र किसी बड़े से बड़े सुधार को भी किसी व्यक्ति पर लादना नहीं चाहता, किन्तु मनो-विज्ञान के अनुसार शनैः शनैः दुर्गुणों से उन्मुक्त होने का उपाय बतलाता है।

परिसंख्या भी एक ऐसा ही अमोघ उपाय है कि जिसके द्वारा संसार की बढ़ती हुई मांसाहार-प्रवृत्ति को सरलता से रोका जा सकता है। यह समस्या एक लौकिक दृष्टान्त से समझ

में आ सकती है। कल्पना करो एक बालक को मिट्टी खाने की बुरी लत पड़ गई, वह दिन भर जब देखो तभी मिट्टी खाता है। इससे उसका स्वास्थ्य चौपट हो गया, समस्त शरीर में पाण्डु रोग व्याप्त हो गया और बचने की कुछ आशा न रही। घर वाले समझा बुझा कर और डांट-डपट कर थक गये कुछ प्रभाव न पड़ा। वह सब की आँख बचा कर चोरी २ से अपना व्यसन पूरा कर लेता है अन्त में किसी 'परिसंख्या' पद्धति से परिचित महात्मा के पास सब लोगों ने उसके इस दुर्गुण को छुड़ाने की प्रार्थना की तो महात्मा ने बालक को अपने निकट रख लिया और कहा—बेटा ! मैं भी खूब मिट्टी खाता हूँ, आज से हम तुम दोनों मिलकर खूब मिट्टी खाया करेंगे। मिट्टी कुछ बुरी वस्तु थोड़े ही है। यह तुम्हारे घर वाले बड़े मूर्ख हैं जो व्यर्थ ही तुम्हारे पीछे हाथ धोकर पड़े हैं, परन्तु बेटा ! एक भूल तुम भी करते हो जहाँ तहाँ से मल, मूत्र, थूक, खंकार से सनी और जूतों की तलियों से रौंदी हुई मिट्टी को खा लेते हो, तभी तो अपवित्र मिट्टी खाने से तुम्हें यह रोग हो गया है। हमारे पास तो गंगा जी की बड़ी स्वादिष्ट और पवित्र मिट्टी मौजूद है। तुम्हें जब इच्छा हो हमसे मांग कर खूब खाओ। और देखो बेटा ! जहाँ तहाँ से भूलकर भी मिट्टी मत खाना। अब ऐसी भूल करोगे तो मर जाओगे।

अब पाठक ! बड़ी ही गम्भीरता-पूर्वक विचार करें कि महात्मा जी का अभिप्राय बालक को मिट्टी खिलाना नहीं बल्कि उसकी मिट्टी खाने की बुरी लत यथा-तथा छुड़ाना ही है। डांट-डपट और मारपीट से घर वाले इस दुर्व्यसन के छुड़ाने में सफल नहीं हो सके, परन्तु आज महात्मा जी की एक बात बालक

की समझ में अवश्य बैठ गई कि सचमुच जहां तहां से गन्दी मिट्टी नहीं खानी चाहिए। आज से महात्मा जी से लेकर गंगा जी जी की मिट्टी ही खाया करूँगा। महात्मा जी ने झट अपनी पूजन सामग्री में से मस्तक पर तिलक लगाने की चिकनी २ साफ सुथरी गंगारज बालक को बिना ही मांगे खाने को दे दी। बालक के मन में उस मिट्टी की श्रेष्ठता की दृढ़ भावना पहिले ही उत्पन्न कर दी गई थी। इसलिए सचमुच बहुत ही स्वादिष्ट जान पड़ी। बच्चा प्रसन्न हो गया। महात्मा जी ने उसे ठाकुर जी का चरणामृत तुलसी-दल और बालभोग भी दिया। महात्मा जी के दर्शन करने अनेक व्यक्ति आते थे, वहाँ फल और मेवे का ढेर लगा रहता था। महात्मा जी ने बालक को खुली छुट्टी दे दी, तुम्हे जो भावे सो स्वयं उठाओ और खाओ।

बालक बहुत प्रसन्न हुआ, घर वाले कम्बख्त तो केवल डांट डपट ही देना जानते थे, वे मिट्टी के स्थान में अन्य सुमधुर वस्तुओं से पेट भरना थोड़े ही जानते थे। महात्मा जी पूजा से उठे, दुपहर को फिर बिना मांगे मिट्टी दे दी प्रथम दिन केवल तीन चार बार मिट्टी देनी पड़ी। दूसरे दिन बालक को जब मिट्टे खाने की भभक उठी तो महात्मा जी सन्ध्या पूजा में व्यस्त थे अथवा जान बूझकर आखें मूंदे बैठे थे। बालक को मन मसोस कर रहना पड़ा। यद्यपि उसके चारों ओर मिट्टी ही मिट्टी कुटिया की दीवारें, लम्बा चौड़ा आश्रम का चौंक विद्यमान था, परंतु परमहितैषी महात्माकी मृदुतापूर्ण शिक्षा उसके हृदयमें ऐसा घर कर चुकी थी कि खानी तो गंगा ही की पवित्र मिट्टी खानी। इसलिये आज केवल एक ही बार मिली। तीसरे दिन जब बालक मिट्टी और अंगूर सेव संतरे के रसों को चख कर स्वाद

का विश्लेषण कर रहा था तो उसे अनुभव हुआ कि मैं व्यर्थ ही मिट्टी के ढेलों में टक्कर मारता हूँ, उसे स्वयं ही मिट्टी से ग्लानि होने लगी। महात्मा जी ने उपयुक्त समय समझ कर कहा—'बेटा ! पहिले मैं भी मिट्टी बहुत खाता था, परन्तु जब फल खाए तो मिट्टी फीकी जँची, वह छोड़ दी और अब तो पुत्र ! हम हरिनाम का अमृतमय रस पीते हैं जिसके सामने अन्य सब रस सर्वथा फोके जान पड़ते हैं।' हम दृष्टान्त को अधिक लम्बा न करके केवल इतना कहना पर्य्याप्त समझते हैं, कि इस तरह महात्मा जी ने बालक की मिट्टी खाने की आदत सर्वथा छुड़ा दी।

ठीक इसीप्रकार शास्त्र भी महात्मा जी की भांति मनोविज्ञान के अनुसार जो व्यवस्था करते हैं वह प्रत्यक्ष देखने में तो मानो मांस-भक्षण की छूट देने जैसी जँचती है, परन्तु वास्तव में उसका अभिप्राय शनैः २ छुड़ाने में ही है। इस लिए जब मनुष्य पहिले यह दृढ़ विश्वास कर ले कि मैं यथातथा अनाप शनाप वृथा मांसभक्षण न करूँगा [क्योंकि सभी शास्त्र उसकी एक स्वर से निन्दा करते हैं] किन्तु—

'देवान् पितृन्समभ्यर्च्य'

के अनुसार शास्त्रविधि के अनुसार ही मांस खाऊँगा—तो शास्त्र ने ऐसी अच्छी नीति से काम लिया है कि न नौ मन तेल होगा न नाच होगा। अर्थात्—मांस भक्षण की प्रवृत्ति ही छूट जाएगी। इसलिए अपना जिह्वालौल्य पूरा करने के लिए शास्त्र की आड़ लेने वाले देवयोनि-विशेष साक्षरों को अपना वैपरीत्य छोड़ देना चाहिए।

राजदण्ड द्वारा हटाना चाहिए ?

कई अदूरदर्शी कह दिया करते हैं कि शास्त्र को दुर्व्यसनियों की इतनी चापलूसी करने की आवश्यकता नहीं थी। यदि वह खुले बन्दों सर्वथा और सर्वदा कड़े शब्दों में मांस का निषेध करता तो फिर राजदण्ड से मांस-भक्षण की कुप्रथा को रोका जा सकता था।

वस्तुतः यह सुझाव भी अज्ञान-विजृम्भित ही है, क्योंकि जैसे आज भी कथित बड़े तबके के लोगों में मद्य, मांस, व्यभिचार का अधिक प्रचार पाया जाता है, इसी तरह अनादि काल से प्रायः लौकिक-प्रतिष्ठा-सम्पन्न उद्दण्ड व्यक्तियों में ही यह दुर्गुण अधिक प्रचलित रहा है। ऐसी स्थिति में जैसे आज मद्यनिषेध का कानून पास करने वाले ही स्वयं राजदूतावासों के प्रीति-भोजों में स्वच्छन्दता से बाज नहीं आते, तब इसी गज से प्राचीन-काल को भी नापा जा सकता है।

वास्तव में प्राचीनकाल से ही दुर्व्यसनों की संख्या सदाचारियों से सदैव अधिक रही है। इसलिए उग्र दमन-नीति से काम लेने पर विद्रोह-भावापन्न इतने लोगों को काबू रखना सम्भव नहीं हो सकता। यदि केवल इस एक ही सुधार के लिए समस्त शासन-शक्ति का अपव्यय किया जाए तो फिर अफगान बादशाह अमानुल्ला को राजच्युत करने के लिए विद्रोहियों को बच्चेशक्के का ही नेतृत्व पर्याप्त है। यह तत्त्व भी एक दृष्टान्त से झटिति समझ में आ सकता है।

कहा जाता है कि एक राजा को मद्य का बहुत बुरा दुर्व्यसन लग गया। वह हर समय सुराभाण्ड और चषक को ही अपना सर्वस्व समझता था। जी हजूरियों का झुण्ड राजा को खुश करने के लिए उससे भी अधिक मद्य का शौकीन बन गया। पुरोहित धर्माचार्य आदि लोगों ने राज्य को दुर्दशा देखकर ज्यों ही राजा को समझाने बुझाने की अधिक चेष्टा की तो राजा ने चिढ़कर सबको जेल में ठूँस दिया और राज्य भर में एक आर्डीनेन्स प्रचलित कर दिया कि जो मद्य की निन्दा करेगा उसे आजन्म कारावास भुगतना होगा। दण्ड के भय से अब कोई भी कुछ कहने-सुनने का साहस न करता था। समस्त राज्य में अव्यवस्था फैल गई। अन्त में बढ़ते हुए अनर्थों को देखकर एक 'परिसंख्या' पद्धति के ज्ञाता विद्वान् महात्मा को दया आ गई। उन्होंने राज्यभर से इस दुर्व्यसन का जनाजा निकालने के विचार से राजधानी में प्रवेश किया। एक जनसंकुल चौराहे पर खड़े होकर मद्य के गुणों का वर्णन करना आरम्भ किया। कहने लगे—

'श्रीमती सुरादेवी तो लक्ष्मी की भांति क्षीरसागर की सुपुत्री हैं, धन्वन्तरि की सगी ज्येष्ठा भगिनी हैं, चन्द्रमा, ऐरावत, उच्चैःश्रवा इसकी गोद-खिलाए अनुज हैं, कामधेनु, रम्भादि अप्सराएँ और सुधा इसके सामने घुटनों के बल चला करती थीं। इसने अंगुली की टेक देकर इन सबको पांवों पर चलना सिखाया है और देखो ! देवता सुर हैं तो यह सुरा है। तभी तो वेद में लिखा है कि **'पिबत मद्यं धृतव्रतौ'** अर्थात्—गुरु-चेला, स्त्री-पुरुष, राजा-प्रजा, गर्ज है कि जितनी भी जुगल जोड़िएँ बन सकती हैं उन सबको व्रत धारण करके मद्य पीनी चाहिए।

श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् साफ आज्ञा देते हैं कि **'मद्याजी मां नमस्कुरु'** (अध्याय ६ श्लोक ३४) अर्थात्—(जैसे श्रद्धालु भक्त अयोध्या, मथुरा आदि पुरियों को सम्मानार्थ 'अयोध्या जी, मथुरा जी' बोलते हैं, ठीक इसी प्रकार अकेली मद्य न कहकर इसे भी) हे भक्त ! मद्याजी को मेरे प्रति लुढ़का दे। मद्य पीने के अनेक लाभों में से चार बड़े-बड़े लाभ ये हैं कि मद्यपी के घर में चोर नहीं घुस सकता, उसे कुत्ता नहीं काट सकता। वह कभी बूढ़ा नहीं होता और घर वाले उसे मरता नहीं देखते। अस्तु, कल के व्याख्यान में मद्य पीने की शास्त्रीय विधि बतलाई जाएगी'...

× × × ×

इस व्याख्यान की चर्चा नगर भर में फैल गई। किसी ने राजा साहिब को भी खुशखबरी सुना दी कि एक बड़े महात्मा पधारे हैं, जो शराब पोने के बड़े-बड़े लाभ बतलाते हैं और कल वे शराब पीने की शास्त्रीय विधि बतलाएँगे उन्होंने ऐसी सूचना दी है। यह सुनकर राजा बहुत प्रफुल्लित हुआ, कल से पहिले जो राजा साधु ब्राह्मण महात्मा और विद्वान् का नाम सुनकर चिढ़ता था और बिना अपराध ही उन्हें जेल में ठूंसने का हुक्म दे देता था आज वह स्वयं महात्मा जी के चरणों में परिजन-सहित समुपस्थित हुवा और बड़ी नम्रता के साथ कल का व्याख्यान अपने खास दरबार में करने की प्रार्थना की। महात्मा जी तो यही चाहते थे। अगले दिन ठीक समय पर राजमहल में पुनः व्याख्यान आरम्भ किया। महात्मा जी ने बतलाया कि—'मद्य में गुण तो बहुत हैं, परन्तु मनुष्य उसे पीना नहीं जानते। जैसे—बिना शुद्ध किया विष खाने से मनुष्य

मर जाता है परन्तु यदि जानकार वैद्य उसे शुद्ध कर दे तो उसके खाने के मनुष्य के अनेक रोग दूर हो जाते हैं ठीक इसी प्रकार अन्नकस, गुड़ और फल आदि पदार्थों के विकार से बनी मद्य एक प्रकार से इनका मल ही तो है। उसको बिना शुद्ध किये पीने से फुफ्फुस सड़ जाते हैं। कांस स्वांस आदि अनेक व्याधियें उत्पन्न हो जाती हैं, इसलिए मद्य को हमेशा शुद्ध करके पीना चाहिये। समय बहुत हो गया शेष व्याख्यान कल होगा।'

यह कहकर ज्योंही महात्मा चलने को उद्यत हुए राजा ने कहा—महाराज ! आपकी बात पूरी तरह मेरी समझ में बैठ गई है, परन्तु कृपा करके कम से कम मुझे तो मद्य शुद्ध करने की विधि समझा दीजिए क्योंकि मैं मद्य का बहुत शौकीन हूँ। महात्मा जी ने कहा—अन्य सब लोगों को विदा कर दीजिए। एकान्त में आपको बतला सकता हूँ। वैसा ही किया गया। महात्मा बोले—स्फटिक से बनी माला द्वारा चौबीस लाख गायत्री का जाप करना चाहिए, जिस माला पर इतना जाप जपा गया हो फिर उसका एक दाना प्याले में डालकर उसपर खराब उडेलनी चाहिए, दाना बीच में डूबा रहे मद्य पी ली जाए। अगले दिन दूसरा दाना भी प्याले में डाल देना चाहिए। इस तरह जब पूरे एक सौ आठ दाने प्याले में क्रमशः इकट्ठे हो जाएँ तो फिर उन सबको निकालकर गङ्गाजल में प्रक्षालन करसे पुनः इसी क्रम से डालना आरम्भ कर देना चाहिए। राजा ने बड़ी नम्रता से कहा—भगवन् ! यह उपाय तो बहुत लम्बा है, २४ लाख गायत्री का पूरा पुरश्चरण तो बहुत दिनों में पूरा हो सकेगा। तब तक क्या किया जाए, क्योंकि मैं तो एक दिन भी मद्य के बिना जीवित नहीं रह सकूँगा। महात्मा ने मुस्कराते

हुए अपने गले से स्फटिक-माला निकालकर देते हुए कहा कि— बेटा ! जब तक तुम्हारी माला तैयार न हो सके तब तक हमारी इस माला से काम लो।

राजा ने महात्मा जी के कथनानुसार प्याले में माला का दाना डालकर अपना व्यसन पूरा किया। अगले ही दिन से नित्य-स्नानादि से निवृत्त हो कर अपनी माला पर गायत्री का जाप आरम्भ कर दिया जिससे अपने घर की ही माला बन जाय। महात्मा जी तो हरिद्वार के कुम्भ पर चले गये, राजा नित्य क्रमशः एक दाना प्याले में बढ़ाते २ ज्यों ही साठ सत्तर दाने पर पहुँचा तो भगवती गायत्री के जाप के प्रभाव से स्वयं ही उसके मन में विचार उठा कि प्याला तो माला के दानों से ही भर गया है, मद्य तो इसमें अब नाममात्र को ही आती है। यह तो ऐसे ढंग से छूट गई है कि मुझे खबर तक भी नहीं हुई, फिर अब इस छलकती हुई छः मासा भर मद्य को भी क्यों न छोड़ दूँ। बस ! यह ध्यान में आते ही प्याला जमीन से दे मारा, नौकरों को आज्ञा दी कि शराब के सब मटके गन्दे नाले में उलट दो। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार राज्य भर में कोई मद्यप नहीं रहा। जेल में पड़े उपदेष्टाओं को बन्धन-मुक्त करके क्षमा प्रार्थना की गई, राजकाज ठीक चलने लगा।

कुछ दिनों के बाद वही महात्मा पुनः आ पहुँचे। उनके स्वागत में एक महती सभा जुटी। महात्मा जी ने मद्य के अनेक दुर्गुणों का वर्णन करते हुए उसे सर्वदा अपेय बतलाया, परन्तु बीचमें ही महाशय झगड़ूराम प्रश्न कर बैठे कि उस दिन तो आपने मद्य के अनेक लाभ बतलाए थे आज निन्दा कर रहे हो।

महात्मा जी ने कहा—'मैंने उस दिन भी दोष ही बतलाये थे, परन्तु तुम्हारी ही बुद्धि पर पत्थर पड़े थे जो तुम मेरी बात समझ नहीं सके। यदि कोई लक्ष्मी की सगी बहिन होने के कारण मद्य को पीता है तो उसे उक्त सब रत्नों के ज्येष्ठ भ्राता हलाहल का भी पान करना चाहिए। मद्य के जो प्रधान चार लाभ हमने बतलाये थे उनका तात्पर्य भी स्पष्ट है। मद्य पीने वाले के घर में चोर नहीं घुसता। अर्थात्—फेफड़े गल जाने से उसे रात में इतनी खांसी उठती है कि रात भर खुल्ल २ के अलार्म से जागते हुवे आदमी को पाकर चोर अन्दर नहीं घुस सकता। मद्य पीने से रीढ़ की हड्डी इतनी निर्बल पड़ जाती है कि उसे हाथ में डण्डा लेकर घूमना अनिवार्य हो जाता है फिर लाठी देख कर कुत्ता पास क्यों आने लगा? मद्यपायी युवा ही मर जाता है बूढ़ा होता ही नहीं। शराबी या तो गन्दी नाली में, गिर कर मरता है या किसी टांगे, गाड़ी के ऐक्सीडैन्ट में अथवा पुराना मरीज होने के कारण किसी खैराती-हास्पिटल में—फिर घर वाले उसे मरता कैसे देख सकते हैं ?'

पाठक समझ गये होंगे कि ठीक उपर्युक्त रीति से ही शास्त्र ने संसार को मद्य, मांस और व्यभिचार से हटाने का प्रयत्न किया है। शास्त्र के ऐसे परिसंख्यात्मक वचनों को देखकर साधारण बुद्धि के लोग मांस-भक्षण की शास्त्रीयता के भ्रम में पड़ जाते हैं परन्तु वस्तुतः शास्त्र के किसी भी वचन का मांस-भक्षण के विधान में तात्पर्य नहीं है, किन्तु तथाकथित प्रमाणों का तात्पर्य अडंगा नीति से मांस-भक्षण रोकने में ही है।

शब्दार्थ से अनेक भ्रम

ब्राह्मण ग्रंथों के बहुत से प्रकरणों में मांस, मेद, वपा, छाग, अज, अजा आदि शब्दों को देखकर ही वैदिक अर्थ-प्रणालि को न जानने वाले पण्डित-मात्र भ्रमोत्पादन कर लेते हैं, परन्तु शतपथ-ब्राह्मण में उक्त सब शब्दों की विभिन्न परिभाषाएँ नियत कर दी गई हैं। वहां एक लम्बा प्रकरण देकर यह प्रकट किया गया है कि देवताओं ने यज्ञोपयोगी मेधातत्त्व का अन्वेषण आरम्भ किया। वह तत्त्व अनेक पदार्थों में अपक्रमण करता हुवा अन्त में व्रीही और यव में मिला। सो जब धान और जौं को पीसा जाये तो उनके चूर्ण को याज्ञिक भाषा में 'लोम' कहते हैं। जब उस आटे को गूँधा जाए तो उस पीठी को 'त्वक्' कहते हैं। जब पीठी को घी में तला या पकाया जाए तो उसे 'मांस' कहते हैं। इस प्रकार वेदमें ये शब्द उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। अन्यत्र—खीर, खोया, रबड़ी फलों का गूदा, बादाम आदि की गिरी को भी 'मांस' कहा जाता है। यथा—

(क) व्रीहीयवौ···यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति, यदाप आनयत्यथ त्वग् भवति। यदा स यौत्यथ मांसं भवति।

(शतपथ १।२।१।८)

(ख) एतद् ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्।

(शतपथ ११।१।७)

(ग) परमान्नं तु पायसम् । (अमर कोश २ । ७ । २५)

(घ) यदिमा आप एतानि मांसानि ।

(शतपथ ७ । ४ । २)

(ङ) तोक्मानि मांसम् । (शतपथ ८ । ३)

(च) तोक्मशब्देन यवा विरूढा उच्यन्ते ।

(कात्यायनसूत्र कर्क भाष्य १८)

(छ) तस्य यन्मांसं समासोत्तद् गुग्गुलवभवत् ।

(ताण्ड्य २४।१३।५)

अर्थात्—(क) चावल जौं के आटे का नाम 'लोम', पीठी का नाम 'त्वक्' पक्वान्न का नाम 'मांस' है । (ख) परमान्न का नाम 'मांस' है । (ग) परमान्न खीर को कहते हैं । (घ) इन जलों को 'मांस' कहते हैं । (ङ) तोक्म का नाम मांस है । (च) हरे जौं को तोक्म कहते हैं । (छ) अमुक वृक्ष के मांस=गूँदा किंवा गूदे से गुग्गल बना है ।

इसी प्रकार च्यवनप्राश में पड़ने वाले एक कन्द का नाम 'ऋषभक' है । उक्षा, वृषभ, गो, धेनु आदि उसके समस्त पर्याय भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । अजवायन को अज और अजा कहते हैं, दाख को गोस्तनी कहते हैं । गाजवान को 'गोजिह्वा' कहते हैं । घी कंवार के गूदे को 'कुमारिका-मांस' कहते हैं । गो सम्बन्धी घृतादि समस्त पदार्थों को 'गव्य' और वैदिक प्रक्रिया में 'गाव' भी कहते हैं । छागा-बकरी से

उद्भूत दुग्ध घृत आदि को 'छाग' कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य पशु आदि में अस्थि, मांस, मज्जा, मेद, त्वचा आदि शब्दों का व्यवहार होता है, ठीक इसी प्रकार संस्कृत वाङ्मय में वृक्ष आदि के ऊपरी भाग छाल को त्वचा, उसके गूदे को मांस, फल के गुष्ठल को अस्थि, गेहूँ आदि के सार भाग को 'मैदा' वृक्षों की लाख और गोंद को मज्जा नाम से ही स्मरण किया जाता है। गूदे और गिरी का तो मांस के अतिरिक्त और कुछ नाम हो नहीं है। इसलिए शास्त्र में 'मांस' आदि शब्दों को देखते ही सर्वत्र पशु के ही मांस त्वचा चर्बी आदि को समझ बैठना **'देवानां प्रियों'** का ही काम है।

सन्तान-प्राप्ति के लिए किए जाने वाले 'पयोव्रत' आदि छोटे २ कर्मों से लेकर सार्वभौम पद और इन्द्र-महेन्द्र-पद-प्राप्ति के साधनभूत, अश्वमेध, राजसूय आदि महामहिम यज्ञों पर्य्यन्त सभी सकाम धर्मानुष्ठान 'काम्यकम' कोटि में आते हैं। तादृश काम्यकर्मों के विधिविधानों से वैदिक आर्षग्रन्थ भरे पड़े हैं। उक्त कर्मों की छोटी से छोटी क्रिया भी समन्त्रक होती है और उसमें थोड़ा भो व्यत्यय हो जाने पर विघ्नों की सम्भावना रहती है अतः तत्तत् प्रत्यवाय परिहारक प्रायश्चित्तों का भी बड़ा जटिल जंजाल है। जैमिनिकृत 'पूर्वमीमांसा-शास्त्र' ऐसे ही ऊहापोहों से परिपूरित है। कलिकाल में तादृश सामग्री की अनुपलब्धि के कारण और सामर्थ्य के क्षीण हो जाने के कारण भी अश्वमेध आदि वैदिक-यज्ञ 'कलिवर्ज्य' माने गये हैं, इसलिए यज्ञों के अभाव से तत्प्रतिपादक सूत्रग्रन्थ तथा मीमांसा आदि प्रबन्ध ग्रंथ भी विरल-प्रचार हो गए हैं। इस तरह यह विषय इस समय अनपेक्षित और अजिज्ञासितव्य भी है, तथापि इतिहास

पुराण आदि में पुराकालीन सम्राटों द्वारा तादृश यज्ञों का किया जाना पढ़कर आधुनिक शङ्कालु लोग अमुक-अमुक अंश में भ्रमोत्पादन कर बैठते हैं और जनता भी इस अपरिचित विषय में स्वयं कुछ न जान सकने के कारण सन्देह में पड़ जाती है। इन कारणों से इस असांप्रतिक विषय पर भी यहां कुछ लिखना आवश्यक जान पड़ता है।

अश्वमेध-विचार

वेदादि शास्त्रों में 'अश्वमेध' यज्ञ का सुस्पष्ट वर्णन मिलता है। श्रौतसूत्र और 'पूर्व-मीमांसाशास्त्र' के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण, महाभारत एवं पुराण-साहित्य में भी यत्र-तत्र-सर्वत्र यह विषय उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में आर्षवाङ्मय में सुतरां समुपलब्ध ऐसे प्रत्यक्ष विषय का यदि कोई अल्पज्ञ धर्मभीरु अपलाप करना चाहे तो यह कथमपि सम्भव नहीं हो सकता।

हम पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि यदि वे हमारे इस पूरे प्रघट्ट को मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे तो उन्हें इसमें वैदिक-विज्ञान का एक अद्भुत चमत्कार दीख पड़ेगा।

बौद्ध जैन आदि अवैदिक मतों ने तो पूर्वयुग में राष्ट्र की अभिवृद्धि करने वाले तादृश यज्ञों के विरोध में कथित अहिंसा के नाम पर विप्लव की पताका उच्छ्रित की ही थी जिसके परिणामस्वरूप क्षात्रपन की क्षीणता और कायरपन की दुर्बुद्धि हो जाने के कारण विदेशियों के आक्रमणों से भारतवर्ष को अन्यून एक सहस्र वर्ष तक दास जीवन बिताना पड़ा। अतः

साम्प्रतिक सर्वभक्षी बौद्ध तथा कल्पित अदृष्ट परमाणुओं की हत्या के भय से मुखद्वार पर सदैव ड्रापसीन कर रखने वाले जैनी व्यक्तियों से तो यह आशा अब भी नहीं की जा सकती कि वे—प्रतिदिन हौस्पिटलों की विदेशी औषधियों में मिश्रित पशुवों के पित्तों तथा तत्तत् अङ्गों से निष्पीड़ित रासायनिक घोलों को पीते पिलाते देखकर सहन करते हुए भी—पूर्वकालीन आश्वमैधिक वैदिक उपचार पर ठंडे दिल से विचार भी कर सकेंगे ! परन्तु बौद्ध जैनों के दुष्प्रचार से समुत्पन्न तादृश वातावरण से आतङ्कित कथित वेदाभिमानी आर्यसमाजी भी यज्ञों के वास्तविक स्वरूप को बिगाड़ने के लिए अर्थान्तर की प्रवृत्ति में संलग्न हैं, यह कितनी सैद्धान्तिक निर्बलता और कायरता है । यदि हमारे इस प्रयत्न से उनके भी ज्ञानचक्षु खुल सके तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे ।

पाठक बड़े ही धैर्य से इस प्रकरण को अन्त तक पढ़ने से पूर्व स्वयं कोई निर्णय करने की भूल न करें; क्योंकि ऐसा करने से वे वास्तविक रहस्य न जान सकेंगे और उल्टा अधिक भ्रम बढ़ जाएगा ।

'अश्वमेध-यज्ञ' यूँ तो सभी अभिमत फलों का दाता है परन्तु प्रधानतया वह दो समयों में किया जाता था । एक—जब किसी चक्रवर्ती राजा के घर में पुत्र उत्पन्न न हुआ हो और राज्य के विनाश का खतरा सामने हो । दूसरा—जब शत्रुओं पर विजय पाकर अपना चक्रवर्तीत्व स्थापन करने की घोषणा करनी हो । हम सर्वप्रथम अश्वमेध द्वारा पुत्रोत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रिया का यहां निरूपण करते हैं ।

पुत्रेष्टि महायज्ञ

स्वस्थ स्त्री और पुरुष का रज और वीर्य जब गर्भाशय में इकठ्ठा होता है तो उक्त रज और वीर्य के कीटाणु—जो कि एक बूँद में लाखों होते हैं, एक दूसरे को स्वभावतः भक्षण करने लगते हैं। इस तरह खाते-खाते अन्त में केवल एक कीट शेष रह जाता है, जो गर्भाशय में पुष्ट होने लगता है। यदि वह कीट वीर्याधिक्य से बना है तो पुत्रगर्भ का हेतु है, और यदि रजोधिकता से परिपुष्ट हुआ है तो वह कन्या-सन्तति का कारण है। यदि दोनों की समता हो तो वही नपुंसक समझना चाहिए।

अब कदाचित् रज या वीर्यके कीटाणु अमुक रोगके कारण दूषित हों तो वे दूसरे कीटाणुओं को भक्षण नहीं कर पाते, किन्तु स्वयं उनका भक्ष्य ही बनते हैं। ऐसी दशा में संघर्ष के अभाव से वे एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं, अतः गर्भ नहीं ठहरता। अथवा यदि स्त्री के गर्भाशय में रोगवश ऐसा विषैला वातावरण बन जाता है कि जिसमें गए हुए रजोवीर्य के कीटाणु मूर्च्छित हो जाते हैं किंवा मर जाते हैं तब भी गर्भस्थिति नहीं होती; क्योंकि प्रकृति का यह अटल नियम है कि जब दो बराबर की जीवित वस्तु सम्मिलित होती हैं तभी उनके द्वारा किसी तीसरी वस्तु का प्रादुर्भाव होता है अन्यथा एकके जीवित और दूसरे के मृत होने की दशा में मृतवस्तु जीवित में आत्मसमर्पण करके विलीन हो जाती है, फिर उससे अन्य किसी तीसरी वस्तु का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। अश्वमेध-यज्ञ में उक्त सभी दोषों को दूर करने के लिए स्त्री-पुरुष के रजो-वीर्य

का संशोधन और पोषण, तथा गर्भाशय के दोषों का परिमार्जन वैज्ञानिक रीति से किया जाता है। तदनुसार सर्वप्रथम एतदर्थ श्यामकर्ण नामक एक विशेष जाति के घोड़े को ढूँढा जाता है। इस अत्युत्तम नस्ल का घोड़ा आज तो संसार में—कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, अमृत, पारसमणि, सोमवल्लि, विशल्यकर्णी और संजीवनी की भान्ति—सर्वथा अप्राप्य है ही, किन्तु पुरातन युगों में भी उसकी ढूँढ के लिए आकाश पाताल एक करते हुवे इस भूमण्डल से बाहिर वरुणलोक तक की दौड़भाग करनी पड़ती थी। तब कहीं यह बेला का गौना सम्पन्न हो पाता था। इतिहास में श्यामकर्ण घोड़े की प्राप्ति के लिये किये गये ऐसे अनेक लोकोत्तर काण्डों का वर्णन विद्यमान है। कलियुगी पुरुष न लोकान्तर गमन की योग्यता रख सकेंगे और नां ही उक्त घोड़े की नस्ल पृथ्वी पर विद्यमान होगी इसी अभिप्राय से महर्षियों ने कलि में 'अश्वमेध' आदि वैदिक-यज्ञों का सर्वथा निषेध कर दिया है।

घोड़े की कायापलट

घोड़ा मिलने पर उसे वर्षों तक वैदिक-विधान के अनुसार रखना पड़ता है। अमुक रीति से अमुक औषधि ही खिलाना-पिलाना अमुक रीति से ही रखना, वह जहाँ-जहाँ लीद और मूत्र विसर्जन करे उस स्थान में भी अमुक रीति से हवन आदि अनुष्ठान करना, यह एक बड़ी विस्तृत पद्धति है, जिसके अनुसार मन्त्रपूर्वक ही प्रत्येक कृत्य करना पड़ता है। इस तरह मन्त्र और औषधियों की सामर्थ्य से नियत समय पर उस घोड़े की सर्वथा कायापलट हो जाती है। हम इस प्रसङ्ग की स्पष्टता